



JEEVAN SAHITYA

1960

G. K. V.
LIB.

078743



सत्यसाहित्य

प्रकाशन

जनवरी १९६०

जीवन

साहित्य

सम्पादक

हरिभाऊ उपाध्याय

यशपाल जैन



नव वर्ष

नया साल हम सबको शान्ति देने
वाला हो ।

मा.क. गं.डि

अहिंसक

नवरचना का मासिक

वर्ष : इक्कीस

अंक : एक

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

विषय-सूची

- | | | | |
|---------------------------------------|--------------------------------|---|--------------------------|
| १. गांधीजी की सिखावन पर चलें | --विनोबा १ | ९. स्वतंत्र भारत की युद्धनीति | --सुरेश राम २० |
| २. राष्ट्रपिता की स्मृति में | --दादा धर्माधिकारी ३ | १०. भगवान बुद्ध | --गांधीजी २३ |
| ३. युगावतार महात्मा गांधी | --अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार ४ | ११. खादी और चरखे की आवाज | --तेजकुमार 'निर्मोही' २४ |
| ४. चरखे के प्रयोग | --काकासाहब कालेलकर ८ | १२. मानवतावादी भारतीय संस्कृति और गांधीजी | --गंगाप्रसाद 'विमल' २८ |
| ५. तुम जलो | --हरीश ६ | १३. कसौटी पर | --समालोचनाएं ३० |
| ६. ग्राम-सफाई | --मो. क. गांधी १० | १४. क्या व कैसे ? हमारी राय | --सम्पादकीय ३३ |
| ७. मास्को में अहिंसा और धर्म का संदेश | --सत्यदेव विद्यालंकार १३ | १५. 'मंडल' की ओर से | --मंत्री ३७ |
| ८. सर्वोदय-समाज-रचना के मूलधार | --बद्रीप्रसाद स्वामी १७ | | |

निवेदन

इस अंक से 'जीवन-साहित्य' अपने २१वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इस अवसर पर हम अपने लेखकों, पाठकों तथा ग्राहकों का हृदय से आभार स्वीकार करते हैं, जिनके सहयोग से पत्र को सेवा करने का सुयोग मिला।

हमारी कामना है कि आगे भी 'जीवन-साहित्य' के प्रति इसी प्रकार स्नेह-भाव बना रहे।

हमारी यह भी कामना है कि पत्र के हितैषी उसके पाठकों के क्षेत्र को अधिकाधिक विस्तृत बनाने की कृपा करें। प्रत्येक पाठक से इस दिशा में सक्रिय सहयोग की अपेक्षा है।

नये वर्ष के लिए शुभकामनाओं सहित,

--सम्पादक

'जीवन-साहित्य'

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवनसाहित्य

वर्ष २१]

जनवरी, १९६०

[अंक १]

गांधीजी की सिखावन पर चलें

विनोबा

दुनिया में आज हिन्दूधर्म का नाम यदि किसीने उज्ज्वल रखा तो वह गांधीजी ने ही रखा है। उन्होंने खुद ही कहा था कि "हिन्दूधर्म की रक्षा करने के लिए किसी मनुष्य को नियुक्त करने की जरूरत यदि भगवान को महसूस हुई तो इस काम के लिए वह मुझे ही नियुक्त करेगा।" इतना आत्मविश्वास उनमें था। उन्हें जो सत्य मालूम होता था, वह वह साफ—सीधे कह देते थे। बड़े लोग अपनी रक्षा के लिए 'बाडी गार्ड' यानी देह-रक्षक रखते हैं। गांधीजी ने ऐसे देह-रक्षक कभी नहीं रखे। देह को वह तुच्छ समझते थे। मृत्यु के पहले ही वह मरकर रहे थे। निर्भयता उनका व्रत था। जहां किसी फौज को भी जाने की हिम्मत न हो वहां अकेले जाने की उनकी तैयारी थी।

जो सत्य है, लोगों के हित का है, वही कहना चाहिए; फिर भले किसीको अच्छा लगे, बुरा लगे, या उसका परिणाम कुछ भी निकले, ऐसी उनकी वृत्ति थी। वह कहते थे—"मृत्यु से डरने का कोई कारण ही नहीं है; क्योंकि हम सब ईश्वर के ही हाथ में हैं। हमसे जबतक वह सेवा लेना चाहता है तबतक लेगा और जिस क्षण वह उठा लेना चाहेगा उस क्षण उठा लेगा। इसलिए जो सत्य लगता है, वही कहना हमारा धर्म है। ऐसे समय यदि मैं शायद अकेला भी पड़ जाऊँ और सारी दुनिया मेरे खिलाफ हो जाय तो भी मुझे जो सत्य दिखाई देता है वही मुझे कहना चाहिए।" उनकी इस तरह की निर्भीकतापूर्ण वृत्ति रही और उनकी मृत्यु भी किस अवस्था

में हुई! वह प्रार्थना की तैयारी में थे। यानी उस समय उनके चित्त में भगवान के सिवा दूसरा विचार नहीं था। उनका सारा जीवन ही हमने सेवामय तथा परोपकारमय देखा है; परन्तु फिर भी प्रार्थना की भावना और प्रार्थना का समय विशेष पवित्र कहना चाहिए। राजनैतिक आदि अनेक महत्व के कामों में वह रहते थे। लेकिन उनकी प्रार्थना का समय कभी नहीं टला। ऐसे प्रार्थना के समय ही देह में से मुक्त होने के लिए मानो भगवान ने आदमी भेजा। अपना काम करते हुए मृत्यु हुई, इस विषय का उनके दिल का आनन्द और निमित्त मात्र बने हुए गुनहगार के प्रति दयाभाव, इस तरह का दोहरा भाव उनके चेहरे पर मृत्यु के समय था।

गांधीजी ने उपवास छोड़ा उस समय देश में शांति रखने का जिन्होंने वचन दिया उनमें कांग्रेस, मुसलमान, सिख, हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक-दल आदि सब थे। हम प्रेम के साथ रहेंगे, ऐसा उन्होंने वचन दिया और लोग उस तरह रहने भी लगे थे कि एक दिन प्रार्थना-सभा में गांधीजी को लक्ष्य करके किसीने बम फेंका। वह उन्हें लगा नहीं। उस दिन प्रार्थना में गांधीजी ने कहा, "मैं देश की और धर्म की सेवा भगवान की प्रेरणा से करता हूँ। जिस दिन मैं चला जाऊँ, ऐसी उसकी मर्जी होगी उस दिन वह मुझे ले जायगा। इसलिए मृत्यु के विषय में मुझे कुछ भी विशेष नहीं मालूम होता है।" दूसरा प्रयोग बाद में हुआ। भगवान ने गांधीजी को मुक्त किया।

हम सब देह छोड़कर जानेवाले हैं। इसलिए मृत्यु के विषय में तनिक भी दुःख मानने का कारण नहीं है। माता की अपने दो-चार बच्चों के विषय में जो वृत्ति रहती है वह दुनिया के सब लोगों के विषय में गांधीजी की थी। हिन्दू, हरिजन, मुसलमान, ईसाई और जिन राज्यकर्ताओं से लड़े वे अंग्रेज, इन सबके प्रति उनके दिल में प्रेम था। सज्जनों पर जिस तरह प्रेम करते हैं वैसे दुर्जनों पर भी करो, शत्रु को प्रेम से जीतो, ऐसा मंत्र उन्होंने दिया। उन्होंने ही हमें सत्याग्रह सिखाया। खुद आपत्तियां झेलकर सामनेवालों को ज़रा भी खतरा न पहुंचे यह शिक्षा उन्होंने हमें दी।

एकनाथ महाराज ने भागवत में कहा है, “मरनेवाले गुरु का और रोनेवाले चेले का—दोनों का बोध व्यर्थ गया।” एक मृत्यु से डरनेवाला गुरु था। मृत्यु के समय वह कहने लगा, “अरे, मैं मरता हूं।” तब उसके शिष्य भी रोने लगे। इस तरह गुरु मरनेवाला और चेला रोनेवाला दोनों ने ही जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था वह फ़जूल गया, ऐसा एकनाथ महाराज ने कहा है।

गांधीजी मृत्यु से डरनेवाले गुरु नहीं थे। जिस सेवा में निष्काम भावना से देह लगाई जाय वह सेवा ही भगवान की सेवा है। वह करते हुए जिस दिन वह बुलायेगा उस दिन जाने के लिए तैयार रहें, ऐसी सिखावन उन्होंने हमें दी। तदनुसार ही उनकी मृत्यु हुई।

गांधीजी की मृत्यु से कुछ दिन पहले ही आश्रम के कुछ भाई उनसे मिलने गये थे। उस समय उनका उपवास जारी था। उपवास में वह जिंदा रहेंगे या मर जायेंगे इसका किस-

को पता ? आश्रम के भाइयों ने उनसे पूछा—“आप यदि इस उपवास में चल बसे तो हम कौन-सा काम करें ?” गांधीजी ने जवाब दिया—“इस तरह का सवाल ही आपके सामने कैसे खड़ा हुआ ? मैंने तो आपके लिए काफी काम रखा है। हिंदुस्तान में खादी करनी है। खादी का शास्त्र बनाना है। इतना बड़ा काम आपके लिए होते हुए क्या करें ?” ऐसी चिंता क्यों होती है ?”

इसलिए हमारे लिए उन्होंने जो काम रख छोड़ा, वह हमें पूरा करना चाहिए। असंख्य जातियां और जमातें मिलकर हम यहां एक साथ रहते हैं। चालीस करोड़ का अपना देश है, यह हमारा बड़ा भाग्य है ; लेकिन एक-दूसरे से प्रेम करते हुए रहेंगे तभी वह होगा। इतना बड़ा देश होने का भाग्य शायद ही मिलता है। हमारे देश में अनेक धर्म हैं, अनेक पन्थ हैं। मैं तो, यह हमारा वैभव है, यह समझता हूं। लेकिन हम सब प्रेम के साथ रहेंगे तभी यह वैभव सिद्ध होगा। हम प्रेम से रहें, यही गांधीजी ने अपने अंतिम उपवास से हमें सिखलाया। बच्चे एक-दूसरे के साथ प्रेम से रहें, इसलिए जिस तरह माता भोजन छोड़ देती है, वैसा ही उनका वह उपवास था। सारे मनुष्य एक-से हैं यह उन्होंने हमें सिखाया। हरिजन-सेवा, खादी-सेवा, ग्राम-सेवा, भंगियों की सेवा आदि अनेक सेवा-कार्य हमारे लिए वह छोड़ गये हैं।

आज तक बच्चों की तरह हम कभी-कभी झगड़ते भी थे। हमें वह सम्भाल लेते थे। वैसा सबको सम्भालनेवाला अब नहीं रहा। इसलिए एक-दूसरे को बोध देते हुए और एक दूसरे पर प्रेम करते हुए हम सब मिलकर गांधीजी की सिखावन पर चलें।

सत्य का संकल्प

आजतक किसी भी ज्ञानी ने इस प्रकार का अनुभव नहीं बतलाया है कि असत्य की कभी विजय हुई है, वरन् सबने एकमत होकर अपना यह अनुभव पुकार-पुकारकर बतलाया है कि अंत में सत्य की ही विजय होती है।

—मो. क. गांधी



078743

दादा धर्माधिकारी

राष्ट्रपिता की स्मृति में

आज लोकशाही का जमाना है, अर्थात् साधारण नागरिक का। संस्कृत में 'मृच्छकटिक' नाम का एक नाटक है। लोग उस शब्द का अर्थ नहीं जानते। मराठी में जब नाटक देखते हैं, तो पूछते हैं कि 'मृच्छकटिक' कौन बना था? नाटक में नायक 'मृच्छकटिक' तो कहीं दिखाई नहीं दिया " 'मृच्छकटिक' का अर्थ है मिट्टी की बनी हुई गाड़ी। उस सारे नाटक में कुछ क्षण के लिए वह गाड़ी रंगमंच पर आती है और एक झांकी दिखाकर गायब हो जाती है। फिर दुबारा वह नहीं आती। आज की लोकशाही में साधारण नागरिक का यही हाल है। लोकशाही के नाटक का क्या वह नायक है? नाटक को नाम तो उसी-का दिया गया है। लेकिन सिर्फ चुनाव के वक्त मतदान के लिए रंगमंच पर थोड़ी देर के लिए आता है और फिर तिरोहित हो जाता है। फिर वह आगे-पीछे कहीं नजर नहीं आता। राजनैतिक पक्षों को उसका 'वोट' चाहिए, उसके 'मत' की फिक्र उन्हें नहीं है। सत्ताधारी पक्ष को संसदीय संख्या-बल का इतना भरोसा है कि उसे लोकमत की परवा ही नहीं है। जबतक प्रचंड लोक-क्षोभ पैदा नहीं होता और जबतक हिंसा में उसका विस्फोट नहीं होता, तबतक सत्ताधारी पक्ष उसकी बराबर उपेक्षा करता है। स्वस्थ लोकमत का प्रभाव उसपर नहीं पड़ता। विरोधी पक्ष यह जानता है कि स्फोटक लोक-क्षोभ के सिवाय आन्दोलन का दूसरा कोई प्रभावशाली तरीका नहीं है। सत्ताधारी पक्ष जब केरल में विरोध पक्ष में आ गया, तब उसने भी वहां वैसा ही किया। नतीजा यह है कि आये दिन किसी-न-किसी समस्या को लेकर लोक-जीवन प्रक्षुब्ध समुद्र की तरह खौलने लगता है। इधर से ढेले चलते हैं, उधर से गोलियां चलती हैं। कुछ मांगें पूरी होती हैं, कुछ पूरी हुई मान ली जाती हैं। साधारण नागरिक के मत का, उसकी इच्छा का, इस सारे से कम ही सरोकार आता है!

ऐसी स्थिति में आप-हम-जैसे लोग क्या करें? आज

के इस पुनीत अवसर पर गांधी के मार्ग के अनुसरण का उपाय हमें ढूंढ़ना है। आज विनोबा वह उपाय हमें बता रहा है। वह चाहता है कि देश में एक ऐसी जमात खड़ी हो, जिसे सबका विश्वास प्राप्त हो, सबका प्यार हासिल हो। हम तो चाहते हैं कि सारे राजनैतिक पक्ष भी ऐसे ही बन जायें, पर आपसी संघर्ष के कारण वे आज एक दूसरे का और जनता का विश्वास खो बैठे हैं। आज ऐसी स्थिति बनी है कि सज्जन-से-सज्जन और प्रतिष्ठित नागरिक के वचन पर भी, अगर वह किसी पक्ष में हो, तो दूसरे पक्ष के लोग विश्वास नहीं करते। आम लोगों का विश्वास दोनों पक्षों के लोगों पर नहीं है। ऐसी स्थिति में लोकशाही की बुनियाद ही खत्म हो जाती है। साधारण नागरिकों के कुछ ऐसे जागरूक प्रहरी होने चाहिए, जो न संपत्ति की स्पर्धा में भाग लें, न सत्ता की स्पर्धा में, लेकिन सबका सहयोग और प्यार हासिल करने की कोशिश करें। उनके बारे में लोग यह भले ही कहें कि ये लोग अयोग्य हैं, पर यह न कह सकें कि ये झूठे हैं। उनके बारे में लोगों को ऐसा विश्वास हो कि इनकी बात में प्रवचना, धोखा नहीं होगा। आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि मनुष्य के शब्द में मनुष्य की निष्ठा फिर से प्रतिष्ठित हो।

दूसरी बात जो मैं आप लोगों से कहना चाहता हूँ, वह खादी के बारे में है। खादी गांधी के कामों का मध्य-बिन्दु थी। गांधी की प्रेरणा और प्रयत्न से खादी ने दो बड़े कार्य अबतक किये हैं। पहली बात तो यह है कि उसने बाजार में ईमान दाखिल किया। मोल-भाव या सौदा बाजार का सामान्य नियम है। पर बीच बाजार में खादी की ऐसी दुकान होती है कि उसमें मोल-भाव नहीं होता। काम चलाने के लिए आवश्यक मुनाफा तो उसमें रखा जाता है, लेकिन मुनाफाखोरी वहां नहीं होती। दूसरा काम खादी ने यह किया कि राज्यस्वामित्व और राज्य-संचालन के मुकाबले में लोकस्वामित्व और लोक-संचालन

(शेष पृष्ठ १२ पर)

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

युगावतार महात्मा गांधी

“बढ़ते ही तुम तो रहे,
समय भी
साथ तुम्हारे चल न सका,
वह पिछड़ गया तुम बढ़े चले !
तुम वर्तमान में ही भविष्य को ले आये !
युग सह न सका
तुम समय-उदधि के
विकसित थे क्या एक कमल ?
जो युगासीन रहकर भी युग से
ऊपर ही थे उठे रहे ।
नव सहस्रार उस अमल कमल की
ज्योति अमर !
हे अमर ज्योति ! !”

भारतीय आधुनिक इतिहास में विचारों की दृष्टि से जिन व्यक्तियों का अनुकूल समय से पहले आविर्भाव हुआ उनमें अन्यतम व्यक्ति महात्मा गांधीजी थे। महात्माजी युगावतार थे, किन्तु वह अपने युग के व्यक्ति नहीं थे, वह भावी युग के व्यक्ति थे, जब मानव और मानव के बीच पहाड़, नदी, राष्ट्रीयता और अन्य प्रकार की दीवारें न रहेंगी तथा समस्त वसुधा की सारी आबादी अपनेको एक परिवार मानेगी। किन्तु परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर भी विश्व और युग को अपने अनुकूल बनाने की उनमें अद्भुत और अपार क्षमता थी। वह भावी युग और भावी विश्व के निर्माता थे और इस दृष्टि से क्रांतिदर्शी थे, स्वप्नदर्शी नहीं, क्योंकि महात्मा गांधी के पैर सदा भूमि पर दृढ़ता से टिके रहे, जमे रहे, हरेक प्रश्न की व्यावहारिकता का उन्होंने सदा ख्याल रखा और तफसील में हरेक बात की सदा छानबीन की। कोई भी राज प्राप्त उपादानों, गारा-चूना, मिट्टी की उपेक्षा कर भवन नहीं बना सकता। भावी युग के निर्माता को भी अपने समय के मानवों के सहारे ही नई दुनिया बनाने का

कार्य करना होगा। गांधीजी इस सत्य को भली-भांति अनुभव करते थे और इसी कारण प्रतिकूल परिस्थितियों और वातावरण के होते हुए भी प्रथम दृष्टि में अद्भुत-अनोखी विचित्र एवं अव्यवहारिक लगनेवाली बात को भी मनवाने और क्रियान्वित करने में सफल हुए।

कारण क्या था ? प्रथम दृष्टि से देखने पर मालूम हो जायगा कि गांधीजी का जीवन सदा विकासशील रहा—सतत विकासशील, विचारों में ही नहीं, वस्त्र, परिधान, भोजन, जीवन के हरेक अंग में। गांधीजी की विभिन्न पोशाकों को देखने से ही ज्ञात हो जायगा कि वह सदा विकासशील रहे। कोट-पैट पहननेवाला बैरिस्टर जब सत्याग्रही बना, तो वेश भी बदल गया। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में जब जेल ले जाये जा रहे थे, तबका एक चित्र दिल्ली के पत्र में छपा था। उसमें गांधीजी के हाथ में जंजीर पड़ी है, दो गोरे उसको पकड़े हुए हैं, और गांधीजी के तन पर एक लम्बा कुरता है। उसके नीचे निम्न पंक्तियां लिखी थीं :

“हम दीन हैं किन्तु रखते मान हैं,
भव्य भारतवर्ष की सन्तान हैं।
हम मांगते कब किसीसे दान हैं,
न्याय से चाहते अपना अधिकार हैं।”

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने सत्याग्रह-युद्ध छेड़ा था, सारे देश ने उसका समर्थन किया था, यही नहीं लार्ड हार्डिज की सरकार भी उनकी समर्थक थी, यद्यपि यह कोई ठीक-ठीक नहीं जानता था कि सत्याग्रह या सविनय कानून-भंग का वास्तविक उद्देश्य और यथार्थ रूप क्या है और किस सीमा तक वह बरता जा सकता है। यह इसी बात से स्पष्ट है कि सात साल बाद जब गांधीजी ने यही उपाय भारत में अपनाया तब सब पुराने नेता उनके विरोध में पाये गए और ब्रिटिश सरकार तो उनके एकदम विरोध में थी। यहां गांधीजी को नए अनुयायी मिले और पुराने समर्थकों में से उनका समर्थन करने के लिए कोई

भी पुराना राजनीतिक नेता नहीं आया। क्या? 'पवित्र' कानून-भंग या सत्याग्रह के मूल में निहित भावनाओं उनको अराजकता की समर्थक और कानून द्वारा स्थापित व्यवस्था के सर्वथा विरोधी प्रतीत हुई! क्या यह सत्य था, या उनका भ्रम मात्र था?

गांधीजी जब १९१४ में भारत में आये, तो वह सिर पर काठियावाड़ी बड़ी पगड़ी पहनते थे, और तन पर तनीबन्द कुरती, नीचे धोती और काठियावाड़ी जूते पहनते थे। लेकिन जब रोलेट एक्ट का विरोध करने के लिए उन्होंने देश को ललकारा और अपने विरोध में अपने पुराने समर्थक नेताओं को पाया तो गांधीजी का वेश बदल गया और पगड़ी की जगह दुपल्ली टोपी ने ली जो आज गांधी टोपी के नाम से प्रसिद्ध है और जूते उतर गये और उनकी जगह चप्पल आई। तनीदार मिर्जई की जगह लम्बा, बेकालर का कुरता आया। लेकिन असहयोग-आंदोलन की रणभेरी बजने पर यह वेश भी न रहा। मद्रास के अस्पृश्यों की गरीबी और खदर का उत्पादन कम होने के कारण, घुटनों से ऊपर तक की धोती पहनने के सिवाय और सब कपड़े उन्होंने त्याग दिये, और जब 'हे राम' के अन्तिम शब्द के साथ गोडसे की गोलियों के कारण भूमिशायी हुए तब तक यही वेश कायम रहा, क्योंकि इसमें और परिवर्तन होने की गुंजाइश ही नहीं रही थी।

वस्त्रों के समान भोजन की भी यही बात है। पहले गांधीजी ने नमक छोड़ा जिससे माता कस्तूरबा भी स्वास्थ्य लाभ के लिए नमक छोड़ दें। भारत में आने पर गांधीजी ने दूध पीना छोड़ दिया। गांधीजी का कहना था कि मां के दूध पर जैसे उसके बच्चे का अधिकार है उसी प्रकार गो के दूध पर भी बछड़े का हक है। दूध पीना दूसरे के स्वत्व को छीनना है और इस कारण यह हिंसा है। गांधीजी सब्जी भी तेल में बनी खाते थे। यही नहीं यदि मेजबान भूल से घी में सब्जी बना दे तो रूखी ही रोटी खा लेते थे—और उपाय ही क्या था? नमक पहले ही छोड़ चुके थे, हां गुड़ लेते थे और बाद में तो वे ताड़ और खजूर का गुड़ लेने लगे। भोजन के उनके प्रयोग एक समय तो इस सीमा तक पहुंचे कि खली भी आहार में शामिल

की गई और नीम के पत्तों की चटनी बनने लगी। अंकुरित अन्न के दाने आहार से हटाये गए तो डाक्टरों के परामर्श के ही बाद, पहले नहीं। यदि रक्तचाप के चिकित्सक इसको कारण न बताते तो सम्भव था गांधीजी चूल्हे की ही समाप्ति कर देते।

वाणी और स्वाद का संयमी पुरुष विश्वजयी हो सकता है। गांधीजी के विश्वजयी होने का भी यही कारण है। सर तेज बहादुर सप्रू, डा. जयकर, श्री श्रीनिवास शास्त्री, महामना मालवीयजी प्रभृति कभी भी गांधीजी के विचारों के समर्थक और उनकी नीति में विश्वास करने-वाले न रहे, बल्कि सदा विरोधी दल की प्रथम पंक्ति में दिखाई दिये, फिर भी ये सब महानुभाव गांधीजी के परम मित्रों और भक्तों में थे। विचारों के मतभेद, पक्ष-भेद, दल-भेद को मानव की वैयक्तिक मैत्री, पारस्परिक स्नेह और सौहार्द को प्रभावित नहीं करना चाहिए, और यत्न करने पर प्रभावित नहीं भी करते हैं, यह गांधीजी ने अपने उदात्त चरित्र और उदार व्यवहार से सम्भव कर दिखाया, जो कि उनके पूर्ववर्ती मा० गोखले और लो० तिलक, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और देशबन्धुदास और परवर्ती नेता नहीं कर सके।

गांधीजी की सफलता का दूसरा कारण था कि उन्होंने कार्यकर्ताओं और उनके परिवारों के योगक्षेम को कभी नहीं भुलाया। गांधीजी अपने जीवन में प्रतिवर्ष एक संस्था स्थापित करते थे। शायद ही भारत के किसी और महान नेता ने इतनी अधिक संस्थाओं की स्थापना की हो। चर्खा-संघ, ग्रामोद्योग-संघ, तालीम-संघ, विद्यापीठ, गो-सेवा-संघ, हिन्दी-प्रचार-संघ, आदि ये कुछ संस्थाएं हैं जो गांधीजी के जीवन और कार्यक्षेत्र की विविधता, विभिन्नता एवं विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। गांधीजी की दृष्टि में सदा मानव रहा, और मानव की विभिन्न शक्तियों का एक साथ विकास करना एक लक्ष्य रहा। वह क्रान्ति चाहते थे, परिवर्तन चाहते थे, किन्तु एकांगी नहीं, एकमुखी नहीं, अपितु सर्वांगीण और सर्व-तोमुखी।

गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम देश के सामने आया तब राष्ट्र ने प्रथम बार अनुभव किया कि गांधीजी

द्वारा निर्मित भारत के भावी समाज का क्या रूप होगा। किन्तु यह चित्र भी पूरा न था यद्यपि अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द ने अस्पृश्यता-निवारण और राष्ट्रभाषा-प्रचार को राष्ट्रीय प्रोग्राम में सम्मिलित करने का प्रबल और आग्रहपूर्ण अनुरोध किया था। किन्तु कांग्रेस ने अपनेको सामाजिक सुधार के कार्य से अलिप्त रहने में ही अपना मंगल माना। कांग्रेस यह कर भी कैसे सकती थी? पूना में कांग्रेस का अधिवेशन होने के समय न्यायमूर्ति रानडे ने पहले के समान समाज-सुधार-कांग्रेस के लिए कांग्रेस का पंडाल मांगा। स्वागत-समिति में लो० तिलक का बहुमत था। उसने कांग्रेस का पंडाल अराजनैतिक कार्यों के लिए देने से इन्कार कर दिया। यह मामला आगे बढ़ा। पूना में यह एक प्रबल आन्दोलन का विषय होगया। कांग्रेस का अधिवेशन होना भी सन्दिग्ध होगया। पूना-कांग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से निर्णय देने की मांग लो० तिलक ने की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी समाज-सुधारक थे परन्तु वह भी तिलक-पक्ष को समाज-सुधार-कांग्रेस के लिए कांग्रेस का पंडाल देने को राजी नहीं कर सके। अन्ततोगत्वा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने निर्णय दिया कि समाज-सुधार-कांग्रेस के उपयोग में कांग्रेस का पंडाल न लाया जाय। उसी कांग्रेस को इसके लिए तैयार करना कि रचनात्मक कार्यक्रम में अस्पृश्यता-निवारण को वह स्थान दे सरल न था। परन्तु गांधीजी के महान व्यक्तित्व और प्रभाव से यह भी सम्भव हुआ। किन्तु यह नाममात्र को ही था। यदि ऐसा न होता तो इसके बारह साल बाद डा. अम्बेडकर अस्पृश्यों के लिए पृथक् निर्वाचन-प्रणाली की मांग न करते, न मैकडानल निर्णय ही आता और न गांधीजी को इसको रद्द कराने के लिए अपने प्राणों को होम करने की बाजी लगाने की जरूरत पड़ती और न बाद में वह अपने शेष जीवन का बड़ा भाग हरिजन-सेवा में लगाने को बाध्य होते। 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना ही इस बात का प्रमाण है कि रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग स्वीकार करके भी कांग्रेस इस दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं कर सकी। राजनैतिक प्रगति के लिए समाज-सुधार आवश्यक है

इस सत्य को काठियावाड़ के दो महापुरुषों ने ही समाज-सुधार के लिए मार्गदर्श देने का साहस किया था

और उसपर बराबर बल दिया।

मानव की सर्वांगीण और सर्वतोमुखी उन्नति ही गांधीजी का लक्ष्य था और अभीष्ट था। सत्य और अहिंसा, सत्याग्रह और सविनय कानून-भंग, व्रत-उपवास और सूत-कताई व प्रातः-सायं-प्रार्थना साधन मात्र थे। ऋषि का कहना है "आत्मानं विद्धि" अपनेको पहले पहचानो और यह उस समय तक सम्भव नहीं है, जबतक जीवन के सब प्रकार के व्यवहारों में सत्य न रहे। अहिंसा के बिना सत्य आचार और सत्य व्यवहार भी सम्भव नहीं। फलतः गांधी-नीति का आदर्श सत्य और अहिंसा है। वैदिक ऋषि ने जिस सत्य को "सत्येनोन्मिता भूमिः" कहकर उद्भासित किया था उस महान सत्य को मूर्तरूप देने का महान उद्योग गांधीजी ने किया। गांधीजी एक प्राचीन आदर्श को मूर्तरूप दे रहे थे और इस प्रकार 'गांधीयुगीन भारत' का सम्बन्ध प्राचीन भारत से जोड़ रहे थे। उनका यह महान प्रयोग भी उसी प्राचीन श्रृंखला की एक कड़ी हो गया। अतः यह नूतन होकर भी पुरातन रहा। भारतीय जनता को इस कारण इसको समझने और ग्रहण करने में समय न लगा और न हिचक हुई।

किन्तु इसकी नवीनता स्पष्ट थी। भगवान गौतम बुद्ध की अहिंसा या जैन-मुनियों की अहिंसा जीव-रक्षा से आगे नहीं बढ़ी थी। मानव-जीवन में भी अहिंसा सम्भव है, वह भी केवल पारिवारिक जीवन में ही नहीं, अपितु सामुदायिक और राष्ट्रीय जीवन में भी सम्भव है, यह प्रत्यक्ष करके गांधीजी ने दिखा दिया—भले ही वह सीमित क्षेत्र में हो। भगवान बुद्ध के पास राजगृह में जब सम्राट् अजातशत्रु का प्रधानमंत्री वर्णकार लिच्छवियों को विजय करने का उपाय पूछने गया था, तब बौद्धधर्म के संस्थापक ने यह नहीं कहा कि युद्ध करना अनुचित है, अपितु बताया कि आज की स्थिति में रिश्वत और भेद द्वारा ही उनका नाश सम्भव है। मगध ने इन्हीं उपायों का अवलम्बन किया और लिच्छवी राज्य मगध साम्राज्य के आधीन होगया।

गांधीजी ने इसके विपरीत द्वितीय महायुद्ध के दिनों में जब लन्दन पर जर्मन बमबर्षक अहर्निश गोले बरसा रहे

Public Domain Gurukul Kangri Collection, Mathura

कि वह निष्क्रिय प्रतिरोध का सहारा ले। निःशस्त्र प्रतिकार करे। उस समय गांधीजी को सनकी कक्षा गया, क्योंकि एक गुलाम देश के एक महान नेता ने यह परामर्श देने का साहस किया था। किन्तु उन्नीस साल बाद अणु-शक्ति एवं अन्तर्महाद्वीपी प्रक्षेपकास्त्रों से सुसज्ज सोवियत रूस के प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने संयुक्त-राष्ट्र के सामने शस्त्र-संन्यास का प्रस्ताव रखा है और ८२ राष्ट्रों ने सर्व-सम्मति से निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता स्वीकार की है। यह है गांधीजी की विजय। दुनिया ने आज सिद्धान्ततः युद्धों की निरूपयोगिता और शस्त्रों की अनावश्यकता स्वीकार कर ली है। फिर भी यदि मानव-समाज इस पथ पर साहस से आगे नहीं बढ़ रहा तो उसका एक मात्र कारण है : संदेह और अविश्वास का धुंआ सर्वत्र व्याप्त है। यह कुहासा और धुआं दूर हुए बिना यह सम्भव नहीं है।

यहां पुनः गांधीजी की याद आना अनिवार्य है। महल बनानेवाली एक ईंट भी यदि कमजोर हुई तो महल कभी भी ढह सकता है। इसी प्रकार यदि वैयक्तिक चरित्र शुद्ध न हुआ, मन मलिन और विद्वेष से पूर्ण हुआ तो समाज का विकास भी अपूर्ण और अशुद्ध रीति से होगा। यही कारण है कि गांधीजी ने वैयक्तिक शुचिता और पवित्रता पर सदा बहुत जोर दिया और अनेक बार अपने संगी-साथियों और अनुयायियों को निर्धारित मापदंड एवं प्रतिमान से नीचे गिरते देखकर उपवास भी किये और उनकी गिरावट के लिए अपने-आपको उत्तरदायी एवं दोषी ठहराया। यहां गांधीजी ने अपने भक्तों एवं अनुयायियों को प्राचीन आचार्यों के समान यह नहीं कहा—
“यान्यस्माकं सुचरितानि त्वयोपास्यानि नेतरमणि”
अर्थात् हमारे सुचरितों, हमारे सुकर्मों का ही अनुसरण करना अन्यो का नहीं। गांधीजी के विचार से नेता और आचार्य को सब दृष्टियों से आदर्श होना चाहिए। उसका किसी भी दृष्टि से अपूर्ण रहना उद्देश्य की सिद्धि में बाधक ही होगा, साधक नहीं।

गांधीजी की पहले मान्यता थी कि सविनय कानून-भंग या सत्याग्रह का प्रयोग तभी करना चाहिए जब सब

शतें पूरी हों। चौराचोरी-कांड होने के कारण उन्होंने बारडोली-सत्याग्रह, सारी तैयारी के बाद भी, स्थगित कर दिया था। किन्तु १९३० में शोलापुर में मार्शल ला लागू हुआ, बीहपुर-कांड हुए, किन्तु गांधीजी ने आन्दोलन स्थगित नहीं किया। गांधीजी ने माना कि हरेक भारतीय द्वारा की गई हिंसात्मक क्रिया के लिए कांग्रेस उत्तरदायी नहीं ठहराई जा सकती।

इसी प्रकार गोपीनाथ साह के प्रति श्रद्धांजलि का प्रस्ताव स्वीकार करने का १९२४ में गांधीजी ने अहमदाबाद, में कांग्रेस महासमिति की बैठक में, विरोध किया और दास-नेहरू की नाराजगी की भी चिन्ता नहीं की थी। परन्तु १९३१ में जब भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी दी गई तो कराची-कांग्रेस ने महात्मा गांधी की उपस्थिति में उन तीनों क्रान्तिकारियों के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट की।

१९२७ में गांधीजी का मौन-दिन होने और उनकी अनुपस्थिति में मद्रास-कांग्रेस ने भारत का ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता घोषित कर दिया। गांधीजी के आग्रह पर यह बदला गया। १९२८ में गांधीजी के ही समर्थन से नेहरू-रिपोर्ट स्वीकार की गई और भारत का लक्ष्य ‘डोमिनियन स्टेटस’ स्वीकार हुआ। परन्तु १९२९ में लाहौर-कांग्रेस में गांधीजी ने पूर्ण स्वराज्य का जयघोष किया और कांग्रेस का लक्ष्य ही बदल गया।

गांधीजी सतत विकासशील रहे और कभी पुराने नहीं पड़े। आयु, बुढ़ापा और समय भी उनके इस गुण को प्रभावित नहीं कर सका। अन्तःकरण की प्रेरणा के अनुसार काम करने के कारण गांधीजी यह नहीं बता सकते थे कि वह किस स्थिति में क्या करेंगे, क्योंकि यह ऐसे पुरुष के लिए सदा सम्भव भी नहीं। जब आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य होगा अन्तर्दृष्टि खुलेगी, तभी अन्तःकरण से निकली ध्वनि सुनी जा सकती है। यही कारण है कि गांधीजी के निर्णय अनेक बार अचानक और सबको विस्मित करनेवाले थे। परन्तु ईश-प्रेरणा से काम करनेवाले के कार्यों का हम लौकिक एवं ऐहिक दृष्टि रखनेवाले मूल्यांकन ही कैसे कर सकते हैं?

काका कालेलकर

चरखे के प्रयोग

एक दफा किसी कारण मुझे जेलर क्वीन के आफिस में जाना पड़ा। आसपास नजर डालने पर मुझे वहां पड़े हुए तीन-चार चरखे नजर आये। मैंने क्वीन से पूछा। यह कहने लगे, “कबके आ पड़े हैं। और मालूम भी नहीं है कि इनका क्या करना है ?”

मैंने कहा, “मुझे इन्हें ले जाने दीजिये। गांधीजी आजकल बहुत कातते हैं और सारा दिन चरख का ही ध्यान करते हैं। हमें इन नये चरखों को आजमाने में मजा आयेगा।”

“खुशी से ले जाइये। यहां उतनी भीड़ कम हो जायगी।”

मैंने वार्डर से कहा, “इन तीनों चरखों को हमारे यार्ड में ले चलो।”

इनमें एक था ‘जीवन-चक्र’—दो खड़े पटियों के बीच दो चक्र बिठाकर बनाया हुआ वह चरखा, सुन्दरदास सो मिल्स की ओर से आया हुआ था।

दूसरा था ‘गांधीव चरखा’—सूरत के बीमावाला बन्धु ने भेजा था।

तीसरा था ‘वारडोली चरखा’—बहुत करके वह लक्ष्मीदासभाई की ओर से आया होगा। वह बहुत हलका और दीवार पर सहज टिकाकर रख सकें, वैसा था।

तीन तरह के ये चरखे देखकर बापूजी को आनन्द हुआ। ठीकरों में से दो पैसे के ढबुए जैसी चकितियां बनाकर उनमें नाकवाली बांस की सलियां बिठाकर बापूजी ने तकलियां बनाई थीं। इन्से भी हम कातते थे। उसपर मैं काबू नहीं पा सका, क्योंकि बांया हाथ खूब ऊंचा करने पर पेट की एक नस खिंचती थी। बापूजी फी घंटा साठ तार निकालते थे और सौ तक पहुंचने की उनकी उम्मीद थी। तकली पूरा कात न सका, इसलिए बापूजी की निगाह में गिर जाऊंगा इस डर से मैंने ठीकरे घिस-घिसकर सुन्दर-सुन्दर तकलियां बनाने का काम अपने सिर ले लिया और इस तरह बापूजी को खुश किया। लेकिन अब तो मैं आफिस जाकर नये ढंग के तीन चरखे ले आया

था। बापूजी के मन यह बड़ी जियाफत होगई! तीन चरखों को वारी-वारी से आजमाने का हम दोनों ने निश्चय किया। गांधीव-चरखा बापूजी ने मेरे सुपुर्द किया। मैंने कहा, “चक्की पीसने की तरह गोल-मोल हाथ घूमाना मुझे पसंद नहीं है, इसके बजाय मैं जीवन-चक्र ही पसंद करूंगा, जिसका दस्ता गोल घुमाते वक्त हाथ ऊपर-नीचे होता है। चरख का चक्र खड़ा अच्छा या आड़ा ?”

बापूजी ने कहा, “हाथ ऊपर-नीचे करते वक्त गुरु-त्वाकर्षण के खिलाफ मिहनत करनी पड़ती है, इसलिए हाथ जल्दी थक जाता है। चक्र चक्की की तरह चलता हो तब यह मुश्किल नहीं पड़ती। अतः कातने में श्रम कम पड़ता है।”

मैंने बात मान ली, लेकिन उन चरखों को कुरसी के हाथ पर बांधकर और कुरसी पर बैठकर कातने लगा। यह तरीका मेरेलिए बहुत ही अनुकूल और सफल रहा। बापूजी तो जमीन पर बैठकर ही कातते थे। मेरे मन से कुरसी की सुविधा अच्छी थी। कुरसी का उपयोग न करने में बापूजी के अपरिग्रह के जीवन-सिद्धान्त की रक्षा होती थी।

बापूजी ने तीनों चरखों को आजमाया और फिर उनका दिमाग सुधार की ओर झुका। चक्र और मोड़िये के बीच गतिचक्र आया। उससे ये दो लाभ स्पष्ट थे—चरखा कम जगह रोकने लगा और तकुए की गति खूब बढ़ी। लेकिन एक की जगह दो मालें आगई और हर एक माल असुक वक्त इस्तेमाल करने के बाद ढीली हो जाती थी। इसका इलाज तो करना ही चाहिए। दो चक्रों के बीच की माल हमने मोटी की, जिससे वह ढीली न हो। और मोड़िये को बापूजी ने रबड़ की लंगोटी पहनाई। रबड़ का खिचाव मिलने से पतली माल तंग बैठने लगी। कातने की गति सुधरी, और सारा चरखा, पानी में नाव के तैरने की तरह आराम से चलने लगा।

घर्षण कम-से-कम हो। तकुए की गराडी पर से माल

तुम जलो

: ९ :

हरीश

की पकड़ ढीली होकर माल फिसल न जाय, रबड़ का पट्टा जोते का काम दे। चरखे के बदले तांत का उपयोग हो और तकुए की नाक थोड़ी जमीन की तरफ झुकी रहे। ये सभी उपाय हमने आजमाये। माल उतारने की व चढ़ाने की सुविधा नये चरखे में प्रत्यक्ष थी। बापूजी कोई भी काम हाथ में लें तो फिर उसमें अपना सारा चित्त पिरो देते थे और उनको ऐसा नया-नया सूझता था जो औरों को सहज नहीं सूझता।

हमारा वीलर चोरी-चुपके तकली चलाने की कोशिश करता ही था। बापूजी ने उसे बुलाकर कहा, “एक नया चरखा बनाना है। यह पुराने चरखे देखिये। इनमें इतने-इतने सुधार करने हैं।”

सब समझ लेकर, वह तुरन्त दफ्तर में जाता था और वहां से इजाजत लेकर, कारखाने में खुद की देखरेख में सब तैयार करवा लाता था। देखते-देखते बापूजी का नया चरखा तैयार हुआ और उद्योगी मधुमक्खी की तरह गूँजने लगा। बापूजी घंटों तक कातते रहते थे, उसकी आवाज सुनकर मुझे एक सुन्दर उपमा सूझी। वह मैंने एक लेख में गुंथ ली थी। कोई पौराणिक कथाकार व्यासजी के अनुष्ठान श्लोक बोलता जाय और उसमें से जीवन-गम्भीर लेकिन थोड़ा विषादमय नाद सारे वातावरण में भरता जाय उसके जैसा बापूजी के चरखे का संगीत सुनाई देता था। तार खींचते थे और उसे तकुए पर लपेटते थे,

तार खींचते थे और उसे तकुए पर लपेटते थे। तकुए पर कुकड़ी पूरी भर जाय और पुष्ट दीखने लगे तब अभिमान से बापूजी कहते, “देखिये मेरी कुकड़ी कैसी पत्थर जैसी सख्त है!” मैं वह दबाकर देखता। पत्थर जैसी तो नहीं लेकिन औरों की कुकड़ियों से वह ठीक-ठीक ज्यादा सख्त मालूम होती थी।

इस तरह तैयार होनेवाली कुकड़ियों को परेते पर उतारने का काम मेरा था। परेते पर के तार उलझ न जायं, इसलिए उनकी लच्छियों को धागे से बांधनी होती हैं। उसके लिए धागा कहां से लाऊं?

बापूजी के लिए बाजार से खजूर व किसमिस के पुड़े आते थे। उनपर का धागा मैं रख लेता था और उसे उस काम में लाता था। फिर सूझा कि चरखा कातते हुए जो तार टूटते हैं उन्हें इकट्ठा करके, जरा बट देकर, उन्हींके धागे क्यों न बनाऊं? पुड़े के धागे मिल के ठहरे। उनसे हाथ-कते धागे अच्छे।

मेरी यह प्रवृत्ति देखकर बापूजी खुश हुए और उन्होंने कहा, “टूटे हुए धागे भी आखिरकार देश की दौलत ही हैं। उसको बरबाद नहीं करना चाहिए। पुड़ों के धागे तुम ने जतन से रखे, टूटे तारों से धागे बनाये! मैं मानता हूँ, तुम्हें डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन बनाना चाहिए!”

बापूजी के मुख से, जेल बैठे, मेरी यह नियुक्ति हुई उसकी धन्यता कुछ और ही थी।

तुम जलो

हरीश

तुम जलो

निर्धूम, ज्योति दानी दीप

दाहकता न व्यापे देह और इस गेह !

तुम जलो

पाकर जले हो नेह !

दानी !

नेह : नाता देखता है

प्रहीता कब देखता क्या दान ?

दाता देखता है ।

तुम जलो

ज्योति: फणाएं सहस्रों ऊंची किये ।

तुम जलो

धन-तिमिर, झंझावात के पारण-पिये

तुम जलो उज्ज्वल !

मनुजता के लिए,

तुम चलो

आलोक-अवलोकन युगान्त तक दिये !

मो. क. गांधी

ग्राम-सफाई

हमारे बहुतेरे देहात घूरों के जैसे मालूम होते हैं। लोग जहां-तहां पाखाना फिरते हैं, घर के आंगन को भी बाकी नहीं रखते। जहां पाखाना फिरते हैं वहां उस पाखाने को ढकने की कोई परवा नहीं करता। देहातों में कहीं भी रास्ते अच्छी हालत में नहीं रखे जाते, धूल के ढेर जहां-तहां देखने में आते हैं। इनमें हमारे बैलों को और हमें चलना भी मुश्किल हो जाता है। पानी के तालाब होते हैं तो उनमें बरतन साफ किये जाते हैं, जानवर पानी पीते हैं, नहाते और पड़े रहते हैं, उनमें बच्चे और बूढ़े भी टट्टी फिरने के बाद मल साफ करते हैं, उनके नजदीक ही वे टट्टी फिरते हैं। यह पानी पीने के काम में लाया जाता है।

किसी देहात में पहुंच जायं तो सबसे पहला दर्शन घूरे का होगा और बहुत करके वह ऊंची जमीन में होगा। गांव के भीतर जायंगे तो बाहर की और भीतर की हालत में कोई फर्क मालूम नहीं होगा। वहां भी रास्तों में गन्दगी होगी। बच्चे तो रास्तों में और मुहल्लों में ही टट्टी फिरते होंगे। पेशाब तो बड़े भी कहीं भी करते होंगे। अजनबी आदमी अगर यह हालत देखे तो उसे घूरे और देहात की आबादी के बीच कोई फर्क मालूम नहीं होगा। सचमुच में बड़ा फर्क है ही नहीं।

यह टेव चाहे जितनी पुरानी हो तो भी वह कुटेव ही है, और उसे निकालना ही चाहिए। मनुस्मृति आदि हिन्दू-धर्मशास्त्रों में, कुरान शरीफ में, बाइबल में, जस्ट तुस्त के फरमानों में रास्ते, आंगन घर, नदी-नाले, कुएं न बिगाड़ने के बारे में सूक्ष्म सूचनाएं हैं। परन्तु आज तो हम उनका अनादर ही करते हैं। यहां तक कि तीर्थक्षेत्रों में भी गन्दगी खूब होती है। शायद तीर्थक्षेत्रों में ज्यादा होती है ऐसा कहा जाय तो वह अत्युक्ति नहीं होगी।

कुत्तारदार में शंका के तट को खराब करते हुए हजारों स्त्री-पुरुषों को मैने देखा है। लोगों के बैठने की जगह होती

है वहीं यात्री मलत्याग करते हैं, अपना मुंह वगैरह गंगा में धोते हैं, और पानी भी वहीं से भरते हैं। तीर्थक्षेत्रों में तालाबों को इसी तरह बिगाड़ते हुए यात्रियों को मैने देखा है। ऐसा करने में दयाधर्म का लोप होता है और समाज-धर्म की अवगणना होती है।

ऐसी लापरवाही से हवा बिगड़ती है, पानी बिगड़ता है। फिर कालेरा, टाइफाइड वगैरा चेपी रोग पैदा हों तो उसमें आश्चर्य क्या? कालेरा की बीमारी गन्दे पानी से ही होती है। टाइफाइड के बारे में भी बहुत करके ऐसा ही कहा जा सकता है। करीब पचहत्तर फीसदी रोग हमारी गन्दी टेवों के कारण ही होते हैं। ऐसा कहें तो उसमें अत्युक्ति नहीं है।

इसलिए ग्रामसेवक का पहला धर्म देहातियों को स्वच्छता का शिक्षण देना है। इस शिक्षण में व्याख्यान-वाजी और पत्रिका को बहुत कम स्थान है, क्योंकि गन्दगी ने ऐसी मजबूत जड़ पकड़ी है कि देहाती लोग स्वयंसेवक की बात सुनने को ही तैयार नहीं होते। अगर सुनें भी तो उसके मुताबिक करने का उनमें उत्साह भी नहीं होता। पत्रिकाएं वगैरह बांटी जायं तो वे पढ़ेंगे ही नहीं। बहुतों को तो पढ़ना भी नहीं आता। और जानने की इच्छा न होने से जिनको पढ़ना आता हो उनसे पढ़वाते भी नहीं।

इसलिए स्वयंसेवक का धर्म पाठ देने का हुआ। जो ग्रामनिवासियों से करवाना है वह खुद करके बतावे तभी वे लागू करेंगे, और वे करेंगे ही इसमें कोई शंका नहीं। ऐसा होने पर भी धीरज की आवश्यकता तो रहेगी ही। दो दिन हमने सेवा की, इसलिए लोग अपने-आप करने लग जायंगे ऐसा मानने का कोई कारण नहीं।

स्वयंसेवक पहले तो ग्रामवासियों को इकट्ठा करे और उन्हें उनका धर्म समझावे। और उसी समय उनमें से कोई स्वयंसेवक मिले या न मिले, उसे तो सफाई का काम शुरू कर ही देना चाहिए। देहातों में से ही वह फावड़ा,

टोकरी या बाल्टी, झाड़ू और कुदाली इतनी चीजें हासिल कर ले। वापस मिलने का विश्वास हो जाने से लोग ये चीजें देने से इनकार करेंगे ऐसा सम्भव नहीं है।

अब स्वयंसेवक रास्तों को देखेगा और जहाँ-जहाँ टट्टी-पेशाब होगा उसे साफ करेगा। मैले को फावड़े से अपनी टोकरी में जमा करेगा और उस जगह पर धूल डाल देगा। जहाँ पेशाब किया होगा उस जगह की गीली मिट्टी फावड़े से उठाकर उसी टोकरी में डाल देगा और आस-पास की कोरी साफ धूल पेशाबवाली जगह पर छिटा-कायेगा। आसपास कूड़ा-कचरा अगर होगा तो झाड़ू से वह वुहारकर एक ओर जमा करेगा और मैले को ठिकाने लगाने के बाद उसी टोकरी में उस कूड़े को जमा करके उसे ठिकाने लगायेगा।

इस मैले को कहाँ डालना यह महत्व का प्रश्न है। उसमें स्वच्छता है और अर्थ है। बाहर पड़ा हुआ मैला बदबू फैलाता है। उसपर मक्खियाँ बैठकर फिर हमारे बारीर से लगकर या हमारी खुराक पर बैठकर रोग को चारों ओर फैलाती हैं। अगर हम इस क्रिया को सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र से देखेंगे तो बहुत-सी मिठाइयाँ वगैरह का, जो हम खाते हैं, त्याग ही करेंगे।

यह मल किसान के लिए सोना ^१ है। उसे खेत में डालने से उसकी सुन्दर खाद बनती है और फसल बहुत अच्छी उतरती है। बीन के लोग इस काम में सबसे ज्यादा कुशल हैं; और कहा जाता है, वे मलमूत्र का सोने की तरह संग्रह करके करोड़ों रुपये बचाते हैं, और साथ ही बहुत-से रोगों से बच जाते हैं।

इसलिए किसानों को यह बात समझाकर, जो इजाजत दे उसके खेत में स्वयंसेवक वह मैला गाड़े। अगर कोई किसान अज्ञान के कारण स्वयंसेवक की स्वच्छता की बात न माने तो घूरे में कोई जगह ढूँढ़कर स्वयंसेवक मैले को वहाँ गाड़े। इतना करने के बाद वह उस कूड़े की ढेरी के पास जायगा।

कूड़ा दो तरह का होता है। एक तो खाद के लायक होता है। जैसे, सब्जी के छिलके, अनाज, घास वगैरह।

^१ मराठी में 'सोनखत' कहते हैं। सोनखत यानी सुवर्ण खाद।

दूसरा लकड़ी, पत्थर, टीन वगैरह। जो खाद के लायक कचरा है वह खेत में या जहाँ उसकी खाद जमा की जा सके ऐसी जगह रखना चाहिए, और दूसरा कचरा जहाँ गड़बड़े वगैरह पाटना हो वहाँ ले जाकर गाड़ना चाहिए। इस तरह गांव स्वच्छ रहेगा, और नंगे पैर चलनेवाले लोग निर्भयता से चल सकेंगे। थोड़े दिनों की मेहनत के बाद लोग इसकी कीमत समझे बिना नहीं रहेंगे। और जब समझेंगे तब मदद करने लग जायेंगे और अन्त में अपने-आप करने लग जायेंगे। हर एक किसान अपने परिवार के मल का उपयोग अपने खेत में करेगा, ताकि किसी-का किसीपर भार न हो और सब अपनी फसल की कीमत बढ़ाने लग जायेंगे। रास्ते में टट्टी फिरने की आदत कभी न होनी चाहिए। खुले में सबके सामने टट्टी फिरना या बच्चों को फिराना असम्भ्यता है। इस असम्भ्यता का भान हमें है, क्योंकि ऐसे समय अगर कोई वहाँ से गुजरे तो हम नीची निगाह कर लेते हैं। इसलिए हर एक गांव में एक स्थान पर सस्ते-से-सस्ते पाखाने बनवाने चाहिए। घूरे की जगह का ही ऐसा उपयोग हो सकता है। और जब तक ऐसा बन्दोबस्त किसान न करें तब तक स्वयंसेवक को, जैसे रास्ते को वैसे, घूरे को साफ करना होगा। रोज सुबह ग्रामवासियों के उपयोग के बाद निश्चित समय पर वह घूरे की जगह जाकर तमाम मैला इकट्ठा करे और ऊपर बताये मुताबिक उसकी व्यवस्था करे। अगर कोई खेत न मिले तो जहाँ मैला गाड़ा हो वहाँ निशान लगाना चाहिए। ऐसा करने से गाड़ने में सुभीता होगा और जब किसान समझेंगे तब जमा हुई खाद का वे उपयोग कर सकेंगे।

मैला बहुत गहरा नहीं गाड़ना चाहिए। पृथ्वी की नौ इंच तक की थरों में असंख्य परोपकारी जन्तु रहते हैं। उनका काम है उतनी गहराई में जो कुछ हो उसकी खाद बनाना और तमाम मैले को शुद्ध करना। सूर्य की किरणें भी रामझूत (हनुमान) की तरह भारी सेवा करते हैं। इस बात की परीक्षा जिन्हें करनी हो वे खुद अनुभव लेकर कर सकते हैं। थोड़ा मल नौ इंच की गहराई में गाड़कर हफ्तेभर के बाद खोलकर देखें, और उसमें क्या हो रहा

है यह दर्ज करते रहें। उसी मल का थोड़ा हिस्सा तीन-चार फुट की गहराई में गाड़ा जाय और उसके क्या हाल होते हैं यह देखा जाय। इस तरह अनुभव मिलेगा। मैले को पतला गाड़ा जाय ताकि कुत्ते उसे खोद न सकें और बदबू न आये। कुत्ते न खोद सकें इसके वास्ते उनको रोकने के लिए आसपास कांटे-झांखर रख देना अच्छा होगा।

जब मैले को पतला गाड़ने की बात की तो समझ लेना चाहिए कि गड़बा बड़ा चौरस या लंब चौरस होना चाहिए, क्योंकि गाड़े हुए मैले पर मैला तो डालना नहीं है और उसे तुरन्त खोलना भी नहीं है। इसलिए अगले दिन जहां मैला गाड़ा हो उसकी बगल में ही दूसरा छोटा चौरस गड़बा तैयार होना चाहिए और उसमें से निकाली हुई मिट्टी एक और रखी हुई होनी चाहिए। फिर तो दूसरे दिन आकर मैला गाड़कर उस मिट्टी से बराबर ढककर चले जाने की ही बात रहेगी। इसी तरह साग-सब्जी वगैरह के कचरे की खाद बनाई जाय, लेकिन एक बाजू अलग जगह पर, क्योंकि मैला और सब्जी का कचरा एक साथ

नहीं गाड़ा जा सकता। दोनों पर जन्तु एक ही तरह से काम नहीं करते। अब स्वयंसेवक ने समझ लिया होगा कि जहां वह मैला गाड़ता होगा वह जगह हमेशा साफ होगी, सपाट होगी और ताजे जोते हुए खेत की तरह दिखेगी।

अब रहे खाद के लिए अनुपयुक्त कूड़े के ढेर। वह सारा कूड़ा एक ही गहरे गड्ढे में गाड़ना चाहिए या गांव के आस-पास के जो गड्ढे पाटने के हों उनमें गाड़ना चाहिए। वह भी रोज गाड़ा जाय, दबता जाय और साफ रहे।

एक महीने तक करने से बहुत श्रम किये बिना ही गांव घूरे मिटकर सुन्दर-स्वच्छ हो जायंगे। इसमें एक पैसे का भी खर्च नहीं है। इसमें न तो है सरकार की मदद की दरकार और न है भारी वैज्ञानिक शक्ति की जरूरत। जरूरत है सिर्फ प्रेमल स्वयंसेवक की।

कहने की जरूरत नहीं कि जो बात मल-मूत्र को लागू होती है वही गोबर और जानवर के पेशाब को भी लागू होती है।

(पृष्ठ ३ का शेष)

की प्रतिष्ठा बढ़ाई। समाजवाद ने उद्योग, व्यापार की व्यक्तिगत मालिकियत के खिलाफ राष्ट्रीय याने राज्य की मालिकियत और संचालन का विचार रखा। पर यह राज्य की मालिकियत ही समाजवाद के सामने आज एक समस्या बनकर खड़ी हो गई है। खादी ने राज्य-स्वामित्व के भुकावले में लोक-स्वामित्व की श्रेष्ठता और श्रद्धा सिद्ध की है।

ये दो बड़े काम खादी ने किये हैं, पर आज खादी कुछ चलकर फिर ठिठक गई है। उधर खादी का उत्पादन बढ़ रहा है, पर खपत के लिए रियायत देनी पड़ रही है; क्योंकि खादी में प्राण नहीं रहा है, वह अपने-आप नहीं चल सकती। दूसरे रचनात्मक कामों का भी कुछ ऐसा ही हाल है। इसका प्रमाण है कि इस देश में क्रांतिकारी

कम्युनिस्टों को माना जाता है, आपको और हमको नहीं। अंग्रेजों के जमाने में हम लोग क्रांतिकारी माने जाते थे। आज चाहे लोग कम्युनिस्टों को धोखा देनेवाले या अस-त्याचरण करनेवाले मानते हों, पर ऐसा मानते हैं कि वे क्रांतिकारी हैं। हमको चाहे वे सत्यवादी मानते हों, अहिंसक मानते हों, पर क्रांतिकारी नहीं मानते। यही कारण है कि आज खादी में तथा दूसरे रचनात्मक कामों में प्राण नहीं है। “नौकरी” के सार्फत काम में प्राण नहीं आ सकता है। प्राण क्रांतिकारी के जरिये ही आ सकता है। हमें खादी के काम की ओर इसी दृष्टि से देखना चाहिए। खादी के नव-संस्करण की जो बात चल रही है, वह इसलिए कि खादी के मार्ग में यह जो रुकावट पैदा हुई है, वह दूर हो जाय।

सत्यदेव विद्यालंकार

मास्को में अहिंसा और धर्म का सन्देश

१८९३-९४ में शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में जो आकर्षक दृश्य उपस्थित हुआ था; कुछ वैसा ही और कुछ अंशों में उससे अधिक आकर्षक दृश्य १६ मई को मास्को में उपस्थित हुआ। शिकागो में भारत के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द की ओर सहज ही मैं सबका ध्यान केन्द्रित होगया था। उसके कुछ कारण थे। सबसे बड़ा कारण यह था कि वहां स्वामी विवेकानन्द किसी दीन-हीन भावना से नहीं गये थे और उनके ओजस्वी भाषणों में उसकी छाया तक नहीं थी। अंग्रेजी राज की डेढ़-दो सदी की गुलामी में भारतीय आत्मा को कुचलने, भारतीयों के स्वाभिमान व स्वदेशाभिमान को नष्ट करने और उनम दीनता व हीनता की भावना पैदा करने का जो कुचक्र लार्ड मैकाले सरीखे अंग्रेज कूटनीतिज्ञों और ईसाई पादरियों ने रचा था, स्वामी विवेकानन्द उसके विरोध में पैदा हुए विद्रोह के प्रतीक थे। उन्होंने अमरीका जाकर भी अपने उस रूप को कायम रखा था। वह किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय अथवा किसी विशेष धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के प्रतिनिधि के रूप में अमरीका नहीं गये थे। सम्मेलन में शामिल होने में उनको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। एक सहृदय अमरीकी महिला ने अपने यहां स्वामीजी को और अपने कुछ मित्रों को भोज पर निमंत्रित किया। वहां दर्शनशास्त्र के एक अमरीकी प्रोफेसर स्वामीजी से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनके ही प्रयत्न से स्वामीजी को सम्मेलन में भाग लेने का मौका मिल सका। गृहभा वस्त्रधारी भारतीय साधु को जिस हीन दृष्टि से देखा जाता था उसीसे स्वामीजी को शुरू में देखा गया और उनकी उपेक्षा की गई। परन्तु सम्मेलन में बोलने के लिए जब वह खड़े हुए तब उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व एकाएक श्रोताओं पर छागया। उनके पहले ही वाक्य पर कई मिनट तक करतल ध्वनि होती रही। अनेक श्रोता भावावेश में अपनी कुर्सियों पर से उछल पड़े और बहुतों ने अपने हैट ऊपर उठाकर स्वामीजी का अभिवादन किया। उन्होंने "महिलाओं और सज्जनों के रूप में मेरी अपनी ही

आत्मा" शब्दों में उपस्थित जनता को जो सम्बोधन किया उसीपर श्रोता मंत्रमुग्ध हीं गये। ये यह आशा नहीं कर सकते थे कि कोई भी भारतीय इस प्रकार अमरीका की जनता के सामने समानता के नाते उसको सम्बोधन कर सकता है।

स्वामीजी के भाषण का पहला ही वाक्य इस आशय का था कि मैं संसार के सबसे महान देश की प्राचीनतम आध्यात्मिक परम्परा के प्रतिनिधि के रूप में संसार के सबसे युवा प्रजातन्त्री देश को एक सन्देश देने आया हूं। स्वामीजी के इन शब्दों ने उपस्थित जनता को और भी अधिक मंत्रमुग्ध कर दिया। इसपर जो हर्षध्वनि हुई वह कई मिनटों तक उस भवन में और श्रोताओं के कानों में गूंजती रही। पहले ही व्याख्यान का प्रभाव यह पड़ा कि हर रोज स्वामीजी के व्याख्यान के लिए आग्रह किया जाने लगा और श्रोताओं को अंतिम समय तक बिठाये रखने के लिए उनको सबके बाद बोलने का समय दिया जाता। सम्मेलन के बाद सारे अमरीका का दौरा करने और व्याख्यान देने के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया।

अपने व्याख्यानों में स्वामीजी ने धर्म के वास्तविक रूप की व्याख्या करते हुए भारतीय वेदान्त पर जो विचार प्रगट किये वे अमरीका के लोगों ने पहली ही बार सुने थे। अमरीका की स्वामीजी ने १८९९ में एक बार फिर यात्रा की। दोनों ही बार वे यूरोप के भी अनेक देशों में गये। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में स्वामीजी के विचारों का वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा कि अमरीका में पड़ा था।

स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में सम्प्रदायातीत धर्म के जिस वेदान्त-प्रतिपादित आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया, उसकी जानकारी पश्चिम के लोगों को नहीं थी। वे ईसाई धर्म के संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को धर्म माने हुए थे। स्वामीजी ने उनको पहली बार यह बताया कि धर्म का वास्तविक रूप क्या है। और विश्व में ऐसी भी विचारधारा है, जिसमें सब धर्मों का सार समाविष्ट है और जो ऐतिहासिक दृष्टिसे अति प्राचीन, दार्शनिक दृष्टि से परिपूर्ण

और आध्यात्मिक दृष्टि से परम विकसित है। यह विचारधारा भारत का अद्वैतवाद है। जब उन्होंने इस विचार का प्रतिवाद किया कि मनुष्य पापात्मा है और बताया कि वह आत्म रूप में परमात्मा का ही रूप है तब वहाँ के लोग विस्मित-से रह गये। अमरीका के समाचार-पत्रों में यह लिखा गया कि जिस देश में स्वामी विवेकानन्द सरीखे धार्मिक महापुरुष विद्यमान हैं उसमें ईसाईमत के प्रचार के लिए ईसाई पादरियों को भेजना एक विडम्बना मात्र है। चाहिए तो यह कि वहाँ से धर्म का प्रचार करनेवालों को अमरीका बुलाया जाय। जो लोग भारत में ईसाईमत का प्रचार करके भारतीयों का उद्धार करना चाहते थे उनको अपनी भूल का पता चल गया। तात्पर्य यह है कि भौतिकवादी अमरीका तथा यूरोप को वर्तमान युग में धर्म का सन्देश सुनानेवाले पहले भारतीय महापुरुष थे स्वामी विवेकानन्द। उन्होंने उस धारा का रख बदल दिया, जो साम्राज्यवादियों द्वारा धर्म के पवित्र नाम पर प्रवाहित की गई थी और जिसके कारण साम्राज्यवाद के विस्तार के साधनों में 'वीयर' और 'वेयोनेट' के साथ 'बाइबिल' का भी नाम लिया जाता था। अमरीका और यूरोप पिछली सदियों में निरन्तर भौतिकवाद की ओर बहते चले गये हैं। विज्ञान को भी उन्होंने भौतिकवाद का गुलाम बना लिया। दो महायुद्धों की ठोकें खाकर भी उनकी आंखें नहीं खुलीं। इसी कारण शीतयुद्ध के रूप में तीसरे महायुद्ध की काली घटाएँ विश्व के सिर पर छाई हुई हैं। इस विकट स्थिति में भारत ने समय-समय पर खतरे की घंटी बजाकर संसार को सामयिक चेतावनी दी है। पहले महायुद्ध की घटाओं के घिरने पर महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पूर्व की आत्मा को जागृत करते हुए पश्चिम को एक सन्देश दिया था। उसको अनसुना कर दिया गया; किन्तु फ्रांस के सुप्रसिद्ध विचारक रोमां रोलां की आत्मा को उसने हिला दिया और उन्होंने बड़े आग्रह के साथ महाकवि के उस सन्देश को पश्चिम के सामने पेश किया। दूसरे महायुद्ध की काली घटाएँ जब चारों ओर छा रही थीं, तब महात्मा गांधी ने युद्धों के विरुद्ध आवाज उठाकर एक और चेतावनी दी और अहिंसा का अमर सन्देश विश्व के सामने उपस्थिति किया। आज के 'शीतयुद्ध की काली घटाओं' को छिन्न-भिन्न करने के लिए भारत के एक और महान् संपूत श्री जवाहरलाल नेहरू और उनके

कुछ साथी जो प्रयत्न कर रहे हैं उसकी सराहना सर्वत्र मुक्त कंठ से की जा रही है। इसीका एक सुन्दर उदाहरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। इस लम्बी पृष्ठभूमि के प्रकाश में उसके सौंदर्य को समझने का यत्न किया जाना चाहिए।

सोवियत रूस को नास्तिकवादी कहकर बदनाम किया जाता है। यह प्रचार किया जाता है कि ईश्वर और धर्म दोनों का रूस से बहिष्कार कर दिया गया है। पश्चिम के भौतिकवादी राष्ट्र भी उसपर ऐसा लांछन लगाते थकते नहीं हैं। उसकी राजधानी के विशाल सभा-भवन क्रैमलिन में १६ मई को जो दृश्य उपस्थित हुआ उसका आंखों देखा विवरण सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्रकार संसद सदस्य श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी के समाचार-पत्रों के लिए भेजा है। वह वहाँ रूसी लेखक संघ के अधिवेशन में सम्मिलित होने गए थे। दुःख यह है कि उनके भेजे हुए पूरे विवरण को समुचित प्रकाशन नहीं मिला। उससे पहले उसका जो समाचार प्रकाशित हुआ वह व्यंग्यमात्र था। उससे तरह-तरह का भ्रम पैदा होगया। समाचार-पत्रों में उसके आधार पर जो चर्चा हुई वह भी भ्रमोत्पादक सिद्ध हुई।

वास्तविक घटना यह है कि क्रैमलिन में १६ मई को श्री ख्रुश्चोव को अन्तर्राष्ट्रीय लेनिन शान्ति पुरस्कार भेंट करने और उसके लिए उनका अभिनन्दन करने के लिए एक विशाल आयोजन किया गया था। भारत की ओर से विश्व-शान्ति-सम्मेलन की अध्यक्ष-समिति के सदस्य पंडित सुंदरलालजी ने अपने उस समय के भाषण में धर्म तथा अहिंसा का जो उल्लेख किया और उसपर श्री ख्रुश्चोव ने अपने जो विचार प्रगट किये वे मास्को की जनता के लिए बिल्कुल नये थे। पंडितजी के भाषण के प्रभाव और उस समय के आकर्षक व सुन्दर दृश्य का श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने कैसा सजीव वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है—“पंडितजी ने जो कुछ कहा बड़े धाराप्रवाह शब्दों में कहा। साथ-साथ ही उनके भाषण का रूसी अनुवाद जनता सुन रही थी। लोगों ने पंडितजी के भाषण को बहुत पसन्द किया और सात मिनट के भाषण में पांच-सात बार करतल ध्वनि हुई। जनता अपने हर्ष को बड़ी देर तक प्रकट करती रही। यह बात बड़े मार्क की थी कि पंडितजी ने अहिंसा को नहीं भुलाया और अपने धार्मिक होने की बात भी साफ तौर पर कह दी।

जब श्री ख्रिश्चोव उत्तर देने के लिए खड़े हुए तो उन्होंने सुन्दरलालजी के भाषण की मधुर और स्पष्ट आलोचना कर दी और धर्म के विषय में अपना मत भी स्पष्टतया प्रगट कर दिया। उसके बाद जो दृश्य उपस्थित हुआ वह देखने काविल था। ख्रिश्चोव और सुन्दरलालजी गले से गले मिले और एक दो मिनट तक उसी स्थिति में रहे। इसपर जनता ने और भी जोरों से हर्षध्वनि की। श्री ख्रिश्चोव जैसे अन्तर्राष्ट्रीय महापुरुष का वह हृदयालिंगन सचमुच हमारे जैसे दर्शकों के लिए आश्चर्यजनक था; पर जो लोग उन्हें निकट से जानते हैं उनके लिए इसमें कुछ भी ताज्जुब की बात न थी। बाद की चाय पार्टियों में वह भाषण खासी चर्चा का विषय बना रहा।”

पंडित सुन्दरलालजी ने अपना भाषण प्रारम्भ करते हुए उसी भावना का परिचय दिया जिसका परिचय स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका में अपना पहला भाषण प्रारम्भ करते हुए दिया था। पंडितजी के सम्बोधन और भाषण में भी दीनता व हीनता की छाया तक नहीं थी। उन्होंने “यारे साथी निकीता ख्रिश्चोव” शब्दों में सम्बोधन करते हुए अपने भाषण को शुरू किया। फिर पंडितजी ने कहा कि “मैं अपनी तरफ से और अपने देश भारत के लोगों की तरफ से आपको बधाई देता हूँ और आपके लिए शुभकामना प्रगट करता हूँ।” इन शब्दों में भी समता और समानता की ही भावना ओतप्रोत है। अहिंसा की चर्चा करते हुए पंडितजी ने महात्मा गांधी की भावना को कितने सुन्दर शब्दों में प्रकट किया। आपने कहा कि “मैं अहिंसा का माननेवाला हूँ। लेकिन सच्ची अहिंसा निर्बल की अहिंसा नहीं होती। सच्ची अहिंसा बलवान की अहिंसा होती है। आक्रमण या अन्याय का मुकाबला करना हरेक का फर्ज है। मुकाबला करने के लिए दो तरीके हो सकते हैं। एक हिंसा का जवाब हिंसा से और दूसरा हिंसा का जवाब अहिंसा से। मैं मानता हूँ कि अहिंसा के द्वारा हर तरह के अन्याय का मुकाबला किया जा सकता है और यह अहिंसा का तरीका हिंसा के तरीके से कहीं अधिक अच्छा और कार्य-साधक है। लेकिन जो मनुष्य अहिंसा के तरीके से अन्याय का मुकाबला करना न जानता हो उसका फर्ज है कि वह हिंसा से मुकाबला करे। अन्याय के सामने सिर झुका देना कायरता है और कायरता हिंसा से

कहीं अधिक बुरी चीज है।”

इस प्रकार पंडितजी ने अपने देश की धार्मिक विचार-धारा को प्रगट किया। आपने समस्त मानव-जाति के लिए एक ऐसे कुटुम्ब की कल्पना उपस्थित की, जिसमें ठंडे युद्ध या गरम युद्ध के लिए कोई स्थान न हो। पंडितजी ने फिर कहा कि ‘मानव-जाति’ की यह एकता और मानव-मानव के बीच भाई-चारा ही वह सर्वोच्च आदर्श है जिसतक दुनिया के सब धर्म और मानव-जाति के सब बड़े-से-बड़े हित-चिन्तक हमें ले जाने की कोशिश करते रहे हैं और आज हमें उस पवित्र आदर्श तक पहुंचाने के लिए कोई इतना अधिक काम नहीं कर रहा है जितना आप। मैं धर्म में विश्वास करता हूँ। आप शायद ‘धर्म’ शब्द को भी पसन्द नहीं करते। शायद आपको अपने नास्तिक होने का गौरव है। लेकिन दुनिया के सब धर्मग्रन्थों की शिक्षा के आधार पर—और मैंने अपने विनम्र ढंग से इन सब धर्मग्रन्थों को पढ़ा है—मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि ‘धार्मिक’ शब्द के सबसे अच्छे और सबसे ऊंचे अर्थों में आज आप दुनिया के सबसे अधिक ‘धार्मिक’ और सबसे अधिक नैतिक नेताओं में से एक हैं।”

श्री ख्रिश्चोव ने पंडितजी के भाषण के उक्त अंश का जो उत्तर दिया उसके बारे में जो कुछ समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ है वह भ्रममूलक है। उनके रूसी भाषण के उस अंश का हिन्दी में अनुवाद निम्नलिखित है। उन्होंने कहा, “भारतीय जनता के एक प्रतिनिधि पं. सुन्दरलाल ने एक जोरदार और भावपूर्ण भाषण दिया है। भारतीय जनता के साथ हमारे मैत्रीपूर्ण संबंध हैं। उनके भाषण में एक बात ऐसी है जिससे मैं सहमत नहीं हूँ। (इसके बाद पंडित सुन्दरलालजी की तरफ हल करके मिस्टर ख्रिश्चोव ने कहा) आपके भाषण से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि स्वयं नास्तिक होने के कारण मैं धार्मिक लोगों को पसन्द नहीं करता। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। आपने यह ठीक ही कहा है कि मैं धर्म में विश्वास नहीं करता, जबकि आप विश्वास करते हैं। लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकल सकता कि हममें और आपमें किसी तरह का भी द्वेष या शत्रुता रहनी चाहिए। हम सब जानते हैं कि सब धार्मिक लोग एक ही धर्म के माननेवाले नहीं हैं। दुनिया में अनेक जातियां हैं और अनेक धर्म हैं। इन सब धर्मों में भी खेचातानी चलती



रहती है और इतिहास में धर्म के नाम पर युद्ध भी हुए हैं। नास्तिक होने की हैसियत से हम हरगिज धार्मिक लोगों के साथ शत्रुता का समर्थन नहीं करते। हमने कभी भी धर्म के आधार पर लोगों में शत्रुता का प्रचार नहीं किया। न हमने कभी भिन्न-भिन्न देशों के बीच इसलिए जंग का प्रचार किया क्योंकि वे देश अलग-अलग धार्मिक या अन्य आदर्शों के माननेवाले हैं और न हम कभी ऐसा करेंगे। जो लोग धर्म के माननेवाले हैं उनके साथ हम केवल सहनशीलता का ही व्यवहार नहीं करते, हम उनका आदर भी करते हैं। धार्मिक लोगों के साथ हमारा झगड़ा केवल उस समय होता है जब धर्म का उपयोग जनता को हानि पहुंचाने के लिए किया जाता है। पुराने जमाने में जब रूस के अन्दर जार की सरकार ने ईसाई धर्मावलम्बियों को अपने अंगूठे के नीचे दबा रखा था और सरकार ईसाई धर्मावलम्बियों का पूंजीपतियों और बड़े-बड़े जमींदारों के पक्ष में उपयोग करती थी। जबकि उस समय की सरकार जनता के खिलाफ, यहां तक कि ईसाई धर्मावलम्बी जनता तक के खिलाफ, ईसाई पादरियों से काम लेती थी, तब हमने जनता को यह समझाने की कोशिश की थी कि धार्मिक भावना का उपयोग जनता के हितों के खिलाफ नहीं होना चाहिए। कुदरती तौर पर विश्व के बारे में हमारा अपना दृष्टिकोण है। हमारा अपना भौतिक दर्शनशास्त्र है। लेकिन आप जो भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवाले हैं आपके भी अपने अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। जो दूसरे धर्मों के माननेवाले हैं उनसे आपके दृष्टिकोण मेल नहीं खाते। हम यह चाहते हैं

कि सब लोग धर्म के माननेवाले भी और धर्म के न माननेवाले भी मुख्य चीज के बारे में यानी शांति के बारे में मिलकर साथ-साथ प्रयत्न करें। हम चाहते हैं कि सब राष्ट्र भाइयों की तरह मिलकर रहें, राष्ट्र राष्ट्र एक दूसरे से युद्ध न करें, बल्कि प्रेम और शांति के साथ मिलकर रहें। पिछले हाल के जमाने की कुछ बातें मैं याद दिलाना चाहता हूं। दूसरे महा-युद्ध के दिनों में हमारे देश के अन्दर मुस्लिम धर्मों के बहुत से पादरियों और पुरोहितों ने जनता का साथ उस समय दिया जबकि जनता फासिस्ट हमले से अपनी समाजवादी मातृ-भूमि की रक्षा करने में लगी हुई थी। ऐसी भी कई घटनाएं हुई हैं जबकि पादरियों और पुरोहितों को हमारी सरकार से इनाम और इकराम, तमगे और खिताब दिये गए हैं।”

इसके बाद श्री ख्रिश्चोव पंडित सुन्दरलाल जी की तरफ बढ़े और दोनों में वह हृदयालिंगन हुआ जिसका वर्णन ऊपर किया गया है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि श्री ख्रिश्चोव भले ही अपनेको नास्तिक या भौतिकवादी कहें किन्तु पंडितजी ने जो कुछ कहा उसमें और उनके कहने में अधिक अन्तर नहीं है। दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने, उनका अन्याय-पूर्ण शोषण तथा दमन करने और उनकी प्रगति एवं विकास में रोड़े अटकाने के लिए धर्म का जो दुरुपयोग किया जाता है निस्संदेह उसकी निन्दा की जानी चाहिए। उसको धर्म कहना या मानना वास्तव में धर्म को अस्वीकार करना है। संसार के सभी महापुरुषों ने उसका खण्डन किया है।

यदि मनुष्य की आत्मा दोषपूर्ण हो, तो शरीर में निरंतर वापस आता रहेगा; क्योंकि मन के पाप शरीर के पापों के गुप्त कारण होते हैं। उसी तरह, जबतक किसी जाति का मन अहंकार के अधीन रहेगा तबतक समाज के अंदर रहनेवाले मनुष्य पर सर्वदा ही दारिद्र्य तथा संताप वापस आते रहेंगे।

बद्रीप्रसाद स्वांमी

सर्वोदय-समाज-रचना के मूलाधार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के सहयोग के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं। इसलिए वह सदैव से ही समूह में रहता आया है तथा समूह के सुख-दुख के लिए ही आदिकाल से सोचता आया है, परन्तु ज्यों-ज्यों विज्ञान का विकास हुआ और आत्मज्ञान का अभाव हुआ त्यों-त्यों व्यक्ति ने समूह के लिए कम-से-कम सोचकर स्वयं के सुख-दुख के लिए अधिक-से-अधिक सोचना प्रारंभ कर दिया तभीसे व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संघर्ष का जन्म हुआ और समाज में विषमता-विकास और वैमनस्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिए सर्वोदय-विचार व्यक्तिगत सिद्धि को सामूहिक समृद्धि का प्रतिफल व मूल साधन मानता है। मार्क्स के समूहवाद और गांधी के सर्वोदय में यही मौलिक भेद है। जहां मार्क्स ने मनुष्य और मशीन को एक-सा बरता है वहां गांधीजी ने जड़ और चेतन में भेद किया है। सर्वोदय व्यक्ति और व्यक्ति के व्यक्तित्व को अवश्य स्वीकार करता है, परन्तु उसकी स्वतंत्रता दूसरों का बंधन और उसकी संपन्नता दूसरों की दरिद्रता का कारण नहीं बननी चाहिए। सर्वोदय-व्यवस्था में व्यक्ति स्वच्छंद नहीं बल्कि संयमी होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि सर्वोदय-समाज-रचना में व्यक्ति का संयम और समूह की सुख-समृद्धि का क्या आधार होगा? जबकि आजकल चारों ओर तेज गति से जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की जबरदस्त होड़ हो रही है, तो देखना यह है कि एक तरफ अधिक-से-अधिक प्रकृति से दूर रहकर बेकरी में बनी रोटी और डिब्बों में बंद दूध व डाल्डायुक्त बनावटी भोजन व कपड़ा, बनावटी विजली, रोशनी व हवा तो दूसरी तरफ अधिक-से-अधिक ताजा भोजन, स्वास्थ्यप्रद कपड़ा, ताजी हवा व सूर्य की रोशनी तथा मनुष्य का श्रम-प्रधान सादा-सरल जीवन। अब स्वयं ही सोचा जा सकता है कि कौन-सा जीवन सुखी व समृद्ध-शाली होगा? परन्तु ये सब नैतिकता के अभाव में गौण है। जीवन-स्तर की ऊंचाई अगर भौतिक दृष्टि से कूती जाय तो मनुष्य-समाज और पशु जगत में कोई अंतर नहीं रहेगा। जीवन-स्तर की ऊंचाई का असली मापदंड तो उसके नैतिक

मूल्य हैं। समाज में वे ही मनुष्य आज तक ऊंचे और आदर-योग्य माने गये हैं जिन्होंने स्वयं भूखे रहकर औरों को खिलाया है। स्वयं प्यासे रहकर औरों को पिलाया है, न कि वे जिन्होंने अपने पेट का पहले फिक्र कर औरों को ठुकराया है। जीवन जितना अप्राकृतिक होगा उतना ही अनैतिक होगा। यह तो स्वयंसिद्ध बात है। क्योंकि उसमें सादगी, संयम, श्रम, सरलता और स्वच्छता को कोई स्थान नहीं होगा। जितना मनुष्य का जीवन प्रकृति के नजदीक होगा उतना ही नैतिक होगा। इसलिए सर्वोदय-समाज में बुद्धि के स्थान पर श्रम को, समृद्धि के स्थान पर संयम को शासन के स्थान पर अनु-शासन को और समता के स्थान पर समाधान को स्थान दिया जायगा।

लोग अक्सर कहा करते हैं कि समाज-परिवर्तन के लिए संघर्ष अनिवार्य है। संसार संघर्ष का ही प्रतिफल है। संघर्ष व्यक्ति के स्वभाव में पड़ा है। सोचना यह है कि समाज-परिवर्तन से तात्पर्य क्या है? मतलब यह है कि आप जैसा सोच रहे हैं वैसा सभी सोचने लगे और करने भी लगे, अर्थात् समाज के आज विचार आज की मान्यताओं और मूल्यों में परिवर्तन ही आपका लक्ष्य है तो स्पष्ट है कि संघर्ष से तो विचार बदलने के बदले विकार-वृद्धि होगी। व्यक्ति और व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त होगा। संघर्ष से क्रोधाग्नि प्रकट होती है, जिससे राग, द्वेष और मत्सर का निर्माण होता है। इस प्रकार संघर्ष से समाज का परिवर्तन होगा या पतन यह स्वयंसिद्ध है। यह मानना भी भूल है कि संसार संघर्ष का ही प्रतिफल है। संसार के प्रत्येक पुरुष, पशु-पक्षी और प्राणी की ओर नजर डालें तो मालूम होगा कि सभी प्राणियों का प्रादुर्भाव और विकास प्रकृति के पांच तत्वों के सहयोग पर ही निर्भर है। जरा अपनी शरीर-रचना पर ध्यान दीजिये, पांचों ज्ञानेन्द्रियों और पांचों कर्मेन्द्रियों के पूर्ण सहयोग से ही शरीर की सारी क्रियाओं का सुव्यवस्थित ढंग से संचालन होता है। जब कभी किसी एक इन्द्रिय में विकार होता है तो बाकी सभी इन्द्रियां अपनी संपूर्ण शक्ति उस

विकारयुक्त इन्द्रिय को विकारमुक्त करने में लगा देती हैं क्या इसे संघर्ष कहा जायगा या सहयोग ? प्रकृति की प्रत्येक प्रक्रिया में सहयोग-समाविष्ट है । आखिरकार हमारे समाज-परिवर्तन का तात्पर्य भी तो सहयोगी समाज-रचना ही तो है ? तो फिर संघर्ष से सहयोगी समाज-रचना की कल्पना करना कितनी भयंकर भूल व भ्रम है ? एक तरफ तो मानव की विवेक-शक्ति हजारों वर्षों के विकास के बाद इस नतीजे पर पहुंची है कि आध्यात्मिक दृष्टि से हम सब एक हैं तथा मौलिक समस्याएं भी हमारी सबकी समान हैं तो फिर उनका समाधान भी सहयोग से ही संभव है न कि संघर्ष से । संघर्ष पशुता व अज्ञानता है । मानव मानव को सुखी बनाने के लिए अज्ञानतावश मानव से ही संघर्ष कर रहा है । नतीजा यह होता है कि सुख के भ्रम में दोनों दुखमय दंगल करके मानवता खोकर दानवता को प्राप्त करते हैं ।

अधिकतर लोगों का कहना है कि सबके हित की बात कहना संभव नहीं है । इसके पहले कि यह विचार संभव है कि नहीं हमें भली प्रकार समझ लेना है कि सर्वोदय-विचार सबका हित और उदय चाहता है । इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि गरीब के उदय के साथ-साथ अमीर की अमीरी का भी उदय हो ? असलीयत में अमीर का उदय तो अमीरी की समाप्ति में ही है । कृपकाय बदनवाले भाई के बदन में खून व मांस-वृद्धि करके तथा मोटे-ताजे मांसयुक्त शरीरवाले सज्जन की मांस व खून-वृद्धि को रोककर स्वस्थ बनाया जाय । इसीमें दोनों का हित व उदय है, और यही सर्वोदय है । आज संपूर्ण समाज रोगग्रस्त है । कोई दुबलेपन से दुखी है तो कोई मुटापे से । इसलिए संपूर्ण समाज के हित से ही सोचना होगा । अगर हम समाज में सहयोग के आधार पर सही माने में समता, बंधुता तथा स्वतंत्रता स्थापित करना चाहते हैं तो सर्वजन-हिताय पर ही आना होगा । सर्वोदय को स्वीकार किये बिना न सहयोग ही प्रकट होगा और न संघर्ष को ही ढाल सकेंगे । संघर्ष की जननी बहुजन-हिताय का सिद्धांत है । समाज में एक व्यक्ति का असंतोष सारे समाज को आग लगा सकता है । क्योंकि शरीर का एक रोगग्रस्त अंग सारे शरीर को संकट में डाल देता है । इसीलिए प्रकृति के नियमानुसार शरीर के प्रत्येक अवयव में संपूर्ण सहयोग है । आज बहुजन-हिताय के इस मूलभूत दोष पर आधारित योजनाओं

के कारण समता के बदले विषमता बढ़ती जा रही है । आज विषमता और विनाश का दोष विज्ञान के सिर मढ़ा जाता है तथा साथ-ही-साथ विकास का माध्यम भी विज्ञान को माना जाता है । परन्तु अकेला विज्ञान पंगु है । यह सिर्फ गति दे सकता है परन्तु उसको जबतक सही मति का सहारा नहीं मिलेगा तबतक विज्ञान विनाश का ही कारण बनेगा । इसलिए विज्ञान और आत्म-ज्ञान का सहकार होना आवश्यक है । वास्तव में दोनों एक ही प्रकार का संकेत कर रहे हैं । आत्म-ज्ञान कह रहा है कि मिलकर रहना मानवता है, उधर विज्ञान कह रहा है कि मिलकर नहीं रहोगे तो मिटा दूंगा । ऐसी हालत में अंततोगत्वा सबको सर्वोदय के लक्ष्य की ओर आना ही होगा ।

सर्वोदय का तीसरा मूल विचार है कि शासन के बदले सुव्यवस्था हो तथा व्यवस्था का स्वरूप विकेंद्रित हो । नीचे अधिक-से-अधिक और ऊपर कम-से-कम तथा व्यवस्था के निर्णय सर्वसम्मति से हों । यह विचार ही लोगों को ऊटपटांग लगता है, परन्तु ज्योंही आपको सर्वजन-हिताय का विचार समझ में आ जायगा तो सर्वसम्मति के सिद्धान्त की संभावना प्रकट हो जायगी । सर्वोदय-समाज-रचना सर्वसम्मति के बिना संभव भी नहीं है, क्योंकि जहां हम सबके हित की बात सोचते हैं वहां सबकी सम्मति भी आवश्यक है । समाज के एक ही व्यक्ति पर विचार व योजना लादी गई तो समाज को उस व्यक्ति का सहयोग तो मिलना दूर रहा परन्तु संघर्ष की शुरुआत अवश्य हो जायगी । ऐसी स्थिति में सहयोग की सिद्धि कभी संभव नहीं होगी । इसलिए आदर्श स्थिति तो यह है कि जब तक किसी विषय व विचार पर सर्वसम्मति न बन जाय तब तक उसे कार्य रूप में परिणत न किया जाय । परन्तु समाज की ऐसी आदर्श स्थिति तक पहुंचने के लिए आज क्या किया जाय यह भी तो प्रश्न है । क्योंकि आज तो लोगों को सर्व-सम्मति असंभव ही नजर आती है । इसमें कोई शक नहीं कि जबतक सबकी मति में साम्य का विकास नहीं होगा तबतक सर्वसम्मति भी प्रकट नहीं होगी । इसके लिए सद् विचारों के व्यापक प्रचार व प्रयोग की आवश्यकता है । तभी समाज में सम्यक् सद्बुद्धि का निर्माण होगा, ताकि समाज सर्वसम्मति की स्थिति में पहुंच सके । तबतक समाज में गतिशीलता कायम रखने के लिए सर्वसम्मति का प्रयोग किया जा सकता

है। इसके अनुसार भिन्न विचार व मति नेकेवाले बहुमत के साथ न सहयोग करेंगे और न संघर्ष और बहुमत को अपने विचार के अनुसार कार्य करने की अनुमति प्रदान करेंगे। इससे संघर्ष टलेगा तथा व्यक्ति की विचार-स्वतंत्रता का हनन भी नहीं होगा। हो सकता है आज नहीं तो कल न समझनेवाले लोगों के विचार समझ में आने पर सहयोग प्रकट हो सकता है। परन्तु बहुमत-निर्णय से तो वैसी स्थिति पैदा हानि की संभावना ही खत्म हो जाती है, क्योंकि आज के बहुमत-निर्णय जब अल्पमत पर थोपे जाते हैं उससे अल्पमत की विचार स्वातंत्र्यता तो समाप्त होती ही है, परन्तु साथ-साथ विकास के नाम पर विकार तथा सहकारी के नाम पर संघर्ष समाज में बढ़ता है। यह कोई जरूरी नहीं है कि बहुमत कभी भी भयंकर भूल नहीं कर सकता? और अल्प मत का विचार उससे अच्छा विचार नहीं हो सकता। सर्वानुमित में अल्पमत को अपना सद् विचार समझाने की सदा गुंजाइश रहती है तथा बहुमत को अल्पमत के सद् विचार को समझ में आने पर उसे स्वीकार करके अपने निर्णय को बदलने की भी स्थिति रहती है।

इसलिए अगर हमें सही माने में सहयोगी समाज-रचना करनी है तो सर्वसम्मति के सिद्धान्त को ही स्वीकार करना होगा और उसी ओर निरंतर बढ़ने का प्रयास करना होगा।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह बिना समाज के एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। परन्तु आज तो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सहयोग के बदले संघर्ष की स्थिति बन

चुकी है और सहयोग के सिद्धान्त और उसकी शक्ति को वह भूल-सा गया है। समाज के सहयोग से ही वास्तव में सुख-शांति और सुख-समृद्धि हो सकती है, इसका आज समाज के बहुत कम लोगों को ज्ञान है। इसलिए आज हर व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा के लिए अपने साथी से सहयोग प्राप्त करने के बदले संघर्ष कर रहा है। और इसका एक मात्र मूल कारण व्यक्तिगत मालिकियत और व्यक्तिगत संग्रह है। व्यक्तिगत मालिकियत अज्ञानता है तथा व्यक्तिगत संग्रह का एक कारण कल की चिन्ता है। जबतक व्यक्तिगत मालिकियत और संग्रह समाज में कायम रहेगा तबतक संघर्ष टल नहीं सकता और सहयोग हर्गिज प्रकट हो नहीं सकता। मगर आज हर व्यक्ति को कल की चिन्ता से मुक्त कर दिया जाय तो वह संग्रह का संकट क्यों मोल लेगा? और आज संग्रह के लिए समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनैतिक तरीके काम में जो लाये जा रहे हैं वे फिर क्यों चलेंगे? मालिकियत का मूल कारण ही अज्ञानता के साथ-साथ संग्रह के लिए ही है। जब संग्रह की आवश्यकता नहीं रहेगी तो मालिकियत की भावना भी मनुष्य के मस्तिष्क से मिट जायगी। इसलिए वास्तविकता यह है कि व्यक्ति समाज में सहयोग से ही जीवित है तो समाज ही उसको कल की चिन्ता से मुक्त कर सकती है। ऐसी हालत में यह संग्रह समाज के लिए हो और मालिकियत भी समाज की हो तो व्यक्ति व्यक्ति के बीच का संघर्ष भी समाप्त होगा और सही माने में सहयोग और सहकार प्रकट होकर समाज में पुनः समता, स्वतंत्रता तथा बंधुता कायम हो सकती है।

गलती करना अपराध नहीं है। गलती जिंदगी में सबसे हो जाती है। पर अपनी गलती न मानना ही हमारी सबसे बड़ी गलती होती है।

—अज्ञात

सुरेशराम

स्वतंत्र भारत की युद्धनीति

पन्द्रह अगस्त हो या छब्बीस जनवरी, नई दिल्ली में हमारे देश की फौजी शक्ति का घंटों तक जबर-दस्त परेड-प्रदर्शन चलता है और राजधानियों में अधिकारी गण फौज की सलामी लिया करते हैं। विदेश से जब कोई मेहमान आते हैं तो उनके स्वागत में भी फौजी प्रदर्शन किया जाता है। राष्ट्रपति के पास जब कोई नया विदेशी राजदूत अपनी पहली मुलाकात को आता है, तब भी उसको फौजी आवभगत के साथ पेश किया जाता है। सहज ही मन में सवाल उठता है कि यह सब शिष्टाचारमात्र है, या अंग्रेजी राज के जमाने से चली आनेवाली परम्परा का पालन-पोषण है, या यह स्वतंत्र भारत की अपनी नीति व आदर्शों का विचारपूर्ण संकेत है ?

हमारे प्रधानमंत्री अक्सर कहा करते हैं कि भारत सरकार न अमरीकी गुट में है, न रूसी गुट में और वह इन सबसे अलग, एक नई तीसरी शक्ति की समर्थक है। अगर तीसरी शक्ति से उनका आशय ऐसे राष्ट्रों के सम्मेलन से है जो अमरीका व रूस, दोनों के असर से अलग हैं, तब तो बात ठीक है। लेकिन अगर तीसरी शक्ति से मंशा किसी ऐसी शक्ति का संगठन करना हो जो ऐसे आधार व मान्यताओं पर खड़ी हो जिनकी चिन्ता न अमरीका को है न रूस को, तब उस कथन में कोई ज्यादा वजन नजर नहीं आता। क्योंकि, यदि अमरीका व रूस शस्त्र-बल के उत्तरोत्तर बड़े संगठन बनाने में विश्वास करते हैं और अन्तिम आधार हिंसा देवी को मानकर उसकी निरन्तर उपासना करते हैं, तो हमारा देश भी अमरीका व रूस का अनुयायी है और अपनी सामर्थ्य व प्रतिभा के अनुसार सैन्य संगठन और हिंसा-आराधना करता है। जब हिंसा के आधार पर तीसरी शक्ति खड़ी करने को सोचा जाता है तो कोई एतबार नहीं कि संकट पड़ने पर हम सबसे अलग रह सकेंगे या किसी एक गुट द्वारा रौंद न डाले जायेंगे।

यह जरूर है कि हमारी सरकार कहा करती है कि अणु शस्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिए और युद्ध से दूर रहना चाहिए। लेकिन उसका यह कहना छोटे मुंह बड़ी बात जैसी चीज ही है। कारण, वह खुद तो अपनी पूरी ताकत से शस्त्र-संचय में लगी है और सेना का संगठन तीव्र करती जा रही है। हां, अगर वह स्वयं निःशस्त्रीकरण की तरफ अमली कदम उठाती और सेना का उपयोग कम करने का निश्चय करती, तब उसकी बात में कुछ वजन होता। लेकिन खुद शस्त्रीकरण की तरफ बढ़ते हुए दूसरों का निःशस्त्रीकरण के लिए आवाहन करना उसे शोभा नहीं देता।

इस वास्ते समय आगया है कि अब स्वतंत्र भारत की युद्ध-नीति स्पष्ट हो जानी चाहिए। मुख से शान्ति का उच्चारण और अन्दर से शस्त्रों की तैयारीवाली बगुला-भक्ति नहीं चलेगी। अगर हमारा निश्चय यह हो कि हम अपनी राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शस्त्रों द्वारा करेंगे और दुनिया की निगाह में एक बलवान फौजी शक्ति बनेंगे तो वह निश्चय सर्व-विदित होना चाहिए। तब हमको अपनी सारी शक्ति उसी दिशा में लगानी होगी और अपने देश-वासियों से क्या, विदेशों से क्या, सबके आगे जाहिर कर देना होगा कि हम पत्थर का जवाब पत्थर से देने में विश्वास करते हैं और हम किसी भी संकट का सामना फौज के बल पर ही किया चाहते हैं।

उस हालत में हमको ऐलान करना होगा कि अहिंसा या शान्ति के तरीकों में हमारा विश्वास नहीं है और हमारी फौजी तैयारी में जो भी बाधाएं खड़ी होंगी उन्हें बर्दाश्त नहीं किया जायगा।

कहने की जरूरत नहीं कि इस सम्बन्ध में व्यवहार की दुहाई देते हुए, बीच का रास्ता या मध्यम मार्ग अपनाने की बात नहीं चलेगी। थोड़ी हिंसा और थोड़ी अहिंसा-वाली युक्ति निरर्थक होगी; क्योंकि थोड़ी हिंसा के माने

हैं हार खाना, मार खाना और अपनेको जान-बूझकर गुलाम बना लेना ।

दुःख की बात है कि इस दिशा में जो अपनेको गांधी-वादी मानते हैं, उनमें से सबका मत भी स्पष्ट नहीं है । अपने देश के फौजी खर्च और शस्त्रीकरण पर हम चूँ तक नहीं करते । एक अंग्रेज शान्तिवादी ने ठीक ही प्रश्न उठाया है—

“मुझे जो चीज परेशान करती है वह यह कि जो लोग गांधीजी के बहुत नजदीक थे और उनकी प्रेरणा से आज काम कर रहे हैं, इनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो अपने देश की फौजी तैयारी के खिलाफ उतनी ही बुलन्द आवाज उठाते हों जितनी कि वह बड़े राष्ट्रों के शस्त्रीकरण के खिलाफ उठाते हैं । मुझे ऐसा लगता है कि आम भारतीयों का ही नहीं, जो गांधीवादी परम्परा में काम कर रहे हैं, उनका भी ढंग यह है कि (१) पाकिस्तान के खिलाफ हिन्दुस्तान की नाकेबन्दी पर कुछ न बोलें और (२) जिस हालत में आज हिन्दुस्तान है उसकी इस तरह से व्याख्या करना कि हिन्दुस्तान के शस्त्रीकरण को उचित ठहरा दें ।”

आगे चलकर वह मित्र कहते हैं—“अहिंसा में विश्वास करनेवाले बहुत-से भारतीय अपनी सरकार की स्थिति से इतने निकट एकरूप होगये हैं कि वह भारत के शस्त्रीकरण का ही समर्थन कर बैठते हैं । मेरी निगाह में भारत की विदेश-नीति की यही सबसे बड़ी कसौटी है । पाकिस्तान के वास्तविक डर के कारण उसका अपना शस्त्रीकरण भारत के अपने शान्ति के प्रयत्नों को एकदम काट देता है । आणविक शस्त्रों को खतम करने की उसकी कोशिश भी इसी कारण बेकार हो जाती है । . . .”

इन अंग्रेज मित्र का कथन सोलह आने सही और सच्चा है । पाकिस्तान के खिलाफ अपनी सेना बढ़ाना और शान्ति की बात करना दोनों साथ-साथ नहीं चलेंगे । अगर दलील यह दी जाय कि भारत अपनी रक्षा की खातिर ऐसा करता है, तब फिर रूस या अमरीका भी तो अपनी-अपनी रक्षा की खातिर, आणविक शक्ति को बढ़ा रहे हैं । उनको कब हथियार हथियार के वास्ते प्यारे हैं ? उनको रक्षण प्यारा है और इसी कारण से हथियारों

की शोध करते हैं, ताकि शत्रु का सामना कर सकें, उसको जवाब दे सकें ।

रक्षण के खातिर शस्त्रीकरण के लचर सिद्धान्त के ही कारण शस्त्र दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ते गये और बढ़ते जा रहे हैं । इसी तर्क के कारण दो महायुद्ध हुए और अगर इस तर्क का आगे आश्रय लिया गया तो आगे भी युद्ध होगा । आज के जमाने में रक्षण और आक्रमण में कोई विशेष फर्क नहीं रह गया । शब्द अलग भले हों, गरज दोनों की एक ही है ।

हां, तो अगर हमारा देश फौजी रास्ते को अपनाता है तो फिर उसे जोर-शोर के साथ शस्त्रीकरण करना होगा और साथ में केन्द्रीकरण और औद्योगीकरण भी । क्योंकि इन तीनों का तिपाई के तीन पायों जैसा साथ है । एक के बिना दूसरा पनप नहीं सकता । आधुनिक शस्त्र विद्या विकेंद्रित या अनौद्योगिक भूमिका पर नहीं सफल हो सकती । शस्त्रीकरण के साथ-साथ केन्द्रीकरण और औद्योगीकरण खूब ताकत और शान के साथ करना पड़ेगा ।

इस नीति का नतीजा क्या निकलेगा ? ज्यादा विस्तार में न जाकर इस समय इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इस देश में केन्द्रीकरण और औद्योगीकरण बढ़ने-बढ़ाने का मतलब है —

(अ) गरीबों और दीन-दुःखी, यानी देश की अस्सी फीसदी जनता का निरन्तर शोषण ।

(ब) अमीर और गरीब के बीच की खाई का ज्यादा चौड़ा होना और सामाजिक-आर्थिक विषमता की वृद्धि ।

(स) विदेशी पूंजी और विदेशी हितों की ताबेदारी ।

इन सबके बावजूद भी अगर शस्त्रीकरण से हमारे देश का हित होता तो यह चीजें हम बरदाश्त करने को तैयार हो जाते । लेकिन यह साफ जाहिर है कि भारत का शस्त्रीकरण करना याने भारत का गुलामीकरण—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और मानसिक परवशता व गुलामी ।

कोई पूछेगा क्यों ? एक ही उत्तर देकर संतोष करेंगे । आखिर युद्ध में लड़ने कौन जायेगा ? वे श्रीमान

जायंगे जो हवा-कंडीशन्ड महलों में डटे हैं और जिन्हें न खाना हजम होता है, न नींद आती है ? वे बुद्धिजीवी जायंगे जो कलम के अलावा दूसरी चीज उठा नहीं सकते और नाजुक-बदन होगये हैं ? जायंगे वे ही दीन-हीन जो चोटी का पसीना एड़ी तक बहाते हैं और जिनकी मेहनत पर राष्ट्र को खाना कपड़ा मिलता है । लेकिन जब देश में विषमता बढ़ती होगी, दारिद्र्य विकट होता जायगा और उन रंगरूटों को न रोटी-कपड़े का इत्मीनान होगा न अपने बाल-बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का—तो आप उन्हें कितनी तनखाह क्यों न दे, उनकी जान में बल कहां से आयेगा ? उनका 'मोरेल' क्या होगा ? और जिस सेना का 'मोरेल' ऊंचा नहीं है, वह बिना लड़े हार जायगी, बिना भिड़े मार खायगी और बिना देखे भाग जायगी ।

इसलिए हिक्मत और हिम्मत दोनों का तकाजा यह है कि हमारा देश व सरकार पूर्ण निःशस्त्रीकरण की नीति को अपनाये और उसे व्यवहार में उतारे । हमें न फौज चाहिए न हथियार । हम अपनी रक्षा खुद कर लेंगे, अपने मसले खुद हल कर लेंगे । जिस प्रक्रिया और शक्ति से अंग्रेजी साम्राज्य का सामना किया, उसीको ज्यादा कुशल बनायेंगे और भीतर-बाहर, दोनों हालतों में अपनेको

सम्हाल लेंगे—सामुदायिक अहिंसात्मक शक्ति का अमोघ सत्याग्रह-शस्त्र हमारे पास है ही । उसे ही ज्यादा व्यापक और दूरगामी बनाकर परिस्थिति का मुकाबला कर लेंगे । कुछ बलिदान जरूर होंगे इसमें । लेकिन वे तो शस्त्रीकरण में भी होंगे । मगर अहिंसा के रास्ते में बलिदान उससे कुछ कम ही देने पड़ेंगे । इस वास्ते यह सौदा सस्ता भी बैठेगा—जिस तरह आजादी के लिए बैठा ।

अपने देश के नागरिकों, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं, सत्ताधारियों, मनीषियों और विचारकों से हमारी विनती है कि इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करें । एक स्वर से हम कहें कि स्वतंत्र भारत को न शस्त्र चाहिए न सेना और अहिंसा की शक्ति खड़ी करने में पूरा योग दें । अपनी प्रक्रिया साधन-शुद्धि की होगी । हम जो कुछ करें अहिंसा के आधार पर करें । हमको नई दिल्ली के प्रदर्शन बन्द करने होंगे और शान्तिमय अहिंसात्मक, सत्याग्रही शक्ति खड़ी करनी होगी । उसकी रोशनी में नई परम्पराएं स्थापित करनी पड़ेंगी । नये रीति-रिवाज शुरू करने होंगे । और तब हम दुनिया से न केवल शान्ति की बात कहने के अधिकारी होंगे, बल्कि सच्ची शान्ति वास्तव में स्थापित करा सकेंगे ।

आज (२३-१-४८) सुभाषबाबू की जन्म तिथि है... सुभाषबाबू बड़े देश-प्रेमी थे । उन्होंने देश के लिए अपनी जान की बाजी लगा दी थी और वह करके भी बता दिया । वह सेनापति बने । उनकी फौज में हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिख, सब थे । सब बंगाली ही थे, ऐसा भी नहीं था । उनमें न प्रांतीयता थी, न रंगभेद, न जाति-भेद । वह सेनापति थे, इसलिए ज्यादा सहूलियत लेनी या देनी चाहिए ऐसा भी नहीं था ।

—मो. क. गांधी

गांधीजी

भगवान बुद्ध

मैं निस्संकोच भाव से यह कह सकता हूँ कि बुद्ध के जीवन से मुझे बहुत प्रेरणा मिली है और उससे मैंने बहुत-कुछ सीखा है।

मेरी धारणा है कि हिंदू-संस्कृति में बौद्ध-संस्कृति भी जरूर शामिल है। इसका सीधा-सा कारण यही है कि बुद्ध स्वयं एक भारतीय थे और केवल भारतीय ही नहीं, हिंदुओं में भी श्रेष्ठ हिंदू थे। मुझे बुद्ध के जीवन में एक भी बात ऐसी नहीं मिली जिससे यह बात साबित हो कि उन्होंने हिंदूधर्म छोड़कर कोई नया मत ग्रहण कर लिया था।

काफी विचार के बाद मैंने यह राय बनाई है कि बुद्ध के उपदेशों की खास-खास बातें आज हिंदूधर्म का अविभाज्य अंग बन गई हैं। गौतम बुद्ध ने हिंदूधर्म में जो महान सुधार किये हैं, उन्हें त्याग सकना अब हिंदू मात्र के लिए असंभव है। बुद्ध के महान बलिदान, उत्कृष्ट त्याग और निष्कलंक पवित्रता ने हिंदू धर्म पर एक अमिट और चिरस्थायी छाप छोड़ी है और हिंदूधर्म इस महान गुरु का सदा आभारी रहेगा। मैं तो यहां तक कहूंगा कि आज बौद्धधर्म के नाम से जो धर्म प्रचलित है, उसमें से हिंदूधर्म ने जो वस्तुएं ग्रहण नहीं की हैं, वे बुद्ध के जीवन और उपदेशों में थी ही नहीं।

तथागत का जीवन हिंदूधर्म के श्रेष्ठतम सिद्धांतों से पगा हुआ था। वह कई ऐसे सिद्धान्तों को पुनः प्रकाश में लाये, जो केवल वेदों में दबे-ढके पड़े थे और जिन्हें लोग भूल चुके थे। वेदों में निहित सुनहरी सत्य, शब्द-जंजाल से ढक गया था। परंतु इस महान हिंदू आत्मा ने यह आवरण नष्ट कर दिया। उन्होंने वेदों के कुछ शब्दों का नया ही अर्थ लगाया, जिसकी उनकी पीढ़ी के लोग कल्पना भी नहीं कर सकते थे। भारत की भूमि इन नवीन अर्थों को अपनाने के लिए स्वभावतः उपयुक्त थी ही।

तथागत के हृदय की तरह उनके उपदेश भी सर्वग्राही और विशाल थे। इसीलिए उनका शरीर न रहने पर भी बौद्ध धर्म फैला और सारी दुनिया में छा गया। संभव है कि लोग मुझे बौद्ध मानने लगे, परंतु मैं यह कहना नहीं चाहता

सकता कि यह विजय हिंदूधर्म की ही विजय थी। बुद्ध ने कभी हिंदूधर्म का खंडन नहीं किया। उन्होंने तो इस धर्म के आधार को मजबूत बनाया; इसमें एक नया जीवन फूंककर इसकी एक नई व्याख्या की।

पहली बात मैं एक सर्वव्यापक शक्ति—ईश्वर—में विश्वास की लेता हूँ। मेरे सामने अनेक बार यह राय जाहिर की गई है और मैंने पुस्तकों में भी पढ़ा है कि बुद्ध अनीश्वरवादी थे। मेरे विचार से यह धारणा बुद्ध के उपदेशों के मूल तत्व के विरुद्ध है। बुद्ध ने उन त्याज्य परंपराओं का खंडन किया था जो उनके समय में ईश्वर के नाम पर चल पड़ी थीं। संभवतः इसी खंडन से यह भ्रम पैदा हुआ कि उनका ईश्वर में विश्वास न था। यह सही है कि उन्होंने इस बात का खण्डन किया कि ईश्वर नाम का पुरुष द्वेष से प्रेरित हो सकता है, अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर सकता है। उनकी आत्मा इस बात के प्रति विद्रोह कर उठी कि ईश्वर नाम का एक प्राणी प्रसन्न होने के लिए उन जीवों का खून मांग सकता है, जो स्वयं उसीने पैदा किये हों।

बुद्ध ने भारत को एक बहुत बड़ी बात यह सिखाई कि निर्दोष पशुओं की बलि से संतुष्ट होनेवाला ईश्वर, ईश्वर नहीं है। इसके विपरीत जो उसे प्रसन्न करने के लिए पशुओं की बलि देते हैं, वे दोहरा पाप करते हैं। ईश्वर के नियम अनादि और अपरिवर्तनशील हैं और उन्हें ईश्वर से अलग नहीं किया जा सकता। ईश्वर की पूर्णता ही इस स्थिति पर निर्भर है। इस सिद्धांत को न समझने से ही यह भ्रम पैदा होगया कि बुद्ध का ईश्वर में विश्वास नहीं था, बल्कि उनकी आस्था नैतिक नियमों में थी।

ईश्वर-संबंधी इस भ्रम के कारण ही 'निर्वाण' जैसे महान शब्द का भी गलत अर्थ लगाया गया। निर्वाण का अर्थ अबत में विलीन होना नहीं है। जहां तक मैं बुद्ध के जीवन के मुख्य तत्व को समझ पाया हूँ, निर्वाण का अर्थ मनुष्य की सब बुराइयों का नाश है। निर्वाण कब्र की अंधकारमय मुर्दा शांति नहीं है। इस जीवन में शांति है।

(छोटे पृष्ठ २७ पर)।

तेजकुमार 'निर्मोही'

पंजाबी लोकगीतों में

खादी और चरखे की आवाज

देश के स्वदेशी आन्दोलन, खादी और चरखे की गूंज पंजाब के वैभवशाली जन-जीवन में भी मुखरित हो उठी है। पंजाब भारत का भाल है। उसके वैभव के स्वर हमारे लोकगीतों के माध्यम से सम्पूर्ण भारत में गुंजायमान हैं। पंजाब में स्वदेशी आन्दोलन का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। घर-घर चरखे और खादी की गूंज है। ये स्वर लोकगीतों के पावन प्रसंगों में बह उठे हैं।

चरखे एवं खादी के महत्व के परिचायक कुछ पंजाबी लोकगीत यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

एक गीत में नायिका अपने प्रियतम से कहती है —

‘जो उठ्ठ चाल्यों चाकरी, चाकरीवे माहिया—
सानुवी लै चल्लीं, नाल वे, अख्ख नूं नींद क्यों न आई वे—
तू करेगा, चाकरी, चाकरी वे माहिया,
मैं कातांगी सोहणा सूत वे,
अख्ख नूं नींद क्यों न आई वे।

इक्क टक्का तेरी चाकरी, चाकरी वे माहिया—
लख्ख टकेदा मेरा सूत वे, अख्ख नूं नींद क्यों न आई वे।’

—हे प्रियतम। तुम नौकरी के लिए परदेश जाओ, तो मुझे भी साथ ले चलना। अजी मेरी आंखों में नींद क्यों न आई? हे प्रियतम, तुम नौकरी करोगे तो हम सुन्दर-सुन्दर सूत कातेंगे। मेरी आंखों में नींद क्यों न आई? हे प्रियतम, तुम्हारी नौकरी एक टके की होगी, किन्तु मेरा सुन्दर सूत लाख रुपये का होगा? मेरी आंखों में नींद क्यों न आई?

अब आगे वही नायिका अपने चरखे की क्या-क्या कल्पना करती है, उसका वर्णन प्रस्तुत लोक-गीत की पक्तियों में अवलोकन कीजिये—

“चरखा मेरा अठफागुड़ा, पाल मेरी तूता—

पूनी कत्ता लसलसी सर कड़ड़ा दरयाओ—

जिंदे मेरी ए तन्ह कड़ड़ा दरिया—

माए मेराए तंद, कड़ड़ा दरिया।”

—मेरा चरखा आठ फाकों का बना हुआ है। मेरी पाल में ताव है, मैं बहुत पोली पुनी बनाकर नदी जितना लम्बा तार निकालती हूं। ओ मेरी मां! मैं नदी जितना लम्बा सूत कातूंगी।

मां के ममत्व की लहर दुलक पड़ती है। जब बेटी घर से बिदा होती है, तब वह अपने समधियों से कहती है:

“मुनेयो, सुमेयो नभेयो कुड्यो,

अर्ज बंदी दी सुनियो वे—

जै साड्डी बीबी दी सुनियों वे,

अन्दर बड़ समझायो वे—

जै साड्डी बीबी मोटा कत्ते,

रेशम करके जाणोओ वे।”

—ओ नये समधियों। मुझ दीन की प्रार्थना सुनो। यदि लड़की कुछ बुरा-भला कहे तो अकेले में समझा देना। यदि लड़की मोटा सूत काते तो उसे रेशम का बारीक तार समझ लेना?

उक्त गीत में कितनी सुनहरी कल्पना है, यह वर्णन नहीं किया जा सकता है। पंजाबी ललना के सादगीभरे जीवन की कथा-व्यथा उक्त गीत में मुखरित हो उठी है।

एक अन्य गीत में चरखा कातनेवाली एक महिला का वर्णन देखिये—

“आगे तो चरखा रंगला, पिच्छे पीड़ा लाल—

चकले दे ऊपर चकला, चकले दे ऊपर कत्तो

कत्तो वाली नाजो कोमली।”

—सामने रंगीला चरखा है, पीछे बैठने की लाल चौकी है, चकले के ऊपर चकला और उसके ऊपर कातनेवाली कोमल सुन्दरी है।

इस प्रकार से पंजाबी लोकगीतों में मानवीय भावनाओं के सलोने चित्र उभर उठे हैं, जो सदैव जन-जीवन में चेतना एवं जागृति के स्वर मुखरित करते रहते हैं।

रागानंद सरस्वती

रामराज्य

मानव सामाजिक प्राणी है। पशु-पक्षियों में भी यह गुण विद्यमान है। यह प्रकृति-प्रदत्त गुण है। परन्तु पशु-पक्षियों में समाज-संबंध विकसित नहीं है, इसलिए वहां व्यक्ति और समाज में अंतरंग संबंध नहीं है। पशु-पक्षियों में सम्मिलित रह सकने भर को समाज कह सकते हैं, परन्तु मानवों में सम्मिलित रह सकने के अलावा सम्मिलित जीवन भी शामिल है और इस कारण से सामाजिक नियमों के अनुसार व्यक्ति समाज में रहता है। व्यक्ति का समाज में स्थान उसके अंग होने का है, पशु-पक्षी का उसके समाज में स्थान एक स्वतंत्र प्राणी का है और इसलिए जबकि व्यक्ति अपने समाज में सर्व-स्वतंत्र नहीं है, पशु-पक्षी स्वतंत्र है। इसलिए समाज में रहना प्रकृति-प्रदत्त गुण होते हुए भी व्यक्ति को उसका शास्त्र घड़ना पड़ा है, क्योंकि व्यक्तियों में अंतरंग संबंधों में समता रखना आवश्यक है और समाजशास्त्र ने व्यक्तियों की स्वतंत्रता को नियमबद्ध कर दिया है।

व्यक्ति का व्यक्तित्व इसलिए दो भागों में विभक्त होगया है—व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व और उसका सामाजिक व्यक्तित्व। व्यक्ति नियन्ता है। उसमें अबाध सामर्थ्य है। इसलिए वह समाज का मालिक और अंग दोनों है। इसी विषमता का ठीक संतुलन न कर सकने के कारण मानव आज तक अपने व समाज के अस्तित्वों में सामंजस्य नहीं ला पाया है। व्यक्ति और समाज में कौन सर्वोपरि इस बात पर ही हमेशा झगड़े होते रहे हैं और मानव-इतिहास इन्हीं झगड़ों का कच्चा चिट्ठा है। समाज में भी व्यक्तित्व पैदा होगया है, जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को दबाता है और व्यक्ति में घोर विरोध की भावना उभाड़ता है। दरअसल व्यक्ति और समाज के स्वार्थों के सामंजस्य का नाम ही 'रामराज्य' है और वही दूसरे अर्थों में 'सर्वोदय' है।

व्यक्ति ने समाज बनाया—यह गलत धारणा है और यही धारणा सारी गलतफहमियों की जड़ है। समाज

बनना प्राकृतिक नियम है। व्यक्ति उस समाज को नियम-बद्ध बनाता है। समाज इसलिए स्वयं में एक व्यक्तित्व रखता है और उस व्यक्तित्व में राम या रावण के गुणों का प्रादुर्भाव करना व्यक्ति का कार्य है। समाज इसलिए व्यक्ति का आश्रित होते हुए भी उस मशीन की तरह है जो कि मानव-निर्मित होते हुए भी, उसके शासन के बाहर होते ही अपना व मानव का सर्वनाश कर देती है। समाज जड़ है। जड़त्व में बोझ होता है जो कि मानव को डुबो देने में अक्सर सफल होता है। मानव के जड़त्व के सम्मिलितपने को समाज कहते हैं और मानव की चेतना उस जड़त्व में चेतना का प्रादुर्भाव करती है। मशीन में स्टीम या बिजली का समावेश इसकी उत्कृष्ट उपमा है। परन्तु जड़ समाज चेतना की शक्ति पाकर भी अपना चालक चाहता है। बस इसी चालक पर इस जड़-चेतन-संबंध की सफलता और असफलता निर्भर है। मानव चालक जब जब यह भूला कि यह मशीन उसकी निजी बपौती नहीं है, मशीन उसपर हावी होगई। जड़ चेतन पर हावी होगया और व्यक्ति ने समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया। मानव चालक 'व्यक्ति' ज्यादा है और समाज का अंग कम। बस अपेक्षित आज यही है कि मानव चालक अपनेको अपने व्यक्तित्व से अलग करके उसका सामाजिक व्यक्तित्व में साम्य करदे और तब समाज में व्यक्ति का व्यक्तित्व फूलेगा और समाज द्वारा प्राणी अपने जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सकेगा।

व्यक्ति समाज का अंग भी है और उसका चालक भी—यह बात व्यक्ति पचा नहीं पाता। व्यक्ति की पाचन-शक्ति कमजोर हो, यह बात नहीं है। दरअसल वह यह नहीं पता चला पाया है कि उसके लिए कौन-सा भोजन ग्राह्य है और कौन-सा नहीं। मानव जब जब देह-भाव से अपने व्यक्तित्व को तोलेगा तो देह की जड़ता उसके चेतन को अपने बोझ से डुबोती रहेगी और मानव अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठ ही नहीं पायेगा—उसे समाज का स्वार्थ

दिखेगा ही नहीं क्योंकि उसे तो अपनी ही 'देह' का मोह है। जिस दिन मानव में जीव-भाव अवतरित होगा वह दूसरे व्यक्ति को अपना ही प्रतिरूप मानेगा और उसमें से स्वार्थ छूटकर 'परार्थ' पैदा होगा। ऐसा 'परार्थ-पोषित' मानव समाज का आदर्श कर्णधार होगा, क्योंकि समाज स्वार्थ ही उसका व्यक्तिगत स्वार्थ होगा। तब व्यक्ति यह समझेगा कि वह समाज का अंग और चालक दोनों 'जीव' होने के माध्यम से है। इन दोनों संबंधों की विषमता, समता में परिवर्तित हो जायगी क्योंकि वह स्वयं अपना ही मालिक बनेगा उसका अपनत्व समाज के हर व्यक्ति का अपनत्व होगा। सर्वोदय और राम-राज्य की ही वही से पड़ने लगेगी।

परन्तु रामराज्य और सर्वोदय तो तब ही पृथ्वी पर अवतरित होंगे जबकि मानव अपने में आत्मभाव पैदा करेगा। जीव-भाव में फिर भी देह का भान रहता है। दो देह एक प्राणवाली बात जीव-भाव में सत्य हो जाती है, परन्तु आत्म-भाव आने पर देह-भाव इतना गौण हो जाता है कि प्रथकता जैसी चीज दिल में उतरती ही नहीं। देह-भाव तो जीनेभर के लिए आधार रूप रहता है। जीव-भाव द्वारा एकत्व की भावना पैदा होती है और आत्म-भाव से सम-भाव पैदा हो जाता है। समत्व ही सर्वोदय है। एकत्व में एक कमी रहती है और वह है एक विशेष समाज में साम्य। अलग-अलग समाज अपने में साम्य रखते हुए भी एक दूसरे के प्रति साम्य भावना पैदा नहीं कर पाते। इसलिए जब मानवमात्र एक समान रूप में परिणत होकर एकत्व का अनुभव करेगा तब ही समत्व पैदा होगा और वही आत्मभाव होगा—तब समाज की जड़ता हट जायगी—समाज स्वयं छिन्न-भिन्न हो जायगा। व्यक्ति स्वयं आत्मभाव में लीन रहकर सहज रूप से अपने समूह में रहकर पशु-पक्षी की तरह स्वतंत्र हो जायगा। तब न रहेगा समाजशास्त्र और न व्यक्ति का व्यक्तित्व। वह 'उस अराजकतावादी समाज-व्यवस्था का द्योतक होगा जबकि मानव होगा स्वयं ही समाज और स्वयं ही व्यक्ति।

कल्पना रूप में यह स्थिति बड़ी अच्छी लगती है। विश्लेषण द्वारा इसपर पहुँच सकना भी एक महान चिन्तन

है। परन्तु कल्पना सार्थक कैसे हो यही आज हमें से जो संत हैं, उन्हें सोचना है। संत विनोबा क्यों न इस तरफ अपना ध्यान लगायें? इतना मैं स्वयं मानता हूँ कि मानव ने आज के युग में इतनी तरक्की अवश्य कर ली है कि उसका देह-भाव जीव-भाव में परिवर्तित होने लगा है। अब व्यक्ति-स्वार्थ से राष्ट्र-भाव का उदय होता जा रहा है। राष्ट्र में व्यक्ति के देह-भाव को पूरा पोषण मिल रहा है और उसका स्वार्थ उसके पड़ौसी से टकराना कम होगया है। वस यही राष्ट्र-भाव जब विश्व-भाव में बदल जायगा तो गांधी का रामराज्य और सर्वोदय सहज रूप से इस विश्व में उतर आयेगा। परन्तु गांधी और विनोबा का भारत तो आत्म-भाव की सोचता है और देह-भाव में रहता है। इस गहरी विडम्बना से उबारने का सबसे पहला काम है। हमारा भारत का अध्यात्म उसे निरीह बनाये दे रहा है क्योंकि उसके देह भाव तक को पोषण नहीं मिल पा रहा है। आज भारत-वर्ष में समाज द्वारा व्यक्ति को सुधारना होगा। समाज को व्यक्ति का नियामक बनना पड़ेगा। परन्तु समाज का चालक कौन हो? विनोबा में ही यह सामर्थ्य है, क्योंकि वह ही आज आत्म-भाव के मूर्तिमान रूप हैं। भारत की जड़ता अर्थात् व्यक्ति-भाव को मिटाकर उसमें वे जीव-भाव अर्थात् परार्थ भाव पैदा कर जायें तो ही बहुत बड़ी बात होगी। भारत तो अभी राष्ट्र-भाव तक भी नहीं पहुँच पाया है। एक बार भी यदि भारत में राष्ट्र-भावना जाग गई तो आत्म-भावना जगना तो एक सहज प्रक्रिया हो जायगी, क्योंकि भारतीय कल्पना में उसका जड़-भाव बेड़ी बना हुआ है। यह बेड़ी टूटी कि आत्म-भाव तक पहुँचने में अधिक समय नहीं लगेगा, क्योंकि कल्पना की उड़ान का यह असर भारतीयों पर अवश्य हुआ है कि वह स्वार्थ भाव से उठकर आत्म-भाव पर ही पहुँचते हैं। भारतीय तो उस हंस की तरह है जो कि मानसरोवर से हटाकर रखा गया है जहाँपर कि उसे मोती खाने को नहीं मिलते तो वह उसकी खोज में अपनेको ही खाये जा रहा है। जैसे ही 'मानसरोवर' (जीव-भाव) उसे मिला कि वह मोती पहचान लेगा।

भारतवर्ष ने जैसे ही कल्याणकारी राज्य कायम

किया कि विश्व-भावना का वह गुरु ब... क्योंकि आज के इस भीषण वातावरण तक में विश्व-भावना की कल्पना को रखने में वह सफल होगया है और पाश्चात्य उन्नत देश संयुक्त राष्ट्र द्वारा उसे साधने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे जीव-भाव तक पहुंचे हैं, परन्तु आत्मभाव उनकी कल्पना के बाहर की चीज है। क्या भारत उन्हें रास्ता दिखायेगा? देह-भाव आज के विश्व-वातावरण को देखते हुए, तोड़ फैंकना क्या बड़ी बात है? हमारे पास तो उदाहरणस्वरूप पाश्चात्य देश हैं ही, हमें चाहिए कि हम कल्याणकारी समाज को सर्वोपरि बनाकर (जन-

तंत्र नहीं संत-तंत्र) एक बार जड़-भाव से ऊपर उठ जायें। यह 'संत-तंत्र' एक नया शब्द है। जन तो जड़ है संत आत्मा है, इसलिए जन को समाज का मालिक न बनाकर संत को उसका मालिक बना दिया जाय, उसका सर्वेसर्वा बना दिया जाय। तभी दस साल में भारतवर्ष में सर्वोदय की नींव पड़ जायगी।

जन डिक्टेटर बना कि वह स्वयं सर्वतंत्र-स्वतंत्र हो जायगा, संत डिक्टेटर बना कि वह समाज को स्वतंत्र बना देगा, जहां कि व्यक्ति संत-निर्देश से कार्य करेगा मरने के डर से नहीं, जीने के आनन्द से प्रेरित होकर।

(पृष्ठ २३ का शेष)

गौतम ने हमें सिखाया कि हीन-से-हीन जंतु को भीह में अपने बराबर मानना चाहिए। यह धारणा कि मनुष्य सभी पशुओं और जंतुओं का स्वामी है, थोथे अभिमान का द्योतक है। ऋषिवर बुद्ध का जीवन इस सत्य की साकार प्रतिमा था। मैंने बचपन में 'लाइट ऑफ एशिया' नामक रचना के उन अंशों को पढ़ा था, जिसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान बुद्ध ने क्रुद्ध और मूढ़ ब्राह्मणों के देखते-देखते उनके यज्ञ के बलि के पशुओं में से एक मेमने को अपने कंधे पर उठा लिया और उन्हें किसी भी पशु का वध करने के लिए ललकारा। परन्तु उनकी उपस्थिति मात्र से उन ब्राह्मणों का पत्थर हृदय पिघल गया; उन्होंने गौतम को नजर भरकर देखा और अपने छुरे फेंक दिये। पशु-बलि न हुई।

भगवान बुद्ध ने कहा कि यदि आप बलि देना चाहते हैं, तो अपने अहम् की, अपनी वासना, भौतिक और सांसारिक लालसाओं की बलि दीजिये। यह बलिदान आपका कल्याण करेगा।

गौतम ने दूसरी बात यह कही कि जात-पात बिल्कुल गलत चीज है। ऊंच-नीच के उस भेद-भाव को, जो हिंदू धर्म की जड़ों को खोखला कर रहा था, मिटा दिया। परन्तु उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म का विरोध नहीं किया। वर्ण-धर्म जात-पात से भिन्न वस्तु है।

भगवान बुद्ध ने जिस स्रोत से प्रेरणा प्राप्त की, उस आदि-स्रोत का—संस्कृत और संस्कृत के ग्रंथों का—जबतक अध्ययन नहीं किया जायगा, तबतक बौद्ध धर्म का अध्ययन अधूरा ही रहेगा। आप पश्चिमी जगत की चकमक को देखकर प्रभावित न हों। बुद्ध ने अविस्मरणीय शब्दों में कहा है कि यह शरीर अस्थायी और नश्वर है।

बुद्ध, ईसा या मुहम्मद ने क्या कार्य किया? उनका जीवन आत्म-बलिदान और त्याग से ओत-प्रोत था। बुद्ध ने सारा सांसारिक सुख इसलिए छोड़ा कि वह अपना वह सुख, जो सत्य की खोज में कष्ट उठानेवाले मनुष्य ही प्राप्त कर सकते हैं, सारी दुनिया के साथ बंटा लेना चाहते थे।

बुद्ध की अहिंसा आज भी जीवित है और समय के साथ विकसित होती जायगी। इसका जितना अधिक अभ्यास किया जायगा, यह उतनी ही प्रभावपूर्ण और शक्तिशाली बनती जायगी। एक दिन वह भी आयगा, जब सारा संसार आश्चर्य-चकित हो चमत्कार, चमत्कार पुकार उठेगा!

यदि एशिया स्वयं अपने सिद्धांतों का पालन कर सका तो वह समस्त संसार का पथ-प्रदर्शन कर सकेगा। इस समूचे महाद्वीप पर, जिसमें भारत, चीन, जापान, बर्मा, लंका और मलाया आदि देश शामिल हैं, बौद्धधर्म की छाप आज भी मौजूद है।

गंगाप्रासद 'विमल'

परन्तु

मानवतावादी भारतीय संस्कृति और गांधीजी

मानव को सद्बिचार देनेवाली भारतीय संस्कृति का निष्कर्ष वेद और पुराण हैं। गांधीजी ने समस्त मानव-जाति को जो विचार दिया वह प्राचीन विचारों, जिन्हें हम आध्यात्मिक विचार कहते हैं, उनमें नवीनता का भी समन्वय है, जो भौतिकता का पुट लिये है।

जन-जीवन की दारुण व्यथा का जो चित्र सिसकती हुई मानव-जाति का प्रतीक था, गांधीजी ने उसका गहन अवलोकन किया, तत्पश्चात् स्वयमेव किसी बलवती प्रेरणा ने उनमें सम्पूर्ण परिवर्तन ला दिया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस परिवर्तन का कारण प्राचीन और तवीन का समन्वय था, वेद और बाइबल का समन्वय था, तथा गीता और रस्किन के 'अन्टु दि लास्ट' का समन्वय था। और उनके द्वारा उद्भूत सर्वोदय की विचार-धारा का जन्म था, जिसके जन्म लेते ही मानव-जाति के कल्याण का विचार सबके हृदय में आया। वस्तुतः यह भारतीय संस्कृति की नई करवट थी।

मानव की मूलभूत समस्याएं भोजन, वस्त्र एवं निवास की हैं। भौतिकवादी, जो प्रकृति की विजय ही लक्ष्य मानते हैं तथा अपना जीवन उसीके अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं, इन्हीं समस्याओं को प्राथमिकता देते हैं। यद्यपि यह मानने से इनकार नहीं किया जा सकता तथापि केवल मात्र भोजन, वस्त्र आदि के निमित्त स्व-भावना से काम करना भारतीय संस्कृति नहीं मानती, बल्कि उस कार्य से, जिससे हमें कुछ प्राप्त होता है, हमारे लिए ही नहीं अपितु उन सबके लिए है जो हमारे चारों ओर रहकर कार्य करते हैं। परिवार और उसके निमित्त कार्य करना एक स्पष्ट उदाहरण है। आगे चलकर विश्व को परिवार समझकर "उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्" का मन्त्र मानव-जाति के व्यापक कल्याण का प्रतीक है। हम आज देखते हैं, कि एक दूसरे के प्रति हमारी सद्भावना नहीं रहती। परस्पर एक दूसरे से छीना-झपटी में हम खून, हत्या और न जाने कितने ही महापाप

कार्य कर डालते हैं। यह सब इसलिए किया जाता है कि हमें भोजन मिले, और भौतिकवादी विचार इन सारे कुकृत्यों को आवश्यक संघर्ष तथा गतिशीलता कहकर टाल देते हैं। किन्तु अध्यात्म विचार इसकी अवहेलना न कर अहिंसा के मन्त्र द्वारा मूलतः ऐसे संघर्ष को, जो मानवता को विस्मृत करते हैं, और नष्ट कर देता है। देखा जाय तो आज की प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता ही हिंसा के प्रथम चरण हैं। इनके गतिशील होने का अर्थ होता है किसी एक निर्बल के आस्तित्व को समाप्त कर देना। तो क्या यह सब भोजन, वस्त्र, आदि के लिए किया जाता है। अपितु एक को लूटकर दूसरा अपने विलास की सामग्री बनाता है। एक भोग-विलास में रत ऊंची हवेलियों के हवादार कमरों में आनन्द से जीवन व्यतीत करता है, जबकि दूसरा सड़ी-गली गलियों के फुटपाथ पर तड़प रहा होता है। साम्य और असाम्य की तो बात छोड़िये, यहां सन्तुष्टि और असन्तुष्टि का प्रश्न है। यदि गहन रूप से देखा जाय तो असन्तुष्टि की मात्रा खाते-पीते ऊंची हवेली में रहने-वालों में ही अधिक होगी। फुटपाथ पर पड़ा फक्कड़ अपने ही सीमित दायरे में मस्त होगा। साधारणतः बड़े आदमी छोटे आदमी की अपेक्षा क्रूर होते हैं और निर्बल मनुष्य दयावान् होते हैं। स्पष्ट है कि बड़े-बड़े मिल-मालिक मजदूरों के प्रति क्रूर और मजदूर फुटपाथ पर पड़े लोगों के लिए करुणा के पात्र देखे गये हैं। तो आज समस्या घृणा और सहानुभूति के मध्य में है, न कि भूख और भोजन के मध्य में। आवश्यक होते हुए भी, यह तो एक गौण प्रश्न है। भारतीय संस्कृति में एक मात्र आत्मा की साधना है। और पाश्चात्य में केवल शरीर की। गांधीजी ने आत्मा को और शरीर को उठाने का सुझाव सर्वोदय द्वारा किया। उन्होंने विचार को प्रथम तथा बाह्य शरीर को द्वितीय स्थान दिया है।

सत्य क्या है? यह कहना कठिन है कि सत्य और असत्य क्या है? प्राचीन आचार्यों के अनुसार जो दृश्य-मान है वही सत्य है। जो अदृश्य है या काल्पनिक है वही

असत्य है। इससे भी परे सत्य की एक अद्वैत गुणा है। और वह यह कि सत्य आत्म-तत्त्व है। आत्मा का सम्बन्ध जिस प्रकार परमात्मा से है उसी प्रकार सत्, चिद् और आनन्द का सम्बन्ध सच्चिदानन्द से है। सत्य मिथ्या से दूर है। मिथ्या भ्रम है और भ्रम का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं।

सत्य की भावना में आत्म-तत्त्व का अधिक-से-अधिक प्रकाश है। आत्म-तत्त्व को गहनता से देखना ही सत्य को देखना है। ज्ञान सत्य से परे नहीं। सत्य चेतन है, और ज्ञान चेतन की अभिव्यक्ति। ज्ञान का अर्थ 'ज्ञ' से शुरू होता है। 'ज्ञ' का अर्थ चेतन होता है, अतः ज्ञान चेतन है सत्य है। मिथ्या असत्य है और अचेतना अज्ञान। ज्ञान केवल मात्र पुस्तकीय अर्जित सम्पत्ति ही नहीं ऐसा भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण है। गांधीजी ने ज्ञान और सत्य का मेल अहिंसा में कर दिखाया है। अहिंसा का तात्पर्य किसी जीव की हत्या न करना ही नहीं, वरन् उसे किसी प्रकार का मानसिक उत्पीड़न भी न देना है। अहिंसा का व्यापक स्वरूप सर्व-सेवा में संलग्न प्रेम-भावना का प्रसार करना है।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ किसी वस्तु को धारण करना और उसका पालन करना है। प्राचीन धर्म गूढ़ एवं मनन का विषय है, जबकि गांधीजी ने इसका सच्चा और सीधा स्वरूप हमारे सामने रखा है। धर्म का सम्बन्ध जीवन से होता है और जीवन का कर्म से। तो इस प्रकार कर्म करना भी धर्म हुआ। गांधीजी की विचारधारा के अनुसार धर्म के तीन अंग हुए^१ —

१. परम्परा—जनता का धर्म और ईश्वर के

^१पंडित ओमप्रकाश त्रिखा, संचालक, गांधी स्मारक निधि पंजाब व हिमाचल प्रदेश के गांधी अध्ययन केन्द्र, यमुनानगर एवं विद्यार्थी प्रशिक्षण-शिविर, डेराबसी में दिये गए वक्तव्य के आधार पर।

विषय में जो विश्वास परम्परागत चला आ रहा है, उसे परम्परा नाम दिया गया है।

२. कर्मकाण्ड—इसमें अन्तर्गत साधना, नियमों, विधियों का उल्लेख होता है। किन्तु यह दोनों अंग अपूर्ण तथा संकीर्ण हैं।

३. विचार-धारा—धर्म का यह अंग पूर्ण तथा ग्राह्य है। विचारधारा में समस्त धर्मों का मेल है, जो सत्य, आस्तेय, अहिंसा को मूल रूप से मानती है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाय, तो भारतीय संस्कृति गांधीजी की विचारधारा का प्रतीक है।

भारतीय संस्कृति पूर्णरूप से मानवतावादी है। गांधीजी ने मानवतावाद को एक नई धारण दी, एक नई योजना प्रस्तुत की। विश्व-प्रेम उसका आधार है। सर्व-सेवा उसका लक्ष्य है। अज्ञान के गहन अन्धकार में ज्योति की एक प्रचंड किरण गांधीजी की अन्तरात्मा की ध्वनि है।

आज हम मानव की समस्याओं को एक ऐसे रास्ते द्वारा हल करने के लिए कटिबद्ध हैं जो पहले स्वप्न-सा था। जीवन की हिंसात्मक धारणाओं का अहिंसा द्वारा आमूल नाश किया जा रहा है। अहिंसा सर्वसाध्य है। सत्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा साधन है। सत्य मोक्ष है, सत्य ईश्वर है। इसलिए मोक्ष एवं ईश्वर साक्षात्कार के लिए अहिंसा की व्यापक धारणा को हृदयंगम करना आवश्यक है। अहिंसा के लिए आत्म-शुद्धि की आवश्यकता है। आत्मशुद्धि के लिए अपरिग्रह, अपरिग्रह के लिए ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य के लिए अस्वाद और अस्वाद के लिए आस्तेय आवश्यक है। भारतीय संस्कृति मानव कल्याण की भावना के लिए जिन विचारों को लेकर चली, उनका मानवतावादी आंशिक दृष्टिकोण हम प्रस्तुत कर चुके हैं। गांधीजी ने उसका नवीन एवं परिष्कृत स्वरूप जन-जीवन के सम्मुख 'सर्वोदय' के रूप में रखा, जिस-पर पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव होते हुए भी भारतीय संस्कृति का एक अमिट एवं निजी मानवतावादी प्रभाव है।

समालोचनाएं

कसौटी पर

अ. भा. सर्व सेवा संघ, काशी के प्रकाशन

स्त्री-शक्ति : विनोबा, पृष्ठ १२४, मूल्य बारह आने

प्रस्तुत पुस्तक में विनोबाजी के २१ प्रवचन हैं और परिशिष्ट में एक दादा धर्माधिकारी का है। जैसाकि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है, सारी सामग्री स्त्रियों से संबंधित है और उसका सार यह है कि स्त्रियों में आत्म-बल और चारित्र्य-बल उत्पन्न हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि जबतक हमारे समाज में स्त्री-शक्ति का उदय नहीं होता, हमारा देश पूरी तरह से विकसित नहीं हो सकता। विनोबाजी ने ठीक ही कहा है, "स्त्रियों में आत्म-शक्ति की कमी नहीं है, पर उसे प्रकट करने के लिए जीवन को उसके अनुकूल बनाना होगा।" पुस्तक में मौलिक चिन्तन है, जो स्त्री-पुरुष दोनों को पर्याप्त विचार-सामग्री देता है।

आदिवासियों से : विनोबा, पृष्ठ ४०, मूल्य चार आने

आदिवासियों और हरिजनों की समस्या आज भी हमारे देश में बनी हुई है। इस पुस्तक के आठ प्रवचनों में जहां पिछड़े वर्गों से उठने का संकेत है, वहां उच्च वर्गों को यह भावना उदय करने की प्रेरणा भी है कि "हम सब एक परिवार के हैं। सब एक साथ जीयेंगे और एक साथ मरेंगे" सारे प्रवचन सबके लिए अत्यन्त उद्बोधक हैं।

प्यारे बापू : स्वराज्य की ओर : एलेनी सेमिओ, पृष्ठ ७६, मूल्य आठ आने

यह पुस्तक एक व्यवस्थित माला का तीसरा भाग है। पहले भाग में गांधीजी के बचपन और शिक्षण की कहानी थी, दूसरे में सत्य और अहिंसा के लिए झेली गई मुसीबतों का हाल था। इस तीसरे भाग में बड़े ही रोचक और सजीव ढंग से बताया गया है कि गांधीजी ने भारत की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं को किस प्रकार हल करने का प्रयत्न किया और सामान्यजनिक जीवन में

ज्वाला को शांत करने के प्रयत्न में किस प्रकार अपने प्राणों को होम दिया। पुस्तक बच्चों के लिए लिखी गई है, पर वह सबके लिए सुपाठ्य और उपयोगी है। अनुवाद सरलाबहन ने किया है।

अंतिम झांकी : मनुबहन, पृष्ठ २६६, मूल्य डेढ़ रुपया

इस पुस्तक की लेखिका को गांधीजी के साथ रहने का काफी अरसे तक अवसर मिला। अंतिम दिनों में भी वह उनके साथ थीं। इस पुस्तक में ३१ मार्च १९४७ से ३१ जनवरी १९४८ अर्थात् गांधीजी के महाप्रयाण तक की डायरी है। अंत में तीन अध्याय और हैं—१. दाह-संस्कार। के बाद २. त्रिवेणी संगम पर ३. यज्ञ का यह उपसंहार पाठक जानते हैं कि गांधीजी के जीवन के अंतिम दिनों में हमारे देश की स्थिति कितनी भयावह थी। उन दिनों की गांधीजी की मनोदशा, प्रवृत्तियों तथा महत्वपूर्ण कथनों और रचनाओं का विस्तृत विवरण इस पुस्तक में मिलता है। वास्तव में गांधी-साहित्य की यह एक ऐतिहासिक कृति है। इसमें बहुत-सी ऐसी सामग्री सुलभ है, जो भविष्य में गांधीजी के जीवन और विचारों के अध्येताओं को बड़ा सहारा देगी। मूल पुस्तक गुजराती में है। हिन्दी अनुवाद गो. न. बैजापुर-कर ने किया है।

किशोरलालभाई की जीवन-साधना : नरहरि पारोख, पृष्ठ ३३०, मूल्य दो रुपये

स्व० किशोरलालभाई मौलिक चिन्तक, गांधी-विचार के प्रामाणिक व्याख्याता तथा साधक थे। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हींकी जीवनी है। जीवनी के साथ-साथ युग का इतिहास भी है। सारी पुस्तक ज्ञान, कर्म और साधना की प्रेरणाओं से भरी है और बताती है कि कृतार्थ जीवन किसे कहते हैं? और उसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। साधकों के लिए, विशेषकर रचनात्मक कार्यकर्ताओं, के लिए, यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। मूल गुजराती की इस

पुस्तक का अनुवाद वैजनाथ महोदय ने किया है।

जाजूजी : जीवन और साधना : श्री कृष्णदत्त भट्ट,
पृष्ठ १८८, मूल्य सवा रुपया।

श्रद्धेय श्रीकृष्णदास जाजू गांधीजी के निकटतम व्यक्तियों में से थे और अपने चिन्तनप्रधान तथा सेवामय जीवन के लिए प्रसिद्ध थे। यह पुस्तक उन्हींसे संबंधित है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जाजूजी के स्थूल चरित्र-वर्णन पर आग्रह न रखकर उनके गुणों पर प्रकाश डालनेवाली घटनाओं का मुख्य रूप से उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि यह पुस्तक सामान्य जीवन-चरित न बनकर एक सेवा-व्रती के महान कार्यों की प्रेरणादायक कहानी बन गई है।

गुजरात के महाराज : बबलभाई मेहता, पृष्ठ ३६२,
मूल्य दो रुपये।

श्रद्धेय रविशंकर महाराज, जो 'गुजरात के महाराज' के नाम से विख्यात हैं, देश की उन महान विभूतियों में से हैं, जिन्होंने अपने शुद्ध सात्विक जीवन तथा प्रेमभरे व्यवहार से अनगिनत मार्ग-भ्रष्ट व्यक्तियों को, चोर-डाकुओं को, अच्छे रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित किया है। स्वतंत्रता के पहले वह गांधीजी के संदेश-वाहक थे और अब विनोबाजी के स्वर को घर-घर पहुंचा रहे हैं। इस पुस्तक में इन पुण्य-पुरुष की विधिवत् जीवनी नहीं, उनके महान कार्यों की जानकारी दी गई है। पुस्तक में अनेक मार्मिक और उद्बोधक घटनाएं तथा विवरण हैं।

शोषण-मुक्ति और नव-समाज : अण्णासाहब पटवर्धन,
पृष्ठ १०४, मूल्य इस आने।

अपने 'आशीर्वाद' में विनोबाजी ने इस पुस्तक के विषय में ठीक ही लिखा है—“यह पुस्तक ग्रामदान-प्रवेशिका के तौर पर लिखी गई है, पर लिखने का डौल ऐसा है कि उससे सर्वोदय के अर्थशास्त्र का एक छोटा-सा प्रबंध ही बन गया है।” वास्तव में प्रस्तुत पुस्तक में जो विचार व्यक्त किये गए हैं, उनके अनुसार प्रयत्न हो तो नये मूल्यों अर्थात् अहिंसा के आधार पर समाज का नव-निर्माण किया जा सकता है। पुस्तक विचारों के लिए बड़ी ही स्वस्थ सामग्री प्रदान करती है, साथ ही व्यावहारिक रूप से वर्तमान समाज

को बदलने की प्रेरणा भी देती है।

बुनियादी शिक्षा-पद्धति : धीरेन्द्र मजूमदार, पृष्ठ ६२,
मूल्य आठ आने।

अहिंसक समाज के नव-निर्माण में नई तालीम का बड़ा महत्व है। धीरेन्द्रभाई ने बड़े अधिकृत ढंग से नई तालीम के विविध पहलुओं पर इस पुस्तक के १६ भाषणों तथा चर्चाओं में विशद प्रकाश डाला है और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। पुस्तक में नई तालीम के आदर्श और उसके व्यावहारिक पहलू का अच्छा समन्वय है।

ग्राम-स्वराज्य क्यों और कैसे ? : धीरेन्द्र मजूमदार,
पृष्ठ ३२, मूल्य पंद्रह नये पैसे।

ग्राम-स्वावलम्बन, ग्रामों के लिए उपयुक्त शिक्षण तथा ग्राम-स्वराज्य के लिए इस पुस्तिका में बहुत ही मौलिक तथा प्रेरणादायक कार्यक्रम बताये गए हैं।

एशियाई सम्मेलन—एक अध्ययन : अशोक मेहता,
पृष्ठ २५०, मूल्य डेढ़ रुपया।

अशोक मेहता समाजवाद के अच्छे व्याख्याता हैं। इस पुस्तक में उन्होंने समाजवाद के उद्देश्यों और साधनों पर प्रकाश डाला है। समाजवाद, साम्यवाद तथा सर्वोदय आदि के तुलनात्मक अध्ययन की आज बड़ी आवश्यकता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। समाजवाद की इतनी विशद व्याख्या पाठकों को अन्यत्र मुश्किल से मिलेगी।

अहिंसात्मक प्रतिरोध : सेसिल ई० हिनशा, पृष्ठ ८४,
मूल्य आठ आने।

विश्व के प्रमुख शान्तिवादी द्वारा लिखी गई यह पुस्तक किसी एक देश के लिए नहीं, बल्कि सारी मानव-जाति के लिए उपयोगी है। इसमें व्यक्त विचार स्थायी शान्ति के लिए स्वस्थ पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं।

ग्राम-राज्य क्यों ? : गोरा, पृष्ठ ७८, मूल्य सात आने।

क्यों, क्या और कैसे, इन तीन अध्यायों में लेखक ने ग्राम-राज्य की आवश्यकता, स्वरूप और उपलब्धि के साधनों पर विचार किया है, भारत गांवों का देश है। गांव उसकी रीढ़ हैं। इसलिए देश के उत्थान के लिए ग्रामों का उत्थान आवश्यक है। यही इस पुस्तक की मूल प्रेरणा है।

सर्वोदय-विचार : नारायण देसाई, पृष्ठ १४४, मूल्य बारह आने ।

इस पुस्तक में सर्वोदय-विचार की विधिवत् व्याख्या नहीं है, बल्कि विभिन्न व्यक्तियों के भाषणों के अंशों को अपने विचारों के साथ लेखक ने एक माला में पुरो दिया है। पुस्तक बड़ी उपयोगी है और सर्वोदय की कल्पना को समझने में मदद देती है।

स्थित-प्रज्ञ-लक्षण : शिवाजी न० भावे, पृष्ठ ३२, मूल्य चार आने ।

इस पुस्तक के विषय में लेखक ने स्वयं बड़े सुन्दर ढंग से अपने 'दो शब्द' में लिखा है :

“पूज्य बापूजी द्वारा गीता का स्थित-प्रज्ञ का आदर्श आश्रम की प्रार्थना में दाखिल करने के बाद वह हिन्दुस्तान भर में सर्वत्र रचनात्मक संस्थाओं में गाया जाता है। इस-पर पूज्य विनोबाजी का 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' ग्रंथ प्रसिद्ध ही है। सेवकों की सुविधा की दृष्टि से उसीकी यह श्लोकवार संक्षेप में की गई प्रदक्षिणा है।” वास्तव में एक दुर्लभ विषय को बड़े ही सरल ढंग से इस पुस्तिका में समझाया गया है।

धर्म-सार : शिवाजी न० भावे, पृष्ठ ४०, मूल्य चार आने ।

इस पुस्तक में भगवान बुद्ध के वचनों के सुविख्यात संग्रह 'धम्मपद' का सार प्रस्तुत किया गया है। इसका एक-एक विचार पठनीय और मननीय है। नित्य स्वाध्याय के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयुक्त कृति है।

बोलती घटनाएं : महात्मा भगवानदीन, पृष्ठ ८४, मूल्य आठ आने ।

महात्मा भगवानदीन मौलिक चिन्तक हैं और अपनी खरी और साफ लेखन-शैली के लिए विख्यात हैं। इस पुस्तक में उनकी १६ कहानियां दी गई हैं। ये कहानियां यथार्थ घटनाओं पर आधारित हैं। पुस्तक की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसकी कहानियां जहां समस्याओं की ओर संकेत करती हैं, वहां उन समस्याओं का हल भी सुझाती हैं।

यात्रा के पथ पर : श्री चारुचन्द्र भंडारी, पृष्ठ ६६, मूल्य आठ आने ।

पश्चिमी बंगाल के देहातों की पदयात्रा करते-समय लेखकों को अनुभव हुए उन्हें इस पुस्तक में दिया गया है।

इस पुस्तक से शहर के निवासियों को गांवों की गरीबी को

जानने का अवसर मिलता है और उनका ध्यान उसे दूर करने के लिए होता है। पुस्तक बड़ी ही रोचक शैली में लिखी गई है, भावपूर्ण तो है ही। मूल बंगला में यह 'यात्रार पथे' के नाम से निकली है। हिन्दी अनुवाद मदनलाल जैन ने किया है।

हिमालय की गोद में जयप्रकाश : श्यामाभूष, पृष्ठ १२४, मूल्य बारह आने ।

इस पुस्तक में केदार-बदरी की यात्रा का बड़ा सुन्दर वर्णन है। एक छोटी-सी टोली ने, जिसमें जयप्रकाश नारायण भी शामिल थे, लगभग एक मास हिमालय की गोद में बिताया। जयप्रकाशजी लिखते हैं, “हिमालय को देखने पर ही उसका अनुपम सौन्दर्य ध्यान में आता है। न जाने वहां कौन-सी मोहिनी है कि वहां से लौटने को दिल नहीं चाहता।”

उस यात्रा में जयप्रकाशजी ने भूदान और सर्वोदय के सम्बन्ध में जो भाषण दिये थे, उनका सार पुस्तक के अन्त में दे देने से यह प्रकाशन और भी उपयोगी बन गया है।

गो-उपासना : पृष्ठ ६४, मूल्य चार आने ।

१२ मार्च १९५९ को खूड (सीकर) में कृषि-गो-सेवा सम्मेलन हुआ था। उसका विस्तृत विवरण कुछ अन्य सामग्री के साथ इस पुस्तक में दिया गया है। सम्मेलन की कार्यवाही के साथ-साथ उद्घाटन-भाषण, अध्यक्षीय भाषण आदि इस पुस्तक में पढ़ने को मिलते हैं। गो-सेवा के प्रेमी तथा जिज्ञासु जन इसमें उपयोगी मसाला पायेंगे।

ग्रामोदय खादी संघ : कृष्णदास गांधी, पृष्ठ ४०, मूल्य चार आने ।

इस पुस्तक में खादी के उत्पादन, खपत, बुनाई, रंगाई आदि-आदि पर प्रकाश डाला गया है। खादी की मूल भावना तथा उसके व्यावहारिक पहलू को समझने में इससे सहायता मिलती है।

साइन्स एण्ड सैल्फ-नॉलिज : विनोबा, पृष्ठ ६०, मूल्य आठ आने ।

सर्वोदय सोशल आर्डर : जयप्रकाश नारायण, पृष्ठ १४०, मूल्य एक रुपया ।

टुवर्ड्स एन्यू सोसायटी : अप्पा पटवर्धन, पृष्ठ ४६, मूल्य आठ आने ।

(शेष पृष्ठ ३६ पर)

हमारी राय

फरजा व कैरी ?

तीस जनवरी

३० जनवरी भारत के लिए ही नहीं, समूची मानव-जाति के लिए एक चिर-स्मरणीय तिथि है। आज से १२ वर्ष पूर्व इसी विधिनिर्मित तिथि को हमने उस महापुरुष को खोया था, जो सदा दूसरों के लिए जिया और जो अपने जीवन के अंतिम क्षण तक सबके हित के लिए अथक प्रयत्न करता रहा। हम भारतवासी उनके विशेष ऋणी हैं, कारण कि उनकी प्रवृत्तियों का मुख्य क्षेत्र हमारा देश था। उन्होंने यहां के कोटि-कोटि निवासियों को सोते से जगाया, उन्हें उठाया, उनके पैरों की वेड़ियां काटीं और सबसे बड़ी बात उन्होंने यह की कि भारत के विस्मृत गौरव को और उसकी लुप्तप्राय संस्कृति को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान की और भारतीयों की डगमगाती आस्था को सुदृढ़ किया।

गांधीजी दृष्टा थे। उन्होंने अपनी पैनी निगाह से देख लिया कि भारत का अस्तित्व तभी कायम रह सकेगा जबकि वह अपनी आत्मा को पुष्ट रखे। अतः उन्होंने अपने विविध-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा जहां देश की आर्थिक बुनियाद पक्की की, वहां सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति देश की चेतना को भी प्रबुद्ध किया।

उनके जीवन-काल में उनकी यात्रा की एक मंजिल पूरी होगई, पर उनके लिए वह एक पड़ाव-मात्र थी। आजादी मिलने पर उनकी साधना का अंत नहीं होगया। उनका अंतिम लक्ष्य था उस आदर्श व्यवस्था को स्थापित करना, जिसे उन्होंने 'रामराज्य' की संज्ञा दी थी। उसकी कल्पना उन्होंने स्पष्ट कर दी थी और उसे मूर्तरूप देने के लिए उनके प्रयत्न चालू थे। वह कहते थे, जबतक एक भी आदमी की आंखों में आंसू हैं तबतक मुझे चैन नहीं पड़ने का।

३० जनवरी प्रतिवर्ष आती है और चली जाती है, पर हम गांधीजी की रामराज्य की कल्पना से अभी कोसों दूर हैं। हम यह जानते हैं कि ऐसी समाज-व्यवस्था किसी भी युग में संभव नहीं हो सकती, जिसमें एक भी व्यक्ति दुखी न हो; लेकिन अभी तो हम बहुजन-हिताय के आदर्श से

भी बहुत परे हैं। बारह वर्ष के प्रयत्नों के बावजूद आज हम देख रहे हैं कि आर्थिक विषमता की खाई पहले की अपेक्षा अधिक गहरी और चौड़ी होगई है, वर्ग-भेद ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं और नैतिक मूल्यों के प्रति हमारी आस्था पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शिथिल होगई है।

इसका कारण संभवतः यह है कि हमारी और हमारे शासन की दृष्टि मुख्यतः भौतिक उपलब्धियों पर केन्द्रित हो रही है। बड़ी-बड़ी योजनाएं, विशाल कल-कारखाने, बड़े-बड़े बांध, नदी-घाटी योजनाएं, आदि-आदि हमारे लिए इतने महत्वपूर्ण होगये हैं कि उनसे हटकर हमारा ध्यान उन बुनियादी मूल्यों की ओर नहीं जाता, जो हमारे जीवन को वास्तविक अर्थ में समृद्ध और श्रीसम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक हैं। विशाल योजनाएं बाहरी प्रकाश शायद दे दें, लेकिन बिना आंतरिक प्रकाश के बाहरी प्रकाश का मूल्य ही कितना है !

३० जनवरी को जब हम गांधीजी का स्मरण करें और उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करें, तब हमें कुछ इस दृष्टि से अंतर्मुखी होकर सोचना चाहिए कि हम व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से उनके आदर्शों की ओर कितने बड़े हैं। किसी भी महापुरुष को उसके आदर्शों से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता और सच यह है कि व्यक्ति की काया नहीं, उसकी करनी सदा जीवित रहती है। गांधीजी ने जो आदर्श भारत तथा विश्व के सामने रखे, उनकी कल्याण-कारिता के बारे में दो मत नहीं हो सकते। उन आदर्शों को अंगीकार कर उनकी ओर अग्रसर होना ही गांधीजी के प्रति उनके योग्य श्रद्धांजलि हो सकती है।

गांधीजी की पुण्य-तिथि हमें क्षमता दे कि हम उनके मार्ग पर पूरी निष्ठा और दृढ़ता के साथ चलें, ऐसी कामना है।

डा. पट्टाभि सीतारमैया का निधन

हमारा निस्संदेह बड़ा दुर्भाग्य है कि हमारे नेता-संग्राम के बहुत-से सेनानी एक-एक करके उठते जा रहे

हैं। हाल ही में डा० पट्टाभि सीतारमैया की मृत्यु से एक और स्थान रिक्त होगया। डा० पट्टाभि उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने देश-सेवा का एक बार व्रत लिया तो फिर पीछे नहीं हटे। आजादी की लड़ाई में वह सदा आगे रहे और अपनी तपस्या के बल पर कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर आसीन हुए। देश के स्वतंत्र होने के उपरान्त उन्हें मध्य प्रदेश के राज्य-पाल का स्थान सौंपा गया तो उन्होंने उस दायित्व का भी बड़ी सफलता से निर्वाह किया।

डा० पट्टाभि की जिन बहुमुखी सेवाओं के लिए हमारा देश उनका चिर-ऋणी रहेगा-वह है 'कांग्रेस का इतिहास' ग्रंथ की रचना। इस ग्रंथ में उन्होंने कांग्रेस की स्थापना के समय से लेकर स्वाधीनता की उपलब्धि तक का अत्यन्त प्रामाणिक इतिहास दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी इस कृति के द्वारा वह सदा जीवित रहेंगे।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में यद्यपि वह सक्रिय राजनीति से अलग हो गये थे, तथापि कांग्रेस तथा देश की सेवा के लिए वह हर घड़ी प्रस्तुत थे।

'सस्ता साहित्य मंडल' तथा उसके कार्य के प्रति उनका बड़ा अनुराग था। 'कांग्रेस का इतिहास' का हिन्दी-संस्करण 'मंडल' से ही निकला था। सन् १९५८ में जब उस विशाल ग्रंथ का संक्षिप्त संस्करण निकालने की बात आई तो उन्होंने न केवल उस विचार का स्वागत ही किया, अपितु पुस्तक के तैयार होने पर उसके लिए विस्तृत भूमिका भी लिख भेजी।

उनमें अनेक गुणों का समन्वय था। वह बड़े ही विनम्र और मिलनसार थे, पर साथ ही अत्यन्त निर्भीक, वह किसी-से दवे नहीं, न उन्होंने किसीको दवाया।

ऐसे महान देशभक्त, निर्भीक नेता तथा स्पन्दनशील मानव के विछोह से दुःख होना स्वाभाविक है, फिर भी उनकी मृत्यु शोक का नहीं, उनकी भांति कर्मनिष्ठ और सेवाव्रती होने का निमित्त बननी चाहिए। हम डाक्टरसाहब की स्मृति के प्रति 'मंडल' परिवार की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और उनके कुटुम्बीजनों के प्रति हार्दिक समवेदना।

कुमारप्पाजी स्वस्थ और दीर्घायु हों

जय हिन्द का प्रत्येक विद्यार्थी श्री. जे. सी. कुमारप्पा

के नाम से भलीभांति परिचित हैं। गांधी-परिवार के वह एक कर्मठ हैं और उन्होंने गांधीजी के अर्थ-शास्त्र-संबंधी विचारों को हृदयंगम करके उनके व्यापक प्रसार में सक्रिय योगदान दिया है। वह सन् १९२९ में पहली बार गांधीजी के सम्पर्क में आये थे और तबसे बराबर उनकी प्रवृत्तियों में सहायक होते रहे। उनकी प्रतिभा और क्षमता को देखकर गांधीजी ने 'अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ' का सारा दायित्व उन्हींको सौंपा। संघ के मंत्री के रूप में कुमारप्पाजी ने रचनात्मक कार्य के ध्येय की ओर उसके द्वारा देश की जो सेवा की, वह बेजोड़ है।

कुमारप्पाजी प्रतिभाशाली लेखक हैं। यद्यपि उनका मुख्य विषय अर्थशास्त्र ही रहा है, तथापि उन्होंने लेखों तथा पुस्तकों के रूप में जो कुछ लिखा है, वह उनके मौलिक चिन्तन एवं प्रभावशाली शैली की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

पिछले चार वर्षों से कुमारप्पाजी अस्वस्थ हैं। दिल तथा रक्तचाप की बीमारी के कारण उन्हें मद्रास के जनरल अस्पताल के स्पेशल वार्ड के एक कमरे को अपना घर बनाने के लिए विवश होना पड़ा है और उपचार के रूप में उन्हें दो घंटे प्रतिदिन आक्सीजन दिया जाता है, फिर भी उनकी मानसिक वृत्तियां आज भी पूर्णतया सजग हैं।

४ जनवरी १९६० को कुमारप्पाजी अपने जीवन के ६८ वर्ष पूरे करके ६९वें वर्ष में प्रवेश करेंगे। उनके मित्रों और हितैषियों ने सारे देश में उस दिन उनके स्वास्थ्य तथा दीर्घायु के लिए प्रार्थना करने का एक कार्यक्रम निश्चित किया है।

हम कुमारप्पाजी के स्वास्थ्य की कामना करते हुए भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें दीर्घायु करें।

अमरीका के राष्ट्रपति की शान्ति-यात्रा

अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहोवर का भारत-आगमन इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। जिस समय नेहरूजी अमरीका गये थे, उन्हें भारत आने का निमंत्रण दे आये थे। उसीके फलस्वरूप राष्ट्रपति आइजनहोवर भारत आये। राजधानी में उनका जिस उमंग और उछाह से स्वागत किया गया, वह दिल्ली-वासियों तथा बाहर से आये हुए सम्माननीय अतिथियों को सदा स्मरण रहेगा।

क्या व कैसे ?

: ३५ :

हमारी राय

इसमें कोई संदेह नहीं कि राष्ट्रपति-पद पर नर-नारियों ने एकत्र होकर जो मान दिया वह इसलिए तो दिया ही कि वह एक शक्तिशाली राष्ट्र के सर्व-सत्ताधारी व्यक्ति हैं लेकिन उसका एक कारण यह भी था कि वह शान्ति का संदेश लेकर यहां आये थे। पारस्परिक चर्चाओं तथा सार्व-जनिक भाषणों में उन्होंने शान्ति की ही आवश्यकता पर जोर दिया और उसके लिए भारत द्वारा किये गए प्रयत्नों की भी सराहना की।

हम नहीं कह सकते कि आगे चलकर इस सबका क्या परिणाम निकलेगा, लेकिन मानना होगा कि राष्ट्रपति के इस प्रवास के परिणामस्वरूप भारत और अमरीका के एक-दूसरे के निकट आने में सहायता मिलेगी। यातायात के साधनों तथा विज्ञान की प्रगति से आज दुनिया इतनी छोटी होगई है कि कहीं भी लहर उठती है तो उसका प्रभाव सब पर पड़ता है, फिर भी आज मुख्यतः दो राष्ट्र हैं, जिनपर अंतर्राष्ट्रीय शान्ति निर्भर करती है। वे हैं अमरीका और रूस। यदि ये दोनों देश निश्चय कर लें कि वे विनाशकारी यंत्रों का प्रयोग संहार के लिए नहीं करेंगे और अपनी तथा दूसरों की समस्याओं को प्रेम तथा मैत्री से हल करेंगे तो दुनिया की कोई भी शक्ति नहीं, जो उनके विरुद्ध जा सके और अशान्ति पैदा कर सके।

आइजन्हावर ने जिस विनम्रता, संयम तथा गंभीरता से अपनी बात कही, उसका भारतवासियों पर अच्छा असर पड़ा है। हमारी कामना है कि यह सद्भाव आगे और बढ़े और दुनिया के सुख और शान्ति के सामान्य ध्येय की ओर चलने का मार्ग प्रशस्त करे।

“एक मौन प्रार्थना”

‘जीवन-साहित्य’ के पाठक श्री सुरेशभाई को अच्छी तरह से जानते हैं। वह इलाहाबाद सर्वोदय मंडल के मंत्री और सर्वोदय-विचार-धारा के निष्ठावान अनुगामी हैं। पिछले दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जो उपद्रव हुए और जिस ढंग से विश्वविद्यालय को बंद करके उसे सशस्त्र पुलिस को सौंप देना पड़ा, उससे मर्माहत होकर सुरेश रामभाई ने १८ दिसम्बर से दो सप्ताह का उपवास प्रारंभ किया। हमें विश्वास है कि जबतक यह अंक पाठकों के हाथों में पहुंचेगा, उपवास शान्तिपूर्वक समाप्त हो चुका होगा।

सैनिक के नाते सुरेश रामभाई ने जो कदम उठाया है, उसका हम हार्दिक अभिनंदन करते हैं। अपने उपवास-संबंधी वक्तव्य में उन्होंने लिखा है, “... मेरा यह उपवास किसी भी व्यक्ति या अधिकारी के खिलाफ नहीं है। न किसी मांग या शिकायत की पूर्ति के लिए है। न इसके पीछे कोई शर्त है, और न किसी तरह का कोई दावा है। नम्रतापूर्वक मैं इतना ही कहूंगा कि आज हिंसा और दंड के जो पाशविक मार्ग अपनाये जाते हैं, उनका विरोध इसमें सूचित है। समाज के लिए ये प्रवृत्तियां अभिशाप हैं—एक विश्व-विद्यालय के लिए तो और भी ज्यादा। मेरा यह उपवास पारस्परिक विश्वास, शुद्ध साधन तथा उचित व्यवहार के लिए एक मौन प्रार्थना है।”

सुरेश रामभाई का यह शुद्ध तप हम सबके लिए, विशेषकर छात्रों के लिए, जो स्थान-स्थान पर अशान्ति उत्पन्न कर रहे हैं और शासकों तथा अधिकारियों के लिए, जो उस अशान्ति को दबाने के लिए हिंसात्मक उपाय काम में ला रहे हैं, आंखें खोलनेवाला होना चाहिए। देश के आजाद होने पर भी हम विदेशी सत्ता की निकम्मी विरासत को अपनाये हुए हैं और अशान्ति को दबाने के प्रयत्न में स्वयं अशान्ति के बीज बो रहे हैं। हम पूछते हैं, हमारे सामने आज कितने दृष्टान्त ऐसे हैं, जबकि उपद्रवों का सामना अहिंसक उपायों से किया गया हो, जबकि गोली चलाकर उन्हें दबाने के मामले बीसियों गिने जा सकते हैं और आयेदिन होते रहते हैं।

यदि हमें अपने देश को गांधीजी के मार्ग पर चलाना है तो हमें सारी परिस्थिति पर नये सिरे से विचार करना होगा, और नये मूल्यों का उपदेश देने के साथ-साथ स्वयं उनपर आचरण करके दिखाना होगा। हम मानते हैं कि शासक का मार्ग बड़ा कठिन होता है, लेकिन यह भी सच है कि शासक जिस समय सत्ता का मोह और मद छोड़कर विनम्र सेवक बन जाता है, उसका रास्ता बेहद आसान हो जाता है।

गांधीजी ने एक स्थान पर लिखा है, “अपनी शुद्ध सेवा के बल पर जो पद और सत्ता हमें मिलती है, वह हमारे हृदय को उच्च बनाती है। जो सत्ता मेवा के नाम पर केवल बहुमत से प्राप्त की जाती है, वह केवल भ्रमजाल है।”

इसी बुनियाद पर तथ्य को जबतक हम अपने विचार और

अनजाने उसी रास्ते पर चलते रहेंगे, जिसकी विदेशी सत्ता के दिनों में हम स्वयं तीव्र निन्दा और विरोध करते थे।

कांग्रेस का ताज नये सिर पर

कांग्रेस का कांटोंभरा ताज इस बार श्री संजीव रेड्डी के सिर पर रखा गया है। इस चुनाव का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया है, और हम भी करते हैं। श्री संजीव रेड्डी ने आंध्र-मुख्यमंत्री के रूप में अपनी शासन की क्षमता तथा प्रतिभा को ही प्रकट नहीं किया, बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया है कि वह सुलझे हुए विचारों के व्यक्ति हैं और व्यापक दृष्टि रखते हैं। सेवक की विनम्रता तो उनमें है ही।

कांग्रेस की आज बड़ी भारी जिम्मेदारी है। अभी देश का नव-निर्माण होना है और वह सही ढंग से हो, यह कांग्रेस के किये ही हो सकता है। लेकिन देश के आजाद हो जाने के बाद से कांग्रेस का मार्ग बहुत ही कठिन होगया है। उससे लोगों की आशाएं और अपेक्षाएं बढ़ गई हैं, सहयोग-भावना कम होगई है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों आज कांग्रेस की उपयोगिता चुनाव लड़नेवाली एक संस्था के रूप में रह गई है। आज उसके पीछे लोक-शक्ति का अभाव-सा दिखाई देता है।

यही कारण है कि कांग्रेस आज बड़ी विषम परिस्थिति

से गुजर रही है। किसी जमाने में उसे जो असामान्य प्रतिष्ठा और लोकप्रियता मिली थी, वह बड़ी तेजी से कम होती जा रही है।

हमारी राय में आज आवश्यकता इस बात की है कि कांग्रेस सरकार से पृथक् अपना अस्तित्व रखे—विरोधी के रूप में नहीं, बल्कि उसके पूरक के रूप में। सरकार की अपनी मर्यादा है। बहुत-से काम वह चाहकर भी नहीं कर सकती। कांग्रेस के सामने ऐसी कोई लाचारी नहीं है। सरकार दपतरों के बल पर चलती है, कांग्रेस जनता के बल पर चली है। वही स्थिति उसे अब फिर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। हमारा देश बिना रचनात्मक कार्य के पूरी तरह जाग्रत नहीं होगा। कांग्रेस उसीपर अपनी शक्ति केन्द्रित करेगी, तभी वह मजबूत होगी।

हम चाहते हैं कि नये अध्यक्ष कांग्रेस को नई दिशा दें। वह लोगों का मुंह पदों और सत्ता की ओर से मोड़कर सेवा की ओर करें और उस भावना को बढ़ावा दें, जिससे लोग कर्तव्यरत हों, अधिकारों के कर्तव्य-विमुख उपासक न रहें।

यह काम कठिन अवश्य है, लेकिन कांग्रेस तो सदा से ही कठिन काम करती आई है।

—य०

(पृष्ठ ३२ का शेष)

अंग्रेजी की इन तीनों पुस्तकों में से पहली में विनोबाजी के चौदह प्रवचन हैं, जिनमें विज्ञान और मानव-हित के विषय पर बड़े ही सरल और युक्तिसंगत ढंग से विचार किया गया है। दूसरी में जयप्रकाशजी के भाषण हैं, जो वर्तमान समाज-व्यवस्था को सर्वोदय की बुनियाद पर नई सिरों से ढालने के सम्बन्ध में अच्छी विचार-सामग्री प्रदान करते हैं। तीसरी पुस्तक में अप्पासाहब ने नये समाज के कुछ बुनियादी सिद्धान्त दिये हैं।

ये तीनों ही प्रकाशन सभी वर्गों के पाठकों के लिए

पठनीय तथा मननीय हैं।

दसवां सर्वोदय सम्मेलन : पृष्ठ २२८, मूल्य एक रुपया

ग्यारहवां सर्वोदय सम्मेलन : पृष्ठ २२२, मूल्य एक रुपया

ये दोनों प्रकाशन क्रमशः सन १९५८ के पंढरपुर-सम्मेलन तथा सन् १९५९ के अजमेर-सम्मेलन की कार्यवाहियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। दोनों सम्मेलनों की प्रतिदिन की कार्यवाहियों, चर्चाओं, भाषणों तथा प्रस्तावों आदि का पूरा हाल एक स्थान पर इन पुस्तकों में मिल जाता है।

—सत्यसाची

‘मंडल’ की ओर से

अल्पमोली माला का चतुर्दिक् स्वागत

‘जीवन-साहित्य’ के पिछले अंक में हमने सूचना दी थी कि हमारी अल्पमोली माला का चारों ओर से स्वागत हो रहा है। कुछ सम्मतियां भी हमने दी थीं। अब

पूज्य विनोबा लिखते हैं—

“सस्ते संस्करणवाली किताबें आईं। यह एक अमूल्य सेवा, ‘मंडल’ कर रहा है।”

गांधी स्मारक निधि के अध्यक्ष श्री आर.आर. दिवाकर—

“मुझे यह देखकर प्रसन्नता है कि हिन्दी के कुछ प्रकाशक हिन्दी में बहुत ही सुन्दर और उपयोगी साहित्य सुविधाजनक आकार और सस्ते मूल्य में प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस क्षेत्र में ‘सस्ता साहित्य मंडल’ अग्रणी रहा है। अपनी नई माला का, जिसे उन्होंने अभी चालू किया है—‘सस्ता साहित्य अल्पमोली संस्करण माला’ नाम रखा है। उसकी आधी दर्जन पुस्तकें मेरे सामने हैं और मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि इस प्रकार की माला हिन्दी के प्रत्येक पाठक को पसंद आयेगी। ‘सस्ता साहित्य मंडल’ की अनेक विशेषताओं में एक यह है कि वह अपने प्रकाशनों में सीधी-सादी हिन्दी का प्रयोग करने की कोशिश करता है। भाषा को विशुद्ध अथवा खिचड़ी बनाने का प्रयास नहीं करता।

“विशाल पैमाने पर इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन से ही सामान्य पाठकों के बीच हिन्दी लोक-प्रिय हो सकती है। मैं इस माला की पूर्ण सफलता चाहता हूँ।”

नेशनल बुक ट्रस्ट के अध्यक्ष डा० सी. डी. देशमुख—

“... मैं आपके नये प्रयास की सफलता की हार्दिक कामना करता हूँ।”

कांग्रेस की अध्यक्ष ‘श्रीमती इंदिरा गांधी—

“मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ‘सस्ता साहित्य मंडल’ ने सस्ते और उच्च स्तर की पुस्तकें प्रकाशित करने की योजना बनाई है। मैं इस कार्य में ‘मंडल’ की सफलता की कामना करती हूँ।”

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त—

“अल्पमोली सस्ता साहित्य प्रकाशन के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। सचमुच यह सस्ता साहित्य है। ... मुझे आशा है, इनका बहुल प्रचार होगा।”

पंजाब के राज्यपाल श्री न. वि. गाडगिल—

“आपकी योजना मुझे बहुत पसंद है। इसमें आपको पूरी सफलता हो, यही मेरी प्रार्थना और आशीर्वाद है।”

पंजाब के शिक्षामंत्री श्री अमरनाथ विद्यालंकार—

“... आपकी यह योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण है और हिन्दी जगत में एक अनोखी वस्तु है। ‘सस्ता साहित्य मंडल’ ने हिन्दी की जो बहुमूल्य सेवा की है, यह योजना उन सेवाओं को और अधिक मूल्यवान बना देती है।”

राजस्थान के शिक्षासचिव श्री शंकरसहाय सक्सेना—

“... सस्ता साहित्य मंडल ने हिन्दी वाङ्मय की जो सेवा की है, वह अमूल्य है। ... ‘सस्ता साहित्य अल्पमोली संस्करण’ की पुस्तकें देखकर तो मुझे अतीव प्रसन्नता हुई। इतने कम मूल्य में उच्चकोटि का साहित्य सादा किन्तु अत्यन्त आकर्षक प्रकाशन, ‘मंडल’ का यह प्रयास बंदनीय है। मुझे विश्वास है कि सस्ता साहित्य मंडल इसी प्रकार सुरुचिपूर्ण साहित्य से हिन्दी को भरता रहेगा।”

यह तो हम सूचित कर ही चुके हैं कि इस माला के पहले सेट में सात पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनमें १४८२ पृष्ठ हैं (चित्र अलग) और उसका मूल्य १०) है। ऐसी भी व्यवस्था रखी गई है कि जो सज्जन उनके मूल्य के १०) भेज देंगे, उन्हें ‘मंडल’ अपने खर्च से पुस्तकें भेज देगा। आगामी सेट तैयार हो रहा है। उसकी सूचना शीघ्र ही ‘जीवन साहित्य’ में दी जायगी।

हमें आशा है, इस माला का सभी क्षेत्रों में प्रवेश होगा, क्योंकि इसकी पुस्तकें सभी की रुचि की हैं और सभी के लिए पठनीय तथा संग्रहणीय हैं।

—मंत्री

स्थायी महत्व की पुस्तकें

	मूल्य	डाक खर्च
रूसी हिन्दी शब्द कोष (संकलक—वीर राजेन्द्र ऋषि)	रु० ३५.००	—
भारत के पक्षी (लेखक—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह)	१२.५०	१.५०
महात्मा गांधी (चित्रावली)	१०.००	१.७५
संपूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड १ व २ कपड़े की जिल्द	५.५०	प्रत्येक ०.५०
कागज की जिल्द	३.००	प्रत्येक ०.८५
राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के भाषण	३.५०	०.८५
स्वाधीनता और उसके बाद (जवाहरलाल नेहरू के भाषण)	५.००	१.३५
भारत की एकता का निर्माण (सरदार पटेल के भाषण)	५.००	१.००
भारतीय कविता १९५३	५.००	१.२०
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	४.५०	०.८५
भारत १९५९	३.५०	०.९५
आकाशवाणी विविधा १९५९	३.५०	०.८२

(रजिस्ट्रेशन व्यय अतिरिक्त)

२५ रुपये या अधिक की पुस्तकों पर डाक-खर्च नहीं लिया जाता है

पब्लिकेशन्स डिवीजन

पोस्ट बॉक्स नं० २०११, दिल्ली-८

शाखाएं :

१, गार्स्टिन प्लेस, कलकत्ता-१

३, प्रास्पेक्ट चैम्बर्स, दादाभाई नौरोजी रोड, बम्बई-१

८, सैन थोम हाई रोड, मद्रास-४

‘राष्ट्रभारती’

—: सम्पादक :—

मोहनलाल भट्ट : : हृषीकेश शर्मा

वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से ६ रु.; नमूने की प्रति ६२ नये पैसे

इसमें आपको लब्धप्रतिष्ठ-विद्वान् साहित्यकारों के ज्ञानपोषक और मनोरंजक अच्छे-अच्छे लेख, कविताएं, कहानियां, एकांकी, रेखाचित्र, शब्दचित्र आदि रचनाएं पढ़ने को मिलेंगी।

इसमें संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं की तथा अंग्रेजी, रशियन आदि विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के सुन्दर हिन्दी अनुवाद भी रहते हैं।

आज ही मनीआर्डर द्वारा ६) भेजकर ग्राहक बन जाइए।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक ‘राष्ट्रभारती’

हिन्दीनगर, वर्धा

(राष्ट्रभाषा प्रचार समिति)

बापू की महान् वाणी का प्रचार तथा भाषा साहित्य और भारत की सामासिक.
(Composit Culture) संस्कृति का दिग्दर्शन करानेवाला मासिक

राष्ट्रसेवक

सरस कविताएं, ललित लेख तथा सुधारक कहानियों के साथ भारत के पूर्वांचल से निकलनेवाला मासिक पत्र

वार्षिक चन्दा—छः रुपये

एक प्रति का दाम—पचास नए पैसे मात्र

व्यवस्थापक :

राष्ट्रसेवक

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति

गुवाहाटी, असम

‘आर्थिक-समीक्षा’

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनीतिक अनुसंधान विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान संपादक :

श्री सादिक अली

संपादक :

सुनील गुहा

१६ जनवरी १९६० को बृहदाकार बंगलौर कांग्रेस अधिवेशन विशेषांक

प्रकाशित हो रहा है।

नेताओं एवं विशेषज्ञों के विद्वत्तापूर्ण लेखों से ओत-प्रोत

वार्षिक चन्दा ७) ६० एक प्रति का ३० नये पैसे

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,

७, जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली

सम्पदा का...चिर प्रतीक्षित विशेषांक

सहकारी कृषि अंक

१५ अगस्त १९५९ को

प्रकाशित हुआ है।

● अपूर्व सूचनात्मक और विचारपूर्ण सामग्री

● ‘सम्पदा’ के विशेषांकों की परम्परा में, एक और कड़ी

मूल्य १.५०
डाक व्यय ०.१२

सम्पदा—अशोक प्रकाशन

२८/११ शक्तिनगर, दिल्ली—६

युगप्रभात

केरल का हिन्दी पाक्षिक

भावात्मक एकता भौगोलिक एकता की गारंटी है और 'युगप्रभात' पिछले तीन सालों से भारत की भावात्मक एकता को बढ़ावा देनेवाली विविध रचनाओं को जिनमें दक्षिण की चार मुख्य भाषाओं से अनूदित सामग्री की प्रधानता है प्रकाशित कर हिन्दी को भारतीय प्रतिनिधि भाषा बनाने की निरंतर चेष्टा कर रही है। नवंबर से युगप्रभात का चौथा साल शुरू हो रहा है। एक प्रति का दाम पच्चीस नये पैसे।

वार्षिक चन्दा छः रुपये छःमाही तीन रुपये

एजेंसी के लिए लिखें—

मैनेजर—

युगप्रभात
कालिकट (केरल)

समाज-शिक्षा कार्यकर्ताओं के लिए
हिन्दी की एकमात्र पत्रिका

प्रौढ़-शिक्षा

जो प्रौढ़-शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित स्तम्भों द्वारा समाज-शिक्षा कार्यकर्ताओं व प्रौढ़-शिक्षा संचालकों के कार्य में सहायता देती है। समाज-शिक्षा शास्त्रियों की रचनाओं द्वारा कार्यकर्ताओं का मार्ग स्पष्ट करती है। प्रौढ़-शिक्षा की विवेचना और पद्धति की व्याख्या करती है।

सामुदायिक विकास खंडों, श्रमिकों, कृषकों व महिलाओं के केन्द्रों के लिए भी उपयोगी रचनाएं प्रकाशित करती है। अवश्य मंगाएं। कम-से-कम एक प्रति तो पढ़कर देखिए।

एक प्रति : ४० न. पै.

वार्षिक चन्दा : २.५०

व्यवस्थापक—“प्रौढ़-शिक्षा”

भारतीय प्रौढ़-शिक्षा संघ,

१७, बी. इन्द्रप्रस्थ मार्ग, नई दिल्ली।

साहित्यिक सांस्कृतिक कलात्मक मासिक राष्ट्रवाणी

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे द्वारा प्रकाशित यह मासिक पत्रिका हिन्दी की सम्मानित मासिक पत्रिकाओं में अपना एक विशेष स्थान रखती है। हिन्दी, मराठी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों का सहयोग इसके लिए प्राप्त है। भारतीय भाषाओं के साहित्य के नवीनतम अंतःप्रवाहों का प्रतिबिम्ब इसमें पाया जाता है। ग्रंथालयों, विद्यालयों, कॉलेजों और साहित्यिक संस्थाओं के लिए अत्यंत उपयुक्त।

किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं। हर महीने की पहली तारीख को अंक प्रकाशित होता है।

[सालाना चन्दा चार रुपये]

‘राष्ट्रवाणी’ में विज्ञापन देना लाभप्रद है।

राष्ट्रभाषा भवन, नारायण प्रेठ

पो. बाँ. ५६०, पुणे २.

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

पुस्तक जगत

(मासिक)

★ ‘प्रकाशन कला’, ‘भारत भारती’, ‘विश्व भारती’, ‘कसौटी’ और ‘वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण’ आदि सुगठित स्तम्भों में विशिष्ट साहित्यकारों की विवेचना।

★ विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन।

★ प्रकाशक, लेखक, पाठक और विक्रेता का सम्मिलित मंच।

मूल्य : वार्षिक—३)

अंक २५ न० ५०

‘पुस्तक जगत’, ज्ञानपीठ, पटना-४

१६५६ के

हमारे नवीन प्रकाशन

१. दशरथनंदन श्रीराम	—राजाजी ५००	१२. अमृत की बूंदें	—आनंदकुमार १००
२. कथा सरित्सागर	—सोमदेव ६००	१३. पक्षियों की दुनिया	—सुरेशसिंह १५०
३. खाद और उसके उपयोग	—शंकरराव जोशी १००	१४. आंसू और मुस्कान	—खलील जिब्रान १००
४. खेती के साधन	—ना. दु. व्यास १२५	१५. ज्ञान की गरिमा	—बलदेव उपाध्याय २००
५. परमहंस की कथाएं	—महावीरप्रसाद पोद्दार १५०	१६. आकाश-दर्शन	—छोटूभाई सुथार २००
६. नये जीवन की ओर	—शिवचन्द्र दत्ता १००	१७. मैं इनका ऋणी हूं	—इंद्र विद्यावाचस्पति २००
७. ग्रामोद्योग	—शोभालाल गुप्त १००	१८. तूफान और ज्योति	—सुमतिदेवी धनवटे २५०
८. सहकारी समाज	—बैजनाथसिंह १००	१९. कोई शिकायत नहीं	—कृष्णा हठीसिंग २५०
९. शेखफरीद	—टीकाकार वियोगी हरि ०३५	२०. धान की खेती	—राजदेव त्रिपाठी १००
१०. स्वामी दादूदयाल	" ०३५	२१. नैषध चरित	—श्रीहर्ष ०३७
११. कबीरदास	" ०५०	२२. शारदीया	—जगदीशचंद्र माथुर १५०

समाज-विकास-माला की पुस्तकें: मूल्य, प्रत्येक का ३७ न. पै. ।

२३. नन्हा अबाबील	२४. स्वामी विवेकानन्द	२५. आपभला, जगभला	२६. नासिक
२७. सूर के पद	२८. संत वेमन्ना	२९. आराम हराम है	३०. गोरा-बादल
३१. पाटलिपुत्र	३२. महर्षि अगस्त्य	३३. शेख सादी	३४. दानवीर कर्ण
३५. गोदावरी	३६. कुम्हार की बेटी	३७. नर्मदा	३८. शंकराचार्य
३९. अमरनाथ	४०. महारानी अहिल्याबाई	४१. पढ़ेंगे-लिखेंगे...	४२. कोणार्क

४३. मंगूभैया

प्रेस में

१. कुछ पुरानी चिट्ठियां	—जवाहरलाल नेहरू	६. हिंदुस्तान की कहानी (संपूर्ण)	—जवाहरलाल नेहरू
२. आसन	—धर्मचंद सरावगी	७. संघर्ष नहीं सहयोग	—क्रोपाटकिन
३. मनुष्य का बचपन	—देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	८. बापू की कारावास-कहानी	—सुशीला नैयर
४. मैथिली लोक-कथाएँ	—भगवानचंद्र 'विनोद'	९. भारत-विभाजन की कहानी	—ए. के. जानसन
५. रूस में छियालीस दिन	—यशपाल जैन	१०. राजाजी की लघु कथाएँ	—राजगोपालाचार्य

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

गांधीजी के उत्सर्ग के पुण्यमास में

उनके विचारों का अध्ययन और मनन कीजिये

गांधी साहित्य (गांधीजी द्वारा लिखित)

प्रार्थना-प्रवचन (दो भाग)	५.००	आश्रमवासियों से	०.३७	हिंद-स्वराज्य	०.७५
गीता-माता	४.००	एक सत्यवीर की कथा	०.२५	हृदय-मंथन के पांच दिन	०.२५
पन्द्रह अगस्त के बाद	२.००	गांधी-शिक्षा (तीन भाग)	०.१३	देश-सेवकों के संस्मरण	१.२५
धर्म-नीति (सजिल्द)	२.००	गीता-बोध	०.५०	अगर मैं डिकटेटर होता	०.३०
दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह	३.५०	ग्राम-सेवा	०.३७	शराबबंदी करें	०.३०
आत्मकथा (सम्पूर्ण)	४.००	नीति-धर्म	०.३७	स्वराज में अच्छत कोई नहीं	०.३०
आत्मकथा (संक्षिप्त)	१.००	ब्रह्मचर्य (दो भाग)	१.७५	खादी पहनो	०.३०
आत्म-संयम	३.००	बापू की सीख	०.५०	शिक्षा ऐसी हो	०.३०
अनासक्तियोग	०.७५	मंगल-प्रभात	०.३७	कंगाली ऐसे दूर होगी	०.३०
अनीति की राह पर	१.००	सर्वोदय	०.३७	कताई यज्ञ है	०.३०
आज का विचार (दो भाग)	०.७४	हमारी मांग	१.००	ग्राम-सेवा यों करें	०.३०
				स्त्रियां यह करें	०.३०

अन्य लेखकों द्वारा लिखित

राष्ट्रपिता (जवाहरलाल नेहरू)	२.००	गांधी-श्रद्धांजलि-ग्रंथ		बापू के आश्रम में	
गांधीजी की देन		(सम्पादक : राधाकृष्णन)	३.००	(हरिभाऊ उपाध्याय)	१.००
(राजेन्द्रप्रसाद)	१.५०	गांधीजी की छत्रछाया में		गांधी-विचार-दोहन	
गांधी-मार्ग	०.१२	(घनश्यामदास बिड़ला)	१.५०	(किशोरलाल मशरूवाला)	१.५०
गांधीजी को श्रद्धांजलि		बापू	२.००	श्रद्धा-कण (वियोगी हरि)	०.७५
(विनोबा)	०.३७	डायरी के पन्ने	१.००	गांधीजी का विद्यार्थी-जीवन	
इंग्लैंड में गांधीजी		जीवन-प्रभात (प्रभुदास गांधी)	५.००	(अशोक)	०.३७
(महादेव देसाई)	२.००	वा, बापू और भाई		गांधीजी का संसार-प्रवेश	०.३७
गांधी की कहानी (लुई फिशर)	१.५०	(देवदास गांधी)	०.५०	बापू की बातें (विष्णु प्रभाकर)	०.३७
गांधी-अभिनंदन-ग्रंथ		बापू के पत्र		युग-धर्म	१.७५
(सम्पादक : राधाकृष्णन)	४.००	(सम्पादक : काका कालेलकर)	१.२५	हिंसा का मुकाबला कैसे करें	०.३७
सर्वोदय-विचार	१.१२	स्वतंत्रता की ओर	४.००	गांधी-सूक्ति मुक्तावली	१.००
अहिंसा की शक्ति	१.५०	सर्वोदय की बुनियाद	०.७५		
सत्याग्रह-मीमांसा	३.५०	सर्वोदय-योजना	०.५०		

● इन तथा 'मंडल' की अन्य पुस्तकों की अपने स्थानीय पुस्तक-विक्रेता से मांग कीजिए। वहां न मिले तो, अथवा विस्तृत जानकारी के लिए, हमें लिखिये।

सस्ता साहित्य मण्डल

कनाट सर्कस, नई दिल्ली-१

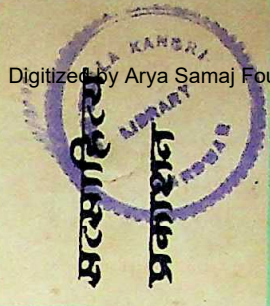
मंडल उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स (वि टाइम्स ऑफ इंडिया प्रेस),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

१० दरियागंज, दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित।

-२२८ 2-60

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



फरवरी १९६०

जीवन

साहित्य

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन



स्तुति-निन्दा

स्तुति और निन्दा कौए की कांव-कांव है । जो अभी तारीफ करता है वही बुराई करने लग जाता है । इसलिए किसीकी तारीफ या बुराई करने की ओर ध्यान मत दो ।

—रामकृष्ण परमहंस

अहिंसक

वर्ष : इक्कीस
अंक : दो

नव रचना का मासिक

वार्षिक मूल्य : चार रुपये
एक प्रति का : चालीस रुपये

विषय-सूची

- | | | | |
|---|-----------------------|--------------------------------------|--------------------------|
| १. विज्ञान और अहिंसा | —विनोबा ४१ | ८. दर्शन की यथार्थ भावना | —इन्द्रसेन ५६ |
| २. काव्य कला | —नटवरलाल 'स्नेही' ४२ | ९. पशुओं के साथ बन्धुत्व-भाव बढ़ाइये | —अगरचन्द नाहटा ६३ |
| ३. जनतांत्रिक सामाजिक चेतना और साहित्यकार | —हरिभाऊ उपाध्याय ४३ | १०. भूदान-यज्ञ-आन्दोलन | —शमसुद्दीन ६५ |
| ४. मानव-जन्म | —श्रीमाताजी ४७ | ११. श्वेत कमल | —प्रताप साहित्यालंकार ६८ |
| ५. लोक-कवि ईसुरी का प्रकृति-वर्णन | —गौरीशंकर द्विवेदी ४९ | १२. कसौटी पर | —समालोचनाएँ ६९ |
| ६. प्रतिभा-पुत्र | —सुमेरसिंह दइया ५१ | १३. क्या व कैसे ? | —सम्पादकीय ७२ |
| ७. बलाका | —श्रीकान्त गोगटे ५३ | १४. 'मंडल' की ओर से | —मंत्री ७५ |

निवेदन

१. जिन महानुभावों ने अपना वार्षिक शुल्क अभी तक नहीं भेजा है, उन्हें 'जीवन-साहित्य' वी. पी. द्वारा भेज दिया गया है। हमें विश्वास है कि ग्राहक बन्धुओं ने उसे छुड़ा लिया होगा। यदि किसी कारण से वी. पी. लौट आई हो तो कृपया अपना शुल्क मनीआर्डर से भेज दें।

२. ग्राहकों से अनुरोध है कि वे कृपया अपने मित्रों तथा संबंधियों से इस पत्र को मंगाने की प्रेरणा दें।

३. पत्र में हम सुरुचिपूर्ण विज्ञापन देते हैं, 'जीवन-साहित्य' के हितैषी यदि अच्छे विज्ञापन भिजवा सकें तो बड़ी कृपा होगी।

—सम्पादक

सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा विहार राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवनसाहित्य

वर्ष २१]

फरवरी, १९६०

[अंक २

विज्ञान और अहिंसा

विनोबा

मैं हाइड्रोजन बम, ऐटम बम, सबसे खुश हूँ ! मुझे ज्यादा डर बन्दूक का, तलवार का, लाठी का है, क्योंकि ये बम अहिंसा के नजदीक हैं, पर ये दूसरे हथियार अहिंसा के नजदीक नहीं हैं। जहाँ संहार-शक्ति की पराकाष्ठा हुई, वहीं संहार-शक्ति का ही संहार होने वाला है। एक वृत्त के दो आखिरी सिरे एक तरह से दूर हैं, पर दूसरी वाजू से देखेंगे तो बिल्कुल नजदीक हैं। इस वास्ते गौतम बुद्ध का जमाना फिर से आनेवाला है और दुनिया में फिर से लोग अहिंसा की स्थापना करने वाले हैं। इतनी बड़ी सृष्टि है, उसमें ढाई हजार साल का अरसा बड़ा नहीं है। इसलिए अभी तो बुद्ध-युग की शुरुआत है। लोग कहते हैं, 'यह २०वीं शताब्दी है, १९वीं शताब्दी है।' ऊपर मैंने जो कहा है, उसका खयाल किया जायगा तो यह कहा जायगा कि पहली शताब्दी में बुद्ध आये, उन्होंने यह सन्देश सुनाया। दूसरी में महावीर आये, उन्होंने यह सन्देश सुनाया। तीसरी में गांधीजी आये, उन्होंने यह सुनाया। बीच में हजारों महा-पुरुष आये, उनका कोई जिक्र नहीं होने वाला है। आज बच्चों को रटन कराते हैं, फलाने-फलाने राजा महाराजा हो गये !

हिन्दुस्तान के लोगों से पूछो कि तुम किस राजा को जानते हो, तो कहेंगे राजा राम ! कृष्ण को भी वे राजा नहीं कहते। कृष्ण, गोपाल हमारा एक सेवक हो गया है, एक दोस्त होगया है, एक गायें चराने वाला हो गया है—ऐसा जानते हैं। राजा सिर्फ राम को मानते हैं। और कोई राजा नहीं।

तो कालात्मा अपना काम कर रहा है। कितने ही आये और कितने ही चले गये। हम अभी कश्मीर गये थे। देहात में पूछा, 'क्यों भाई, कोई नाम आपको याद है।' तो कहने लगे कि 'लल्ला' नाम की याद है, जो मीरा की तरह वहाँ की एक योगिनी हो गई है—कोई साढ़े छः सौ वर्ष पहले। इस तरह कश्मीर में दो ही नाम लोगों की जबान पर हैं—एक अल्ला, दूसरा लल्ला।

इतिहास में हमको स्कूल में सिखाया जाता था कि अकबर के जमाने में तुलसीदास हुआ। मैं पूछता हूँ, तुलसीदास के जमाने में अकबर हुआ या अकबर के जमाने में तुलसीदास ? अकबर को आज कौन पूछता है, तुलसीदास तो हिन्दुस्तान में घर-घर में पूजा जा रहा है। दुनिया अकल रखती है और पहचानती है कि कौन नाम याद रखने लायक है।

तो यह कलात्मक है। समय तो बदलने वाला है। राजा लोग आये और गये। उनका जमाना गया। इसी तरह सियासत का जमाना भी गया समझना चाहिए, पाकिस्तान में जनरल अयूब आया तो सभी सियासत खतम हो गई, सब पार्टियां खतम ! ताले बंद हो गये उनके। तो जहाँ शक्ति आती है, वहाँ सब खतम हो जाते हैं। इजिप्ट में क्या है ? रशिया में क्या है ? 'प्रावर' है। सैन्यशक्ति है।

हमने देश की रक्षा के लिए सेना बनायी है, पर अब हमारे सामने सवाल यह आता है कि सेना से देश को कौन

बचायेगा ? दुनिया में दो ही ताकतें चल सकती हैं—साइन्स की या रूहानियत की। आज साइन्स, विज्ञान, मिलीटरी के हाथ में है। रूहानियत और साइन्स, मिल जायें तो मिलीटरी—सैन्यशक्ति—खतम हो सकती है।

साइन्स को, विज्ञान को अहिंसा के साथ शामिल होना चाहिए तो दुनिया में शांति हो जाय।

बाबा उस दिन की राह देख रहा हैं। वह दिन जरूर आयेगा, सियासत हमारे देखते-देखते खतम हो रही है, उसी तरह मिलीटरी की ताकत भी खतम होगी।

पाकिस्तानवाले कहते हैं कि जितना आनन्द अयूब के जमाने में आया, वह कभी नहीं आया था; क्योंकि होमियोपैथी चले या एलोपैथी, रोगी को तो रोग से मुक्ति मिलनी चाहिए ! तो लोगों से पूछिये कि वे क्या चाहते हैं : कम्युनिज्म या सोशलिज्म ? वे यह कुछ नहीं चाहते। वे चाहते हैं, सुखी जीवन और शांति। लेकिन ये सियासतवाले आज भी क्या कहते हैं ? हमको चुनो तो आपको स्वर्ग में ले जायेंगे और वे दूसरे आपको नरक में ले जायेंगे। क्या

हमारा स्वर्ग-नरक उनके हाथ में है ? क्या जरूरत है उनकी ?

रूहानियत और साइन्स की तरह एक तीसरी शक्ति और है। वह शब्द की शक्ति, साहित्य की शक्ति, जो दोनों ताकतों को जोड़ने वाली है। ऐसे अच्छे-से-अच्छे लेखक सामने आयेंगे, ऐसा साहित्य निर्माण करेंगे, जिससे रूहानियत और साइन्स, दोनों मिल जायें और मिल कर काम करें। ये तीनों ताकतें दुनिया को बचाने वाली हैं। ये ही उसे बचा सकती हैं, अन्यथा दुनिया खतम हो जायगी।

इसलिए जवानों से मेरी अपील है कि सियासत के पच्चे में पड़ो न। तुम तो रूहानियत और साइन्स को जोड़ने की ताकत हासिल करो, उसे पहचानो। शब्द की ताकत सत्यनिष्ठा से प्रकट होती है। वह सत्यनिष्ठा हासिल करो। रूहानियत जिंदगी की मोटर का 'स्टियरिंग व्हील'—दिशा-सूचक यंत्र—है और साइन्स उसका 'एक्सेलरेटर'—गति-निर्धारक यंत्र ! दोनों मिलने पर जीवन की गाड़ी बेखटके दौड़ी चली जायगी।

काव्य-कला

नटवरलाल 'स्नेही'

हो हृदय की धरा उर्वरा जो नहीं,
भावना का गगन घनभरा जो नहीं,
कल्पना ने सुधा-रस वरा जो नहीं,
काव्य का कल्पवन यह हरा हो नहीं।

प्राणियों के हृदय में स्नेह का स्पन्द हो,
पुष्प में वासना की नहीं गंध हो,
नृत्य में हो निमग्ना, न तट छोड़ दें,
ऊमियों के लिए पुण्य प्रतिबन्ध हो।

दीप जलकर जला दे नहीं सद्म को,
ज्ञान तो है वही, छल सके छद्म को,
है इसी में कला सूर्य की रश्मि की,
स्पर्श देकर खिला दे कि जो पद्म को।

लेखनी-नागरी, जो सुधा-घट भरे,
जो कि कवि के कुलाचार पर पग धरे,
काव्य की कीर्तिमाना कला है वहीं,
जो क्षयी इन्दु को भी कलाधर करे।

जनतांत्रिक सामाजिक चेतना और साहित्यकार

साहित्यकार का समाज में सदैव महत्वपूर्ण, उच्च बल्कि शीर्ष स्थानीय पद रहा है, क्योंकि साहित्य न केवल मानव-जीवन और समाज का साथी है, बल्कि पथ-प्रदर्शक भी है। जीवन या मानव-जीवन सबसे मुख्य है; और दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति, प्रशासन—ये सब जीवन के लिए हैं, उसकी प्रगति, समृद्धि और विकास के लिए हैं, न कि जीवन इन विषयों के लिए है—भले ही वे कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों। इसमें सहसा और आम तौर पर किसी का मतभेद नहीं होगा। तो साहित्यकार के कार्य और महत्व को समझने के लिए पहले साहित्य का और साहित्य का मूल्य-मापन करने के लिए पहले मानव-जीवन और स्वयं जीवन के बारे में भी विचार स्थिर करना होगा। जीवन-सृष्टि में सबसे विकसित जीवन अबतक मानव का माना जाता है और मानव को लेकर ही समाज बना है।

जीवन 'चेतन' तत्त्व है और उस चेतन तत्त्व में क्रिया और गति के साथ जब ज्ञान का मेल हुआ तबसे वह मानव कहलाया और इस मानवता का जैसे-जैसे विकास होता गया वैसे-वैसे मानव-जीवन अधिक उन्नत और विकसित होता चला गया। मानव-जीवन में सुप्त रूप में ज्ञानांश न हो सो बात नहीं है। परन्तु हम यहां पर मानव-जीवन तक ही विचार सीमित रखेंगे। मानव-जीवन में दो मुख्य गुण हैं—एक क्रिया और दूसरा ज्ञान। क्रिया उसको आगे बढ़ाती है, ज्ञान उसको सीधे व सही रास्ते पर ले जाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार गति और सन्मार्ग-प्रयाण यह मानव-जीवन की आधारशिला हुई। अब साहित्य चूंकि मानव जीवन का साथी, नियामक और नेता हैं, उसका कर्तव्य है कि वह मानव-जीवन की इन दो स्थिर सम्पत्तियों की रक्षा करता हुआ उसके विकास में समर्थ हो। साहित्यकार चूंकि साहित्य का साधक और पोषक है और सृष्टा भी है, इसलिए अपने-आप उसका दायित्व और कार्य स्पष्ट हो जाता है।

हम यहां केवल साहित्यकार के कर्तव्य का निर्णय करने या चर्चा करने के लिए एकत्र नहीं हैं, बल्कि 'जनतांत्रिक

सामाजिक चेतना में साहित्यकार के योगदान' की विस्तृत चर्चा करना चाहते हैं। पूर्वोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय चेतना से सामाजिक चेतना बहुत भिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि मानवों से मिलकर ही समाज बना है, और मानव गुणावगुण से अछूता मानव-समाज नहीं रह सकता। मानव की व्यक्तिगत चेतना का जोड़ ही सामाजिक चेतना हो जाता है। सामाजिक चेतना जैसी किसी पृथक् वस्तु का अस्तित्व सम्भव प्रतीत नहीं होता। यदि हो भी, तो जैसे भिन्न-भिन्न अनारदानों को एक फल-रूप में बांधने वाला उसका ऊपर का कवच या छिलका है, इसीसे मिलता-जुलता सामाजिक चेतना का कोई रूप या कार्य हो सकता है, जिससे बिखरे हुए मानव प्राणी एक समाज के रूप में बंधकर रह सकें। इसके दार्शनिक या तात्त्विक पहलू की गहराई में जाने की यहां आवश्यकता नहीं है। हमारी चर्चा के लिए इतना विश्लेषण काफी समझना चाहिए।

इस विषय में सबसे पहला शब्द जनतांत्रिक है, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है, जब मानव-समाज है तो उसकी सुव्यवस्था, संचालन और प्रगति के लिए कोई तंत्र भी होना चाहिए। अबतक मुख्य रूप से एकतंत्र रहा, जिसको हमने राजतंत्र कहा। वह अपना कार्य कर चुका तो जनतंत्र ने उसका स्थान लिया। मनुष्य और समाज जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, अनुभव के प्रकाश में, नये-नये तंत्र और व्यवस्थाओं को बनाता और संवारता है। राजतंत्र में भावना चाहे ऊंची और पवित्र रही हो परन्तु आखिर निर्णय और संचालन एक व्यक्ति के हाथ में रहा—अनेक की उसमें उपेक्षा रही। फलतः कुछ लोग समाज में ऊंचे उठ गये—अधिकांश लोग नीचे स्तर पर रह गये। तब बहुत जन-समाज या सारी जनता के सुख, हित और प्रगति की दृष्टि से जनतंत्र को श्रेष्ठ समझा गया और अब उसका प्रयोग समाज में हो रहा है। देशकाल के अनुसार इस जनतंत्र के भिन्न-भिन्न रूप हैं। हमारे भारत में हमने इसका जो रूप स्वीकृत किया, उसकी रूप-रेखा हमारे भारतीय संविधान में दी हुई है। और बातों

को छोड़ दें तो जनतंत्र की यह मांग अवश्य है कि जनता की राय से जनता के सुख और हित की व्यवस्था हो। वह इस केन्द्र-बिन्दु के आस-पास घूमती रहेगी और घूमती रहनी चाहिए। इसमें देश, काल-पात्र के अनुसार थोड़ा-बहुत अन्तर रह सकना चाहिए। भारत में जनतंत्र का वही रूप स्थिर होगा या रहेगा, जो भारतीय संस्कृति और परम्परा के नजदीक रहेगा। मनुष्य ने अपनी प्रगति के दौरान में जो छोटे-छोटे तंत्र और समाज बनाये, उनमें भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि संस्कारों और परम्पराओं के कारण कुछ विशेषताएं एकत्र होगई हैं, जिनको हमने संस्कृति नाम दिया है, और जब हम भारतीय संस्कृति कहते हैं तो उसका अर्थ होता है भारतीय समाज के विशिष्ट गुण और विशिष्ट संस्कारों का समूह। यदि अनुभव, ज्ञान, नवीन आविष्कार और प्रगति के प्रकाश में कोई संस्कार हानिकर प्रतीत हो तो उसे दृढ़ता से हटाना, सजीव और सजग मानव-समाज का कर्तव्य हो जाता है और यह उसकी प्रगति का लक्षण हो जाता है। भारत सदैव से प्रगतिशील राष्ट्र रहा है और उसके साहित्यकारों को इसका उचित श्रेय अवश्य ही मिलना चाहिए। भारत के वर्तमान जनतंत्र में पूर्वोक्त कसौटी से किस संशोधन, सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता है—यह सेमिनार का विषय नहीं है, यद्यपि वह बहुत महत्वपूर्ण और आवश्यक है। इसलिए इसे में यही छोड़ देता हूं और अपने सीमित क्षेत्र में ही इस चर्चा को रखना चाहता हूं।

जनतंत्र को पूर्णरूप से सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक नागरिक शिक्षित और सुयोग्य हो। भारतीय इतिहास का अवलोकन करते हुए और उसमें भी मानव-जाति ने अबतक जो प्रगति की है, उसके यात्रा-क्रम और दिशा का अवलोकन करते हुए उसके दो संकेत निश्चित रूप से सामने आते हैं। एक तो यह है कि व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर प्रस्थान और दूसरा हिंसा से अहिंसा की ओर प्रगति। यदि मेरा अवलोकन सही है तो भारतीय मानव की इन प्रवृत्तियों का हिसाब लगाये बिना, या इनको ध्यान में रखे बिना हम भारतीय समाज की प्रगति की दिशा और इसकी उत्तरोत्तर प्रगतिशील आवश्यकताओं का निर्णय नहीं कर सकते।

चर्चा की सुविधा के लिए ऊपर के ऊहापोह से निश्चित मन्तव्यों को यहां एक साथ रख देना सुविधा-जनक होगा :

१. साहित्य जीवन का साथी, नियामक और नेता है।
२. हमें यहां मानव-जीवन और मानव-समाज का विचार करना है।
३. जीवन का मुख्य लक्ष्य चाहे क्रिया या गति हो, परन्तु मानव-जीवन के साथ ज्ञानांश का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।
४. मानव-जीवन की योजना और तंत्र में उसकी विशिष्ट संस्कृति और परम्परा का महत्वपूर्ण स्थान है।
५. भारतीय मानव-समाज की प्रगति व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर या व्यष्टि से समष्टि की ओर और, हिंसा से अहिंसा की ओर हुई है और होती रही है।
६. हमें भारतीय सामाजिक चेतना और जनतंत्र की इन सीमाओं का ध्यान रखना चाहिए।
७. जनतंत्र के माने हैं प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हो, अपने कर्तव्य एवं अधिकारों के प्रति सजग हो और साथ ही सुयोग्य भी हो।

हमने समाजवाद और जनतंत्र दोनों को स्वीकार किया है। कहीं-कहीं ये दोनों एक-दूसरे पर छाये हुए या घुले-मिले मालूम होते हैं। ये दोनों एक दूसरे पर हावी न हो सकें और समाज के उत्थान और बिकास में परस्पर सहयोगी रहें, इसलिए यह अच्छा हो कि हम इनकी कुछ सीमा मोटे तौर पर निश्चित कर लें। मेरी समझ से हमारी शासन-व्यवस्था के लिए जनतंत्र और आर्थिक और सामाजिक संगठन के लिए समाजवाद के तत्त्व और आधार उपयोगी साबित होंगे; क्योंकि राजनैतिक क्षेत्र में जनतंत्र यानी मत की समानता और सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद—यानी व्यक्ति के सुख और हित को अधिक महत्व देना—दोनों का समावेश हो जाता है, अर्थात् सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी समानता का तत्त्व काफी हद तक समाविष्ट हो जाता है।

मैं समझता हूं कि जो मूलभूत मन्तव्य ऊपर गिनाये गए हैं, उनमें सहसा मतभेद की गुंजाइश नहीं है और यदि हो भी तो उसकी चर्चा यहां की जा सकती है और की जानी चाहिए। परन्तु कम-से-कम मेरी यह धारणा है कि इस सेगीतार में

निर्दिष्ट विषय की चर्चा करते हुए पूर्वोक्त मंतव्य को ध्यान में रखना अनिवार्य नहीं तो महत्वपूर्ण अवश्य है, क्योंकि इसी परिधि में साहित्य को अपना स्थान खोजना और रखना होगा और साहित्यकार को अपने कर्त्तव्य और कार्य का संकेत लेना होगा। विचार की कोई वैसी सीमा नहीं होती फिर भी विचार मनुष्य मस्तिष्क से करता है और मस्तिष्क की शक्ति शरीर के बन्धन और पंचमहाभूतों के नियम से सहसा बाहर नहीं जा सकती। चेतन तत्त्वों का अवगाहन बुद्धि एवं मस्तिष्क से परे की बात है, लेकिन उसका चिन्तन करने के लिए हम यहां नहीं आये। शरीर से अर्थात् हमारी इन्द्रियों से मन और बुद्धि की शक्ति अपार है। तो साहित्यकार विज्ञान के क्षेत्र में बहुत ऊंची उड़ानें भर सकता है; परन्तु प्रत्यक्ष साहित्य-सृजन के क्षेत्र में उसे अपनी बुद्धि, मस्तिष्क और इन्द्रियों की एक सीमा में ही रहना पड़ेगा, फिर यह सीमा चाहे कितनी ही विस्तृत हो। उसको अपने अध्ययन, अपनी लेखनी और अपनी परिस्थिति पर आधारित रहना ही होगा। हमको विकासोन्मुख होना चाहिए। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती; परन्तु हम किसी भी दशा में एक नियम, एक आधार, एक परिधि को छोड़कर नहीं चल सकते। इसका दायरा अलवत्ते विस्तृत कर सकते हैं और करते रहना चाहिए।

साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में होता है। व्यापक अर्थ में उसे वाङ्मय कहते हैं। अर्थात् जितना कुछ वाणी या लेखनी से निकलता है वह सब वाङ्मय या साहित्य है। इस अर्थ में साहित्य ज्ञान या ज्ञान के आलोक का या मस्तिष्क-शक्ति का प्रतिनिधि होता है। दूसरे अर्थ में वह कला, सौन्दर्य या रस का प्रतिनिधि होता है, जिसे हम हृदय का गुण या भाव मानते हैं। ज्ञान-प्रधान अर्थ में साहित्य वाङ्मय है, भाव-प्रधान या कला-प्रधान अर्थ में उसे आज साहित्य कहते हैं। विशेषतः 'साहित्य' या 'साहित्यिक' शब्दों का प्रयोग हम कला या सौन्दर्यपरक अर्थ में ही करते हैं। आत्मा के तेज या चेतन-पक्ष को हमने ज्ञान कहा है, सौन्दर्य या भाव-पक्ष को कला कहते हैं। कला का एक रूप साहित्य है, जिसका सम्बन्ध वाणी से है। वाणी या लेखनी के माध्यम से जो कला व्यक्त होती है, उसे हम अक्सर साहित्य कहते हैं। इसीके काव्य, नाटक, प्रहसन, कथा-

कहानी, उपन्यास, वार्ता आदि भेद हो जाते हैं। कला जब शरीर के अंग-विन्यास और अभिनय या हाव-भाव के द्वारा अभिव्यक्त होती है तो उसे नृत्य कहते हैं, कण्ठ स्वर से अभिव्यक्त होने-वाली कला को संगीत, इसी प्रकार चित्र, मूर्ति, वादन आदि को उपकरण या माध्यम-भेद से हम भिन्न-भिन्न कलाओं के नाम से अभिहित करते हैं। यह सेमीनार कलाकारों का नहीं, साहित्यकारों का है, जो कि स्वयं में अचेष्टवाणी या लेखनी के कलाकार होते हैं।

साहित्यकार की जो अपनी पूंजी है, उसीसे वह समाज को योगदान देगा। आप साहित्यकारों को अपनी-अपनी कमाई की देन इस सेमीनार में देना है। राजस्थान के साहित्यकारों का इसमें विशेष दायित्व है। भगवान् की कृपा से राजस्थान आज भी उत्तम साहित्यकारों की उर्वरा-भूमि है। कौन कह सकता है कि भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में हमारे साहित्यकारों ने अपना श्रेष्ठ योग नहीं दिया है? और आज भी वह अपने कर्त्तव्य-पालन में दत्त-चित्त है। परन्तु हां, हमारे वर्तमान राज्य के कल्याणकारी रूप होने के कारण, सम्भवतः, बहुत-सी प्रेरक और सहायक शक्तियां राजतंत्र के हाथ में चली गई हैं, जिससे और पेशेवरों या गुणी जनों की तरह हमारा साहित्य या साहित्यकार भी अपने को कुछ अर्थों में कुण्ठित या असहाय-सा अनुभव करता है। इससे उसे उबरने का क्या उपाय है? यह तथा इससे सम्बन्धित साहित्यकार के दूसरे प्रश्न तथा समस्याओं की चर्चा के लिए यहां स्थान नहीं है। यह कोई साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन नहीं है। साहित्यकारों का एक विशिष्ट मर्यादा में और विशिष्ट लक्ष्य को लेकर एक सेमीनार है। अतः इसका उल्लेख मात्र कर देना ही पर्याप्त है।

आज के हमारे साहित्यकार के सामने कोरी तात्त्विक समस्या नहीं है। जनतंत्र और समाजवाद का जो सम्मिलित प्रयत्न हमारे देश में हो रहा है, उससे सम्बन्धित व्यावहारिक और ग्रथार्थ समस्याएं उपस्थित हैं। राज्य के पंचवर्षीय आयोजन, उत्पादन-बुद्धि, प्रत्येक व्यक्ति को अन्न और काम देने की आवश्यकता, अज्ञान, रोग को मिटाने की मांग, आदि ऐसे तात्कालिक और ज्वलन्त प्रश्न हैं, जिन पर हमारा साहित्यकार ध्यान दिये बिना नहीं रह सकता। जीवन की

वर्तमान और प्रत्यक्ष समस्याओं को अधर में लटकते हुए हमारा साहित्यकार नहीं देख सकता। विज्ञान के आविष्कारों ने साहित्यकार के सामने नये-नये शक्तिशाली साधन और उपकरण तैयार किये हैं, जो रेडियो, माइक्रोफोन, सिनेमा आदि के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हैं। इनका उपयोग किये बिना, इनसे स्वयं को और समाज को लाभान्वित किये बिना आज का साहित्यकार आगे कदम नहीं बढ़ा सकता। यह कोई चर्चा या विवाद का विषय नहीं है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इन आविष्कारों ने हमारे साहित्यकार के कार्य-क्षेत्र में एक नवीन तत्त्व अवश्य दाखिल किया है, जिससे उसकी गति में एक मोड़ आया है। जहाँ राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण साहित्यकारों का मूल्यमापन बदला है, पुरानी अनुपयोगी मान्यताएं, शैलियाँ बदल गई हैं, वहाँ नवीन मूल्य की स्थापना और नवीन साधनों के प्रयोग से आज का साहित्यकार स्वतन्त्रता-पूर्व भारत के साहित्यकारों से कई बातों में एक अलग व्यक्ति हो गया है, होता जा रहा है। जैसे-जैसे विश्व के विभिन्न देशों और राष्ट्रों से आवागमन और संचार तथा विचार के देन-लेन के साधन विपुल और सुलभ होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे साहित्यकार का क्षेत्र, कार्य, दिशा और रचना या सृजन-शैली में भी अन्तर पड़ता जा रहा है। यह स्वाभाविक है,

हमें इन सबका हिसाब लगाकर ही आगे चलना और रहना होगा।

समाज की गति-विधि के अनुसार साहित्य का रूप भी बदलता है। समाज की स्थिरता, शान्ति के लिए सन्तुलन आवश्यक है। किसी कारण से, सन्तुलन बिगड़ने से, जब ईर्ष्या-द्वेष फैलता है, तब समाज में एक नई चेतना आती है और वह क्रान्ति या सुधार लाती है। यह चक्र चलता ही रहता है और साहित्यकार उसका वाहन या दूत बनता है। जब दरिद्रता और दुःख बढ़ता है, तो पुरुषार्थ, उद्योग, श्रम, तत्परता बढ़ती है। जब समृद्धि बढ़ती है तो विलास, आलस्य, अकर्मण्यता का संचार होता है। एकतंत्र से जी ऊँचा तो जनतंत्र आया। व्यक्तिवाद से परेशान हुए तो समाजवाद आ रहा है। इनका अतिरेक होने पर फिर कोई नई स्थिति जन्म लेगी, इसी नियम के आधीन हमारे साहित्य को भिन्न-भिन्न युगों का स्रष्टा और द्रष्टा होना पड़ा है जो रीतिकाल नख-शिख, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के चक्करों का स्पष्टीकरण करते हैं। वर्तमान चक्रनिर्माण और विकास का है; श्रम और कार्य-दक्षता इसमें अपेक्षित है। समता इसकी मुख्य धारा है। इनके स्वरों से हमारा साहित्य गूँजे बिना नहीं रह सकता। हमारे आज के साहित्यकार की सजीवता का यही चिह्न होगा।

(पृष्ठ ६४ का शेष)

८-१९१२ के अनुसार पशु-पक्षियों का संरक्षण होना चाहिए था। पर खेद है शिकार और मांसाहार के लिए अनेक पशु-पक्षियों का इतना अधिक संहार हुआ कि कईयों की तो जाति ही समाप्त होगई। मध्यप्रदेश वन-विभाग की ओर से प्रचारित विज्ञप्ति में कहा गया है कि "यह भी ज्ञात हो चुका है कि अनेक प्रकार के प्राणी शिकारियों की कुपा से समाप्त हो चुके हैं। उनके वंश का अस्तित्व समाप्त या समाप्त-प्राय हो चुका है। मध्यप्रदेश के अनेक स्थानों में बड़ी संख्या में हाथी पाये जाते थे। मसलन शिवपुरी के जंगलों में हाथियों की बहुतायत थी। सम्राट् अकबर ने सेना के लिए बहुत-से हाथी इस क्षेत्र से पकड़वाये थे। किन्तु अब तो शिवपुरी ही क्यों मध्यप्रदेश के अन्य वनों से भी हाथी और शिकारी चीतों का विलकुल ही लोप हो गया है। वारहसिंगा,

वन भैंसा और बड़े वस्टर्ड पक्षी अब नाममात्र को रह गये हैं। इसी प्रकार अन्य कई प्रकार के पक्षी वनों में थे, जिनका आज पुस्तकों में केवल नाम ही पढ़ने को मिलता है। वन्य पशु-पक्षियों की संख्या में धीरे-धीरे कमी क्यों होती गई? पशुओं के क्रूरतापूर्वक शिकार के अलावा लोगों द्वारा जीवन में प्राणीमात्र की पावनता विषयक प्राचीन सिद्धान्तों का भूलना इसका कारण है। प्राचीन काल में ऋषियों के आश्रम सघन वनों में ही स्थित थे। वन एवं अन्य पशु-पक्षियों के बीच रहकर मानव वास्तविक जीवन-दर्शन को समझता था, किन्तु भौतिक उपलब्धियों की चकाचौंध में हम अपनी प्राचीन संस्कृति को बहुत पीछे छोड़ आये हैं। मानवीयता के नाते हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके जीवन की रक्षा करें।

मानव-जन्म

गत सप्ताह मैंने जन्म के विषय में कुछ कहा था और यह बतलाया था कि किस तरह अन्तरात्मा शरीर में प्रवेश करता है। मैंने तुम्हें बताया था कि लगभग सभी मनुष्यों के प्रसंग में शरीर का निर्माण बहुत असंतोषजनक रीति से होता है और अपवाद इतने विरल होते हैं कि उनकी चर्चा नहीं की जा सकती। मैंने तुमसे कहा था कि इस अंधकारपूर्ण जन्म के कारण मनुष्य को अपने साथ विभिन्न वस्तुओं की एक खासी गठरी ले आनी पड़ती है, जिससे पीछे चलकर सामान्यतया उसे मुक्त होना पड़ता है; यदि वह जीवन में सच्चे रूप में प्रगति करना चाहता हो। मैंने तुम्हें बताया था कि वस्तुतः तुम्हें आने के लिए बाध्य किया जाता है, जबदस्ती तुम्हारे ऊपर अवस्थाएं लाद दी जाती हैं, और दवाव के वश तुम वंश-परम्परा के नियमों को मानते हो। अब मुझसे पूछा गया है कि कौन सत्ता या कौन वस्तु ऐसी है जो बाध्य करती है? मैं यथासम्भव स्पष्ट रूप में उत्तर देने की चेष्टा करूंगी।

शरीर का निर्माण एक पुरुष और एक स्त्री द्वारा होता है, जो पिता और माता होते हैं; जब ये शरीर का निर्माण करते हैं तब इनके पास कोई उपाय नहीं होता कि ये जिस जीव को जगत् में ला रहे हैं उससे यह पूछें कि वह इस शरीर को पसन्द करता है या नहीं अथवा यह शरीर उसकी भवितव्यता के साथ मेल खाता है या नहीं। ये, अवश्यम्भाविता के नियम-वश, शरीर के ऊपर एक पूर्वजानुकृति को, एक परिस्थिति को और पीछे एक शिक्षा को लाद देते हैं जो सब प्रायः सदा ही भावी उन्नति के लिए अड़चनें साबित होती हैं।

एक विकसनशील अन्तरात्मा को, अथवा शरीर में जन्म लेनेवाले एक पूर्ण-विकसित जीव को अपना सच्चा रास्ता पाने के लिए तथा अपने निजी पूर्ण स्वरूप को ढूँढ निकालने के लिए इन सब परिस्थितियों के विरुद्ध जोकि पाशबोचित जन्म के कारण उस पर लाद दी गयी हैं, युद्ध करना पड़ता है।

परन्तु माता-पिता के लिए यह सम्भव है कि वे इस कार्य को पशु के ढंग से, महज सहज प्रेरणा और कामना से

चालित होकर न करें—अधिकांश समय तो लोग सन्तान की इच्छा हुए बिना भी करते हैं—बल्कि उसके बदले इस काम को सज्जन संकल्प के साथ करें, इस बात की अभीप्सा करते हुए, प्रायः यह प्रार्थना करते हुए करें कि जिस शरीर को वे जन्म देने जा रहे हैं वह उनकी पुकार पर आनेवाले जीव के लिए एक उपयुक्त आकार हो। मैं ऐसे लोगों को जानती हूँ—ऐसे लोग बहुत नहीं, फिर भी कुछ हैं अवश्य,—जिन्होंने विशेष परिस्थितियों को चुना, एकाग्रता, ध्यान और अभीप्सा का भाव ग्रहण करके अपने को तैयार किया, तथा जिस शरीर को वे बनाने वाले थे उसमें आने के लिए किसी विशिष्ट जीव का आवाहन किया। इसके लिए मनुष्य को कुछ गुह्य-ज्ञान भी अवश्य होना चाहिए, जो साधारण तौर पर लोगों के पास नहीं होता।

प्राचीन युगों में, कुछ सम्यताओं में और आज भी कुछ देशों में गर्भवती स्त्रियों को विशेष रूप में सौन्दर्य, सामंजस्य, शान्ति और सुख के वातावरण में तथा बहुत स्वस्थ शारीरिक स्थिति में रखा जाता है, जिसमें आने वाला बच्चा सर्वोत्तम परिस्थितियों में आकार ग्रहण कर सके। यह स्पष्ट है कि बात ऐसी ही होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य के लिए सम्भव है + मनुष्य इतनी पर्याप्त मात्रा में विकसित हो चुके हैं कि वे ऐसा नहीं समझ सकते कि यह कोई असाधारण बात है। और फिर भी सच पूछा जाय तो यह एक असाधारण बात है, क्योंकि ऐसे बहुत थोड़े-से लोग होते हैं, जो इस बात का विचार करते हैं, अधिकांश लोग इस बात का कोई विचार किये बिना ही बच्चे उत्पन्न करने के आदी हैं। परन्तु मनुष्य से जिस बात की कम-से-कम आशा की जाती है, वह यह है कि उसे कुछ सचेतन होना चाहिए और जो कार्य उसे करना हो उसे सबसे उत्तम अवस्थाओं में करना चाहिए।

अब, पूर्ण-आकार-प्राप्त सचेतन जीव जब जन्म लेना चाहता है तब वह साधारण तौर पर अपने चैत्य धाम से पृथ्वी के ऊपर किसी स्थान में अपने अनुकूल चैत्य ज्योति को खोजने

के लिए अपनी दृष्टि दौड़ाता है। अपने पूर्व-जन्म में, पार्थिव वातावरण छोड़ने से पहले, उस जीवन में प्राप्त अपने सम्पूर्ण, अनुभव के फलस्वरूप, उसने अपनी भावी जन्म की अवस्थाओं को चुना था, पर पूर्ण व्योरे के साथ नहीं, बल्कि मोटा-मोटी साधारण रूप में। पर ऐसे उदाहरण बहुत विरल होते हैं। सम्भवतः यहां हम इसकी चर्चा कर सकते हैं, पर अधिकांश मानव-समाज के लिए, यहां तक कि अत्यंत शिक्षित लोगों के विषय में भी, यह प्रश्न नहीं उठता।

साधारण रूप में हम यहां ऐसे जीव की ही बात कर रहे हैं जो विकसित हो रहा है, जिसके विकास की प्रक्रिया अभी चल रही है। अब विकास की बहुतेरी अवस्थाएं हैं, थोड़ा-सा चमकना आरम्भ करनेवाली छोटी-से-छोटी चिनगारी से लेकर पूर्ण सचेतन तथा पूर्णतः आकार-प्राप्त जीव तक अनेक श्रेणियां हैं। अपना निजी संकल्प रखनेवाली और अपनी निजी भवितव्यता का निश्चय करनेवाली एक पूर्ण सचेतन सत्ता बनने के लिए अंतरात्मा का जो यह आरोहण है, उसके पूरा होने में प्रायः हजारों वर्ष लग जाते हैं।

परन्तु, जब कोई मुक्त और सचेतन अंतरात्मा पृथ्वी पर फिर से शरीर ग्रहण करना चाहता है तब वह जन्म के पहले से ही शरीर पर कार्य करना आरम्भ कर देता है। ऐसी अवस्था में ऐसा कोई कारण नहीं कि वह अपने माता-पिता के अज्ञान के कारण उत्पन्न असुविधाओं को न स्वीकार करे। उसने किसी कारण से अपने स्थान को चुना है जो अज्ञानसम्भूत कारण नहीं है; उसने एक ज्योति देखी थी— वह महज सम्भावना की ही ज्योति हो सकती है; परन्तु वहां ज्योति थी और यही कारण है कि वह वहां आया था। और जब उसने चैत्य-लोक से पृथ्वी की ओर देखा और अपने जन्म के स्थान को चुना है, तब उस चुनाव में पर्याप्त विवेक-शक्ति है, जिससे वह कोई भारी भूल नहीं कर सकता।

सबसे उत्तम परिस्थितियों में भी, जब कोई जीव जान-बूझ कर नीचे आता है और जब उसने भौतिक शरीर के निर्माण में सज्जन रूप से कार्य किया है तो भी, जबतक शरीर सामान्य पाशवोचित ढंग से निर्मित होता है, तबतक, उसको संघर्ष करना ही होगा और जो-कुछ इस मानवीय पशुत्व से आता है उस सबको उसे सुधारना ही होगा।

माता-पिताओं की स्वाभाविक रूप में एक विशेष गठन होती है, उनका एक विशेष प्रकार का अच्छा या बुरा स्वास्थ्य होता है; बहुत उत्तम अवस्था में भी, उनमें बहुत-सी वंश-परम्परागत प्रवृत्तियां होती हैं, उनके अपने जन्म, पारिपाश्विकता और जसा जीवन वे बिताते हैं उस जीवन से आने वाले अभ्यास तथा अवचेतन और यहां तक कि सचेतन जटिल मानसिक ग्रंथियां भी होती हैं, और यदि वे, अपने निजी ढंग के, असाधारण व्यक्ति भी हों, यदि वे बहुत उत्तम प्रकार के अत्यंत सचेतन व्यक्ति हों तो भी वे सामान्यतया चीजों कि एक खासी संख्या अपने अंदर लिये रहते हैं, जो सच्चे चैत्य जीवन के विरुद्ध होता है। और जब माता-पिता अपने बच्चों को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने की यथाशक्ति चेष्टा कर चुकते हैं, तो भी बच्चे सब प्रकार के दूसरे लोगों के सम्पर्क में आते हैं, जिनका बहुत अधिक प्रभाव उनपर पड़ता है, विशेष कर जब वे बहुत छोटे होते हैं; ये प्रभाव अवचेतना के अन्दर घुस जाते हैं और पीछे उन्हें उनसे संघर्ष करना पड़ता है।

अतएव मैं कहती हूं, वर्तमान समय में जिस ढंग से शरीर उत्पन्न होता है उसके कारण तुम्हें असंख्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जो कम या अधिक अवचेतना से आती हैं, जो ऊपरी चेतना में आ जाती हैं और जिनके साथ, यदि तुम पूर्ण रूप से मुक्त होना और स्वाभाविक रूप में विकसित होना चाहो तो, तुम्हें युद्ध करना पड़ता है।

गौरीशङ्कर द्विवेदी

लोक कवि ईसुरी का प्रकृति-वर्णन

लोक कवि ईसुरी के गीतों को जिस-जिसने भी जहाँ-जहाँ पर सुना होगा भाव और भाषा दोनों ही की दृष्टियों से उनकी प्रशंसा की होगी। विगत अर्द्ध-शताब्दी से उनके गीतों की हिन्दी-जगत् में चर्चा चल रही है। हमारे अधिकांश पाठकों की यही धारणा है कि प्रणय और प्यार ही की बहुलता ईसुरी के गीतों में है और कितने ही अंश तक उनकी यह धारणा ठीक भी है, क्योंकि ईसुरी के प्राप्त गीतों में अधिकतर उक्त विषयों ही के गीत हैं और उन ही पर पत्र-पत्रिकाओं में अवतक प्रकाश डाला गया है।

लोक-कवि ईसुरी अपने बचपन ही से गीत कहने लगे थे। वह ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, उनका समाज बढ़ता गया और साथ-ही-साथ सम्मान भी, किन्तु अपने जीवन भर वह गीतों की दुनिया में दीवाने रहे, उनके समक्ष उन्होंने बड़ी नौकरी और राज-सम्मान तक को स्वीकार नहीं किया। यह भी कभी चिन्ता नहीं की कि उनके गीतों को कोई लिखकर उनका प्रदर्शन करता या मान बढ़ाता। उनके निधन के पश्चात् ही उनके गीतों का वास्तविक महत्व उनके जनपदवालों ने समझा और अब तो हिन्दी-जगत् में उनके गीतों की अच्छी चर्चा चलती रहती है। कितने ही अभिनन्दन-ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में उनके गीतों पर विवेचनात्मक लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

लोक-कवि ईसुरी के जितने भी गीत प्राप्त हो सके हैं, वे सब एक ही प्रकार के छंद में हैं। कहीं-कहीं गीत के प्रारम्भ में दोहा भी उन्होंने कहा है। जन-साधारण उनके गीतों को 'फाग' कहकर पुकारते हैं। यह छंद, छंद-शास्त्र के अंतर्गत भी सार, नरेन्द्र और ललित पद की श्रेणी में आता है, जिसमें १६ और १२ मात्राओं के विराम से २८ मात्राएं और अन्त में दो गुरु होते हैं। मध्यप्रदेश में उनके गीत चौकड़याऊ फाग के नाम से प्रसिद्ध हैं।

लोक-कवि ईसुरी की फागों का गहरा अध्ययन करने से उनके सम्बन्ध के कितने ही इस प्रकार के चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगते हैं कि मुँह से बरबस वाह-वाह निकल पड़ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रणय और प्यार के कोमल और सूक्ष्म भावों को सीधी सरल बुन्देली में उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है कि फाग सुनते ही हृदय भर जाता है। कभी-कभी तो उनके गीतों को सुनकर ऐसा प्रतीत होता है कि ईसुरी प्रेम और सौन्दर्य ही की दुनिया में दीवाने रहे हों। प्रवञ्चनाओं एवं आशा-निराशा के उन्होंने ऐसे सजीव चित्र अपने गीतों में प्रस्तुत किये हैं कि सुनकर चित्त फड़क उठता है। ईसुरी की शृंगार-प्रधान कविताओं में अनुभावों की छटा के साथ भावों की गम्भीरता देखते ही बनती है, किन्तु ईसुरी ने उद्बोधन, वैराग्य, वेदान्त और प्रकृति वर्णन पर भी पर्याप्त मात्रा में फागें कहीं हैं। कुछ उदाहरण देखिये:

मनुष्य-शरीर की असारता का वर्णन करते हुए वह चेतावनी देते हैं कि जो योग-क्रियाओं को अपनावेंगे वे ही मनुष्य-जीवन सफल बनाकर बैकुण्ठ प्राप्त कर सकेंगे, ब्रह्म में मिल सकेंगे। यथा:

तन कौ तनक भरोसौ नइयाँ, राखै लाज गुसइयाँ।
तर वर पत्र गिरत धरनी में, फिर ना लगत डरइयाँ।
जर बर खाक मिलै माटा में, फिर ना चुनै चिरइयाँ।
जा नर देही काम न आवै, पशु की बनें पनइयाँ।

...

...

...

नइयाँ ठीक जिंदगानी कौ, बनौ पिण्ड पानी कौ।
चोला और दूसरौ नइयाँ, सानुस की सानी कौ।
जोगी, जती, तपी, संन्यासी, का राजा-रानी कौ।
जब चायें, लं लेव 'ईसुरी', का बस है प्राणी कौ।

...

...

...

जो कोउ जोग-जुगत कर जानें, चड़चड़ जात बिमानें।
ब्रह्मा नै बैकुण्ठ रचौ है, उनइ नरन के लानें।
होन 'लगत' फूलन की बरसा, जिदना होत रमानें।
'ईसुर' कहते सबई के देखत, ब्रह्म में जात समानें।
एक-दूसरे गीत में वह मनुष्य-शरीर को किराये का मकान मानते हैं और मकान-मालिक प्रभु से कहते हैं कि जब आपकी इच्छा हो तब निकाल दीजियेगा:

बखरी बसियत है भारे की, दर्ई पिया प्यारे की।
कच्ची भीत उठी माटी की, छाई फूस-चारे की।
बेबन्देज बड़ी बेबाड़ा, जेड़ में दस-द्वारे की।
एकउ नई किनार किबरियां, बिना कुची-तारे की।
'ईसुर' चाये निकारौ जिनदना, हमें कौन उवारे की।

राम नाम का सुमरण नियमपूर्वक करके हृदय को
किस प्रकार उल्लसित करना चाहिए, यह भी सुनिये :

मैंने मन-मुदरी में गाड़ी, राम-रतन कां छाँड़ी।
सुमरन साथ सुबंज लगाई, लंच आँच हो काड़ी।
तन-कंचन की डाँक डाट दर्ई, कुमत-खटाई ताड़ी।
नेम के बाँट डार कै, डर सें, प्रेम-तराजू आड़ी।
तिसना-तौल घटी ना 'ईसुर', रंग-रसना सें बाड़ी।

बुन्देली जन-पद में लोककवि ईसुरी जितना जनप्रिय
हुआ है, उतना अन्य कवि नहीं हो सका, समूचे प्रदेश के कण्ठ-
कण्ठ से उसके गीत मुखरित होकर जन-जन को आनन्द-
विभोर करते रहते हैं।

ऋतुओं का वर्णन करते हुए उन्होंने ऋतुराज वसन्त
के आगमन का साङ्गोपाङ्ग विवरण दिया है :—

जे जीजान बाग में बोलें, सबद कोकला कोलें।
सुन कें सन्त भये उन्मादे, भसम अङ्ग में घोलें।
जोगी जटा कटा खाँ पटकत, बिकीं बिरानीं मोलें।
सीतल, मंद, सुगंधित पबनें, प्रीत बड़ाउन डोलें।
फैल परे रितराज 'ईसुरी', खसन-खजाने खोलें।

... ..

अब रित आई वसन्त बहारन, पान - फूल - फल - डारन।
हारन-हड़, पहरन-पारन, धाम, धवल-जल-धारन।
कपटी कुटिल कन्दरन छाई, गई बैराग बिगारन।
चाहत हतीं प्रीत प्यारे की, हा हा करत हजारन।
जिनके कन्त अन्त घर सें हैं, तिनें देत दुख दारन।
'ईसुर' सौर-झौर के ऊपर, लगे सौर गुंजारन।

प्रकृति का प्रकोप हो जाने पर जब खड़ी फसल में
गिरा आ लग जाता है और महुओं में लौका लगकर भीषण
अकाल का दृश्य उपस्थित हो जाता है तब इस जन-पद के

अकाल-पीड़ित व्यक्ति जंगलों में कच्चे बेरों से अपना पेट
भरते हैं। दो-दो दिन के उपवास हो जाते हैं, चूल्हे को जलाने
का अवसर ही नहीं आता, अन्धे और लंगड़े-लूले तो भूख से
मर ही जाते हैं। दीन-दुखियों का तो कहना ही क्या, बड़े-
बड़े भी इसकी चपेट में दिन-दोपहर को परेशान घूमते हैं :
आसों दै गऔ साल करौं टा, करौ खाव सब खोटा।
गोंउ-पिसी कौं गिरा आ लग गऔ, मउअन लग गऔ लौं का।
ककना-दौरीं सब धर लाये, रें गऔ एक अनोटा।
कहत 'ईसुरी' बाँदे रइयौ, जबर गाँठ कौ घोंटा।

... ..

पर गये हर सालन में ओरे, कऊँ भीत, कऊँ थोरे।
आँगें सुनत परत ते दिन में, अब दिन-रात न्योरे।
कौनउ ठीक कायदा नाँ रये, घरें बिधाता तोरे।
कैसें जियत गरीब गुसा में, छिके अन्न के दोरे।
'ईसुर' कँउ करे हैं ऐसे, कंगाली के कोरे।

... ..

आसों होस सबई के भूले, कइयक काँखे-कूले।
कच्चे-बेर बचे हैं नइयाँ, कंगीरन ने कूले।
फाँके परत दिना दो दो के, परचत नइयाँ चूले।
मरे जात भूँकन के मारे, अँदरा, लंगड़ा-लूले।
मारे मारे फिर 'ईसुरी', बड़े बड़े दिन-दूले।

लोक-कवि ईसुरी के अनेकानेक विषयों पर इस प्रकार
के अगणित गीत इस जनपद में प्रचलित हैं, उनको संकलित
करके प्रकाश में लाने का उद्योग किया जा रहा है। लेखक
का विश्वास है कि उनके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के शब्द-
कोष में कितने ही नये शब्दों की वृद्धि होगी और जन-
साधारण का कितने ही प्रकार से उनके द्वारा हित
होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी को बलवती और सर्वप्रिय बनाने के
लिए यह आवश्यक है कि जनपदीय साहित्य को प्रकाश में
लाकर प्रचार और प्रसार किया जाय। इस ओर रुचि रखने-
वाले हिन्दी-भाषा-भाषी इसपर और भी प्रकाश डालें तो
अत्युत्तम हो।

सुमेरसिंह दइया

प्रतिभा-पुत्र

और आज भी जानकी ने मुझे को लाकर एक छोटी-सी मिट्टी की मूर्ति दी।

मैंने जानकी को बुलाकर कहा, “फिर तुम मूर्ति लेकर आई हो; यह तो ठीक नहीं है।”

आया एक मीठी हँसी हँस पड़ी और उसके साँवले मुख पर लापरवाही का भाव स्पष्ट झलक आया, “मालिक! मैं मुझे के लिए लाई हूँ। देखिये, वह इसे पाकर कितना खुश हो रहा है!”

“वह सब तो ठीक है।” मैंने उड़ती हुई दृष्टि बच्चे पर डाली और फिर कहने लगा, “मगर तुम इन खिलौनों के दाम क्यों नहीं लेती? भला, इस प्रकार कैसे चलेगा?”

जानकी की आँखों में ममता की स्निग्धता तैर गई। वस, उसने धीरे, से उत्तर दिया “मुझे को मैंने पालकर बड़ा किया है। वह मेरी गोदी में खेलता है। मैं उसकी धाय हूँ। इस नाते मेरा उसपर क्या कोई भी अधिकार नहीं है?”

प्रश्न पूछकर जानकी का गला भर आया। उसने अपना मुँह घुमाया और दूसरे कमरे में चली गई। मैं अवाक् खड़ा रहा।

मुझा उस मूर्ति से खेल रहा था। उसकी बाल-सुलभ क्रीड़ाएं अत्यन्त मनोहर और चित्ताकर्षक थीं। मैं उसके समीप चला गया। शीघ्र ही मेरा ध्यान मूर्ति पर केन्द्रित हो गया।

वह एक सिद्ध-हस्त कलाकार की कृति थी। नृत्य-मग्न मयूर की एक भावपूर्ण झांकी प्रस्तुत कर रही थी। मैं कोई कला-मर्मज्ञ तो हूँ नहीं, जो उसमें अभिव्यक्त सूक्ष्म कला की विवेचना कर सकूँ: उसकी प्रत्येक रेखा में छिपे भावों का अर्थ समझ सकने की गूढ़ बुद्धि का भी मुझमें अभाव है। यद्यपि उसमें एक ऐसा हृदयग्राही आकर्षण है कि मैं भाव-विभोर होकर उसे टकटकी लगाकर देखता रहता हूँ। उसमें रंगों का मिश्रण बिल्कुल नहीं है—वह केवल मिट्टी से बनाई गई है; मगर उसकी सादगी में, जिस कलात्मक सौन्दर्य

के दर्शन होते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह इस कलाकार की अपनी एक अनूठी विशेषता है जिसपर मैं मुग्ध हूँ। कुछ देवताओं की मूर्तियाँ हैं, उनमें भी ठीक यही बात है।

तभी जानकी इधर आ गई और सोचकर मैंने पूछ लिया, “क्यों, आया! इन मूर्तियों से कारीगर की खूब आमदनी होती होगी?”

जानकी जैसे बुझ गई। उसकी आँखें निराशा और वेदना से अभिभूत होगई। उसका मुख-मंडल अचानक निस्तेज हो गया। वह एक आह छोड़ कर दुःखित कण्ठ से बोली, “मालिक! इन मूर्तियों को कोई एक आने में भी नहीं खरीदता।”

जानकी तो गई; मगर उसके कम्पित स्वर से जिस कटु वास्तविकता का अनावृत रूप मेरे सम्मुख खड़ा होगया था, उसने मेरी समस्त पूर्व धारणाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया। वह अत्यंत मार्मिक और क्षोभजनक थी।

यह सत्य है कि आजकल रबड़, प्लास्टिक और लोहे के खिलौने ही अधिक संख्या में बिकते हैं। स्वयं मैंने इन मिट्टी के खिलौनों की उपेक्षा होती देखी है।

मैं सोचने लगा—यदि हम इन खिलौनों को आदर के साथ खरीदें, तो सचमुच, देश का बहुत बड़ा हित हो सकता है। प्रथम तो ये फुटपाथ पर बैठने वाले अज्ञात कलाकार सुन्दर कला के सृजन में पूर्ण योगदान करते रहें और दूसरे उनकी बिक्री से परिवार का भरण-पोषण भली-भांति होता रहे।

अचानक मेरे मन में एक विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न इस कलाकार से भेंट की जाये? उसकी कुछ मूर्तियाँ खरीदकर मित्रों को बताऊंगा तो शायद वे पसन्द भी करें।

जानकी ने अपना सारा काम समाप्त कर दिया और वह श्रीमतीजी से छुट्टी लेकर चल दी। तभी मैंने उसे पुकारा, “जानकी!”

“जी!”

“मुझे इस कारीगर से मिला दो।”

“क्या?” जानकी घबरा गई और हठात् बोली,
“वहां आपका चलना ठीक नहीं है।”

“पर क्यों?” मैंने साश्चर्य पूछा।

“जी...जी!” जानकी की जवान लड़खड़ा गई।
उसे कोई उचित उत्तर ढूँढे नहीं मिला।

“मैं अवश्य मिलने चलूंगा। यह मेरी हार्दिक कामना है।” मैंने दृढ़ स्वर में कहा।

“अच्छा!” जानकी का भरा हुआ स्वर ध्वनित हुआ।

प्रायः पौन घंटे के पश्चात् हम एक टूटे-फूटे घर के दरवाजे पर पहुँचे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह साधारण निर्धन परिवार का घर है। एक तरफ़ की दीवार गिरी हुई है और आधी छत शायद इस पिछली बरसात में टूट पड़ी है। तमाम घर में सील की दुर्गंध भरी हुई है, जिससे सिर भिन्ना उठता है। मुख्य द्वार पर एक टूटा तख्ता अटका हुआ है।

हम अंदर घुसे। सर्वप्रथम वहां सांस लेना कठिन हो गया। फिर मैंने देखा कि फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटा एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति अपनी कुशल उंगलियों से चिकनी-गीली मिट्टी से मूर्तियां बना रहा है। उसकी गर्दन झुकी हुई है और वह मनोयोगपूर्वक अपना काम कर रहा है।

वह चुप बैठा था और हमारी आहट भी उसकी तन्मयता भंग न कर सकी।

जानकी जल्दी से एक टूटी माची उठा लाई और उस पर बैठने के लिए मुझसे आग्रह करने लगी। उसने संकुचित

होकर धीरे-से कहा, “यह मेरा ही घर है।”

“अच्छा!” मैं चकित रह गया। वास्तव में यह मेरे लिए कल्पना के विपरीत बात थी। यह तो स्पष्ट है कि यह कलाकार जानकी का पति है। घर की जर्जरित अवस्था देखकर ज्ञात हो गया कि कलाकार का यह धंधा चला नहीं है। रात-दिन कठोर परिश्रम करके इसने मूर्तियां बनाई हैं; परन्तु लोगों ने इसकी लगन, कला और मेहनत का कोई मूल्यांकन नहीं किया है। उसने कला की निष्ठापूर्वक सेवा की, मगर उसका उचित पुरस्कार नहीं मिला; अतः जानकी काम-धंधा करके घर का खर्च चलाती है। कैसा दुर्भाग्य है! कैसी विडम्बना है!

कारीगर अभी तक अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से अनभिज्ञ होकर काम में खोया हुआ था। मैंने भी बाधा देना उचित नहीं समझा। उसकी चलती हुई अभ्यस्त निपुण उंगलियों को मैं देखता रहा।

अब जानकी ने ऊंची आवाज़ में चीख कर कहा, “देखो, सलाम करो। मालिक घर पर तुमसे मिलने आये हैं।”

“हैं!” कलाकार ने गर्दन उठाई।

“अरे!” मेरे मुँह से अचानक निकला और शरीर में सिहरन दौड़ गई। मैंने प्रश्नवाचक दृष्टि जानकी पर डाली, जिसके मुख पर विषाद की काली घटा छा गई थी।

“हां, मालिक! रात-दिन यह काम करने से इनकी आँखें चली गई हैं और कानों से बहरे होते चले जा रहे हैं।”

और उसकी दबी हुई सिसकी फूट निकली।

(पृष्ठ ५५ का शेष)

साधना में मानव को पूरी निष्ठा के साथ लग जाना चाहिए। प्रथम महायुद्ध के समय अन्याय और अत्याचारों से सारी मानव-जाति बहुत पीड़ित और परेशान थी। आज के इस अणुयुग में भी अन्याय और अत्याचारों की भरमार से मानव-जाति का अस्तित्व ही धोके में है। प्रथम महायुद्ध के समय मानव-प्रेमी और कल्याणकामी गुरुदेव ने अन्याय के विरुद्ध जोरदार धावा बोल दिया था, उसी तरह का धावा आज भी अधिक सुदृढ़ निष्ठा के साथ बोलना पड़ रहा है। ऐसे संघर्ष युद्ध से ही आज के दारुण संकट के समय मानव-जाति

अर्थात् मानवता का रक्षण हो सकेगा, कल्याण हो सकेगा।

निदारुण दुःखराते, मृत्युघाते

मानव चूर्णलो जबे निज मर्त्यसीमा

तखन दिबेना देखा देवतार अमर महिमा ?

अत्यंत दारुण दुःख की रात में मौत का-सा आघात सहन करके मानव अपनी मर्त्यसीमा पर विजय प्राप्त करता है और उसको लांघता है, तब क्या उसे जीवन-देवता की अमर महिमा का सत्यदर्शन नहीं होगा ?

बलाका

कलात्मकता और वैचारिकता की दृष्टि से रवीन्द्र-साहित्य में गीतांजलि के बाद का स्थान बलाका नामक काव्य-ग्रन्थ को प्राप्त है। गुरुदेव स्वयं कहते हैं—शुभ बलाका-पंक्ति में जिस प्रकार वक पक्षी एक के पीछे एक आनन्द से उड़ते जाते हैं, उसी प्रकार इस काव्य-ग्रंथ में समा-विष्ट कविताएं सहज-स्फूर्त हैं और उसी क्रम से रची गई हैं।

इन कविताओं का रचनाकाल सन् १९१४ और १६ के बीच का है। यह स्पष्ट दिखता है कि गीतांजलि, गीति-माला आदि काव्यों की रचना के समय रवीन्द्रनाथ की जो जीवन समस्या प्रेरित अन्तर्मुखी दृष्टि रही है, वह आखिर में समस्या-परिहार होते जाने के कारण अधिकाधिक बहिर्मुखी होती गई है। आरम्भ की कविताओं में वर्षा काल, अंधकार, रात्रि आदि विषाद सूचक संकेत रहा करते थे वे अन्त में कम होते गये, और उनके स्थान पर तेज, प्रकाश आदि का जयगान सुनाई देने लगा है। 'भारत आर्थिक, 'हे मोर दुर्भाग देश' आदि कविताओं में बहिर्मुखता की सूचक विश्वैकात्मता स्पष्टतर होने लगती है। प्रसिद्ध इतिहास-कार टायनबी के मत के अनुसार प्रत्येक महामानव के अथवा राष्ट्र के जीवन में आरम्भ में दृष्टिगोचर होने वाली स्वाभाविक और उत्साहजनित बहिर्मुखी वृत्ति आगे चलकर शायद विरोध-विकासवाद की तरह ही अन्तर्मुख या व्यक्तिनिष्ठ बनती है और फिर अन्तर्द्वन्द्व के बाद अन्त में समन्वय के द्वारा बहिर्मुख होती है। यह बात रवीन्द्रनाथ पर भी करीब-करीब हू-ब-हू लागू है। दूसरा यह भी कि 'बलाका' रचना के समय की जागतिक परिस्थिति भी बहिर्मुखता का आवाहन करनेवाली थी। वह समय प्रथम विश्वयुद्ध का था और चारों तरफ अन्यायों और अत्याचारों का भीषण ताण्डव हो रहा था। वैसे समय में मानवप्रेमी और कल्याणकामी रवीन्द्रनाथ के लिए काव्यानन्द में ही लीन रहना सम्भव नहीं था। जीवन की समस्या का हल हो जाने से उनमें एक नवीन उत्साह और दृढ़ जीवन-निष्पक्ष पैदा हो गई थी और उससे

प्रेरित होकर उन्होंने समाज में होनेवाले अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध मानवता की ओर से लड़ने के लिए कमर कस ली।

'शंख' शीर्षकवाली खुद की एक रचना के सम्बन्ध में वह स्वयं कहते हैं, "इस कविता में उल्लिखित शंख विश्व-मानव के हाथ में विधाता का दिया हुआ आह्वानशंख है। इस शंखनाद के साथ ही अन्याय और अकल्याण के विरुद्ध धावा बोलना चाहिए।" विधाता को सम्बोधित करते हुए वह कहते हैं—

तोमार काछे आराम चेये पेलेम शुध लज्जा।

ऐबार शकल अंग छेये पराओ रण-सज्जा।

व्याघात आसुक नव नव आघात खेये अटल रबो

वक्षे आमार दुःखे तब बाजबे जयडंक।

देबो शकल शक्ति, लबो अभय तब शंख।

—में बहुत लज्जित हूं कि तुझसे मैंने आराम और सुख-शांति की अपेक्षा की थी। अब तू ही मेरे बदन पर रण-वेष पहना दे, जीवन-संग्राम के लिए मुझे तैयार कर दे। इस जीवन-संग्राम में चाहे जितने संकट आयें, पर मैं हिम्मत नहीं हारूंगा। दुःख के आघातों से मेरी छाती भले फट जाय, पर उससे विजय-दुन्दुभि ही वज उठेगी। मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर जान पर खेलूंगा, तब अभय-दान देने वाले तेरे आह्वानशंख का मैं स्वागत करूंगा और नये-नये संकटों को ललकारूंगा।

अन्याय और अत्याचार के सामने घुटने टेक देना पीर-हीनता बताकर उन्होंने जोरदार शब्दों में तेजस्विता और पुरुषार्थ का समर्थन किया है। रवीन्द्रबाबू कहते हैं—अनेक विध संकटों का प्रतीकार करते हुए, उन्हें मात देते हुए जीवन की गतिशीलता को आगे बढ़ाना ही जीवितता का लक्षण है:

आमारा चलि समुलपाने के आमादेर बांधवे ?

रईलो जारा पिछुरटाने कांदबे तारा कांदबे।

छिड़बो बाभा रक्तपाये चलबो छुटे रौत्रे छाये,

जड़िये ओरा आपन गाये केवल फांद फांदबे ।

कांद, ओरा कांदबे ।

—जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करते हुए आगे ही आगे बढ़ने-वाले हमको कौन भला रोक सकेगा ? जो कमजोर लोग डर और संकुचितता के मायापाश में बंध कर पीछे-पीछे रह जाते हैं उन्हीं के भाग्य में सारा दुःख बदा हुआ है । आगे बढ़ते हुए हमारे पैरों से खून बहने लगे तो भी हम संकटों के सामने घुटना टेकने वाले नहीं हैं । कड़ी धूप हो, चाहे सुहावनी छाया, हमारी अग्रगति जारी रहेगी । पीछे रहनेवाले कमजोर लोग हैं, जो मोहवश अपने चारों ओर नये-नये बंधनों का निर्माण कर लेते हैं । ऐसे लोगों की किस्मत में दुःख ही तो लिखा है । उस दुःख में चूर-चूर होकर वे हमेशा रोते ही रहेंगे ।

इस प्रकार की कविताओं में वर्णित जीवन-संग्राम बहुत व्यापक है । जिस प्रकार इनमें बाहरी अन्यायों और अत्याचारों का प्रतीकार तेजस्विता के साथ करने का आवाहन दीखता है, उसी प्रकार अन्दर की हीनता, दीनता और संकुचितता आदि दोषों के विरुद्ध भी लड़ने के लिए आवाहन निहित है । ऐसे दुहेरे संग्राम से ही मानवता की सही विजय सम्भव है ।

झड़ेर पूँजित मेघे, कालोय टेकेछे आलो,
जानेना तो केऊ रात्रि आछे किना आछे,
दिगंते फेनाये ओठे डेऊ, तारि माझे पुकारे कांडारि
नूतन समुद्रतीरे तरी नियो दिते हबे पाडि ।
बाहरिया एलो कारा ?
मा कांदिछे पिछे, प्रेयसी दांडाये द्वारे नयन मुदिछे ।
झड़ेर गर्जन माझे विच्छेदेर हाहाकार बाजे,
घरे घरे शून्य होलो आरामेर शय्यातल,
यात्रा करो यात्रा करो यात्रीदल,
उठेछे आदेश—बंदरेर काल होलो शेष ।

संसार-सागर में व्यापक संग्राम की भीषण आंधी चली है, घनघोर बादलों से सारी दिशाएं आच्छादित हैं, पता ही नहीं लगता कि यह दिन है या रात । दूर क्षितिज तक सागर में बड़े-बड़े लाट उठते-गिरते जा रहे हैं । ऐसी भयानक स्थिति में मानवता के जहाज के खलासी पुकारने लगे हैं—
“चलो, अब हमें नये समुद्र की ओर अपना जहाज ले चलना

है ।” उसके इस आवाहन को ‘होकार’ किसने दिया ? पीछे मां चिल्ला रही है, द्वार पर खड़ी होकर पत्नी ने डर के मारे आंखें मींच ली हैं । बादलों के भयानक गर्जन के साथ हृदयभेदी विरह-क्रंदन एक होगया है । हर घर की सुख-शय्या कब की सूनी हो गयी है । खलासी का बार-बार आदेश आता है—“चलो साथियो, चलो । इस बंदर का पड़ाव अब समाप्त हो गया है ।” ऐसे समय में घर का माया-पाश तोड़कर संकटों से न घबराते हुए, मृत्यु की परवाह न करके हमें नव-जीवन की शोध में तेजस्वी जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयाण करना है ।

इस तरह की कविताओं को पढ़ते समय हमें जिस गति-शील जीवन-शक्ति का भान होता है उसके साथ प्रख्यात फ्रेंच तत्त्वज्ञ आरिन बेर्गस की प्रतिपादित सृजनात्मक उत्क्रांति (Creative evolution) वाली प्राण शक्ति की काफी समानता दीखती है । बलाका काव्यांतर्गत ‘चंचला’ नामक कविता को ध्यान से पढ़ें तो यही कहना होगा और यह कहना गलत न होगा कि बेर्गस के वर्णित प्राणशक्ति का ही यह बंगला काव्य-रूप है । चंचला कविता में जिस नदी का उल्लेख है वह उद्दाम प्राणशक्ति का ही प्रवाह है । न केवल मानव-जीवन में परन्तु समूची सृष्टि में इस प्राणशक्ति का प्रवाह निरन्तर सृजनात्मक कार्य कर रहा है ।

हे विराट् नदी, अदृश्य निःशब्द तब जल चले निरवधि—
हो गो नदि, चंचल अप्सरी, अलक्ष्य सुन्दरी,
तब नृत्य मंदाकिनी नित्य झरि झरि तुलिते छे शुचि करि
मृत्युस्नाने विश्वेर जीवन ।
निःशेष निर्मल नीले विकाशिछे निखिल गगन ।

हे विराट् नदी, तेरी प्राणशक्ति का अदृश्य प्रवाह एकदम नीरवता के साथ अविरत बह रहा है । अमूर्त सौन्दर्य के साथ चंचल अप्सरी की तरह तू चित्र-विचित्र नृत्य में रममाण है । और तेरे नृत्यरत-प्रवाह के संजीवनी-स्पर्श से विविध विश्व-जीवन मृत्यु से हर क्षण नव-जीवन की प्राप्ति कर लेता है । इस तरह इस निर्मल नीलावकाश में विशाल-विश्व-जीवन की नित्य नवीन तेजस्विता धीरे-धीरे विकसित होती है ।

विश्व के अन्तर्गत प्राणशक्ति के उद्दाम प्रवाह की अनुभूति से उत्साहित होकर गुरुदेव मानव से कहते हैं—

या ?

डर

साथ

सुख-

भादेश

पड़ाव

पाश

करके

लिए

गति-

ख्यात

आत्मक

शक्ति

तर्गत

कहना

र्णित

चला

त का

सृष्टि

कार्य

य--

करि

कदम

के

माण

विध

लेता

जीवन

।

अनु-

-

ओरे देख, सेइ खोत होयेछे मुखर, तरणी कां पिछे थरथर ।
तीरेर संचय तोर पड़े थाक तीरे, ताकास ने फिरे ।
निक् तोरे टानि महाखोते पश्चात्तर कोलाहल हते
अतल आंधारे अकूल आलोते ।

अरे, देखो, प्राणशक्ति का यह विश्वव्यापी प्रवाह किस
अमोघ गति से बह रहा है ! इस प्रचण्ड प्रवाह में तुम्हारी
जीवन-नौका थर-थर कांप रही है और आगे बढ़ने के लिए
उत्सुक हो रही है । ऐसे समय तुम किनारे की जड़ वस्तुओं
को छोड़ो, पिछले मायापाश की ओर बिलकुल न देखो और
अपनी जीवन-नौका को बंधन से मुक्त करो । फिर वह
अपने-आप भावी जीवन की उदात्त वाणी के प्रभाव से आगे
बढ़ते जानेवाले महाप्रवाह में खिंचती जायगी और आगे
बढ़ती जायगी । यद्यपि भूतकाल के चिर-परिचित उस कोला-
हल से निकल कर अस्पष्ट भविष्य की ओर जाते समय रास्ते
में घना अंधकार देखकर तुम्हारे मन में शंका हो सकती है,
तो भी यह निश्चय समझ लो कि उस अंधकार के अंत में नव-
जीवन का उज्ज्वल प्रभात होगा ही ।

गतिशील जीवन का अग्रगामी मार्ग हर एक को अपनाता
होगा, नहीं तो वह जीवित नहीं कहा जायगा । इसी लिए
'शाहजहाँ' शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ ने जड़ ताजमहल
के मुँह से कहलवाया है

जतो दूर चाइ नाइ नाइ से पथिक नाइ ।

प्रिया तारे राखिलो ना, राज्य तारे छेडे दिला पथ,
रुधिलो न पर्वत । आजि तार रथ चलिया छे रात्रि
आह्वाने नक्षत्रे गात्र प्रभातेर सिंहद्वार पाने ।

ताइ स्मृति भारे आसि पड़े आछि भार मुक्त से एखाने
नाइ ।

मैं चाहे जितनी दूर तक नजर फेंकूँ, तो भी मुझे वह चिर
अग्रगामी शाहजहाँ दिखता नहीं । प्रत्यक्ष प्रिया उसे स्मृति-
पाश में बाँध न सकी, इतना बड़ा साम्राज्य उसे रोक न
सका । पृथिवी-व्यापी सागरों और गगनचुम्बी पर्वतों के
कारण से भी उसकी अग्रगति रुकी नहीं । आज उसका रथ
अंधेरी रात का आह्वान स्वीकार कर नक्षत्रों का उस्ताह-
जनक संगीत सुनते-सुनते प्रभात-रूपी नव-जीवन के प्रवेश
द्वार की ओर निरन्तर गति से चल पड़ा है । इसलिए
ही वह बंधनहीन शाहजहाँ आज यहाँ वास नहीं करता है और

मैं—ताजमहल—पुरानी स्मृतियों के भार से भारी होकर
यहाँ जड़वत् पड़ा हुआ हूँ ।

विचार की दृष्टि से शैली के शैलाक (Skylark) की
अपेक्षा बलाका अधिक सरस और उत्कृष्ट है । इसमें बलाका
शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ को प्राप्त विश्वांतर्गत प्राण-
शक्ति की अमोघ अग्रगति की निविड़ अनुभूति स्पष्ट दृष्टि-
गोचर होती है । शांत संध्यासमय में क्षितिज की ओर उड़ती
जानेवाली बलाकापंक्ति से जो वैद्युतिक ध्वनि निकलती है
उससे कवि की चेतना जागृत होती है और उसे चराचर विश्व
में जो शोधक अग्रगति विद्यमान है उसकी उन्मुखता बड़ी
तीव्रता से महसूस होती है ।

देखिते छि आसि आजि एइ गिरिराजि

एइ बन, चलिया छे उन्मुक्त डानाय, द्वीप हते द्वीपांतरे
अजाना हइते अजानाय नक्षत्रे पाखाय स्पंदने चमकिछे
अंधकार ।

आलोर क्रंदने । ध्वनिया उठिछे शून्य ।

निखिलेर पाखार ए गाने—हेथा नय, अन्य कोथा

अन्य कोथा, अन्य कोन खाने ।

आज बड़ी उत्कटता के साथ मेरी समझ में यह बात आ
रही है कि यह जड़ पर्वत-श्रेणी और यह वनराजि शायद
अपने मुक्त पंखों के कारण ही विश्व की अग्रगति में शामिल
हुई है और अनन्त आकाश में एक द्वीप से दूसरे द्वीप की ओर,
गत अज्ञात से भावी अज्ञात की ओर उड़ती जा रही है ।
आकाश के वे अनन्त तारे भी अज्ञात की ओर उड़ते जा रहे
हैं । नव-जीवन-प्रकाश की खोज में अज्ञात की ओर यह जो
चराचर विश्व की अग्रगति चालू है यह देखकर गाढ़ अंधकार
भी चकित हो रहा है । चराचर विश्व के अग्रगामी पंखों की
ध्वनि के इस अपूर्व गीत से अनन्त अवकाश व्याप्त हो रहा है
वह गीत यही है—“यह नहीं, फिर कहाँ ? और कहाँ ?
रे भाई, और कहाँ ?”

जबकि विश्वांतर्गत प्राणशक्ति का अविरत कार्य ही यह
है कि कदम-कदम पर आनेवाली विपत्तियों का मुकाबला
करते-करते अधिकाधिक उन्नत जीवन को प्राप्त किया जाय,
तब मानव जीवन का भी ध्येय इसके अनिरिक्त और कुछ
हो नहीं सकता । इस ध्येय की पूर्ति के लिए आवश्यक
(श्लेष पृष्ठ ५२ पर)

इन्द्रसेन

दर्शन की यथार्थ भावना

दर्शन जीवन और सत्ता के समग्र सत्य की खोज तथा उपलब्धि है। यह केवल खोज ही नहीं और न यह विभिन्न सम्मतियों का खिलवाड़ ही है। बुद्धि का स्वभाव है कि वह सम्मतियों के मोह में फँस जाती है और सम्मतियाँ बनाने में उसे रस भी बहुत आने लगता है। परन्तु दर्शन जीवन की गम्भीर प्रवृत्ति है, समूचे जीवन की तृप्ति इसका उद्देश्य है, केवल बुद्धि की नहीं।

भारत में जीवन की इस प्रवृत्ति को बड़े सार्थक भाव में ही दर्शन कहा गया है। यह मानसिक—बौद्धिक कसरत और गवेषणामात्र ही नहीं, यह दर्शन है, सत्य का, जीवन के तत्त्व का। तभी दर्शन जीवन का पथ-प्रदर्शक बनता है, जीवन को तृप्त करता है।

बुद्धि सामान्य जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। यह हमारी पथ-प्रदर्शिका है। चिन्तन और विचार से हम जीवन के प्रश्नों का समाधान खोजते हैं और पाते हैं। बुद्धि अपने सामान्य व्यवहार के स्तर से उठकर समग्र जीवन और समूची सत्ता के विषय में जिज्ञासा उठाती है, और जब वह सत्य-प्रेम से प्रेरित और प्रचालित होकर शुद्ध तटस्थ भाव में विचार करती है तो जीवन के रहस्यों को बहुत-कुछ भाँप जाती है। इसलिए दर्शन का सामान्य विकास बुद्धि से ही होता है। चिन्तन और विचार हमारे बड़े साधन हैं। शुद्ध चिन्तन जीवन का गौरवमय धन है, अपूर्व बल है। परन्तु दार्शनिक प्रवृत्ति की परिसमाप्ति होती है सत्य के दर्शन में ही। सत्य और सत्ता के विषय में चिन्तन-मात्र से जीवन तृप्त नहीं होता। सत्ता-विषयक कल्पनाएँ यथार्थ दार्शनिक जिज्ञासा को संतोष प्रदान नहीं करतीं। यह जिज्ञासा तो सत्य उपलब्ध करके ही तृप्त होती है। यह सत्य और सत्ता का साक्षात् दर्शन चाहती है, इनके विषय में यह पूरी-पूरी निश्चितता माँगती है।

यह है दर्शन की यथार्थ भावना, उसका वास्तविक स्वरूप। प्रत्यक्ष ही, यह जीवन की कैसी अद्भुत प्रवृत्ति है, कैसी अनिवार्य गति है। इसके बिना क्या जीवन सारा

ही संदेहशील तथा दुविधापूर्ण नहीं बना रहेगा ?

पश्चिम की वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति बड़ी विचित्र है। एक ओर इतना ज्ञान का विस्तार और विकास है कि मनुष्य समझता है कि मैं पृथ्वी के अतिरिक्त अनन्त आकाश के अन्य नक्षत्रों पर भी अधिकार प्राप्त कर लूँगा और दूसरी ओर इतनी संदेहशीलता है कि उसे जीवन और मानव-संस्कृति-मात्र ही खतरे में दिखाई देती है। प्रश्न पैदा होता है, यह क्यों ? क्यों नहीं यह सारा ज्ञान हमें जीवन के पथ-प्रदर्शन में निश्चयता प्रदान करता ? क्यों नहीं हम जीवन को इसके यथार्थ विकास-क्रम में आगे बढ़ा सकते ? जीवन का उद्देश्य निश्चय ही महत्तर जीवन, विशालतर जीवन, समृद्धतर जीवन, अधिक आशापूर्ण तथा संतोषप्रद जीवन ही हो सकता है। जीवन का उद्देश्य जीवन का अन्त नहीं हो सकता। यदि आज जीवन हमें उस स्थिति में ले आया है जहाँ समूचे जीवन का भयपूर्ण अन्त दिखाई देने लगा हो, तो क्या जिस रास्ते से हम चलते आ रहे हैं उस पर ही हमें सन्देह न होने लगेगा ?

आधुनिक पोरु एक विलक्षण सांस्कृतिक पथ से विकसित हुआ है। १९वीं सदी के प्रारम्भ में इसने मध्ययुगीन तार्किक परम्पराओं के विपरीत प्रतिक्रिया रूप एक नए दृष्टिकोण को अपनाया। उस दृष्टिकोण के अनुसार, प्रकृति सत्ता है, बुद्धि और इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं। सत्ता को प्रकृति मान कर और मानव को बुद्धि और इन्द्रियाँ लेकर सारे वर्तमान जीवन का निर्माण हुआ। मनुष्य ने बड़े परिश्रम से काम किया है और उसने बड़ी सफलतापूर्वक इन्द्रियों और बुद्धि-रूपी मानव के लिए समृद्ध और सुखपूर्ण संस्कृति को पैदा किया है। यदि मानव वस्तुतः ऐसा ही होता तो उसे आज खूब सन्तुष्ट होना चाहिए था। परन्तु मानव-जीवन क्या इतना मात्र ही है ?

क्या उसमें इन्द्रियों के सुखों के अतिरिक्त, बुद्धि के रस-पूर्ण कौशल से परे, हृदयगत निरपेक्ष शान्ति, निरपेक्ष आनन्द, निर्मम प्रेमभाव, समग्र सत्ता के निश्चयात्मक ज्ञान के लिए

अदम्य जिज्ञासा नहीं है ? क्या जीवन बार-बार इन अन्तिम मूल्यों को नहीं खोजता और क्या इनकी कुछ झाँकी पाकर ही वह सहारा नहीं उपलब्ध करता ? और क्या आधुनिक यूरोप की जीवन-जिज्ञासा में इनका कुछ स्थान रहा है अथवा है ?

वस्तुतः यूरोप की वैज्ञानिक जिज्ञासा में निरपेक्ष ज्ञान तथा अन्य निरपेक्ष तत्त्वों का स्थान कम ही रहा है। सारा पुरुषार्थ ही प्रकृति के सापेक्ष ज्ञान और इसके अन्य सापेक्ष साधनों के लिए रहा है। ये सापेक्ष ज्ञान और सापेक्ष साधन-सामग्री इसने प्रचुर मात्रा में जुटा लिये हैं और इन सबके सापेक्ष सुख और सापेक्ष बल इसे खूब प्राप्त हैं। परन्तु आज खटक रहा है, अभाव, अभाव निश्चयात्मक ज्ञान का तथा जीवन के अचूक सहारे का।

दार्शनिक जिज्ञासा में एक आधारभूत प्रश्न है—क्या निरपेक्ष के बिना सापेक्ष का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है ? प्रत्यक्ष ही, एक प्रकार का ज्ञान जरूर हो सकता है, परन्तु क्या उसमें निश्चयता होगी ? व्यावहारिक शैली की एक निश्चयता भी हो सकती है, परन्तु वह मूलगत नहीं हो सकती। दार्शनिक दृष्टि से आज यह निर्णय दिया जा सकता है कि यूरोप ने अपनी जिज्ञासा में एक आधारभूत भूल की। उसने यह सम्भव माना कि निरपेक्ष की जिज्ञासा और ज्ञान के बिना ही सापेक्ष इन्द्रियगोचर प्रकृति का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, और इसीलिए वह आज इस अप्रिय सांस्कृतिक संकट में पड़ गया है तथा उसके नाते सारा जगत् पड़ा हुआ है।

वैज्ञानिक जिज्ञासा की उपलब्धि अपने-आपमें महत्वपूर्ण है। यह मानव-इतिहास की एक स्थायी वस्तु रहती प्रतीत होती है। परन्तु यह सत्ता के सापेक्ष स्वरूप का सापेक्ष ज्ञान है, इसमें जीवन के निरपेक्ष मूलगत तत्त्व और जुड़ने चाहिए। उनके जुड़ने से इसके मूल्यों का नया मूल्यीकरण हो जायगा, जिससे इसके सापेक्ष भाव में निरपेक्ष, मूलगत तत्त्वों की निश्चयता आ जायगी और तब आज की सन्देह-शीलता और द्वन्द्वपूर्णता आनन्ददायक निश्चयता में परिवर्तित हो सकेगी।

पश्चिम में दर्शन ने विज्ञान का अनुसरण किया। दर्शन का क्षेत्र इन्द्रियगोचर प्रकृति नहीं होता बल्कि समग्र सत्ता, पूर्ण सत्य तथा समूचा जीवन होता है। परन्तु इसने सत्ता,

सत्य और जीवन पर बल कम दिया और इनको जानने के साधन—बुद्धि पर अधिक। परिणाम यह हुआ कि फिलोसोफी वस्तुओं का चिन्तनपूर्ण विचार बन गई। सत्ता और सत्य काल्पनिक (thinking consideration of things) विचार का विषयमात्र रह गये। उनको हर उपाय से अधिगत करने की अदम्य प्रवृत्ति, लुप्त ही हो गई। ऐसी फिलोसोफी का जीवन से भी सम्पर्क कम होगया। वह वाद-विवादों (Isms) का एक विज्ञान बनने लगी। इस प्रवृत्ति के विपरीत प्रक्रियाएं भी वहाँ बहुत हुई, परन्तु वहाँ दर्शन का प्रधान स्वरूप इस आधुनिक युग में, सत्ता-विषयक बौद्धिक गवेषणा और परिकल्पना ही रहा है।

इस प्रकार दर्शन भी वैज्ञानिक जिज्ञासा में यथेष्ट संशोधन न ला सका, उसे गाम्भीर्य और निरपेक्षता न प्रदान कर सका।

परन्तु यूरोपीय जीवन का बल कोई सामान्य बल नहीं। ये सब होते हुए भी यूरोप बलवान् है, ठीक सांस्कृतिक रूप में ही। उसका यह बल है बुद्धि का बल, चिन्तन का बल, विचार का बल। इसके लिए उसने लम्बी साधना की है और इन्हें उसने प्राप्त किया है। परन्तु इन्हींकी पराकाष्ठा को प्राप्त करके वह इनकी सीमा को दर्शा रहा है। आज लगभग प्रत्यक्ष-सा ही अनुभव हो रहा है कि विश्लेषणात्मक बुद्धि के साथ-साथ समग्रतापूर्ण निरपेक्ष तत्त्वों को जाननेवाली संश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। ऐसी दृष्टि की जो जीवन और सत्ता को अंग-अंग में और अंश-अंश में ही न देखे बल्कि उन्हें उनके समग्र भाव में भी देखे, उनके 'भूमा' रूप में उनके 'अल्प' रूप को यथार्थ में अनुभव करे। तब भला आज के जीवन का असन्तुलन कैसे रह सकेगा ?

भारत एक विशेष स्वभाव रखता है। यह स्वभाव उसके समग्र इतिहास में झलक रहा है। उसका वर्तमान जीवन भी इसे प्रतिलिखित कर रहा है और स्वाधीनता के बाद इस स्वभाव को पुनः प्राप्त एवं विकसित करने के लिए एक गम्भीर प्रवृत्ति भी उसमें देखने में आ रही है। यह स्वभाव है मूलतः वस्तुओं की जड़ तक पहुँचने की प्रवृत्ति, हम कह सकते हैं कि भारतीय चेतना स्वभाव से दार्शनिक है। यह अन्तिम तत्त्व के लिए विशेष भावना और जिज्ञासा रखती है। आधारभूत को जाने बिना व्यावहारिक भाग को जानू-

कर यह सन्तोष नहीं मानती। इस वृत्ति में बड़ा बल है। इससे यह जीवन के और सत्ता के मूलगत आध्यात्मिक तत्त्व को प्राप्त करने में सफल हुई। वस्तुतः इससे यह जीवन के मूलभूत रहस्यों को अधिगत कर सकी और इससे जो जीवन का पथप्रदर्शन हुआ है वह निश्चय ही सुन्दर हुआ है। भारतीय संस्कृति ने जो जीवन-काल पाया है वह मानव इतिहास में आश्चर्य की वस्तु है और उसका जीवन-बीज अनेक विनाशकारी आक्रमणों में भी सुरक्षित रहकर पुनः पुनः पनप उठता है।

भारत में सत्य और सत्ता के लिए, तथा पूर्ण सत्य और समग्र सत्ता के लिए वस्तुतः अदम्य भाव रहा है। और इस भाव के लिए यहाँ रही है पूरी स्वतन्त्रता। इस जिज्ञासा और स्वातन्त्र्य के फलस्वरूप इसने जो सत्य और सत्ता-विषयक मूलगत दृष्टि प्राप्त की है, उसे यह स्वयं अच्छी प्रकार पुनः प्राप्त और विकसित करे और उसे दृष्टान्त रूप में जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करे, यह भारत की वर्तमान जगत् को देनी चाहिए। इस दृष्टि का मर्म है कि जगत् और जीवन का सत्य इनका तलीय स्वरूप नहीं, सत्य इनकी गहराई में एक अत्यन्त अद्भुत तत्त्व है। उसे हम इन्द्रियों से ग्राह्य रूप में रस, गंध आदि में तथा बुद्धि के विवेचन द्वारा नहीं, बल्कि एक गम्भीर तादात्म्य-भाव द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। यही सत्य जीवन है, यही सत्य सदा विजयशील होता है। इसीमें जीवन की सब गतियाँ समन्वित होती हैं और यहीं से जीवन का यथार्थ विश्वासपूर्ण पथ-प्रदर्शन हो सकता है। और यह सत्य असीम और अनन्त है, इसमें नित्य नए आविष्कार हो सकते हैं, इसका स्वभाव ही सृजनशीलता है। इसकी हर झाँकी जीवन-वृद्धि का साधन होती है।

यह सत्य का भाव, असीम अनन्त, सृजनशील तथा स्वातन्त्र्यपूर्ण आज की संस्कृति की माँग है। आज की संस्कृति एक बहिर्मुखी और मानसिक सत्य पर आधारित है, इसीलिए जीवन का समन्वयपूर्ण पथ-प्रदर्शन इसके लिए असम्भव हो रहा है। भारत तात्त्विक सत्य का विशेष जिज्ञासु रहा है और यह इसके जीवन का मुख्य आधार रहा है, इसलिए इससे ही जागतिक संस्कृति आशा कर सकती है और इसे देना भारत का ही कर्त्तव्य बनता है।

• इस कर्त्तव्य को निभाने के लिए भारत को स्वयं पहले

यथार्थ दार्शनिक भाव और भावना उपलब्ध करने होंगे। दर्शन, हम कह चुके हैं, समग्र जीवन की जिज्ञासा है और समग्र जीवन की तृप्ति ही इसका उद्देश्य है। इससे यह समग्र जीवन की ही साधना बन जाता है। इसे बुद्धिमात्र की व्यस्तता मानना पथभ्रष्ट हो जाना होगा।

परन्तु दार्शनिक चिन्तन और विचार अनिवार्य तथा अत्यन्त उपयोगी साधन हैं। इन्हींसे हम अपनी दार्शनिक यात्रा शुरू करते हैं और ये हमें बहुत दूर तक ले चलते हैं। परन्तु इनका वास्तविक स्वरूप विचारणीय है। एक चिन्तन होता है अहंमय। यह चिन्तन अपने-आपको सबकुछ समझता है और अभिमानपूर्वक विश्वास रखता है कि मैं सबकुछ जान लूँगा। एक दूसरा चिन्तन होता है, जिसमें अहंभाव प्रबल नहीं होता, वहाँ प्रबल होता है ज्ञानत्व सत्य। चिन्तन सत्य के प्रति विनम्र होता है, कृतज्ञ होता है, ऐसे चिन्तन के प्रति सत्य अपने समग्र रूप को अधिक आसानी से प्रकाशित कर सकता है, अथवा ऐसा चिन्तन सत्य को उसके समग्र रूप में अधिक आसानी से प्राप्त कर लेता है। फिर ऐसा चिन्तन अपने से उच्चतर ज्ञान के साधनों के लिए भी भावना विकसित कर लेता है।

ऐसा दार्शनिक चिन्तन, हम कह सकते हैं, हमारी प्रथम आवश्यकता है। अहंमय चिन्तन अपनी वृत्ति से समग्र सत्य के प्रति उन्मुख नहीं होता। वह उग्र इच्छाओं से सीमित होता है। और, क्या सत्य के प्रति ऐसा आक्रमणकारी भाव उचित है? क्या सत्य के प्रति आदर, नम्रता और कृतज्ञता का भाव नहीं होना चाहिए? जो सत्य हम अहंभाव से प्राप्त करेंगे, उसे हम सर्वहित के लिए कैसे बरत सकेंगे?

प्रत्यक्ष ही, ऐसे दार्शनिक चिन्तन को विकसित करने के लिए हमें एक तटस्थतापूर्ण समभाववाला व्यक्तित्व विकसित करना पड़ेगा। यदि राग, द्वेष, भय, क्रोधादि हमारे चित्त को उद्वेलित करते रहते हैं तो हमारा चिन्तन उनसे विकृत होगा ही। दार्शनिक चिन्तन की विशालता और उसका आनन्द उपलब्ध करने के लिए क्या हमें दर्शन को साधन-रूप नहीं अपनाना होगा?

हम बहुत शिकायत सुनते हैं कि दार्शनिक मत-मतान्तरों के अध्ययन से बुद्धि भ्रमित हो जाती है। यह सम्भव है परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। वस्तुतः प्रायः सभी

भारतीय दर्शन जीवन की समग्रता को सुदृढ़ बनाये रखते हैं। वह जीवन को ज्ञानात्मक (Theoretical) और क्रियात्मक (Practical) पक्षों में बाँट नहीं देते। यहाँ दार्शनिक जिज्ञासा और ज्ञान का उद्देश्य सदा जीवन-विकास रहता है। सब दर्शनों का ध्येय जीवन की पूर्णता, आध्यात्मिक स्थिति की उपलब्धि है। पश्चिम के लिए एक समय यह आक्षेपजनक था। आज का सांस्कृतिक संकट इसकी सत्यता को प्रमाणित कर रहा है। भारतीय दर्शन में ज्ञानात्मक और क्रियात्मक पक्ष संग रहे हैं। दूसरे अर्थों में, दर्शन और योग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। यह अनिवार्य भी है। ज्ञान जीवन का पथ-प्रदर्शक प्रकाश है, पर जीवन आगे बढ़ेगा तो उसे और आगे का ज्ञान प्राप्त होगा। यदि मेरी इन्द्रियाँ और भावावेग तुच्छ उपभोग में आसक्त हैं तो मेरी बुद्धि आखिर कहाँ तक विशालता में उड़ान ले सकेगी ? और उस उड़ान में कितनी सच्ची जिज्ञासा होगी ?

यदि दार्शनिक चिंतन के साथ-साथ समग्र जीवन का उचित विकास होगा तो बुद्धि भ्रमित नहीं होगी। वहाँ तो सुन्दर निश्चयात्मक ज्ञान का विकास दिखाई देगा। परन्तु दार्शनिक पोथियों का पठन-पाठन तो प्रधान उद्देश्य हो, चिंतन भी कम हो और यथार्थ दार्शनिक जीवन-जिज्ञासा हो नहीं, तब सम्मतियों के जंगल में मनुष्य जीवन का सामान्य रास्ता खो भी सकता है।

दर्शन वास्तव में एक सजग जिज्ञासा है। वैसे कोई भी ज्ञान का क्षेत्र तत्सम्बन्धी जिज्ञासा की अपेक्षा रखता है। बिना जिज्ञासा के ज्ञानोपलब्धि नहीं होती। परन्तु दर्शन विशेष रूप से जिज्ञासा की अपेक्षा करता है। इसके विषय, अन्तिम सत्य और अन्तिम सत्ता, अपने स्वरूप से ही, बिना सजग जिज्ञासा के कल्पना से भी ग्राह्य नहीं होंगे। सजग जिज्ञासा होने पर मनुष्य जिज्ञासा के सहारे दार्शनिक भाव में सहज ही विकसित हो सकता है। उसके लिए दार्शनिक साहित्य, पूर्व का तथा पश्चिम का सब, उपयोगी साधन बन जायगा। जिज्ञासा विनम्र हो परन्तु हो आत्मविश्वासपूर्ण अथवा आत्मविश्वास की अभीप्सा वाली।

उपनिषदों में कैसा उदार, स्वतंत्र, जिज्ञासापूर्ण विचार, चिंतन और अनुभव का वातावरण मिलता है। उपनिषदों

के बाद अनेक बार दार्शनिक भावना का सुन्दर—उज्ज्वल स्वरूप हमें अपने इतिहास में देखने को मिलता है। परन्तु उपनिषद् इस सम्बन्ध में अद्भुत रूप में आनन्ददायक हैं।

अब जब कि भारत अपने स्वभाव और प्रतिभा को स्वतन्त्रतापूर्वक पुनः विकसित करना चाह रहा है, दार्शनिक भाव-भावना की दृष्टि से उपनिषद् हमारे लिए विशेष दृष्टांत रूप उपस्थित होते हैं। उनमें भी प्रिय है उनकी भावना वातावरण, उनकी जिज्ञासा, उनका स्वातंत्र्य आत्मविश्वास, सत्य-प्रेम आदि।

वरुण ऋषि का पुत्र भृगु अपने पिता से निवेदन करता है, 'अधीहि भगवो ब्रह्मेति भगवन्' मुझे ब्रह्म के विषय में शिक्षा दें। वरुण उत्तर देते हैं, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽस्त्यति।' जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीते हैं, और जिसमें जाकर प्रवेश करते हैं, उसे जानने की जिज्ञासा कर, वही ब्रह्म है। उसने तप किया।

अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द सत्ता के पाँचों स्तरों के सम्बन्ध में वारी-वारी से वरुण कहते हैं, ये सब तद्विजिज्ञासस्व। तू इन्हें ब्रह्म रूप जान और इन्हें ऐसा जानने की जिज्ञासा कर। यह अत्यन्त सुन्दर तथा महत्वपूर्ण अन्तर है। वरुण भृगु की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। वे उसपर अपना मत लादते नहीं, बल्कि जानने की जिज्ञासा प्रेरित करते हैं और उस ज्ञानोपलब्धि के लिए भृगु तप करता है। अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द-विषयक यथार्थ ज्ञान के लिए वह पुनः-पुनः तप करता है। चित्त को एकाग्र करता है, जीवन मात्र की साधना करता है। तप के बिना ज्ञान मानो है ही नहीं।

एक और जगत् जिज्ञासा का स्वरूप है, 'सत्यं भगवो विजिज्ञासम' मैं सत्य को जानना चाहता हूँ।

उपनिषदों के सिद्धान्तों से यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं, बल्कि उनकी भावना से है, इस भावना में कितनी गम्भीर जिज्ञासा है। यह जिज्ञासा ही वास्तव में दार्शनिक खोज का मौलिक-तत्त्व है। यह यदि शुद्ध हो तो दार्शनिक उपलब्धि आनन्ददायक होगी ही।

एक और प्रसंग में गुरु और शिष्य दोनों मिलकर

अभीप्सा करते हैं कि हमारा इकट्ठा यश हो, हमारा इकट्ठा ब्रह्मतेज बढ़े ।

और जनक की बुलाई ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में ब्रह्म-वेत्ताओं के सम्बन्ध कितने सुन्दर दिखाई देते हैं । याज्ञवल्क्य के प्रति कैसा आदर का भाव है । गार्गी कैसी अद्भुत दृष्टि और भावना वाली है और सारी सभा में कितना ऊंचा उसका स्थान है ।

अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो उपनिषदों की अद्भुत भावनाओं सत्य, उदारता तथा गम्भीर प्रेम को हमारे सामने उपस्थित करते हैं और ये भावनाएं हमारे नये दार्शनिक उत्थान के लिए कैसा अपूर्व पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं ?

दर्शन का विषय हम समग्र सत्य और सत्ता कहते आये हैं । परन्तु इन्हीं के अंतर्गत जीवन के सभी क्षेत्र आ जाते हैं । भारतीय ज्ञान की एक मौलिक दृष्टि यहाँ स्मरणीय है । नाट्य-शास्त्र अपने अभीष्ट क्रियात्मक विषय का विवेचन करने के साथ-साथ अपनी सारी विद्या का ब्रह्म के साथ भी सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता मानेगा । व्याकरण के लिए भी यह आवश्यक है कि वह अपने-आपको अन्तिम सत्ता में प्रतिष्ठित करे । यह एक विलक्षण दृष्टिकोण है । निश्चय ही, जीवन की हर गति-विधि, जीवन का हरकोई क्षेत्र, कितना भी वह व्यावहारिक क्यों न हो, समग्र अंतिम सत्य में आधारित तथा प्रतिष्ठित है और जब हम किसी गति-विधि तथा क्षेत्र को यहाँ प्रतिष्ठित देखते हैं और समग्र सत्य में उसकी स्थिति और स्वरूप को देखते हैं, तभी हम उसके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं ।

आज भारत अपने इतिहासमात्र का एक विशेष महान् कार्य कर रहा है । लम्बे समय के बाद आत्म-सजग रूप से अपने जीवन को नव सृष्ट कर रहा है । आज मानों उसका प्राचीन इतिहास उसे देख रहा है और उसकी भविष्य-मात्र की विशाल जातीय भवितव्यता देख रही है । आज भारत ऐसी स्थिति में है । यह स्थिति और इसका अनेकविध सृजन सब भारतीय दर्शन के हाथ में हैं । भारतीय मानव जैसे दार्शनिक भाववाला व्यक्ति कब अपने जीवन के थोड़े-बहुत स्थूल परिवर्तन से ही सन्तुष्ट हो सकता है ? और ऊपर-ऊपर की लीपा-पोती उसे क्या प्रसन्न करेगी ? सजग दर्शन ही भारतीय मानव की दार्शनिक भावना को तृप्त

कर सकता है । दर्शन के उदार, विशाल, समग्र, सत्य और सत्ता के से उदार और विशाल भाव में सारे जीवन को नव-सृष्ट करना होगा । भारतीय जीवन के सामने आज अनेक विशेष महत्वपूर्ण प्रश्न मौजूद हैं । भारत के राष्ट्रीय मानस का नवीन और सच्चा स्वरूप क्या है अथवा होना चाहिए, व्यक्ति और समष्टि के सम्बन्ध कैसे निर्धारित हों, विशिष्ट समाजों और राष्ट्र के आन्तरिक सम्बन्ध, भारत और जगत् के सम्बन्ध, विज्ञान और उद्योगीकरण और भारतीय संस्कृति, आध्यात्मिकता और व्यावहारिकता, सर्व धर्म-समन्वय और नवीन जीवन, राज्य, सत्ता और नैतिक-आध्यात्मिक जीवन, और वास्तविक जीवन-विकास, भारत से आध्यात्मिक देन की माँग और भारतीय जीवन की सच्ची भवितव्यता आदि-आदि अनगिनत प्रश्न, दुविधाएं और संकट हमारे सामने प्रस्तुत हैं । क्या इनका समाधान बिना गम्भीर शुद्ध विचार के, बिना सत्य-दृष्टि के ही किया जा सकता है ?

यही है आज भारतीय दर्शन का महान् और विशाल उत्तरदायित्व । राजा राममोहन राय के समय से लेकर इन प्रश्नों पर कुछ चिन्तन बराबर होता रहा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय दर्शन ने सजग रूप से इस कर्तव्य को पहचाना हो और इसे निभाने की कोशिश की हो । चिन्तन जितना हुआ है वह अधिकांश में समाज-सुधार से प्रेरित होकर और भावना के चिन्तन, सत्य और सत्ता में प्रतिष्ठित चिन्तन का राष्ट्रीय प्रवाह अभी चलना है ।

वैयक्तिक दृष्टान्त के रूप में श्री अरविन्द ने इस कार्य को अपनाया था । सत्य और सत्ता की दृष्टि से तथा भारतीय दर्शन के सृजनशील प्रवाह के रूप में उन्होंने भारतीय जीवन के वैयक्तिक निर्माण और शिक्षा, समाज-निर्माण तथा राष्ट्रीय विकास, मानव एकता, भारतीय भवितव्यता, साहित्य, कला आदि प्रश्नों पर एक मौलिक दृष्टि ही प्रस्तुत नहीं की, बल्कि भारतीय दर्शन की क्रियात्मक परम्परा के अनुरूप इन आदेशों को अपनी आश्रम-प्रयोगशाला में चरितार्थ करने का भी यत्न किया । वहींपर वर्तमान जीवन के अन्य प्रश्नों पर भी परीक्षण करना स्वीकार किया । मशीन और संस्कृति, कर्म और ध्यान, देश-विदेश के सम्बन्ध, मानव और भाषा, व्यवसाय, उद्योग और जीवन-विकास आदि-आदि अनेक प्रश्नों को गम्भीर दार्शनिक विचार और परीक्षा का विषय बना

कर उनपर सत्य-दृष्टि निर्माण करने का यत्न किया।

इस दृष्टान्त द्वारा भारतीय दर्शन ने वर्तमान दर्शन मात्र के लिए एक नये आदर्श को प्रस्तुत किया है। वह है सर्वाङ्गीण ज्ञान, सर्वाङ्गीण संस्कृति और सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व का आदर्श। इन सबमें केन्द्रीय विचार है अतिमानस की सर्वाङ्गीण चेतना का। मन बहिर्मुख है और खण्ड-भाववाला है। अतिमानस अन्तर्मुख, स्वयं-सत्, एकीकृत चेतना है और यह अन्न, प्राण और मन के विकास-क्रम में अन्न, प्राण और मन की श्रेणी का ही एक आगामी करण है। आज ज्ञान, संस्कृति, व्यक्तित्व सब मन के खण्डमय, मानदण्डों के अनुरूप कल्पित किये जाते हैं। भारतीय दर्शन का यह नया सन्देश है कि अतिमानस हमारे सामने अद्भुत एकत्व का आदर्श प्रस्तुत करता है। मानों जीवन-प्रवाह आज हमें जागतिक संस्कृति, समग्रतापूर्ण ज्ञान तथा एक विशालतर सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व-विकास की ओर प्रेरित तथा प्रचालित कर रहा है। दार्शनिक वादों, धार्मिक विश्वासों, सांस्कृतिक विशिष्टताओं आदि सभी विविधताओं और विवेदों को एक विशालतर एकीकृत चेतना के आसन से देखनेकी आवश्यकता है। आज के समृद्ध तथा भेद-पूर्ण जीवन और जगत् का आध्यात्मिक, बौद्धिक, सामाजिक, राजनैतिक, एकीकरण हमारा प्रश्न है और यही प्राचीन भारतीय दर्शन का नवीन संदेश है।

यहाँ हम श्री अरविन्द के कुछ अपने शब्दों को स्मरण कर सकते हैं। वह कहते हैं :

“वस्तुओं को स्थिर रूप से तथा उनको समग्र भाव में देखना मन के लिए सम्भव नहीं, परन्तु परात्पर अतिमानस का तो यह अपना स्वभाव ही है ?”

पुनः एक वचन है “एकता में विभिन्नता व्यक्त जगत् का नियम है, अतिमानसिक एकीकरण तथा संगठन इन विभिन्नताओं को समस्वरता में लायेगा क्योंकि इन्हें मिटा देना प्रवृत्ति निहित आत्मतत्त्व का आशय नहीं है।” इसी सत्य को एक और वचन खोल कर रख देता है “विभिन्नता तथा विरोध में निहित एकता मानव-धर्मों और दर्शनों की विविधता का रहस्य है, क्योंकि वे सभी उस एकमेव सत्य के किसी प्रतीक तथा किसी गौण भाव को प्राप्त करते हैं, अथवा किसी भाग का स्पर्श करते हैं, या उसके अनन्त स्वरूपों में से किसी को

देख पाते हैं।”

दर्शन तथा बौद्धिक जिज्ञासा का मानव-विकास में क्या स्थान तथा महत्त्व है, इस सम्बन्ध का एक कथन भारतीय दार्शनिक विकास के लिए विशेष महत्वपूर्ण हो सकता है। वह कहते हैं :

उच्चतम ज्ञान की ओर बौद्धिक प्रवृत्ति एवं मन द्वारा उसकी प्राप्ति मानव-सत्ता में ‘प्रकृति’ की इस (विकासात्मक) क्रिया का एक अनिवार्य सहायक है। साधारणतया ऊपरी तल पर मनुष्य में विचार और कर्म का प्रमुख यन्त्र तर्क-बुद्धि अर्थात् निरीक्षण करनेवाली, समझने और क्रम-बद्ध करनेवाली बुद्धि है। आत्मा की किसी भी सम्पूर्ण प्रगति या विकास में, अंतःस्फुरता, अन्तर्दृष्टि, आन्तरिक बोध, हृदय की भक्ति, आत्मा की वस्तुओं की गहरी और सीधी जीवन-अनुभूति को ही विकसित नहीं करना है, वरन् बुद्धि को भी आलोकित और सन्तुष्ट करना है। हमारे विचारक और तर्कशील मन को, हमारी प्रकृति के इस उच्चतम विकास और क्रिया के लक्ष्य, ढंग और सिद्धान्तों को तथा उस सबके सत्य को जो इसके पीछे स्थित है, समझने और उनके विषय में एक युक्ति-संगत और व्यवस्थित विचार बनाने में सहायता दी जानी चाहिए। आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूति, एक अन्तःस्फुरित और साक्षात् ज्ञान, आन्तरिक चेतना की तथा आत्मा और एक धनिष्ठ आत्मबोध की उन्नति एवं आत्म-दृष्टि तथा आत्मिक अनुभूति ही इस विकास के उचित साधन हैं, किन्तु साथ ही चिन्तनशील और समीक्षक तर्क-बुद्धि की सहायता भी बड़ी महत्व रखती है, यद्यपि कुछ लोग इसके बिना काम चला सकते हैं, क्योंकि उनका आन्तरिक वास्तविकताओं के साथ स्पष्ट और सीधा सम्पर्क है तथा वे अपनी अनुभूति और अंतर्दृष्टि से सन्तुष्ट हैं, तो भी समस्त क्रिया-चक्र में इसका होना अनिवार्य है। यदि सर्वोच्च सत्य एक आध्यात्मिक सद्बस्तु है, तो भी समस्त क्रिया-चक्र में इसका होना अनिवार्य है। यदि सर्वोच्च सत्य एक आध्यात्मिक सद्बस्तु है तो मनुष्य की बुद्धि के लिए यह जानना आवश्यक है कि इस मूल ‘सत्य’ का स्वभाव क्या है, साथ ही इसके शेष सत्ता के साथ, हमारे और विश्व के साथ, सम्बन्धों का सिद्धान्त क्या है। बुद्धि अपने-आपमें आध्यात्मिक सद्बस्तु के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ नहीं है,

किन्तु वह 'आत्मा' के सत्य के विषय में मानसिक रचना बनाकर हमारी सहायता कर सकती है, यह रचना मन के समक्ष इस 'सत्ता' की व्याख्या करती है तथा अधिक सीधी खोज में भी प्रयुक्त की जा सकती है, बुद्धि की इस सहायता का बड़ा भारी महत्त्व है।

'यहाँ यह भी कह देना होगा कि आध्यात्मिक अनुभव पर बुद्धि का आलोचनात्मक नियंत्रण एक बाधा हो सकता है, तथा उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह एक निम्न प्रकार का आलोक है जो उच्चतर प्रकार के क्षेत्र पर प्रक्षिप्त किया जाता है। सच्ची नियन्त्रक शक्ति, एक आन्तरिक विवेक, एक अन्तरात्मिक बोध एवं कौशल, ऊपर से एक उच्च हस्तक्षेप अथवा एक स्वाभाविक और प्रकाशपूर्ण आन्तरिक पथ-प्रदर्शन है। किन्तु फिर भी यह विकास की दिशा आवश्यक है, कारण, आत्मा और तर्कबुद्धि के मध्य में एक सेतु होना ही चाहिए। एक आध्यात्मिक बुद्धि या कम-से-कम एक अध्यात्मीकृत बुद्धि का प्रकाश हमारे सम्पूर्ण आन्तरिक विकास-क्रम की पूर्णता के लिए आवश्यक है, और उसके बिना, यदि अन्य गहनतर पथ-प्रदर्शन भी नहीं है, तो आन्तरिक क्रिया भ्रान्त और अनुशासनहीन, गन्दली तथा अनाध्यात्मिक तत्त्वों से मिश्रित और अपनी उदारता में एक पक्षीय या अपूर्ण हो सकती है। 'अज्ञान' के समग्र 'ज्ञान' में रूपान्तर के लिए हमारे अन्दर एक ऐसी आध्यात्मिक बुद्धि का विकास, जो उच्चतर प्रकाश को ग्रहण करने के लिए तैयार हो तथा जो उसका संचार हमारी प्रकृति के समस्त भागों की ओर कर सकती हो, अत्यन्त महत्वपूर्ण मध्यवर्ती आवश्यकता है।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने भारतीय भाषाओं की प्रतिनिधि रूप हिन्दी को अपनाकर भारतीय जनता के दार्शनिक प्रश्न को विशेष रूप से अपनाया है। हम आशा करते हैं कि यह परिषद् भारतीय जनता में यथार्थ दार्शनिक भावना को जागृत और विकसित करने में सफल होगी। यह दार्शनिक विचार का उचित माध्यम सृष्ट करेगी जो सभी भारतीय भाषाओं के लिए सहायक होगा। अन्य भारतीय भाषाओं में भी ऐसे संगठन इससे जरूर प्रेरित होंगे। हमारी

भाषाओं को अन्य विज्ञानों और कलाओं के लिए पारिभाषिक शब्द बनाने में भले ही कुछ कष्ट हो, दर्शन में तो बड़ी समृद्ध शब्दावलि सभी भारतीय भाषाओं में ही वर्तमान है। उन्हें अपेक्षाकृत सरसता से और समृद्ध किया जा सकता है।

भाषा और चिंतन में गाढ़ सम्बन्ध होता ही है। जीवन के गम्भीरतम प्रश्नों को अपने भाव-भावना की भाषा में चिंतन करना अधिक सरल तथा स्वाभाविक होता है। निश्चय है, थोड़े अभ्यास के बाद हिन्दी में दार्शनिक चिंतन, दार्शनिक भाव के विकास के लिए विशेष उपयोगी होगा। यह चिंतन अधिक व्यापक तो इसी माध्यम से हो सकती है।

दार्शनिक चिंतन हम सामान्यतया कालिजों और विश्व-विद्यालयों की वस्तु मानते हैं। परिषद् का उद्देश्य, अवश्य ही, वहीं तक सीमित नहीं हो सकता। अखिल भारतीय दर्शन-विषयक यन्त्र होने के कारण इसका क्षेत्र तो समूचे भारत तथा समूची भारतीय जनता का दार्शनिक भाव और विकास होगा।

इस सम्बन्ध में हम स्मरण कर सकते हैं कि भारत में धर्म और दर्शन में अद्भुत मैत्री रही है। धर्म दार्शनिक चिंतन को अपनाकर सजग और सचेतन बना, और दर्शन, धर्म और योग को अपनाकर सजीव और जीवनप्रद बना। भारतीय जनता के धार्मिक भाव का दर्शन भाग पिछले काफ़ी लम्बे समय में सो-सा गया था। सारा भारतीय जीवन ही रूढ़िगत हो गया था। तब दर्शन कैसे सजग-सचेतन रहता? आज अवश्य ही, जनता के व्यापक सृजनशील भाव में तथा इसे और विकसित करने के साधन के रूप में धर्म के दर्शन-भाग को जगाना चाहिए, और यदि ऐसा किया जाय तो इससे धर्म अनुप्राणित होगा तथा समूचा जीवन भी अनुप्राणित होगा। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए यह एक विस्तारपूर्ण क्षेत्र है। कितना ही दार्शनिक भाव इस क्षेत्र में अर्ध-जाग्रत रूप में मौजूद है। इसके जागने से राष्ट्र-मात्र में अद्भुत दार्शनिक भाव का उदय हो सकता है।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, पंचम वार्षिक अधिवेशन, मुजफ्फरपुर (बिहार) अध्यक्षीय भाषण।

अगरचन्द नाहटा

पशुओं के साथ बन्धुत्व-भाव बढ़ाइये

मनुष्य और पशुओं में बहुत-सी प्राकृतिक आवश्यकताएँ समान-सी हैं। इसीलिए कहा गया है—“आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च समानमेतत् पशुभिः नराणाम्”, अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन, ये चारों संज्ञाएँ मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से रही हुई हैं। मानसिक-बौद्धिक विकास ही मनुष्य में अधिक है और मन की विशेषता से ही उसका नाम मानव या मनुष्य पड़ा है। शारीरिक शक्ति में तो कई पशु-पक्षी मनुष्य से भी अधिक बलवान् हैं, पर उन पशुओं पर मनुष्य विजय एवं शासन करता है अपने बौद्धिक बल से। मनुष्य ने प्रकृति-प्रदत्त अनेक शक्तियों का चरम विकास किया और नये-नये आविष्कारों से पशु-जगत् को ही नहीं, मानव-जगत् को भी चमत्कृत कर दिया; क्योंकि सभी मनुष्यों में भी बौद्धिक शक्ति का विकास भी एक-सा नहीं होता और एक-बुद्धिशाली व्यक्ति कोई नया आविष्कार करता है तो उसका लाभ या नुकसान सभी उठाते हैं।

पशुओं का जीवन प्रकृति के बहुत अधिक समीप है। यद्यपि पशु-पक्षियों में भी कई विशेष चालाक-चतुर होते हैं, पर अधिकतया वे प्राकृतिक जीवन ही बिताते हैं। स्वयं अन्न आदि का उत्पादन नहीं कर सकते, अतः प्रकृति से प्राप्त घास, फल-फूल या अपने से कमजोर जीवों को मारकर अपनी क्षुधा निवृत्ति करते हैं अथवा मनुष्य दया करके या स्वार्थवश—विशेष लाभ उठाने के लिए, उन्हें जो कुछ डाल देता है वे खा लेते हैं। इधर-उधर बिखरे हुए धान आदि को खा करके भी वे अपना गुजारा करते हैं। नदी, तालाब आदि के जल से अपनी प्यास बुझा लेते हैं। समय होने पर सो जाते हैं और बिना घड़ी के ही समय पर उठ जाते हैं, अपने से विशेष बलवान् से भय खाते हैं, आत्मरक्षा का प्रयत्न करते हैं। अपनी जाति के भिन्न-लिंगी से प्रेम एवं मैथुन करते हैं। धोंसले, विल आदि बनाते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं और उनका थोड़े समय तक पालन भी करते हैं। दुःख-सुख के भावों को व्यक्त करते हैं। उपकारी की सेवा एवं घातकी से रोष धारण करते हैं, ये सब क्रियाएँ मनुष्यवत् ही हैं।

मनुष्यों ने जब अपने चारों ओर पशु-पक्षियों को देखा कि वन, जंगल और पहाड़ों में विचरते हुए पशु-पक्षियों ने उनको आकर्षित किया। मानव ने अपनी बुद्धि-बल से उनको पालतू बनाकर, उनसे विविध प्रकार के काम लेने आरम्भ किये। बैलों को हल एवं गाड़ी में जोता, हाथी, घोड़े पर सवार हो गये। कई पक्षियों को मनोरंजन का साधन बनाया और बहुतांश को मारकर खाने का। इस तरह विविध प्रसंगों को लेकर मानव, पशु-पक्षी जगत् से सम्बन्धित हुआ। उनसे अनेक प्रकार के लाभ उठाने के साथ ही उनके उपकार का बदला चुकाना भी उसने आवश्यक समझा, अतः गाय को माता के समान पूज्य माना। उसमें ३३ करोड़ देवताओं का निवास मान लिया। अनेक देवी-देवताओं के वाहन की रूप में, नन्दी, बैल आदि की भी पूजा की गई। पशु-पक्षियों ने भी मनुष्य का दाना खाकर और प्रेम पाकर, स्वयं अनेक कष्ट उठाकर भी अपने पोषक का हित सम्पादित किया। युद्ध में हाथियों और घोड़ों का, मध्यकाल में बड़ा महत्व रहा है। रथों पर मनुष्यों और गाड़ियों पर सामान ढोने या खेती करने आदि में बैल का विशेष महत्व रहा है। गायों और भैंसों के दूध से तो सचमुच ही बहुत अधिक लाभ उठाया। दूध से अपना, अपने बच्चों और परिवार का शरीर पुष्ट किया। दूध से दही, मक्खन, घी, छाछ आदि पदार्थ बनाये, जो विविध रूपों में खाने-पीने के काम आये। राजस्थान जैसे रेतीले प्रदेश में ऊंट ने भी मनुष्य की बड़ी सेवा की। भेड़ों, बकरियों और ऊंटों के बालों को काट कर मनुष्य ने अपने पहनन, ओढ़ने, बिछाने एवं वस्तुओं को भरने, ले जाने योग्य वस्त्र आदि निर्माण किये। कुत्तों ने भी मनुष्य का दाना खाकर स्वामी-भक्ति का परिचय दिया। इस तरह जिन-जिन पशुओं से मनुष्य जो-जो लाभ उठा सकता था, उन मूक और अबोध जीवों को कष्ट देकर भी उसने खूब लाभ उठाया।

सभी पशु-पक्षी मनुष्य के लिए लाभदायक ही हों, ऐसी बात नहीं है। कुछ हिसक, क्रूर और उपद्रवकारक, मनुष्य

को नुकसान पहुंचानेवाले पशु-पक्षी भी हैं। उन सिंह, सर्प आदि को मार डालना भी आवश्यक हो गया। हरिण भी सम्भवतः धान के खेतों में आकर फसल का नुकसान करते होंगे, अतः उनका शिकार करना आरम्भ हो गया। इसी तरह सियार आदि अन्य कई पशुओं का भी शिकार किया जाने लगा और उनका मांस खाकर जिह्वा की लोलुपता से निरपराधी, निरुपद्रवी पशुओं के शिकार की प्रवृत्ति बढ़ी। पहले पत्थरों आदि से, फिर धनुष-बाण और आगे चलकर बन्दूक आदि से अनेक जीवों का शिकार करने का क्षत्रियों को व्यसन सा लग गया। इधर मांसभक्षी लोगों ने भी अनेक जीवों का विनाश करना प्रारम्भ किया। इस तरह एक ओर पशु-पक्षियों का संरक्षण हुआ, दूसरी ओर उनकी हत्या। धर्म के नाम से यज्ञ में खूब पशु हिंसा होने लगी और देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि के रूप में भी हजारों बकरें, भैंस आदि निर्ममता से मौत के घाट उतारे जाने लगे।

जब पशु-पक्षियों का इस तरह भयंकर संहार होने लगा तो करुणा, दया आदि वृत्तियों के पुरुषों का कोमल हृदय द्रवित हो उठा और इस हिंसा के विरुद्ध उन्होंने बुलन्द आवाज उठाई। सभी प्राणियों में जीव है, सभीको मारने से दुःख और बचाने से सुख होता है। कोई मरना नहीं चाहता, दुःख नहीं चाहता। हमें कोई किसी भी प्रकार की पीड़ा देता है तो हम कष्ट से कराह उठते हैं, तो हमारे जैसा ही इन पशु-पक्षियों में भी जीव है, अतः उन्हें पीड़ा देने से उन्हें भी हमारे-जैसा ही दुःख होता है। इसलिए किसी भी प्राणी का हिंसा करना पाप है। करुणा व दया-भाव रखना, मरते हुए को बचाना, उनकी पीड़ाओं को कम करना, भूखे-प्यासें को खाना-पीना देना, पुण्य और धर्म है। जैन तीर्थंकरों का उपदेश तो अहिंसा-प्रधान ही रहा है। महात्मा बुद्ध भी करुणाशील थे। उन्होंने भी अहिंसा को प्रधानता दी थी। इस करुणा के प्रभाव से ऋषि-मुनियों के आश्रमों में बड़े ही आत्मीय भाव से हिरणों आदि का पालन-पोषण होता था। लाखों मांसभक्षी और पशु-बलि देने वालों को जैनाचार्यों ने अहिंसा धर्म का उपदेश देकर जैनी बना लिया। औसवाल, पोखाल, श्रीमाल, खंडेलवाल, पालीवाल आदि वर्तमान जैन जातियाँ उन महान् जनाचार्यों के धर्म-प्रचार का

सुपरिणाम हैं। उनका अलग संगठन हो जाने से मांस-भक्षी व बलि देनेवाली हिंसक जातियों से उनका रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द हो गया।

जैन तीर्थंकरों और आचार्यों एवं मुनियों के उपदेश से पशु-पक्षियों के साथ बन्धुत्व भाव की अभिवृद्धि हुई। अपना नुकसान करने वाले जीवों को भी न मारने का उच्च आदर्श प्रचारित हुआ। महाकवि भास के 'यज्ञफल नाटक' में एक ग्रामीण वृद्ध व्यक्ति से लक्ष्मण का संवाद योजित मिलता है। उसमें एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रसंग उपस्थित किया गया है कि महामुनि विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण एक गाँव में पहुंचते हैं तो एक वृद्ध ने उनसे अपने घर पर पधारने की प्रार्थना की। उनकी अभ्यर्थना करते हुए राम-लक्ष्मण के हाथों में धनुष-बाण देखकर उस वृद्ध ने पूछा कि आपने इन्हें क्यों धारण कर रखा है? उत्तर में लक्ष्मण ने कहा कि हरिणों आदि की शिकार तथा हिंसक जीवों से रक्षा करने के लिए। तब वृद्ध ने कहा कि यहाँ वन में अथवा गाँव में मृगों को आप नहीं मारना। लक्ष्मण ने कहा, क्यों ये तुम्हारी खेती को हानि पहुंचाते हैं न? वृद्ध ने उसीका उत्तर देते हुए कहा कि खेती को हानि पहुंचाने पर भी उनको नहीं मारना। उनको हो-हल्ला करके या पत्थर आदि फेंककर भगा देते हैं। तब लक्ष्मण ने कहा कि अपकार करने वालों के प्रति भी आपका यह पक्षपात क्यों है? इसके उत्तर में वृद्ध ने कहा कि हमारे साथ रहने से ये हमारे भाई-बन्धु हो गये हैं। हमें ये दौड़ते हुए बड़े सुहावने लगते हैं। यह सुनकर विश्वामित्र बोले कि देखिये इनका दयाभाव, पशुओं से भी ऐसा बन्धुत्व भाव है। अपकारी होने पर भी ये उनपर क्रोध नहीं करते, बल्कि उनके गुणों की प्रशंसा करते हैं। राम ने भी कहा कि सचमुच इनका मन देवताओं के तुल्य है।

इस संवाद से भारतीय विश्व-बन्धुत्व की संस्कृति का कुछ आभास मिलता है। पशु-पक्षियों के साथ भी हमारा व्यवहार बन्धुत्व का होना चाहिए। मानव-बन्धुओं की तरह ही उनका भी पालन-पोषण व रक्षण करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए।

केन्द्रीय शासन के वन्य पशु-पक्षी-संरक्षण अधिनियम

(शेष पृष्ठ ४६ पर)

शमसुद्दीन

भूदान-यज्ञ-आन्दोलन

“अगर समाज-रचना में फौरन परिवर्तन नहीं होता तो हम नष्ट हो जायेंगे। आज सामाजिक असंतोष और आर्थिक विषमता के जाल में हिन्दुस्तान फँस गया है। इनमें से सही सलामत बच निकलने के लिए ही यह भूदान-यज्ञ-आन्दोलन है।” --विनोबा।

उपर्युक्त अनुभूति की प्रेरणा हृदय में अनुभव कर परम श्रेष्ठ आचार्य विनोबा भावे भूदान-यज्ञ के कार्य में तन-मन से संलग्न होगये। आज इस महायज्ञ की पावन सुवासित धूम्र-राशि देश के कोने-कोने में व्याप्त हो रही है। यह भूदान यज्ञ क्यों, कैसे और कहाँ प्रारम्भ हुआ इसपर विचार करने से पूर्व इस शब्द की पूर्ण व्याख्या आवश्यक है। भू का अर्थ है जमीन जो किसी एक या कुछ लोगों की नहीं, वरन् मानव मात्र की है। हम इसीसे जीवन ग्रहण करते तथा अन्त में इसीमें अपने पार्थिव अस्तित्व को विलीन करते हैं। इसी-की धूल में किलोलें करते हुए हम चलना, फिरना, खेलना, कूदना सीखते हैं और इसलिए यह भूमि हम सबकी माता है। दान से तात्पर्य है स्वयं अपनी इच्छा से देना या समर्पण करना। जिनके पास संग्रह है वही दान करते हैं। अतः यह एक प्रकार से संग्रह का प्रायश्चित्त है, जिसका अर्थ समान व न्यायपूर्ण बंटवारा होता है। यज्ञ का मतलब है धार्मिक अनुष्ठान की भावना से प्रेरित होकर सबके द्वारा सब के लिए त्याग अथवा बलिदान।

प्रत्येक व्यक्ति निरपेक्ष भाव से भूमि का कुछ भाग इस यज्ञ में दान करता है जो भूमिहीन को दी जाती है। भूमि ईश्वर की है और हम सब उस ईश्वर की सन्तान हैं। अतः उसपर हम सबका एक समान अधिकार है। यही भावना भूदान-यज्ञ के मूल में है।

अब यह प्रश्न उठता है कि इसकी आवश्यकता क्यों हुई? यही हमारा विचारणीय विषय है। समानता के इस युग में आज समाज की विषम आर्थिक व्यवस्था एक गम्भीर और जटिल समस्या बन गई है। भारत की वर्तमान परिस्थिति भी इस क्षेत्र में बड़ी शोचनीय है। एक ओर बढ़ी हुई

अमीरी का अट्टहास है और दूसरी ओर बेहद गरीबी का अभिशाप। इस अमीरी और गरीबी के तनाव ने समाज में बड़ी कठिन और विषम समस्याएं खड़ी कर दी हैं। बुभुक्षितः किम् न करोति पापम् अथवा 'आरत काह न करै कुकर्म' अर्थात् जो भूखा है, दुखी है, पीड़ित है वह अपना पेट भरने के लिए क्या नहीं करता? धोर-से-धोर अपराध और अधर्म के बड़े-से-बड़े कार्य इसी कारण होते हैं। देश में दानवता की वृद्धि और मानवता का ह्रास होता है। आज देश के नेतागण व हमारी सरकार इस समस्या को सुलझाने की चिन्ता में है।

राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के श्रेष्ठतम शिष्य सन्त विनोबा भावे को हैदराबाद-काण्ड से यह प्रेरणा मिली कि देश में एक ओर थोड़े-से लोग काफ़ी बड़े परिमाण में जमीन अपनाये बैठे हैं और दूसरों की मेहनत से अपना धन एकत्रित करने में जुटे हुए हैं, दूसरी ओर लाखों लोगों के पास एक एकड़ जमीन भी नहीं है। वे दूसरों के मुहताज बने अपने हृदय की आह दबाये दिन-रात पसीना बहाकर भी अपनी जीविका-निर्वाह के लायक मजदूरी नहीं पा रहे हैं। आखिर इनकी यह आह कबतक दबी रहेगी और वे अमीर रईस कबतक इनका कौर छीन-छीन-कर खाते रहेंगे? जमाना तेजी से बदल रहा है। अगर अमीर गरीबों को ख्याल करेंगे तो निश्चय ही एक दिन इनकी आह उन अमीरों को भस्म कर देगी और वह भी कुछ बुरी तरह से खून-खराबी और लूटमार से। इस हिंसात्मक क्रांति के दुष्परिणामों को दूरदर्शिता की दृष्टि से देखकर सन्त विनोबा ने भूदान-यज्ञ का कार्य आरम्भ किया।

भूदान-यज्ञ के रूप में अहिंसक क्रांति की प्रकाश-किरण तेलंगाना में फूटी तथा धीरे-धीरे यह दिनमणि के विशाल तेज के समान सम्पूर्ण देश में व्याप्त होगई। तेलंगाना में पीड़ित मानवता की यह परिस्थिति थी कि वहाँ कभी भी हिंसक क्रांति हो जाना मामूली बात थी। स्वयं आचार्य विनोबा जब हैदराबाद से ३४ मील दूरी पर नलंगुण्डा

जिले के पोचमपल्ली नामक ग्राम में पहुंचे और लोगों से उन्होंने मुलाकात की तब उन्होंने अपने दुख-दर्द की मार्मिक कहानियाँ उन्हें सुनाई। उन्होंने अपनी कठिनाइयाँ व आवश्यकताएं सामने रखते हुए कहा कि न उनके पास काम है और न जमीन, फिर वे पेट कैसे भरें? जमीन के लिए उनकी तीव्र क्षुधा देखते हुए उन्होंने प्रश्न किया कि उन्हें कितनी जमीन चाहिए? और जवाब मिला ८० एकड़। पास ही गाँव वाले मौजूद थे और विनोबा जी ने उन्हें सम्बोधन करके कहा कि सरकार से जमीन न मिले या देरी लगे तो क्या गाँववाले कुछ जमीन दे सकेंगे? उपस्थित लोगों में से एक भाई श्री रामचन्द्र रेड्डी ने कहा, "मैं अपने स्वर्गीय पिता की जमीन में से अपने और अपने पाँचों भाइयों की ओर से १०० एकड़ जमीन भेंट करने के लिए तैयार हूँ। बस यही भूदान की गंगोत्री का उद्गम था, मानों स्वयं भगवान् ने ही ऐसे भाई के मुँह से दान दिलवाकर भूदान के पावन यज्ञ का सूत्रपात किया। भूदान की भावना विनोबाजी के मन में बहुत समय पहले से ही थी, पर उन्हें विश्वास नहीं था कि यह समस्या इतनी आसानी से हल हो सकेगी क्योंकि यह किसी मंदिर या संस्था के लिए धन पैसे के दान का प्रश्न नहीं था बल्कि निःस्वार्थ भाव से जमीन देकर अपना पैतृक हिस्सा या हक देने का प्रश्न था। इतिहास में प्रमाण पाये जाते हैं कि सुई की नौकभर जमीन के लिए खून की नदियाँ बही थीं। किन्तु लोगों से प्रेमपूर्ण याचना के बाद वांछित भूमि मिल जाने पर विनोबाजी का साहस बढ़ा और फिर क्या था, भूदान का कार्य अपने पूरे वेग से प्रारम्भ हो गया। लोग स्वयं आ-आकर जमीन देने लगे।

भूदान-यज्ञ से कई बड़े-बड़े उद्देश्य सिद्ध होंगे। सर्वप्रथम तो इससे असाधारण आर्थिक विषमता के कारण उत्पन्न होने-वाली हिंसक क्रांति से बचने का उपाय निकल आयेगा। क्योंकि यह तो विश्वास है कि यदि कुछ लोग ऐश-आराम में डूबे रहें और अधिकांश को दोनों समय पेटभर भोजन तथा तन ढाँकने के लिए, वस्त्र भी न मिले, एक ओर कुछ लोग ऊँचे-ऊँचे महल, अट्टालिकाएँ खड़ी करते रहें तथा दूसरी ओर उन्हींके भाइयों को रहने के लिए झोपड़ी भी नसीब न हो तो यह विषम स्थिति अधिक समय न रह सकेगी। निश्चय ही क्रांति होगी और पूँजीवाद के दिव्यंस की नींव पर

समाजवाद के नवजीवन की सृष्टि होगी। इस विनाश और हिंसा से बचने का एक ही उपाय है और वह है प्रेम से हृदय-परिवर्तन जो भूदान-यज्ञ से सम्भव हो सकेगा। भूदान-यज्ञ से दूसरा उद्देश्य यह सिद्ध होगा कि इससे अधिकांश को अपनी रोजी-रोटी कमाने के साधन उपलब्ध हो सकेंगे और देश की बढ़ती हुई बेकारी की समस्या भी हल हो जायगी। काम के अभाव में अन्न-वस्त्र से हीन जो एक दुखी गरीब वर्ग का निर्माण हो रहा है उससे न केवल समाज और देश का ह्रास होता है वरन् मानवता का भी घोर पतन होता है और पाशविकता की वृद्धि होती है। अतः भूदान-यज्ञ उनके लिए भी एक हल प्रस्तुत करती है। भूदान यज्ञ ऊँच-नीच व बड़े-छोटे के भेद-भाव को दूर करेगा। भूमि उसीको मिल सकती है जो उसे जोत सके और उपज पैदा कर सके। अतः इसमें सबको समान शारीरिक काम करने की शिक्षा मिलेगी और विषमता दूर होगी। इस प्रकार समाज में यदि आर्थिक समानता व एकता का प्रादुर्भाव होगया तो देश में वैमनस्य और तनाव की कमी होगी और लोगों में सुख-शांति की वृद्धि होगी। भूदान-यज्ञ में हाथ बँटाकर अमीर न केवल अपनी लाज बचा सकेंगे वरन् दान के द्वारा पुण्य और यश के भी भागी होंगे।

विनोबा का कहना है कि एक भारतीय परिवार में साधारणतः पाँच सदस्य किसी तरह रहते हैं तथा छठवाँ सदस्य दरिद्रता व भूख से पीड़ित रहता है। इस छठवें सदस्य को भी परिवार का एक सदस्य मान विनोबा भारत की कुल जोती जाने वाली ३० करोड़ एकड़ जमीन का एक छठवाँ हिस्सा अर्थात् ५ करोड़ एकड़ जमीन की माँग कर रहे हैं। अबतक करीब ३०० एकड़ जमीन प्रतिदिन के औसत के हिसाब से ४० लाख एकड़ से ज्यादा जमीन तेलंगाना, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा आदि से प्राप्त हो चुकी है। इस प्रकार भूमि-दान का कार्य काफी तीव्रता से चल रहा है। इस कार्य के लिए प्रत्येक प्रदेश में प्रादेशिक समितियाँ हैं जो संयोजकों की सहायता से भूमि संग्रह व उसके वितरण का कार्य एक दान-पत्र भरकर करती है, जिसमें दाता अपनी इच्छा से अपनी जमीन का हक देता है। दान-पत्र में विनोबा के हस्ताक्षर आवश्यक रहते हैं।

भूमिदान से प्राप्त जमीन के वितरण के द्वारा आज देश के कई भूमिहीन व्यक्तियों को लाभ पहुंचा है। यथार्थ में यह भूमिदान-यज्ञ देश के लिए अत्यन्त कल्याणकारी और सशक्त कार्यक्रम है। इसमें जमीन उसी भूमिहीन व्यक्ति को दी जाती है जो स्वयं उसे जोत सके और मेहनत कर सके। वह उस पर दूसरों से काम नहीं करवा सकेगा। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि लोगों में कर्तृत्व शक्ति की वृद्धि होगी तथा वे स्वावलम्बी बनेंगे। इसी प्रकार जमीन जिस गाँव की होती है वहीं के सब ग्रामवासियों की सलाह से योग्य व्यक्ति को ही जमीन दी जाती है। इस प्रकार भूदान का असली उद्देश्य सार्थक होता है अर्थात् योग्य और मेहनती व्यक्ति जमीन का सदुपयोग करता है। दान में मिली हुई जमीन कोई बेच नहीं सकता और न गिरवी रख सकता है। अतः जमीन को कायम रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाता है। इससे भी लोगों में कार्य-शक्ति व परिश्रम को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार भूदान-यज्ञ से कई लाभ हो रहे हैं और भविष्य में होंगे। इसके द्वारा न केवल लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा वरन उनमें स्वावलम्बन, परिश्रम, सेवा व नैतिकता की वृद्धि होगी। भूदान और उसके वितरण के सम्बन्ध में लोगों ने कुछ शंकाएं उपस्थित की हैं। उनका कहना है कि कानून का आधार इसमें क्यों नहीं लिया जाता। इसमें न तो हिंसा ही होगी और न रास्ता ही गलत होगा, वरन् कार्य शीघ्रता से होगा। किन्तु स्वयं विनोबा ने इसका निराकरण करते हुए कहा कि सुधारक का काम विचार-परिवर्तन का होता है जो कानून और सरकार की मर्यादा के परे हैं। फिर कानून सार्वभौम या सर्व-स्पर्शी भी नहीं हो सकता। कानून से जबरदस्ती की जा सकती है, किन्तु स्थायी मत-परिवर्तन या विचार-क्रांति इससे नहीं हो सकती। विनोबा कानून की मदद को

अस्वीकार नहीं करते, किन्तु उनका कहना यही है कि हम प्रारम्भ कारण से करते हैं और जब वातावरण तैयार हो जाता है तब कानून मदद के लिए आता है। दूसरी शंका यह खड़ी की जाती है कि विनोबा सहकारी खेती के विरुद्ध हैं। किन्तु यह धारणा गलत है। विनोबा पूर्ण रूप से सहकारी खेती के पक्ष में हैं किन्तु अभी नहीं। उनका कहना है कि जबतक लोगों को कुछ ज्ञान न हो जाय, उन्हें खेती का अभ्यास न हो जाय उनपर कोई चीज लादी न जाय। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि भूमिदान के द्वारा जो भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े होंगे उनसे लाभ नहीं होगा। किन्तु विनोबा का कहना है कि इस यज्ञ के द्वारा लोगों में जो विचार क्रांति होगी उसकी तुलना में जमीन के टुकड़ों में बाँटने की समस्या बहुत छोटी है। साथ ही इन छोटे-छोटे टुकड़ों के मालिक मिलकर सहकार्य से कार्य करेंगे और इस समस्या का निराकरण आप-ही-आप हो जायगा। भूमि के वितरण के सम्बन्ध में भी लोगों ने कई प्रकार की शंकाएं उठाईं, किन्तु विनोबा ने उनका बड़ी सरलता और स्पष्टता से निराकरण कर दिया। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि भूदान-यज्ञ के रूप में होनेवाली अहिंसक क्रांति से सर्वोदयी कल्याणकारी समाज का निर्माण होगा।

भूदान-यज्ञ मानवता का प्रतिबिम्ब है। यह अमृत के पावस बिन्दुओं के सदृश भूमिहीनों की क्षुधा और पिपासा का शमन कर उन्हें जीवन-दान देगा। आज जनता जनार्दन के उदर में प्रज्वलित अग्नि को, उनकी धधकती हुई ज्वालाओं को भूदान से शान्त करना है। यही भूदान यज्ञ है। यही आज का युग-धर्म है। यही ईश्वर की इच्छा और भारत माता का आह्वान है। यही गांधीजी की सीख और विनोबाजी की माँग है। इसी से भारत में सर्वोदय सिद्ध होगा।

श्वेत कमल

सूर्य के ताप ने बादलों को चूस लिया था, जैसे ऊख के डंडे कोलू में पिस-पिसाकर रसहीन हो जाते हैं। आकाश में धुनी रूई-जैसे बादल मंडराते, मगर कभी फूहियाँ टपकने का नाम तक नहीं लेतीं।

लहलहाते पौधों की जगह सूखी-सूखी धरती। किसानों की आँखों में आशा की चमक के बदले मायसी का गर्द-गुवार।

लम्बी प्रतीक्षा के बाद, एक दिन आकाश में काले-काले बादल नाच उठे। प्यासी धरती का कंठ गीला होगया। किसानों की मूच्छना दूर भागी और उनके हृदय उल्लास के छंद रचने लगे।

खेतों में धान के पौधे झूम उठे।

सूर्य ने पुनः अपना आक्रोश दुहराया और हरियाली का गीत मुरझाने लगा।

एक दिन नदी में बाढ़ और किसानों के दिल में उछाह।

यशवंत ने देखा—रुद्रमोहन का खेत पानी से लवालब भर गया है। उसने अपने नौकर से उसकी मेड़ काट देने की आज्ञा दी।

नौकर ने हिचकिचाहट प्रकट की तो यशवंत ने उसे डाँटते हुए कहा, 'तुम डरते क्यों हो? मेरे सामने कौन चूँ करेगा?'

जो खेत कुछ क्षण पहले धनी था वही देखते-देखते निर्धन हो गया।

यह सुनते ही रुद्रमोहन भूखा बाघ-सा दौड़ा आया। उसने यशवंत पर लाठी छोड़ दी। दोनों आपस में गुंथ गये। पलक झपटे ही खेत का पानी खून से रंग गया।

दोनों के झगड़े ने कचहरी में प्रवेश किया।

रुद्रमोहन कचहरी से लौट रहा था। उसके चेहरे पर म्लानता थी। हरगोविन्द ने उसे अपने पास बुलाकर कहा, 'अरे! मुकदमे से क्या होगा? उससे न्याय नहीं मिल सकता। न्याय तो पैसे का गुलाम है। हाँ, मेरी राय मानो तो सफलता का चाँद तुम्हारी हथेली पर उतर आये।'।

हरगोविन्द के दिल में यशवंत के प्रति द्वेष भरा था।

उसने रुद्रमोहन के कानों में धीरे-से कुछ कहा। रुद्रमोहन वहाँ से मुस्कराता हुआ चला गया।

रात की निस्तब्धता यशवंत की पुकार से काँप उठी। उसके घर आग की लपटों से लिपटे थे।

रुद्रमोहन अपने घर पर बैठा अट्टहास कर रहा था।

यशवंत की सम्पत्ति तो जली ही और उसके साथ उसका सप्तवर्षीय पुत्र भी जल मरा।

सुबह रुद्रमोहन ने घनानंद के सामने सहानुभूति प्रदर्शन के लिए यशवंत के पास चलने का प्रस्ताव रखा, किन्तु घनानंद ने विरोध किया, 'उस नीच का क्या नाम लेते हो? मुझे तो उसके चेहरे से भी घृणा है।'।

रुद्रमोहन से कुछ जवाब देते नहीं बना। उसकी आँखों के सामने पुरानी घटना कौंध गई—घनानंद का पिता जब मरा तब यशवंत ने चुपके से उसके अंगूठे का निशान ले लिया और उसकी बहुत-सी जमीन नीलाम करवा ली।

यशवंत की विचित्र स्थिति थी। वह राख के ढेर पर बनी झोपड़ी में लेटा था। पुत्र-शोक, धन-शोक और पारस्परिक कलह ने उसकी शांति लूट ली थी। दोपहर रात बीतने को आई, मगर उसकी पलकों में नींद का अनुराग नहीं छाया। उसने अपनी आँखें जबर्दस्ती मींच लीं। वह अतीत और वर्तमान को चिंतन के सहारे जोड़ने लगा। उसका अंतर छिः छिः से भर उठा। वह आँख मूंद कर पड़ा रहा। उसके सामने आड़ी-तिरछी रेखाएँ खिंचने लगीं। रेखाओं ने मिल-जुलकर मानव-आकृति बना डाली। उसने अनुभव किया—उसके आगे सचमुच कोई खड़ा है। आकृति और उसके अधर काँप उठे—'अंतर-मंथन से कुछ मिला? तुम शांति का बीज खोज रहे हो? वह तुम्हें कैसे सुलभ होगा?'

'क्यों?'—भीतर-ही-भीतर उसने प्रश्न किया।

आकृति मुस्कराई—'तुम स्वार्थ एवं अभिमान के प्रतीक हो, हरगोविंद ईर्ष्या एवं द्वेष के, रुद्रमोहन-घनानंद क्रोध एवं घृणा के। फिर यह निरर्थक प्रयत्न कैसा?'

(शेष पृष्ठ ७१ पर)

समालोचनाएं'

कमौटी पर

नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद के प्रकाशन

१. गांधीजी की साधना : लेखक—रावजीभाई मणिभाई पटेल, अनुवादक—रामनारायण चौधरी, पृष्ठ ३०७, मूल्य—तीन रुपये।
२. बिहार की कौमी आग में : लेखिका—मनुबहन गांधी, अनुवादक—रामनारायण चौधरी, पृष्ठ ३८४, मूल्य तीन रुपये।
३. राजा राममोहन राय से गांधीजी : लेखक—मगनभाई प्रभुदास देसाई, अनुवादक—रामनारायण चौधरी, पृष्ठ १७६, मूल्य दो रुपये।

दक्षिण अफ्रीका की अपनी साधना का गांधीजी ने 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास' में विस्तृत उल्लेख किया है, लेकिन उसमें बहुत-से ऐसे प्रसंग आये हैं, जिनका संकेत-मात्र किया गया है, अथवा जिनकी पृष्ठभूमि नहीं दी गई। 'गांधीजी की साधना' उसकी पूर्ति करती है। सत्याग्रह का रहस्य जानने और दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास का सूक्ष्म अध्ययन करने की इच्छा रखनेवालों के लिए इस पुस्तक में बड़ी ही मूल्यवान सामग्री सुलभ है। विश्व की महान विभूति गांधीजी के जीवन की गहराई में उतरने के अभिलाषी पाठकों को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

गांधीजी के सान्निध्य में रहनेवाले व्यक्तियों में मनुबहन ने निश्चय ही बड़ा लोकोपयोगी कार्य किया, जो बापू की दिनचर्या की नियमित डायरी रक्खी। नोआखाली की धर्म-यात्रा के दिनों की डायरी 'एकला चलो रे' में और कलकत्ते की अग्नि-परीक्षा के दिनों की डायरी 'कलकत्ते का चमत्कार' में प्रकाशित हो चुकी है। 'बिहार की कौमी आग में' पुस्तक में ५ मार्च १९४७ से २४ मई १९४७ तक

की दैनिक घटनाएं दी गई हैं। उन दिनों की संकटकालीन स्थिति में गांधीजी ने कितने धैर्य, साहस, सहिष्णुता और परिश्रम से कार्य किया, इसका बड़ा ही विशद वर्णन इस पुस्तक में मिलता है। यह कृति ऐतिहासिक महत्व तथा मूल्य की है।

'राजा राममोहन राय से गांधीजी' पुस्तक में सन् १७५७ से १९५७ तक के दोसौ वर्षों की विहंगम दृष्टि से समीक्षा की गई है। राजा राममोहन राय के काल को लेखक ने अंग्रेजों के राज्य का 'स्थापना-युग' माना है और गांधीजी के काल को उस राज्य का 'उत्थापना-युग'। इन दो युगों का संक्षिप्त इतिहास इस पुस्तक में मिलता है।

निःसंदेह ये तीनों ही पुस्तकें स्थायी महत्व की हैं और गांधीजी के जीवन और कार्य को समझने में बड़ी मदद करती हैं।

राजस्थान खादी संघ, खादीबाग की पुस्तकें

१. लोकनीति के मूल तत्व : लेखक—दादा धर्माधिकारी, पृष्ठ ४१, मूल्य ३५ न० पैसे।
२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास : लेखक—सुखलाल, पृष्ठ ११, मूल्य १० न० पैसे।
३. बाल-जीवन की कठुना और हमारा कर्तव्य : लेखक—काशिनाथ त्रिवेदी, पृष्ठ २८, मूल्य १५ न० पैसे।
४. समाजवाद और सर्वोदय : लेखक—प्रेमनारायण माथुर, पृष्ठ ३४, मूल्य तीन आने।

शिवदासपुरा के खादी ग्रामोद्योग विद्यालय ने देश तथा राजस्थान की प्रमुख समस्याओं पर एक व्याख्यान-माला का श्रीगणेश किया था। इन चारों पुस्तकों में उसी माला के व्याख्यान हैं। पहली में गांधी-विचार-धारा के व्याख्याता दादा धर्माधिकारी ने राजनीति और लोकनीति का अंतर दिखाते हुए लोकनीति के मूल तत्वों का बड़ा ही सारगर्भित

विवेचन किया है। दूसरी में जैन-दर्शन के विद्वान् पं० सुख-लालजी ने अहिंसा की बहुत ही सूक्ष्म पर अत्यन्त सरल व्याख्या की है। तीसरी में बाल-मनोविज्ञान के विशेषज्ञ श्री काशिनाथ त्रिवेदी के दो व्याख्यान हैं, जिनमें बाल-जीवन के महत्व एवं समस्याओं तथा सही ढंग के बाल-शिक्षण पर प्रकाश डाला गया है। चौथी में श्री प्रेमनारायण माथुर ने समाजवाद तथा सर्वोदय के स्वरूप और अंतर को समझाने का प्रयत्न किया है।

ये चारों ही पुस्तिकाएं अपने-अपने विषय की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करती हैं और पठनीय हैं।

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली के प्रकाशन

१. राजेन्द्रबाबू का व्यक्तित्व : लेखक—वाल्मीकि चौधरी, पृष्ठ डिमाई आकार के २१३, मूल्य पांच रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। राजेन्द्रबाबू का जीवन वैसे तो एक खुली पुस्तक के समान है, लेकिन फिर भी अनेक ऐसे प्रसंग और घटनाएं हैं, जिन्हें कम ही लोग जानते हैं। श्री वाल्मीकि चौधरी को वर्षों राजेन्द्रबाबू के साथ रहने का सुयोग मिला है। इस पुस्तक में उन्होंने राजेन्द्रबाबू की प्रवृत्तियों तथा प्रतिभा का बड़े ही सजीव ढंग से विवेचन किया है। पुस्तक की एक खूबी यह भी है कि लेखक ने अपने को पीछे रखा है।

२. यश की धरोहर : लेखक, भगवानदास माहीर, सदाशिव राव मलकापुरकर तथा शिव वर्मा, सम्पादक—बनारसी दास चतुर्वेदी, पृष्ठ २००, मूल्य ३ रुपये ५० न० पैसे।

इस पुस्तक में उन पांच शहीदों के वलिदान की गाथाएं हैं, जिन्होंने देश की आजादी की वेदी पर अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया। वे हैं राजगुरु, भगतसिंह, आजाद, नारायण दास खरे तथा सुखदेव। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके संस्मरण व्यक्तिगत परिचय के आधार पर लिखे गए हैं, अतः प्रामाणिक हैं। पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते आजादी के इतिहास के अनेक पृष्ठ आंखों के सामने खुल जाते हैं।

३. जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान : लेखक मुनिश्री नगराजजी, पृष्ठ १४४, मूल्य चार रुपये।

इस पुस्तक में जैन-दर्शन तथा विज्ञान की समीक्षात्मक सामग्री प्रस्तुत की गई है। लेखक उच्च कोटि के चिन्तक हैं। विविध ग्रन्थों का अनुशीलन करके उन्होंने अपने अध्ययन और चिन्तन का लाभ पाठकों को दिया है। दर्शन और विज्ञान का क्या संबंध है, दोनों में कहां साम्य और कहां अंतर है, यह आज बड़ी ही जिज्ञासा का विषय है। विद्वान् लेखक ने इस विषय पर उपयोगी सामग्री प्रदान करके एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है। विषय जटिल होते हुए भी लेखक ने उसे सरल-सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। पुस्तक की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह पाठकों को सोचने के लिए प्रेरित करती है।

राजपाल एण्ड संस, दिल्ली की पुस्तकें

१. वापसी : लेखक—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृष्ठ ११३, मूल्य ३ रुपये ५० न० पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की १५ कहानियां संगृहीत हैं। मानव-जीवन के मार्मिक पहलुओं को लेकर लेखक ने इन कहानियों का ताना-बाना बुना है। कुछ कथानर्क तो वास्तव में बड़े ही हृदय-स्पर्शी बन पड़े हैं। प्रायः सभी कहानियां रोचक हैं। भावना का पुट होने के कारण ये रचनाएं विशेष रूप से ग्राह्य बन गई हैं। पुस्तक के प्रारंभ में लेखक की बड़ी दिलचस्प भूमिका है, लेकिन यदि उसका विस्तार कुछ कम होता तो अधिक अच्छा होता।

२. प्यास के पंख : लेखक—यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र', पृष्ठ १३१, मूल्य दो रुपये।

यह एक उपन्यास है, जिसकी सामग्री को 'आदमी का मन', 'संघर्ष बढ़ता ही गया', 'चक्र', 'देवता बन गये', 'नई तिप्पररक्षिता' तथा 'प्यास के पंख', इन छः खण्डों में विभक्त करके जीवन की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। हमारा समाज आज ऐसे संघिस्थल पर खड़ा है, जहां पुरानी मान्यताओं का विच्छेद और नई का निर्माण हो रहा है। लेखक की यह कृति इसी तथ्य का सजीव दर्शन कराती है। उपन्यास का आकार सीमित है, पर उसका पटल लेखक ने काफ़ी व्यापक रखा है।

३. रैन अंधेरी : लेखक—मन्मथनाथ गुप्त, पृष्ठ ३२४, मूल्य छः रुपये।

प्रस्तुत उपन्यास के लेखक का क्रांतिकारी आन्दोलन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा था और उनके कई वर्ष जेल में व्यतीत हुए थे। भारतीय स्वतंत्रता के युद्ध के एक सेनानी के नाते आजादी के इतिहास के साथ उनकी आत्मीयता होना स्वाभाविक है। उपन्यास के माध्यम से उन्होंने इस पुस्तक में सन् १९२२ से लेकर १९३० तक की प्रमुख घटनाओं का रोचक ढंग से उल्लेख किया है। लेखक ने उस युग को 'अंधेरा पाख' कहा है और शायद उसीको लक्ष्य में रखकर पुस्तक का यह नामकरण किया गया है। इतिहास

को उपन्यास में बांधना आसान काम नहीं है, लेकिन चूंकि लेखक को उस इतिहास को स्वयं अपनी आंखों से देखने का अवसर मिला, अतः उसके वर्णन बड़े ही सजीव बन गये हैं। कहीं-कहींपर उन्होंने कल्पना से भी काम लिया है, लेकिन जहां-जहां उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों को लिया है, वहां-वहां प्रामाणिकता का विशेष ध्यान रखा है। आजादी की लड़ाई में रुचि रखनेवाले पाठकों को इस पुस्तक के पढ़ने में बड़ा रस आयागा।

—सत्यसाची

(पृष्ठ ६८ का शेष)

आकृति ने अंगुली से निर्देश किया। प्रकाश की एक उज्ज्वल रेखा खिच गई। उसने देखा—दूध के सरोवर में हरियाली के आसन पर श्वेतकमल मुस्कुरा रहा है।

किसीने यशवंत को झकझोर दिया। हवा में स्वर गंज

रहा था—शांति का कमल स्वार्थ की उस तलैया में नहीं खिला करता, जो अभिमान-क्रोध, घृणा-द्वेष के कीचड़ से भरी रहती है।

उसने देखा सप्तर्षि छुपने को जा रहे थे।

स्वर्गीय जमनालालजी

सेठ जमनालाल बजाज को छीनकर काल ने हमारे बीच से एक शक्तिशाली व्यक्ति को छीन लिया है। जब-जब मैंने धनवानों के लिए यह लिखा कि वे लोक-कल्याण की दृष्टि से अपने धन के ट्रस्टी बन जायें, तब-तब मेरे सामने सदा ही इस वणिज शिरोमणि का उदाहरण मुख्य रहा है।... उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। अपने लिए उन्होंने जितने भी घर बनाये, वे उनके घर नहीं रहे, धर्मशाला बन गये। सत्याग्रही के नाते उनका दान सर्वोत्तम रहा।

—मो. क. गांधी

हमारी राय

फिर क्या व कैरे ?

रूस के शान्ति-प्रयास

पिछले दिनों पाठकों ने यह समाचार बड़े संतोष के साथ पढ़ा होगा कि विगत चार वर्षों में सोवियत संघ की सशस्त्र सेना में इक्कीस लाख चालीस हजार सैनिकों की कमी कर दी गई है। इतना ही नहीं, हाल ही में सोवियत सरकार के प्रस्ताव पर वहाँ की सर्वोच्च सोवियत ने निश्चय किया है कि उसके सैन्य-बल में बारह लाख सैनिकों की और कटौती कर दी जायगी। सबसे उल्लेखयोग्य बात यह है कि ये प्रयत्न एकपक्षीय रूप में किये गए हैं, अर्थात् इनके साथ ऐसी कोई शर्त नहीं लगाई गई कि अन्य राष्ट्र जब इस प्रकार का कदम उठावेंगे तभी सोवियत संघ में इन निश्चयों को कार्यान्वित किया जायगा।

पाठकों को संभवतः पता होगा कि इधर चार साल से रूस शान्ति की स्थापना पर बहुत जोर दे रहा है। पहले उसने आणविक अस्त्रों के परीक्षणों के विरुद्ध आवाज उठाई थी और अब वह निःशस्त्रीकरण के पक्ष में अपना स्वर ऊँचा कर रहा है। वहाँ के प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव ने तो यहाँ तक प्रस्ताव किया है कि संसार से युद्ध-सम्बन्धी सामग्री नष्ट हो जानी चाहिए, अस्त्रों को तिलांजलि दे देनी चाहिए और युद्ध-सामग्री के उत्पादन को बंद कर देना चाहिए।

रूस के इन प्रयत्नों का अन्य देशों पर, विशेषकर अमरीका पर, क्या प्रभाव पड़ेगा, यह कहना कठिन है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे अंतर्राष्ट्रीय जगत् में तनाव की वर्तमान स्थिति को सुधारने के लिए अनुकूल वायुमंडल उत्पन्न होगा। कथनी का पूरा असर तब होता है, जब उसके पीछे करनी का बल होता है, और आज इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। आज चारों ओर से शान्ति की आवाज उठ रही है, यहाँ तक कि आक्रामक व्यवहार करते हुए चीन भी शान्ति की दुहाई दे रहा है, पर उस सबके बावजूद शीतयुद्ध जारी है और गरम युद्ध की आशंका से छोटे-बड़े सभी राष्ट्र बेचैन हो रहे हैं।

ऐसी अवस्था में शान्ति की दिशा में रूस ने जो व्यावहारिक कदम उठाये हैं और भविष्य के लिए जो प्रस्ताव किये हैं, वे अपना महत्व रखते हैं। उनका तात्कालिक परिणाम तो यह होगा कि लोगों के दिलों से कुछ अंशों में लड़ाई का डर कम हो जायगा, लेकिन यदि ये प्रयत्न सचाई के साथ जारी रहे तो निश्चय ही इनके द्वारा भविष्य में स्थायी शान्ति की बुनियाद पक्की होगी।

सर्वोदय-सम्मेलन का आगामी अधिवेशन

सूचना मिली है कि सर्वोदय-सम्मेलन का बारहवां अधिवेशन मार्च की २५, २६ और २७ तारीखों में सेवाग्राम में होगा। कुछ समय पूर्व विचार हुआ था कि विनोबाजी की उपस्थिति के लाभ के कारण सम्मेलन आगरा के निकट फतहपुर-सीकरी में किया जाय तो ठीक रहेगा, लेकिन विनोबाजी ने उस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि गांधीजी को गए बारह वर्ष हो गये, अतः सब लोगों को मिलकर लेखा-जोखा लेना चाहिए कि इन सालों में क्या-क्या काम हुआ और क्या-क्या काम होना शेष है। विनोबाजी ने सलाह दी कि इस प्रकार के विचार-विमर्श के लिए सबसे उपयुक्त स्थान सेवाग्राम ही हो सकता है।

विनोबाजी के परामर्श के अनुसार अब सम्मेलन के लिए सेवाग्राम का चुनाव किया गया है। सेवाग्राम सामान्य स्थान नहीं है, एक महान् तीर्थ है। गांधीजी के उत्सर्ग के बाद रचनात्मक कार्यकर्ताओं का वहाँ विशाल सम्मेलन हुआ था, जिसमें सर्वोदय-समाज की नींव पड़ी थी। अब बारह वर्ष बाद प्रथम बार सर्वोदय-सम्मेलन का अधिवेशन वहाँ होगा।

इन वर्षों में विनोबाजी ने भूदान को लेकर जो काम किया है, वह निस्संदेह गांधी-क्षेत्र का ही काम है और उससे गांधीजी के विचारों और आदर्शों पर लोगों की आस्था को कायम रखने में पर्याप्त सहायता मिली है; लेकिन गांधीजी की अपेक्षा से हम अभी काफी दूर हैं।

पाठक संभवतः जानते हैं कि 'सर्वोदय समाज' एक विदेह संस्था है। उसका न कोई लम्बा-चौड़ा विधान है, न नियम-उपनियम। अपने अधिवेशनों में वह बड़े-बड़े प्रस्ताव भी पास नहीं करती। उसका द्वार सभी मतों, विश्वासों और दलों के व्यक्तियों के लिए खुला है। उसकी अपेक्षा है कि देश के हित का काम सबका है और सबको उसमें योग देना चाहिए।

विनोबाजी मौलिक चिन्तक हैं और उनमें इतना साहस है कि बड़े-से-बड़ा कदम उठाने में भी वह नहीं झिझकते। भूदान का काम उन्होंने अकेले उठाया था। सारे देश में भूदान-समितियां बनीं; लेकिन हमने देखा कि एक दिन विनोबाजी ने बड़े सहज-भाव से निधि-मुक्ति और तंत्र-मुक्ति करा दी। लोगों को भय हुआ कि संगठन टूट जाने और पैसा बंद हो जाने से भूदान के कार्य में शिथिलता आ जायगी; किन्तु विनोबाजी ने तो यह क्रांतिकारी कदम एक ऊंची भावना से प्रेरित होकर उठाया था। वह भावना यह थी कि इस लोकहितकारी काम को भूदान-समितियों को ही बची, सारे देश को करना चाहिए। अब तो उन्होंने अपने संगी-साथियों को भी काम करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में भेज दिया है और 'अज्ञात-संचार' कर रहे हैं, अर्थात् अब उनके महीनों आगे के कार्यक्रम नहीं बनते और वह इनेगिने साथियों के साथ जहां चाहते हैं, वहां चले जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विनोबाजी बराबर नई-नई चीजें सोचते रहते हैं और भारी-से-भारी कदम उठा लेते हैं।

विनोबाजीजी वर्तमान मनोदशा को देखते हमें लगता है कि सर्वोदय-सम्मेलन का सेवाग्राम-अधिवेशन सामान्य अधिवेशन नहीं होगा। विनोबाजी बड़ी गम्भीरता और तीव्रता से आज की सामाजिक तथा राष्ट्रीय बुराइयों को महसूस कर रहे हैं और अपने प्रवचनों में उनका उल्लेख भी कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि देश के निवासियों को, विशेषकर रचनात्मक कार्यकर्ताओं को वह कुछ ऐसा नया कार्यक्रम देंगे, जिससे देश का नैतिक स्तर ऊंचा हो। भूदान के द्वारा उन्होंने साढ़े आठ वर्ष पूर्व एक ऐसा ही कार्यक्रम दिया था, पर मानव की चेतना तो तब संतुष्ट होती है जब उसे नित-नई चीजें मिलती रहती हैं।

इस अवसर पर हम विनोबाजी से दो अनुरोध करना

चाहते हैं: एक तो यह कि उन्हें अबतक जितनी भूमि मिली है, सम्मेलन से पूर्व उसका वितरण करा दें। भूमि का वितरण न होने के कारण आज देश में भूदान को धक्का पहुंचने के लिए एक विरोधी वातावरण बन रहा है और भोले-भाले लोगों को यह कहकर उकसाया जा रहा है कि भूदान में मिली लाखों एकड़ भूमि का शतांश भी ऐसा नहीं है, जो काम का हो। हम जानते हैं कि भूमि के बांटने में बहुत-सी कठिनाइयां आवेंगी, साधनों की जरूरत होगी, पर हमें विश्वास है कि जिस प्रभु ने भूमि को एकत्र करने की प्रेरणा दी थी, वही वितरण की शक्ति और साधन भी देगा।

दूसरा अनुरोध यह है कि विनोबाजी जिस आदर्श समाज की बात कहते हैं, उसके कुछ छोटे-मोटे नमूने दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत कर दें। मंगरौठ में बहुत पहले प्रयोग की बात सुनी थी, कोरापुट के बारे में भी जब-तब कुछ पढ़ने को मिला था, पर अब पता चल रहा है कि वहां भी काम में शिथिलता आ गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि आदर्श समाज के नमूने लोगों के सामने आवेंगे तो उन्हें कार्य करने की अधिक प्रेरणा मिलेगी।

लकीर पीटने से क्या लाभ !

कांग्रेस-का पेंसठवां अधिवेशन बेंगलोर के निकट सदाशिवनगर में श्री संजीव रेड्डी की अध्यक्षता में सम्पन्न हो गया। कांग्रेस के अधिवेशनों की बड़ी ही शानदार परंपरा रही है और इतिहास-प्रेमी जानते हैं कि आजादी से पहले के उसके कई अधिवेशनों ने आश्चर्यजनक कार्य किया। उन्होंने न केवल देशवासियों को विदेशी सत्ता से मुक्त होने की प्रेरणा दी, अपितु देश की बुनियाद को पक्का करने के लिए व्यावहारिक कार्यक्रम भी दिये।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है, मानों भारत के आजाद होने और शासन की बागडोर अपने हाथ में आ जाने के बाद कांग्रेस के पास नया कुछ देने की क्षमता नहीं रही। उसके अधिवेशन होते हैं, लेकिन सिवा सरकारी नीतियों को समर्थन देने के न कोई नई प्रेरणा मिलती है, न कोई नया कार्यक्रम। हम मानते हैं कि सरकारी नीतियों को भी लोकमत का बल मिलना आवश्यक है, पर हम यह नहीं मान सकते कि सरकारी सीमाओं से बाहर देश में अब कुछ करने को शेष नहीं रहा है। हमने कई बार लिखा है कि

क्या व कैसे ?

: ७४ :

हमारी राय

बहुत-से काम ऐसे हैं, जिन्हें सरकार अपनी मर्यादाओं के कारण नहीं कर सकती। उन्हें कांग्रेस अपने हाथ में ले सकती है। लेकिन अजादी के बाद के अधिकांश अधिवेशनों की कार्यवाही तथा प्रस्ताव देखने से पता चलता है कि लाखों की शक्ति, समय और धन का व्यय शासन की नीतियों को पोषण देने मात्र के लिए होता है। इसका परिणाम यह है कि अधिवेशनों के प्रति लोगों का आकर्षण और उत्साह बहुत ही कम हो गया है। प्रतिनिधियों तक में ऐसे व्यक्ति थोड़े ही दिखाई देते हैं, जो वहां के विचार-विमर्शों में गंभीरता-पूर्वक भाग लेते हों, अधिकांश प्रतिनिधि तो पर्यटक की भावना से जाते हैं।

यह स्थिति न सरकार के लिए हितकर है, न कांग्रेस के लिए। जब सरकार कांग्रेस की है तो यह मानी हुई बात है कि उसकी नीतियों को कांग्रेस का समर्थन प्राप्त है। उसके लिए अधिवेशन करने की आवश्यकता हमारी समझ में नहीं आती। अधिवेशन का प्रयोजन तो यह होना चाहिए कि सरकार से स्वतंत्र (विरोधी नहीं) कांग्रेस अपना कार्यक्रम देश को दे और देश की अपार जन-शक्ति को उसमें योगदान करने के लिए आवाहन करे।

इस वर्ष के अधिवेशन ने भी लकीर पीटने का ही काम किया है। सरकारी सेवाएं तेजी से काम करें, प्रशासनिक निर्णय युद्ध की-सी तत्परता के साथ कार्यान्वित किये जायें, भारत-चीन-सीमा-विवाद-संबंधी सरकार की नीति सही है, आदि-आदि प्रस्तावों में कोई नवीनता नहीं है और न ऐसी कोई बात है, जो देशवासियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सके।

आज जबकि कांग्रेस की लोकप्रियता बड़ी तेजी से कम हो रही है, कांग्रेस के कर्णधारों के लिए जरूरी है कि वे इस दिशा में गंभीरतापूर्वक सोचें और कोई नया कदम उठावें। राष्ट्र की लोकशक्ति आज कुण्ठित हो रही है, देश की तरुणाई क्रियात्मक कार्य के अभाव में अनुशासनहीन होकर सरकार और कांग्रेस, दोनों के लिए सिरदर्द बन रही है और लोक-चेतना बिना दिशा-दर्शन के उभर-उभरकर रह जाती है।

अब समय आ गया है कि कांग्रेसी नेता मौलिक रूप से चिन्तन करें और किसी ठोस कार्यक्रम का लाभ देश को दें।

कांग्रेस-अध्यक्ष के राष्ट्रभाषा-विषयक विचार

कांग्रेस के अध्यक्ष श्री संजीव रेड्डी ने कांग्रेस के अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, उनका आवश्यक अंश हम नीचे देते हैं:

“हमें स्मरण रखना होगा कि हमारे राष्ट्रीय गौरव तथा आत्म-गौरव का यह तकाजा है कि हमें अपनी एक राष्ट्रीय सामान्य भाषा का विकास करना ही होगा और वह केवल वही भाषा हो सकती है जिसे देश की अधिक-से-अधिक जनता बोलती है, अर्थात् वह हिन्दी ही होगी। अमरीका ने भी, जहां यूरोप के विभिन्न देशों की जन-जातियां बसी हैं, एक ही भाषा अर्थात् अंग्रेजी को अपनी व्यावहारिक भाषा के रूप में प्रचलित किया है। उसी तरह जबतक हम एक राष्ट्र हैं, हमारी अपनी एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए और वह भाषा हिन्दी ही होगी।”

आगे चलकर वह कहते हैं, “परन्तु हिन्दीकरण का यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं होना चाहिए और किसी प्रकार की कटुता अथवा विरोधी भावना के निशान तक पीछे छोड़ जाने की गुंजाइश भी इसमें नहीं होनी चाहिए।”

आंध्र प्रदेश की सरकार के बड़े परिमाण में सभी स्कूलों में हिन्दी सिखाने का कार्यक्रम आरंभ करने के कदम का अभिनंदन करते हुए श्री रेड्डी ने आशा व्यक्त की कि “अन्य अहिन्दी राज्य भी उस प्रकार के कार्यक्रम का शीघ्र ही अनुसरण करेंगे।”

हिन्दी की योग्यता और क्षमता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, “हिन्दी भाग्यवश आसान भाषा है और साथ ही विकासशील अंतर्निहित शक्तियों से बहुत हद तक परिपूर्ण है।”

कांग्रेस अध्यक्ष के इन विचारों का हम हार्दिक अभिनंदन करते हुए आशा करते हैं कि उनके कार्यकाल में हिन्दी की प्रगति अधिक तीव्र होगी और हिन्दी-भाषी राज्यों को विशेष रूप से सक्रिय होने की उनके द्वारा प्रेरणा मिलेगी।

आचार्य जे० सी० कुमारप्पा का निधन

पाठकों को यह सूचना देते हुए बड़ा दुःख होता है कि ३० जनवरी को आचार्य जे० सी० कुमारप्पा का देहान्त हो

(शेष पृष्ठ ७५ पर)

‘मंडल’ की ओर से

हमारी अल्पमोली पुस्तक-माला

‘जीवन-साहित्य’ के पिछले दो अंकों में हमने अपनी अल्पमोली पुस्तक-माला की जानकारी दी है और बताया है कि किस प्रकार उसकी योजना और पहले सेट की पुस्तकों का चारों ओर से स्वागत हो रहा है। पुस्तकों के स्वस्थ कलेवर, उनके सादे-सुस्वचिपूर्ण आवरण तथा बहुत ही सस्ते मूल्य ने सभी वर्गों के पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। केन्द्रीय-शिक्षा मंत्रालय के संयुक्त सचिव और सत्साहित्य के अनन्य प्रेमी श्री रमाप्रसन्न नायक लिखते हैं :

“पुस्तकों की सामग्री का चुनाव सचमुच ही बहुत सावधानी से किया गया है और उनकी छपाई साफ एवं शुद्ध है। हिन्दी के पाठकों को इतनी अच्छी पुस्तकें इतने कम मूल्य पर देने के लिए बधाई।”

हिन्दी के अनेक सम्माननीय पत्रों ने इस योजना की सराहना करते हुए माला की पुस्तकों की विस्तृत समीक्षा करते हुए लिखा है :

‘दैनिक हिन्दुस्तान’, नई दिल्ली

“इस माला का उद्देश्य हिन्दी में कम मूल्य पर उत्कृष्ट साहित्य जनता के लिए उपलब्ध करना है।”

(पृष्ठ ७४ का शेष)

गया, वह काफी दिनों से अस्वस्थ थे और उनका विछोह अप्रत्याशित नहीं है, फिर भी उनके जाने से एक ऐसा स्थान रिक्त हुआ है, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

कुमारप्पाजी गांधीजी की अर्थ-शास्त्र-संबंधी विचार-धारा के प्रमुख व्याख्याता थे। उनके द्वारा ग्रामोद्योगों के पक्ष को बड़ा प्रोत्साहन मिला। वर्षों तक उन्होंने अ० भा० ग्रामोद्योग संघ का अत्यन्त कुशलतापूर्वक संचालन किया।

‘भारत’, इलाहाबाद

“...सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर अधिक-से-अधिक उपयोगी एवं रोचक पुस्तकें पाठकों को मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। यह प्रसन्नता की बात है कि ‘मंडल’ ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए ‘सत्साहित्य अल्पमोली संस्करण माला’ की नई योजना बनाई है।”

‘दैनिक विश्वमित्र’, कलकत्ता

“अल्पमोली संस्करण में बहुत-से उत्तम साहित्य का अभी हाल में ही प्रकाशन किया गया है, जो सुन्दर और पायेदार बना है।”

पहले सेट में ये सात पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं :

१. दशरथ-नंदन श्रीराम
२. गांधी की कहानी
३. इंग्लैंड में गांधीजी
४. अठारहसौ सत्तावन
५. आंसू और मुस्कान
६. अमृत की बूंदें
७. कोई शिकायत नहीं।

इन सबका मूल्य केवल दस रुपये है। इन तथा ‘मंडल’ की अन्य पुस्तकों की मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से कीजिये। यदि उनके यहां न मिलें तो दस रुपये हमें भेजकर घर-बैठे इन पुस्तकों को प्राप्त कर लीजिये। उन्हें भेजने का खर्च ‘मंडल’ वहन करेगा।

—मंत्री

कुमारप्पाजी उच्च कोटि के लेखक भी थे। उनके लेखों तथा पुस्तकों के अध्ययन से पता चलता है कि उनका अर्थशास्त्र का ज्ञान कितना गहन-गंभीर था और उनकी बुद्धि कितनी कुशाग्र थी।

कुमारप्पाजी का जीवन नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा-दायक रहे, ऐसी हमारी प्रार्थना है। उनके परिवार के प्रति हम अपनी हार्दिक समवेदना अर्पित करते हैं।

—य०

पत्रादि के शीघ्र वितरण में हमारी मदद कीजिए

हिमांशु जोशी,

के/३६ लाजपत नगर,

नई दिल्ली

१४

पते में

जोन नम्बर

लिखना न भूलिये

लगभग सभी बड़े शहर डाक वितरण के लिए इलाकों या जोनों में बांट दिये गये हैं।

ऐसे इलाकों की चिट्ठियों के छांटने का काम भी अलग अलग डाकखानों में किया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था से डाकियों को कम फासला तय करना पड़ता है और लोगों की चिट्ठियां जल्दी मिल जाती हैं। जिन पत्रों पैकेटों, आदि पर जोन नम्बर लिखा होता है उन्हें सीधे ही उसी जोन के वितरण-डाकघर में भेज दिया जाता है।

ऐसे पत्रों की छंटाई जिन पर जोन नम्बर नहीं होता, तेजी से नहीं हो पाती और उन में बेरी की संभावना बढ़ जाती है। यदि आप ऐसे शहर में रहते हैं जो जोनों में बांटा है तो अपने पत्र भेजने वालों को बता दीजिए कि वे पते में जोन नम्बर अवश्य लिखा करें।



हमें उत्तम सेवा का अवसर दीजिए

डाक - तार विभाग

DA 59/348

द्वारा प्रकाशित !

महात्मा गांधी (चित्रावली)

गांधीजी के जीवन सम्बन्धी ३०० चित्रों का आर्ट पेपर पर छपा बहुमूल्य संकलन

आमुख : राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद

आकार : १३" × ६ १/२" मूल्य : १० रु०, डाक खर्च : २.५० नये पैसे

पब्लिकेशन्स डिवीजन,

ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली ८

शाखाएं : कलकत्ता, बम्बई, मद्रास



साहित्यिक सांस्कृतिक कलात्मक मासिक

राष्ट्रवाणी

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे द्वारा प्रकाशित यह मासिक पत्रिका हिंदी की सम्मानित मासिक पत्रिकाओं में अपना एक विशेष स्थान रखती है। हिंदी, मराठी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों का सहयोग इसके लिए प्राप्त है। भारतीय भाषाओं के साहित्य के नवीनतम अंतः-प्रवाहों का प्रतिबिम्ब इसमें पाया जाता है। ग्रंथालयों, विद्यालयों, कॉलेजों और साहित्यिक संस्थाओं के लिए अत्यंत उपयुक्त।

किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं। हर महीने की पहली तारीख को अंक प्रकाशित होता है।

[सालाना चंदा चार रुपये]

‘राष्ट्रवाणी’ में विज्ञापन देना लाभप्रद है।

राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ

पो. बाँ. ५६०, पुणे २.

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

पुस्तक जगत

(मासिक)

* ‘प्रकाशन कला’, ‘भारत भारती’, विश्व भारती, ‘कसौटी’ और ‘वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण’ आदि सुगठित स्तम्भों में विशिष्ट साहित्यकारों की विवेचना।

* विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन।

* प्रकाशक, लेखक, पाठक और विक्रेता का सम्मिलित मंच।

मूल्य : वार्षिक—३)

अंक २५ न० पें०

‘पुस्तक जगत’, ज्ञानपीठ, पटना-४



सीमित आय बढ़ती हुई जरूरतें बचत हो तो कैसे?

बढ़ने वाली
सावधिक जमा
योजना

आपकी आवश्यकताओं
के अनुकूल

(विस्तृत जानकारी किसी भी
डाकघर से प्राप्य)

यह समस्या दीखने में भले ही कठिन हो, पर आसानी से हल भी हो सकती है। आप स्वयं यह कर सकते हैं। महीने भर का अपना बजट सोच-समझ कर बनाइये, जो खर्चे जरूरी नहीं हैं, उन्हें निकाल दीजिए। इस तरह जो भी थोड़ा बहुत आप बचा सकें, नियमित रूप से बचाइये। थोड़े वर्षों बाद आप देखेंगे कि आपने एक बड़ी रकम इकट्ठी करली है जिससे आपके भविष्य की आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं।

बचाइये और राष्ट्र निर्माण में धन लगाइये



राष्ट्रीय बचत संगठन

वार्षिक : ७ रु० [रसवंती] छमाही : ४ रु०

साहित्य, संस्कृति और कलाप्रधान मासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक

डा० प्रेमनारायण टंडन, पी०-एच० डी०

प्रति वर्ष १००० पृष्ठों में प्रकाशित सुशुचिपूर्ण रचनाएँ। वर्ष में दो विशेषांक—फरवरी १९६० में 'काव्यकला अंक' और अगस्त १९६० में 'साहित्य में हास्य और विनोदांक' विशेषांक। प्रथम विशेषांक का मूल्य तीन और द्वितीय का चार रुपए; परन्तु वार्षिक शुल्क केवल सात रु० और छमाही शुल्क केवल चार रुपए।

अगस्त, १९५९ का विशेषांक 'पाण्डेय स्मृति-अंक' हिन्दी जगत को 'रसवंती' की एक महत्वपूर्ण देन मानी गई है।

नमूने का अंक साठ नये पैसे मिलने पर ही भेजा जाता है।

पता—'रसवंती'-कार्यालय,

विद्या मंदिर, रानीकटरा, लखनऊ।

सम्पदा का...चिर प्रतीक्षित विशेषांक

सहकारी कृषि अंक

१५ अगस्त १९५९ को

प्रकाशित हुआ है।

● अपूर्व सूचनात्मक और विचारपूर्ण सामग्री

● 'सम्पदा' के विशेषांकों की परम्परा में एक और कड़ी

मूल्य १.५०
डाक व्यय ०.१२

सम्पदा—अशोक प्रकाशन मन्दिर

२८/११ शक्तिनगर, दिल्ली—६

'आर्थिक-समीक्षा'

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनीतिक

अनुसंधान विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान सम्पादक :

श्री सादिक अली

सम्पादक :

सुनील गुहा

१६ जनवरी १९६० को बृहदाकार

बंगलौर कांग्रेस अधिवेशन

विशेषांक

प्रकाशित हो रहा है।

नेताओं एवं विशेषज्ञों के विद्वत्तापूर्ण लेखों से ओत-प्रोत

वार्षिक चंदा ७) रु० एक प्रति का ३० नये पैसे

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,

७, जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली

सबसे सस्ता और सुन्दर सचित्र मासिक

जागृति

(संस्थापित १९४८)

चौरंगा आवरण : अढ़ाई दर्जन इकरंगे चित्र

६८ पृष्ठ की सम्पूर्ण छपाई आर्ट पेपर पर

मूल्य केवल २५ नये पैसे

फरवरी अंक के मुख्य आकर्षण

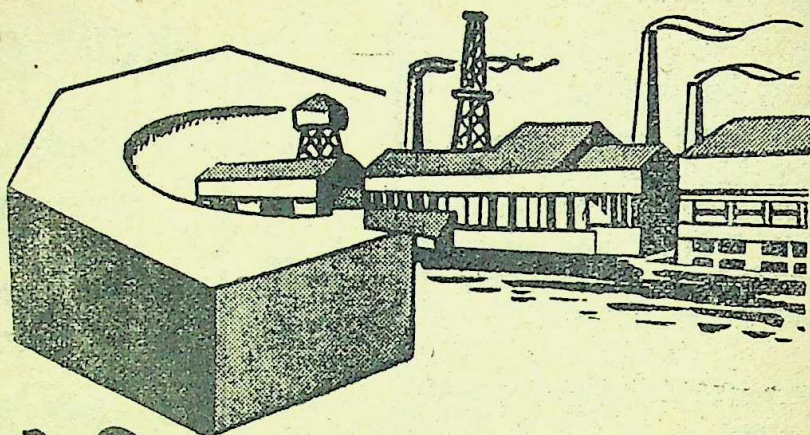
विष्णु प्रभाकर, शैलेस मटियानी, भगवतशरण उपाध्याय, अक्षयामेश्वरी, संतराम, सुखवीर, रामचन्द्र शुक्ल, विद्यावती मिश्र, 'बटुक' सुजानसिंह, रंगनाथ राकेश, बसंत प्रभा, सन्हायलाल ओझा के लेख, कविताएँ व कहानियाँ आदि।

एजेन्टों को ५ से १०० प्रतिशत पर २५ प्रतिशत और इससे ज्यादा पर ३३ १/३ प्रतिशत कमीशन दिया जाता है। डाक खर्च प्रकाशकों के जिम्मे। नमूने की प्रति के लिए आज ही लिखें।

सम्पादक (हिन्दी)

लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब सिविल सेक्रेटेरियट,
चंडीगढ़।

और उद्योगों में भी



मेट्रिक की शुरुआत

१ अक्टूबर, १९५८ से मेट्रिक प्रणाली का आरम्भ हुआ था, तब से अनेक उद्योगों जैसे कि पटसन, लौह व इस्पात, वस्त्र, सीमेण्ट, कागज, नमक, इंजीनियरी, कॉफी, अलौह धातुओं, कच्चे खर आदि, ने मेट्रिक माप-तौल को अपनाना शुरू कर दिया था। तब से इस दिशा में और भी प्रगति हो रही है।

कारियल रेडो के उद्योग में मेट्रिक प्रणाली अपनाने की अक्टूबर, १९५९ से अनुमति दे दी गई थी, चीनी उद्योग ने इस प्रणाली का प्रयोग १ नवम्बर १९५९ से आरम्भ कर दिया।

अप्रैल, १९६० से इस काम में और भी गति आ जायेगी जब वनस्पति और रंग-रौगन उद्योग भी मेट्रिक प्रणाली अपना लेंगे।

१ अप्रैल, १९६० से पेट्रोल और पेट्रोल की वस्तुओं का समूचा वितरण लिटरों और मेट्रिक इकाइयों में ही होगा।



इस दिशा में एक और भी महत्वपूर्ण कदम अगस्त १९६० से उठाया जायेगा जब कस्टम और सैण्ट्रल एक्साइज विभाग भी मेट्रिक प्रणाली अपना लेंगे।

अपनाइये मेट्रिक प्रणाली

सरलता व एकरूपता के लिए
भारत सरकार द्वारा प्रसारित

डी ए ५६/४३२

१६५६ के

हमारे नवीन प्रकाशन



१. दशरथनंदन श्रीराम	—राजाजी ५.००	१२. अमृत की बूंदें	—सम्पा० आनंदकुमार १.००
२. कथा सरित्सागर	—सोमदेव ६.००	१३. पक्षियों की दुनिया	—सुरेशसिंह १.५०
३. खाद और उसके उपयोग	—शंकरराव जोशी ३.००	१४. आंसू और मुस्कान	—खलील जिब्रान १.००
४. खेती के साधन	—ना. दु. व्यास १.२५	१५. ज्ञान की गरिमा	—बलदेव उपाध्याय २.००
५. परमहंस की कथाएं	—महावीरप्रसाद पोद्दार १.५०	१६. आकाश-दर्शन	—छोटूभाई सुथार २.००
६. नये जीवन की ओर	—शिवचन्द्र दत्ता १.००	१७. मैं इनका ऋणी हूँ	—इंद्र विद्यावाचस्पति २.००
७. क्रामोद्योग	—शोभालाल गुप्त १.००	१८. तूफान और ज्योति	—सुमतिदेवी धनवटे २.५०
८. सहकारी समाज	—बैजनाथसिंह १.००	१९. कोई शिकायत नहीं	—कृष्णा हठीसिंग २.५०
९. शेख फरीद	—टीकाकार वियोगी हरि ०.३५	२०. धान की खेती	—राजदेव त्रिपाठी १.००
१०. स्वामी दादूदयाल	” ०.३५	२१. नैषध चरित	—श्रीहर्ष ०.३७
११. कबीरदास	” ०.५०	२२. शारदीया	—जगदीशचंद्र माथुर १.५०

समाज-विकास-माला की पुस्तकें : मूल्य, प्रत्येक का ३७ न. पं.।

२३. नन्हा अबाबील	२४. स्वामी विवेकानन्द	२५. आपभला जगभला	२६. नासिक
२७. सूर के पद	२९. संत वेमन्ना	२९. आराम हराम है	३०. गोरा-बादल
३१. पाटलिपुत्र	३२. महर्षि अगस्त्य	३३. शेख सादी	३४. दानवीर कर्ण
३५. गोदावरी	३६. कुम्हार की बेटो	३७. नर्मदा	३८. शंकराचार्य
३९. अमरनाथ	४०. महारानी अहिल्याबाई	४१. पढ़ेंगे-लिखेंगे...	४२. कोणाक

प्रेस में

१. कुछ पुरानी चिट्ठियां	—जवाहरलाल नेहरू	७. संघर्ष नहीं सहयोग	—क्रोपाटकिन
२. आसन	—धर्मचंद सरावगी	८. बापू की कारावास-कहानी	—सुशीला नैयर
३. मनुष्य का वचन	—देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	९. भारत-विभाजन की कहानी	—ए. के. जानसन
४. मैथिली लोक-कथाएँ	—भगवानचंद्र 'विनोद'	१०. राजाजी की लघु कथाएँ	—राजगोपालाचार्य
५. रूस में छियालीस दिन	—यशपाल जैन	११. सुभाषित सप्तशती	—मंगलदेव शास्त्री
६. हिंदुस्तान की कहानी (संपूर्ण)	—जवाहरलाल नेहरू	१२. जानवर-जगत	—सुरेशसिंह

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

धान की खेती

राजदेव त्रिपाठी

हमारा
नवीन
प्रकाशन



सरन्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

कृषि-साहित्य
की
उपयोगी
कृति

इस पुस्तक में लेखक ने बताया है कि धान की उत्तम खेती किस प्रकार की जा सकती है और धान का उत्पादन बढ़ाने के लिए क्या-क्या अन्य वस्तुएँ आवश्यक हैं। महत्वपूर्ण सामग्री, बढ़िया छपाई, अनेक चित्र, फिर भी मूल्य केवल एक रुपया।

सरन्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली



मार्च १९६०

जीवन

साहित्य

सम्पादक

हरिभाऊ उपाध्याय

यशपाल जैन



गणेशशंकर विद्यार्थी

गणेशशंकर विद्यार्थी की मृत्यु हम सबकी
स्पर्धा के योग्य थी । . . . वह मरे नहीं हैं ।
आज वह तबसे कहीं अधिक सच्चे रूप में
जी रहे हैं, जब हम उन्हें भौतिक शरीर में
जीवित देखते थे और पहचानते न थे ।

—मो. क. गांधी

नवरचना का मासिक

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

एक प्रति की : चालीस नये पैसे

अहिंसक

वर्ष : इक्कीस

अंक : तीन

विषय-सूची

- | | | | |
|--|----------------------------|------------------------------|-----------------------|
| १. शिक्षकों से | --विनोबा ८१ | ८. सत्य की पहली सीढ़ी मानवता | --ब्रजबिहारी निगम १०० |
| २. धर्मों का कायाकल्प | --काका कालेलकर ८४ | ९. प्रत्ययों की रानी 'ई' | --माईदयाल जैन १०१ |
| ३. गांधीवादी अर्थशास्त्री कुमारप्पा | --अखिल विनय ८८ | १०. सत्याग्रही कुमारप्पा | --प्रभाकर जोशी १०३ |
| ४. धुआं क्यों नहीं उठता ? | --शिवनारायण उपाध्याय ९१ | ११. एक गिलास पानी | --चन्द्रशेखर दुबे १०४ |
| ५. विश्वराजनीति के क्षितिज पर नया अंधकार | --नेमिशरण मिश्र ९२ | १२. लोकगीतों में वर का आदर्श | --जुगमन्दिर तायल १०५ |
| ६. नियति-चक्र | --रामचरण ह्यारण 'मित्र' ९४ | १३. बंदी का संदेश | --महात्मा रूमी १०७ |
| ७. विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता | --एन. नारायणन ९५ | १४. कसौटी पर | --समालोचनाएं १०८ |
| | | १५. क्या व कैसे ? | --सम्पादकीय ११३ |
| | | १६. 'मंडल' की ओर से | --मंत्री ११७ |

'जीवन-साहित्य' के स्वामित्व तथा अन्य व्यौरे के विषय में

- | | |
|---|---|
| १. प्रकाशन का स्थान | कनाँट सरकारस, नई दिल्ली |
| २. प्रकाशन की अवधि | मासिक |
| ३. मुद्रक का नाम | न्यू इण्डिया प्रेस, |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | कनाँट सरकारस, नई दिल्ली |
| ४. प्रकाशक का नाम | मार्तण्ड उपाध्याय |
| राष्ट्रीयता | भारतीय |
| पता | सस्ता साहित्य मंडल, कनाँट सरकारस, नई दिल्ली |
| ५. सम्पादक का नाम | हरिभाऊ उपाध्याय |
| राष्ट्रीयता | यशपाल जैन |
| पता | भारतीय |
| ६. उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयरों होल्डरों के नाम और पते जो पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हैं। | सस्ता साहित्य मंडल, कनाँट सरकारस, नई दिल्ली |
| मैं, मार्तण्ड उपाध्याय, इसके द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर जो व्यौरे दिये गए हैं वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं। | सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली |

(ह०) मार्तण्ड उपाध्याय
प्रकाशक

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा बिहार राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवनसाहित्य

वर्ष २१]

मार्च, १९६०

[अंक ३]

शिक्षकों से

विनोबा

जब इंसान का दिमाग ठंडा और दिल गर्म रहता है, तब वह तरक्की करता है। दोनों ठंडे हों, तो सारा मामला ठंडा हो जायगा और दोनों गर्म हों तो सबकुछ जल ही जायगा। पुरानी पीढ़ी के लोगों के दिल और दिमाग, दोनों ठंडे होते हैं और नई पीढ़ी के दोनों गर्म होते हैं। इसलिए इनका मामला भी ठीक नहीं रहता और उनका भी नहीं। दोनों के बीच बेहद फासला हो जाता है। होश भी हो और जोश भी हो। होश तब होता है, जब दिमाग ठंडा रहता है और जोश तब होता है, जब दिल गर्म होता है। इसलिए पुरानी पीढ़ी का ठंडा दिमाग और नई पीढ़ी का गर्म दिल, दोनों इकट्ठा हो जाय तो समाज की तरक्की की रफ्तार बहुत बढ़ेगी और दोनों के बीच का फासला कुछ कम हो जायगा।

सवाल यह है कि यह कैसे सधे। पुरानी पीढ़ी को यह हरगिज नहीं सधेगा। कोशिश करने पर भी वे अपने दिल को गर्म नहीं कर सकेंगे। बूढ़ों का दिमाग ठंडा होता है और आखिर में जिस्म भी ठंडा पड़ जाता है। इसी तरह नई पीढ़ी को अपना दिमाग ठंडा रखना मुश्किल मालूम होता है। यह उस्तादों का काम है कि पुरानी पीढ़ी का दिमाग और नई पीढ़ी का दिल, दोनों को जोड़ दें। दुनिया को और समाज को उस्तादों की यही जरूरत है। अगर उस्ताद न रहे तो पुरानी और नई पीढ़ी को जोड़नेवाला कोई नहीं रह जायगा। उस्तादों पर यह जिम्मेवारी है कि

पुरानी पीढ़ी के तजुरबे नई पीढ़ी के पास पहुंचा दें और नई पीढ़ी का जोश कायम रखें।

हमारी हालत यह है कि हम पहले से आज तक विद्यार्थी भी रहे और लगभग शुरू से आज तक उस्ताद भी रहे हैं। दोनों रिश्ते हममें इकट्ठा हुए हैं। हम हर रोज कुछ-न-कुछ सीखते ही रहते हैं। कई जबानें, कई विद्याएं, कई शास्त्र हमने सीखे हैं और अब भी सीखते रहते हैं। जैसे सीखते रहते हैं, वैसे ही सिखाते, समझाते भी रहते हैं। समाज को रोज नई-नई चीज देते रहते हैं। अगर समाज को कोई नई चीज नहीं दी तो हमें महसूस होता है कि हम क्यों जीयें? आज के दिन के लिए अपने पास नया विचार होना चाहिए, यह मेरा तजुरबा है।

मैं उस्तादों को यह समझाना चाहता हूं कि मेरे तजुरबे से फायदा उठायें। उस्तादों को खुले आसमान में खूब घूमना चाहिए। कोई उस्ताद कहे कि मैं रोज दस मील घूमता हूं तो मेरी तसल्ली होगी और मैं कहूंगा कि यह अच्छा उस्ताद है।

तुलबाओं (विद्यार्थियों) को पढ़ाने के लिए उस्ताद को भी कुछ पढ़ना चाहिए और जितना पढ़ा, उससे दस गुना सोचना चाहिए। सोचने के लिए सबसे ज्यादा मदद अगर किसीसे मिलती है तो आसमान से। कुरानशरीफ में और उपनिषदों में आया है कि दुनिया की सबसे बड़ी जीनत, शोभा जो है, वह आसमान में देखने को मिलती है। कुरान-

शरीफ में सात आसमानों का जिक्र है। जो पहला आसमान है, वह बहुत दूर है। शायद ही कोई शख्स होगा, जिसका दिमाग वहां पहुंचेगा। लेकिन नजदीकवाला जो आसमान है, उसका मर्जा और मदद हमें मिलती है। आसमान से खूब नये-नये विचार मिलते हैं, यह हमारा तजुरबा है। इसलिए हमें कभी गुस्सा नहीं आता। कभी हमें ऐसा लगता है कि अब क्या किया जाय, तब हम घूमने चले जाते हैं। किसीकी जिन्दगी में कोई दुःख हो, किसीसे बनती नहीं हो, किसी वजह से दिल में सुकून, शान्ति न हो, तो घूमने निकल पड़ो और ज़रा खलकत में जाकर देखो। खुले आसमान से दिल प्रसन्न हो जाता है, नये-नये विचार सूझते हैं और दिल में भरे हुए सारे गलत खयाल वहां से भाग जाते हैं। आसमान के साथ ताल्लुक एक बहुत बड़ी बात है। इसलिए आप रोज समाज से ज़रा दूर घूमने जाइये। आठ-दस मील घूमना तो मामूली बात होनी चाहिए।

जिस तरह तस्वीर खींचनेवाला तस्वीर खींचने के लिए नजदीक जाता है, लेकिन ज़रा दूर जाकर देखता है, तब उसे पता चलता है कि तस्वीर में क्या खूबियां, क्या खामियां हैं और कहां, क्या फर्क करना जरूरी है। उसी तरह उस्तादों को समाज की सेवा करनी है, लेकिन चिंतन के लिए ज़रा दूर जाना चाहिए।

उस्तादों का काम है कि तुलबा (विद्यार्थी) की सेवा करें, बुजुर्गों के तजुरबे उनके पास पहुंचावें। लेकिन तुलबा उन पुरखों से बंध न जायें, यह भी देखना होगा। नहीं तो हमारे पुरखाओं ने जो कहा, उससे हम एक कदम भी आगे जाने के लिए तैयार नहीं हैं, ऐसी हालत हो जायगी। किसीके दिमाग पर किताबों का बोझ पड़ा हो उससे बदतर बोझ कोई नहीं हो सकता है। अल्लाह ध्वाये उन्हें! अभी हम अपने साथियों से चर्चा कर रहे थे कि हम अपना सामान कंधे पर उठाते हैं, किन्तु सिर पर क्यों नहीं उठाते? किसीने जवाब में कहा कि सिर पर बोझ उठाने से दिमाग पर बोझ पड़ता है। मैंने कहा कि सामान का बोझ सिर पर उठाये तो दिमाग उतना ही दबेगा जितना किताबों के बोझ से दबेगा। फलानी किताब अच्छी है तो पढ़ो, लेकिन उसका बोझ क्यों उठाते हो? पुराने लोगों ने जो तजुरबे किये, वे ही अगर तुम्हें और हमें करने होते तो भगवान यह जन्म

क्यों देता? अगर कोई नई चीज करने को बाकी नहीं होती तो वह हमें जन्म ही नहीं देता। लेकिन उसने हमें जन्म दिया है और आगे भी बच्चे जन्म लेनेवाले हैं तो हमें नई चीज खोजनी ही चाहिए। पुराने तजुरबों का फायदा जरूर उठाना चाहिए। नहीं तो युक्लिड ने जो खोजें कीं, वे सब हमको फिर से करनी पड़ेंगी। यह तो हद दर्जे की जहालत, मूर्खता होगी, हमें वह नहीं करनी है। पुराने लोगों से हम एक कदम भी आगे न बढ़ें, यह गलत है।

एक मुसलमान भाई बड़ी श्रद्धा से कुरानशरीफ पढ़ते थे। वह उसके मानी नहीं जानते थे और न जानने की जरूरत ही महसूस करते थे। उनके गुरु ने उन्हें मन्त्र दिया था कि कुरान पढ़ो। फिर और कुछ पढ़ने की जरूरत नहीं है। जो पढ़ते हो, उसके मानी भी जानने की जरूरत नहीं है। कुरान बस है। उसके इपतेदाह (आरम्भ) में 'बिस्मिल्लाहिरहमानिररहीम' आता है और आखिर में 'अभ्यास-' आता है। शुरू में 'ब' और आखिर में 'स', तो 'बस' हो गया। इससे ज्यादा जानने की कतई जरूरत नहीं है। मुल्ला भी यही कहता है और वेद पढ़नेवाला भी यही कहता है। कुरान के 'सूरेजुमा' में गधे की मिसाल दी है, जिसपर किताबें लादी हुई हैं। जो किताबों का बोझ उठाता है, लेकिन उस पर अमल नहीं करता, उसको गधे की मिसाल लागू होती है। इंसान को किताबों की मदद जरूर होती है, लेकिन उस मदद की भी एक हद होती है। हम उस हद से ज्यादा उसमें फंस गये तो खत्म हो जाते हैं। फिर तो यही कहना पड़ता है कि 'किताबें डाल पानी में। पकड़ दस्तू फरिश्तों का।' 'गुलाम उनका कहाता जा' के बदले हम कहते हैं 'साथी उनका कहाता जा।' यह जो विचारों की गुलामी है, उससे बदतर कोई गुलामी नहीं हो सकती। इसलिए हमें अपना दिल और दिमाग बिल्कुल आजाद रखना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि पुराने तजुरबों का फायदा न उठाये। पर उससे चिपकें नहीं, बंधे नहीं।

यह सब करना उस्तादों का काम है। उसके लिए उन्हें ज़रा दूर जाकर देखना चाहिए। उसीके लिए आसमान में घूमना चाहिए। अपना जो कुछ काम चलता है, उसे भूलकर, ताजा दिमाग लेकर घूमने जाइये। अपना घर, बच्चे, स्कूल, इम्तहान, पाठ्य-पुस्तकें आदि सब भूल जाइये।

शिक्षकों से

एक दफा अपने सारे लेबल छोड़कर घूमने निकलिये। मैं किसीका बाप, किसीका उस्ताद, किसीका किरायेदार, यह सब छोड़िये और सिर्फ 'मैं हूँ' इतना ही याद रखिये। मैं 'फलां हूँ', यह सब फलानापन पटक दीजिये, 'मैं हूँ' इतना लेकर आसमान में घूमिये। दुनिया में इंसान के पांव में यह एक जंजीर, बड़ी कसकर बांधी हुई है, जो उसे इधर-उधर जाने नहीं देती, सोचने नहीं देती, कुछ भी करने नहीं देती है। इसलिए इन सबसे जरा दूर जाइये। घर-संसार से, सियासत से और इस जिस्म से भी अलग होकर देखिये, तब पता चलेगा कि 'मैं कौन हूँ, मेरा रूप क्या है?' जबतक हमने नहीं पहचाना कि मैं कौन हूँ तबतक हम तालिबिल्म (विद्यार्थी) भी नहीं बन सकते हैं तो उस्ताद क्या बनेंगे? इसलिए आप इसपर गौर कीजिये कि मैं कौन हूँ। 'फलाने' का बोझ सिर पर रहेगा तो काम नहीं होगा। जबतक तुम खुद को नहीं पहचानते हो, तबतक क्या 'टीचते' हो? मैं कौन हूँ, यह सोचो और 'मैं' पर जितने पर्दे आ गये हैं, उन सबको हटा दो! दुनिया के झमेलों से, जिम्मेवारी से जरा अलग होकर अपनेको 'पहले आसमान' में ले जाने की बात मैं नहीं कर रहा हूँ, वहां तो सिर फूट जायगा, बल्कि मैं तो कहता हूँ कि अपनेको नजदीकवाले आसमान में ले जाओ।

आप कहेंगे कि यह विनोबा हमपर क्यों नाहक जिम्मेवारी डाल रहा है। हमारे लिए तो सब ऊपर से लिखकर आता है कि क्या पढ़ाना, कितना पढ़ाना। हफ्ते में पंद्रह घंटे अंग्रेजी, बारह घंटे गणित, नौ घंटे इतिहास, भूगोल—यह सारा तय होकर आता है और आखिर उसीके मुताबिक विद्यार्थियों की परीक्षा भी लेनी होती है? शिक्षण मंत्री से बात करते हुए मैंने कहा था :

“आपको किसने बताया कि विद्यार्थियों की परीक्षा लेनी होती है। परीक्षा तो उस्तादों की लेनी होती है, विद्यार्थियों की नहीं। विद्यार्थी फेल नहीं हाता है। उस्ताद फेल होता है। एक विद्यार्थी बारह साल की उम्र में आपके पास आया, सालभर आपके पास पढ़ा और तेरह साल का बना तो वह पास ही है। अगर वह ग्यारह साल का हुआ होता; तब फेल होता ! लेकिन वह बढ़ गया, उसका दिमाग बढ़ गया, हड्डियां, जिस्म मजबूत हुए, इस हालत में उसकी परीक्षा क्या लेनी है? परीक्षा तो उस्तादों की लेनी है।”

भारतन् कुमारप्पा हमारे साथ जेल में थे। मैंने एक दफा उनसे पूछा कि क्या आप रात में कभी ख्वाब देखते हैं। उन्होंने कहा : 'कई बार देखता हूँ। मेरे दिल में कतई शुबहा नहीं है कि अब कोई मेरा इस्तहान लेनेवाला है। लेकिन ख्वाब में मैं यही देखता हूँ कि मैं इस्तहान दे रहा हूँ। पेपर कैसे लिखा जाय, इसकी फिक्र है। सामने जांचनेवाले खड़े हैं। यह मुझे दहशत है। फिर मैं जाग जाता हूँ तो फिक्र खत्म होती है। बचपन में परीक्षा की जो दहशत बैठ गई, उसका दिल पर अभी तक असर है।’

अब मैं शिक्षकों से अपने मिशन की बात कहना चाहता हूँ।

इस विज्ञान के जमाने में छोटे-छोटे सियासी विचार नहीं चल सकेंगे, इसलिए हमारी यही कोशिश है कि राजनीति की जगह लोकनीति लाई जाय। वह कैसे लाई जाय, यही सवाल है। बहिश्त का वर्णन तो सभी करते हैं, लेकिन बहिश्त तक पहुंचने के लिए सीढ़ी कहां है? हमारे विचारों को समझनेवाले अक्सर यही कहते हैं कि ये विचार अच्छे हैं। याने उसके अच्छे होने में किसीको शुबहा नहीं है, लेकिन क्या ये 'प्राॅक्टिकल' (व्यवहार्य) है, आज की हालत में क्या वे अमल में लाये जा सकते हैं? यही सवाल पेश होता है। जबसे 'सर्वोदय' शब्द निकला, तभी से लोगों के मन में यह था कि यह शब्द, विचार अच्छा है, लेकिन शायद चलनेवाला नहीं है। हमारे आठ साल के काम का नतीजा यह हुआ कि लोगों के दिल में थोड़ा शक पैदा हुआ है कि शायद यह विचार कुछ अमल में भी लाया जा सकता है।

हमारी यात्रा में आस्ट्रेलिया के एक भाई आये थे। उनसे हमने कहा कि जमीन की मालकियत किसीकी भी नहीं हो सकती, यही भूदान-यज्ञ का बुनियादी उसूल है। हवा और पानी की तरह जमीन भी सबकी है। भूदान-यज्ञ के मानी है आस्ट्रेलिया की जमीन पर चीन का और जापान का हक ! मेरी यह बात सुनकर वह भाई खुश हुआ ! लेकिन उसने पूछा कि क्या ऐसा होगा? क्या हमारे आस्ट्रेलियावाले इसे कबूल करेंगे ? मैंने जवाब दिया कि वे कबूल करेंगे या नहीं, यह आपको देखना होगा। लेकिन यह समझ लीजिये कि अगर यह बात कबूल नहीं हुई तो विज्ञान के

• (शेष पृष्ठ ९८ पर)

काका कालेलकर

धर्मों का कायाकल्प

उपनिषद्-काल की बात है। ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर या भगवान् के नाम से लोग जिस तरह की उपासना करते थे, और अपने जीवन को बनाते थे और समाज का संगठन करते थे उससे असंतुष्ट होकर, तंग आकर चन्द ऋषि-मुनियों ने खूब सोचा, चिन्तन किया, जीवन के नये-नये प्रयोग किये, मन को शुद्ध किया, बुद्धि को तेज किया और जीवन को उन्नत किया। ऐसी उग्र जीवन-साधना के अन्त में, ब्रह्म का, सच्चा स्वरूप उनके ध्यान में आ गया। तब जाकर उन्होंने पुकार-पुकारकर कहा कि, “भले आदमी तुम आज तक जिसकी उपासना करते आये हो वह सचमुच ब्रह्म नहीं है। उसे छोड़ दो। गलत रास्ते से निकलकर सच्चे रास्ते पर आ जाओ। हमने परम उपास्य परब्रह्म के सच्चे स्वरूप को पहचान लिया है। तुम भी उसे समझ लो और अपने जीवन को कृतार्थ करो।”

हजारों बरसों के बाद फिर वही परिस्थिति मानव-समाज के सामने खड़ी हुई है। धर्म के नाम पर इतनी गलतफहमियाँ फैल गई हैं, इतना दुराचार चल रहा है, जीवन का इतना दुर्व्यय हो रहा है और मानवता इतनी गुमराह हुई है कि कई सज्जन धर्म का नाम सुनते ही अस्वस्थ हो उठते हैं। और ‘जिसने मनुष्य-जाति को बरबाद करने का बीड़ा उठाया है ऐसे धर्म को नेस्तनाबूद करने के लिए’ कमर कस रहे हैं।

उपनिषद् के ऋषियों में और इन लोगों में एक ही बड़ा फर्क है। बुरी चीज को हटाने के लिए जिहाद पुकारने के पहले उन्होंने सच्ची चीज ढूँढ़ निकाली और लोगों के सामने उसे धर दिया। लोगों ने सच्ची चीज और नकली चीज—दोनों को देख लिया, परख लिया और प्रत्यय होने पर अच्छी ले ली। लोगों को सिर्फ कहना कि जो चला रहे हो अच्छी चीज नहीं है; जिस रास्ते जा रहे हो वह गलत है, बस नहीं है। उसपर किसीका विश्वास नहीं बैठता।

पुराने लोगों ने जो खोज की, उसमें अन्तिम सत्य के तौर पर उन्होंने आत्मा को और परमात्मा को पाया। और आत्म-शक्ति को बढ़ाकर मनुष्य को परमात्मा की ओर ले जाने के

लिए धर्म का विधान किया।

लेकिन वह खोज पूरी नहीं हुई थी। शुद्ध रास्ता हाथ में नहीं आया था। इसलिए मनीषियों ने समय-समय पर विचार-शुद्धि और जीवन-शुद्धि के प्रयोग किये। इसमें सोचने की बात एक है कि चित्तशुद्धि और जीवन-शुद्धि के लिए कोशिश करनेवाले लोग प्रयोगपरायण होते हैं क्योंकि वे ज्ञान के उपासक होते हैं। सत्य के ही पक्षपाती होते हैं। लेकिन इन प्रयोगपरायण, सत्यार्थी लोगों के अनुयायी रूढ़िपरायण और परम्परा के पूजक होते हैं। धीरे-धीरे उनमें बौद्धिक आलस्य और अधिकारलालसा आ जाती है। ऐसे अनुयायियों में सत्यनिष्ठा की जगह रूढ़िनिष्ठा आ जाती है और लोगों के अन्ध अभिमान को जाग्रत करके वे अपनी प्रतिष्ठा और अपने अधिकार बढ़ाते हैं। ऐसे लोगों को समाज साधु कहकर पुकारता है। और उनके पीछे चलने में अपना और धर्म का रक्षण होगा, ऐसी आशा रखता है।

मेरी ऐसे साधु की व्याख्या स्पष्ट है। जो लोग तत्त्व-ज्ञान पर विस्तार से व्याख्यान देते हैं, आद्य धर्मसंस्थापकों की दुहाई देकर लोगों का अभिमान जाग्रत करते हैं, और जागरण में समाजमान्य रूढ़ि को छोड़ने को कभी भी तैयार नहीं होते हैं—वे हैं साधु। रूढ़ि का कड़ा पालन ही ऐसे साधुओं की पूंजी होती है। कड़ी रूढ़ि को तपस्या कहा जाता है। लोगों की भक्ति और लोगों का दान पाने का यही एक तरीका होता है।

जो लोग धर्म के ऐसे ठेकेदार साधुओं से ऊब आये हैं, वे अधीर होकर कहते हैं, “हमें ये साधु भी नहीं चाहिए, उनका धर्म भी नहीं चाहिए, और उनके धर्मशास्त्र तो हरगिज नहीं चाहिए।” वे कहते हैं कि “हमारे लिए नीति और सदाचार काफी हैं। पीनलकोड और समाज का अभिप्राय—इन दो का नियंत्रण हमारे लिए बस है। क्योंकि इनमें बुद्धि और अनुभव के अनुसार, समय-समय पर हम परिवर्तन कर सकते हैं। धर्म का बंधन अंधा होता है। उसमें जीवन के लिए परम आवश्यक लचीलापन होता ही नहीं। और

धर्मों का कायाकल्प

धर्मशास्त्रों का अर्थ करने का और उनके नियमों से बचने की बारियां ढूँढने का ठेका इन्हीं आचार्यों का और साधुओं का होता है, जिनकी बुद्धि और जिनके चारित्र्य के बारे में हमें तनिक भी आदर नहीं है। ये आचार्य और ये साधु सीधे और स्वच्छ सुधारकों का विरोध करते हैं, निन्दा करते हैं। और छुपे तौर पर दुराचार चलानेवाले दंभी लोगों से अच्छा दान लेकर, उनका पुरस्कार भी करते हैं। साधु लोगों के तपस्वी जीवन से अंध समाज भले ही प्रभावित हो, हम जानते हैं कि वे लोग समाज के आश्रित हैं। रूढ़ि का पालन करके ही समाज की भक्ति इन्हें हासिल होती है। ऐसी भक्ति के कारण जो दान मिलता है, उसका विनियोग वे धर्मसंस्था को मजबूत करने की ओर करते हैं और प्रगति को रोकते हैं। सामाजिक स्वच्छता की हवा इन्हींके कारण रुकती है। और धर्मसंस्थाएं ही अधर्म का गढ़ बन जाती हैं।"

मान लिया कि ये सब बातें सही हैं। तो भी केवल समाज के अभिप्राय से सदाचार की जड़ें मजबूत नहीं हो सकतीं। सदाचार में दृढ़ रहने के लिए जो संयम चाहिए, संकल्प-सामर्थ्य चाहिए, वह गहरी श्रद्धा के बिना हासिल नहीं हो सकता। और श्रद्धा तब ही मजबूत होती है जब उसके पीछे एक सर्व-मंगलकारी सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा हो।

धर्म के स्वरूप का समय-समय पर स्पष्ट दर्शन होना चाहिए। जिस तरह अग्नि के ऊपर राख आ जाती है, उसी तरह धर्म के ऊपर रूढ़ि, जड़ता और अबुद्धि का आवरण आ जाता है। उसे हटाकर धर्म को फिर से सजीवन करने का काम समाज-हितचिन्तकों को करना पड़ता है। धर्म की सेवा करने के संकल्प से जो सेना बनती है वह काल-बल से रूढ़ि, जड़ता और दंभ की समर्थक सेना बन जाती है। तब उसीके घेरे से धर्म को मुक्त करने के लिए नये गणवेश की नई सेना खड़ी करनी पड़ती है।

अब हम धर्म के असली शुद्ध स्वरूप को देखें। बुद्ध भगवान् ने जब 'कल्याण-धर्म' की स्थापना की तब उन्होंने आत्मा-परमात्मा की बातें भी छोड़ दीं और चित्त-शुद्धि व जीवन-शुद्धि के आदर्श को लेकर धर्म का अष्टांगिक मार्ग बताया। भगवान् महावीर ने जब ज्ञान और चारित्र्य के आधार पर धर्म की पुनः स्थापना की तब उन्होंने परमात्मा

के ऊपर अवलंबित रहने का रास्ता छोड़कर आत्मशक्ति जगाने का स्वावलंबन सिखाया। जब वेदान्त ने आत्मशक्ति और विश्वव्यापी चित्तशक्ति का अभेद बताकर विश्वात्मैक्य भाव से जीवन को शुद्ध और समृद्ध किया, तब प्राकृत लोगों की, जड़मूढ़ लोगों की अंध और दुष्ट उपासना का घोर विरोध किया। धर्म असल में वह मंगल शक्ति और साधना है जिसके द्वारा हम अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के अभेद का साक्षात्कार करते हैं और जीवन-जागृति, जीवन-शक्ति और जीवन-समृद्धि के द्वारा अपने समस्त जीवन को कृतार्थ कर सकते हैं।

इसमें एक की सिद्धि के द्वारा दूसरे को थोड़ी कुछ मदद मिल सकती है सही, किन्तु हर एक को अपना रास्ता अपने-आप ही तय करना पड़ता है।

व्यक्ति और समाज का अभेद सिद्ध होने पर असामाजिक वृत्तियां प्रथम दब जाती हैं और बाद में धीरे-धीरे गल जाती हैं। सेवा द्वारा अभेद, संयम, सेवा और आत्मैक्य का आनन्द—यही है धर्म का सच्चा स्वरूप और यही है धर्म-साधना। सदाचार के नियम समय-समय पर बदलते रहेंगे। युद्ध के दिनों में या अकाल पड़ने पर जब आहार सबके लिए पूरा नहीं मिलता, तब आहार-धर्म एक तरह का होता है; और जब विज्ञान की मदद से और कौशल्य-युक्त पुरुषार्थ से आहार की बहुतायत होती है तब आहार-धर्म दूसरा रूप धारण करता है। लेकिन दोनों की बुनियाद में शरीर का आरोग्य, सामर्थ्य, दीर्घजीविता और समष्टि का कल्याण ये तत्त्व एक-से होते हैं। जो डॉक्टर या वैद्य मरीज के स्वास्थ्य को नहीं समझता और पुराने नुस्खे या प्रिस्क्रिप्शन को चलाता रहता है उसे आज हम डॉक्टर नहीं कहेंगे। सच्चा वैद्य हमेशा प्रयोग-परायण, अनुभव-परायण और आरोग्य-परायण ही होता है।

धर्मकार की भूमिका सलाह देनेवाले स्नेही की अथवा किसी विषय का रहस्य समझानेवाले अध्यापक की होनी चाहिए। हुकुम करनेवाले मालिक की या राजा की न हो। मनुष्य के स्वभाव में आज्ञाकारिता और स्वात्मार्पण की वृत्ति होती है। इसलिए मनुष्य साधुओं से और आचार्यों से हुकुम की अपेक्षा रखता है। आज्ञा कर्त्ता होने पर या पसन्द न होने पर भी उसके पालन में विशेष पुण्य मानता है,

उसे अपनी निष्ठा की कसौटी समझता है। और इस तरह गुरुजनों को बिगाड़ देता है। आज अगर साधु-समाज बिगड़ गया है तो उसका आधा दोष साधुसमाज के भक्तों का, श्रद्धाजड़ समाज का ही है। जो लोग साधुसमाज की सुधारनेकी इच्छा रखते हैं या कोशिश करते हैं, उनको चाहिए कि वे अपनी शक्ति श्रद्धाजड़ समाज के इस स्वभाव का सुधार करने में खर्च करें। पुरानी कहावत है ही कि सेवा करनेवाला पैदा हुआ तो सेवा लेनेवाले—चाहे जितने—जायेंगे ही। और यह भी इतना ही सही है—जैसा जुग वैसा जोगी। साधु लोग अपना सारा समय जनसमाज को उपदेश देने में खर्च कर सकें इसलिए भक्तलोग साधुओं को कुछ भी काम करने नहीं देते। कभी-कभी भक्त लोग साधु लोगों की उतनी ही सेवा करते हैं जितनी एक मां अपने नन्हें बच्चे की करे—खिलाना, पिलाना, सुलाना, नहलाना—सब तरह की सेवा करने में भक्त लोग कृतार्थता मानते हैं और ऐसी सेवा लेते-लेते साधु बिगड़ जाते हैं। ऐसे किस्से देखकर ही मैंने एक दफे कहा था कि तनिक भी शरीरश्रम न करनेवाला आदमी निष्पाप और निर्दोष रह सके तो अध्यात्मशास्त्र को ही झूठ समझना चाहिए। छोटे बच्चे, मरीज, असहाय पंगु लोग और वृद्धजन सेवा के अधिकारी होते हैं। जीवनधारणा के लिए जो अत्यावश्यक है वह है सेवा। अपने संतों के लिए भक्तलोग जिस सेवा को गुरु-जनों पर लादते हैं उसे तो पूजा ही कहना चाहिए। पूजा हजम होती है फक्त भगवान् को और उसकी मूर्ति को। दूसरा कोई पूजा का स्वीकार करनेका आदी बन गया तो धीरे-धीरे उसका पतन हो ही जाता है। साधु को चाहिए कि वह अपने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए स्वयं कुछ-न-कुछ परिश्रम करता रहे और मौका पाने पर दूसरों की सेवा करने का आग्रह रखे।

साधुओं की शरीर-सेवा करने का और साधुओं के शरीर से सेवा नहीं लेने का जो आग्रह समाज ने रखा है उसीसे साधुओं का पतन हुआ है। और पतित साधुओं ने समाज के पतन में मद्दद की है।

मनुष्य का स्वभाव ही है कि जो तपस्या और जो पुरुषार्थ वह स्वयं नहीं कर सकता, उस तपस्या को और उस पुरुषार्थ को करनेवाले की भक्ति करके अपनेको उसके अनुयायी या

शिष्य जाहिर करना और उससे संतोष मानना। दूसरे के पुण्य से पुण्यवान बनने का यह तरीका हर जगह पाया जाता है। इसीसे मंडलों की स्थापना होती है। मंडलाभिमान गुरुगुणों की जगह लेता है। और अध्यात्म-साधना एक संस्था के रूप लेती है। साधना कृत्रिम, निष्ठा कृत्रिम और फल कृत्रिम।

एक अच्छे ज्ञानी, तपस्वी, समाजहितैषी, करुणामय साधु को पाकर समाज प्रसन्न होता है। उस साधु से सत्संग से पूरा लाभ उठाने के लिए साधु के आसपास संगठन खड़ा कर देता है। संगठन आया और साधु की गद्दी तैयार हो गई; संगठनकुशल व्यवस्थापक भी आया एक पूरा तन्त्र तैयार हो गया। कितनी योग्यता से और मेहनत से ऐसा तन्त्र विकसित होता है। साधु जितना पवित्र उतनी ही उसकी गद्दी भी पवित्र और सारा संगठन भी पवित्र।

साधु के चले जाने पर उसकी इतनी पवित्र गद्दी को खाली कैसे रखा जाय? गद्दी पर किसीको बिठाना ही चाहिए जो उपलब्ध हैं ऐसे व्यक्तियों में से सर्वश्रेष्ठ नहीं किन्तु गद्दी के लिए सर्वानुकूल व्यक्ति को पसन्द किया जाता है। और फिर माना जाता है कि गुरु की गद्दी पर जो बैठा उसने गुरु की शक्ति और पवित्रता आ ही गई और वह सम्पूर्ण भक्ति का अधिकारी भी बन गया। यहां से कृत्रिमता शुरू होती है। गद्दीश्वर नम्र होने के कारण गद्दी पर बैठने के पहले गुरु महाराज का स्मरण कर गद्दी को बंदन करता है और उसके बाद ही गद्दी पर बैठता है। यह सब ठीक है। किन्तु इससे गद्दी की आध्यात्मिकता में वृद्धि नहीं होती। आध्यात्मिकता का आज तक कभी संगठन न हुआ है। न आग्रह होनेवाला है। सारी दुनिया के असंख्य धर्माचारियों का, धर्म-परम्पराओं का इतिहास यदि देखा जाय तो पता चलता है कि 'धार्मिक' संगठनों से व्यावहारिक लाभ उठाने जितना होता हो (और वह कम नहीं होता) 'धार्मिक' संगठनों में अध्यात्म पकड़ा नहीं जाता। अध्यात्म एक ऐसी अजीब शक्ति है जो हमेशा संगठन के बाहर ही रहती है।

कई सच्चे साधुओं ने, उनके आसपास सेवा का जो संगठन खड़ा हुआ, उसे व्यावहारिक रूप देकर, दुन्यवी लोगों के हाथ में सौंप दिया और स्वयं अलिप्त रहे।

ऐसे भी साधु हैं जो भक्तलोगों के आग्रह से सारे समाज के

धर्मों का कायाकल्प

उपदेश देते रहे किन्तु किसीको अपना शिष्य नहीं बनाया । आकाश में पक्षी उड़ते हैं लेकिन अपने पीछे कोई रास्ता नहीं बीचते । ऐसी ही है अध्यात्म की गति ।

इसलिए समाज ने अगर धार्मिक संस्थाएं चलाई तो उनमें समय-समय पर इष्ट परिवर्तन होते रहने चाहिए । और ऐसी संस्थाओं की उपयोगिता खत्म होने पर, उनका विसर्जन भी करना चाहिए । मृत शरीर को हम या तो फूंक देते हैं, जमीन में गाड़ देते हैं अथवा ऐसा शौक रहा तो मसाले में उसे लपेटकर ममी के रूप में उसे संग्रहालय में रखते हैं । किसी भी सूरत में उसे दुर्गंध फैलाने नहीं देते ।

इतिहासकाल में धर्म के नाम जितने युद्ध हुए हैं, मानव-

जाति पर जितना आत्याचार हुआ है, और तरह-तरह के वहम फैले हैं उतना और किसी के नाम से नहीं हुआ । (आज भी धर्म की जगह तरह-तरह के 'ism' आकर, मनुष्य के बीच वैमनस्य और नाश फैला रहे हैं । 'ism' भी एक प्रकार के धर्म ही हैं । सारे जीवन की व्यवस्था और संगठन करने का जो दावा करता है उसे धर्म कहते थे । आज 'ism' कहते हैं ।)

मानवसमाज अगर इतने युगों के अनुभव से नया प्रस्थान करना चाहे तो उसे पुराने संगठन, पुरानी संस्थाएं, पुरानी परंपरा और पुरानी परिभाषा भी छोड़ देनी चाहिए । और नये रूप व नई पद्धति का आह्वान करना चाहिए ।

जवाब दें

एक को छींक आई और दुनियाभर में तार दौड़ गये । वावैला मच गया ।

एक मर गया । उसतक को खबरें न हुई । किसी और के कान पर जूं रेंगने की तो बात ही क्या ?

सहज समता में सहज विषमता रह सकती है—मैं मानता हूं; पर यह आकाश-पाताल की-सी विषमता असह्य है !—नितान्त असह्य ! !

क्यों-कैसे ? मैं मुझे मत उलभाओ !

मेरा तो दो टूक सवाल है—मिटेगी कब ? क्यों कर ?

मत-मतान्तरीय धर्म-ध्वजाभिमानी,

भोली जनता के स्वयं बने अगुआ,

अज्ञ समाज के काइयां ठेकेदार,

सत्ता-मदांध कलाबाजिए राजनीतिज्ञ,

देश, प्रान्त, नगर, ग्राम के नाम पर विश्व के भ्रान्त विभाजक,

सहज एकता-आत्मीयता के निर्मम, निर्दय विघातक,

और-और भी वे सब जिन्हें कुछ होने का जोम है, मेरे सवाल का जवाब दें... तुरन्त ! ... अविलम्ब ! !

और किसीके लिए नहीं अपने लिए—अपने माने-जाने सर्वस्व की रक्षार्थ... क्यों समझे !

हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

अखिल विनय

गांधीवादी अर्थशास्त्री कुमारप्पा

जे० सी० कुमारप्पा अब नहीं रहे। परन्तु कुमारप्पा का नाम लेते ही आंखों के सामने आयु में वृद्ध पर भावनाओं से नवयुवक ऐसे व्यक्ति का चित्र खिंच जाता है जो पायजामा, कोट और गांधी टोपी पहने अक्सर अपने काम में मशगूल रहता था—अ० भा० ग्रामोद्योग संघ के कार्यालय (सेवाग्राम) में। हां, ऐसे व्यक्ति का चित्र जो ग्राम और ग्रामीणों की उन्नति के स्वप्न संजोया करता और उनकी भलाई में ही देश की भलाई मानता था। गांधों की सांगोपांग उन्नति ही उनके चिंतन और कार्य का क्षेत्र तथा जीवन का लक्ष्य था। इस दिशा में उस व्यक्ति ने तीस वर्ष तक अथक और सतत साधना की।

महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी और उनकी 'रामराज्य' की कल्पना को कार्यरूप देनेवालों में अग्रगण्य श्री कुमारप्पा से जो एक बार मिला, वह उनकी दृढ़ निष्ठा, अपूर्व योग्यता एवं अनुपम कार्यक्षमता को कभी न भुला सकेगा। जिस प्रकार हरिजनों तथा आदिवासियों की सेवा के साथ ठक्कर-बापा का नाम जुड़ गया है, देहात तथा उनकी कल्याण-कामना के साथ कुमारप्पा का नाम सदैव जुड़ा रहेगा। अपने तीन दशकों के सार्वजनिक जीवन में वह मूकसेवक ही रहे, परन्तु पूर्ववर्ती भारत सरकार की अर्थ-नीति की आलोचना और "रोटी के बदले पत्थर" ऐसे उग्र लेखों के कारण वह अधिक छिपे न रह सके। हमारी अपनी सरकार बन जाने के बाद भी सच्ची आलोचना करने से वह कभी चूके नहीं।

विगत ४ जनवरी को कुमारप्पाजी की ६९वीं वर्ष-गांठ मद्रास में मनाई गई तो आशा थी कि वह अपनी रुग्णता से मुक्त होकर, देश-सेवा में और दिन लगा सकेंगे। किन्तु गांधी-निधन-तिथि का लाभ लेना वह भूलें नहीं और चले गये। बापू के इस कर्मवीर-भक्त का जन्म तंजोर में हुआ था। आपके पिता एक उच्च-श्रेणी के भारतीय ईसाई थे और साधन-सम्पन्नता के कारण कुमारप्पाजी की शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य रीति से ही हुई। आमोद्गम्य बचपन मद्रास

में बीता और वहीं 'डोवेटन कॉलेज' में शिक्षा पाई। वह एक आदर्श विद्यार्थी रहे। जितना आनन्द उन्हें लिखने-पढ़ने में आता था उतना ही खेल में भी। खेलों में क्रिकेट से विशिष्ट प्रेम था, तो अध्ययन में गणित-प्रेमी वह थे।

उनकी विलक्षण बुद्धि और प्रखर प्रतिभा से प्रभावित हो पिता ने विदेश में शिक्षा दिलाने का निश्चय किया और कुमारप्पाजी ने अमरीका के सिरैक्युस विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की तथा एम० ए० की शिक्षा सुप्रसिद्ध कोलम्बिया विश्वविद्यालय में ग्रहण की। 'लोकवित्तीय व्यवस्था और हमारी गरीबी' विषय पर उनकी थीसिस की बड़ी सराहना की गई थी। इस प्रकार अध्ययन की प्रवृत्ति और साहस बढ़ता ही गया। अतः हिसाब-किताब (एकाउंटेंसी) में विशेष दक्षता प्राप्त करने के लिए उन्होंने लन्दन जाना उचित समझा और वहां से एफ० एस० ए० ए० की उपाधि प्राप्त की। 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' पर लिखे गए अपने लेखों के कारण वह 'इन्कापॉरेटेड अकाउंटेंट' भी घोषित किये गए। कुछ समय तक वह 'पब्लिक अकाउंटेंट' के रूप में प्रैक्टिस भी करते रहे। विदेश से लौटकर तो बम्बई के 'डावर्स कॉलेज' में एक हजार रुपए मासिक पर अध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई।

देश में आने पर वह यहां की स्थिति से परिचित हुए। बम्बई में रहते हुए उन्हें स्व० सेठ जमनालाल बजाज से मिलने का अवसर मिला। उनके माध्यम से गांधीजी से मिले और उनके होकर रह गये। गांधीजी ने जब उन्हें 'अपने परिवार' में शामिल कर लिया तो कॉलेज का परित्याग कर उनके पास पहुंच गये। यह सन् १९२९ की बात है और उनके जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आता ही गया। यह वह समय था जब कि गांधीजी अपने आन्दोलन का सूत्रपात करने को तैयार हो गये थे और देश के खून में उबाल आ गया था। कुमारप्पाजी को अर्थशास्त्र की शिक्षा देने के लिए गुजरात विद्यापीठ में नियुक्त किया गया। सत्याग्रह के लिए गांधीजी जेल गये तो 'यंग इंडिया' का सम्पादन भी उन्होंने ही किया। जबतक

कि वह स्वयं भी वहीं न भेज दिये गए। १९४१ में वह फिर से 'यंग इंडिया' का सम्पादन करने लगे। अगले वर्ष ही एक साल के लिए फिर उन्हें जेल में ठूस दिया गया। इस प्रकार चार बार उन्होंने कृष्ण-मन्दिर की सैर की !

आज के पढ़े-लिखे युवकों के लिए कुमारप्पाजी का जीवन एक खुली चुनौती है। जब १९२९ में उन्होंने गांधीजी की प्रेरणा पर ग्राम-पुनर्निर्माण-कार्य प्रारंभ किया तो मांस और पश्चिमी ढंग के रहन-सहन का भी सर्वथा परित्याग कर दिया। उन्होंने खूब सोच-समझकर और देख-परखकर गांधीजी का मार्ग पकड़ा था और एक बार सेवा, त्याग और सादगी-संयम का जो व्रत लिया उसका आजीवन पालन किया। सादा जीवन और उच्च-विचार में उनकी प्रगाढ़ निष्ठा थी तथा मिलनसारिता एवं समय की पावन्दी उनके विशेष गुण थे। गांधीजी के संपर्क में आने के बाद कुमारप्पाजी उनके राजनैतिक एवं आर्थिक दोनों प्रकार के विचारों से प्रभावित होते गये और दोनों ही मोर्चों पर उन्होंने अपने नेता का पूरा-पूरा साथ दिया।

कुमारप्पाजी ने स्वाधीनता-संग्राम में कारावास की यातना तो भोगी ही, किन्तु उससे भी गुरुतर था वह भार, जो रचनात्मक कार्यक्रम का उन्होंने अपने जिम्मे लिया था। सन् १९३४ में कांग्रेस के ४८वें बम्बई-अधिवेशन में उद्योगों को पुनर्जन्म देने और विभिन्न उपयोगी कला-कौशल के प्रसार एवं प्रचार करने का निश्चय करनेके उपरान्त एक प्रस्ताव पारित किया गया था। उसके अनुसार श्री कुमारप्पा को अधिकार दिया गया था कि वह गांधीजी की सलाह और मार्गदर्शन में 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' नाम की संस्था खड़ी करें जो कांग्रेस के कार्यों का एक अंग रहेगी। कुमारप्पाजी की अनुपम लगन के कारण वह संस्था बनी और विकसित हुई। उससे कितने ही जीर्णता की चरम सीमा पर पहुंचे हुए ग्रामोद्योगों को नवजीवन मिला है।

कुमारप्पाजी के कारण ही हमारे यहां ग्रामोद्योगों की असाधारण उन्नति हो सकी है। ताड़ के रस से गुड़, शहद की मक्खियों का पालना, चावल साफ करने की चक्की, अखाद्य तेलों से साबुन, वार्निश और पेस्ट बनाना, एवं हाथों से कागज बनाने की प्रक्रिया द्वारा उन्होंने ग्रामीण आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता के नैतिक महत्व को सिद्ध किया है। कम-से-कम

काम द्वारा अधिकतम लाभ उठाने के लिए श्रम से बचने की प्रवृत्ति, मानव-स्वभाव की मूलगत प्रवृत्ति रही है और इसी-लिए कुमारप्पाजी ने नैतिक पतन के इस मार्ग को अवरोध करने के लिए अपने ग्रामोद्योगों द्वारा एक चुनौती दी।

सन् १९३४ में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना के बाद से, दो दशक तक वह संघ के मंत्री के रूप में कार्य करते रहे। गांधीजी के निधन के बाद वह उसके प्रधान हो गये थे। सन् १९५३ में ग्रामोद्योग संघ के प्रधान-पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् भी वह निष्क्रिय थोड़े ही रह सकते थे? वह मदुराई जिलास्थित कालुपट्टी के गांधी-निकेतन-आश्रम में रहने लगे और उसके प्रथम प्रधान हुए। कालुपट्टी नमूने की तेलघानी का भारतीय ग्रामोद्योगों में एक विशेष महत्त्व है।

सारा गांधीवादी अर्थशास्त्र दरअसल शान्ति का अर्थशास्त्र है और कुमारप्पाजी इस विषय के योग्यतम प्रवक्ता थे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वह महात्मा गांधी के आर्थिक परामर्शदाता थे। सन् १९४६ में वह कांग्रेस कृषि-सुधार समिति के अध्यक्ष भी रहे। मध्यप्रदेश सरकार की औद्योगिक सर्वेक्षण समिति के अध्यक्ष के रूप में भी उन्होंने अपनी अर्थविज्ञता को जन-सेवा के लिए अर्पित किया था। उनकी लगन का यह अटूट प्रमाण है कि जापान के गृहोद्योगों का अध्ययन करने वह ५९ वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी गये थे।

कुमारप्पाजी १९३४ के बाद राजनीति को छोड़कर पूर्णतः रचनात्मक कार्य में लग गये थे। बिहार के भयंकर भूकम्प में उन्होंने स्तुत्य सेवा की थी। वह एक सेवक ही नहीं, लेखक और विचारक भी थे। अनेक वर्षों तक वह 'ग्रामोद्योग पत्रिका' का सम्पादन भी करते रहे थे। डांडी कूच के दौरान में जब महात्मा गांधी और महादेव देसाई दोनों गिरफ्तार कर लिये गए तो 'यंग इंडिया' का सम्पादन तो उन्होंने किया ही था। उनके अर्थशास्त्र-विषयक और गांधी-विचारधारा के परिचायक लेख सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में निकलते ही रहते थे। प्रत्येक लेख के पीछे उनकी गहरी अनुभूति रहती थी। उन्होंने गांधीवादी अर्थशास्त्र को सरल शब्दों और सुव्यवस्थित रूप में जनता के सामने रखा।

कुमारप्पाजी की लेखनी में जादू था। उनकी कलम से निकला साहित्य ठोस और उच्च स्तर के विद्वानों के लिए भी मननीय है। उन्होंने 'मातार तालुके की पैमाइश', 'ग्राम आन्दोलन', 'ग्रामोद्योग एवं स्त्रियाँ', 'कर्म का दर्शनशास्त्र', 'भारतीय अर्थशास्त्र' और 'ईसाई अर्थ-व्यवस्था और जीवन-पद्धति' आदि डेढ़ दर्जन से ऊपर पुस्तकें भी लिखी हैं। जैसा था उनका जीवन वैसे ही थे उनके विचार। अपने उन्हीं विचारों को वह लेखनी के जरिए लेखों और पुस्तकों में उंडेलते थे। उन्होंने दीनबन्धु एण्ड्रूज की भांति एक नेक, ईमानदार और सच्चे ईसाई का जीवन बिताया; वह जीवन—जो त्याग और तपस्या का था, शान्ति और साधना का था, देश-प्रेम और देश-सेवा का था। एक दृढ़-प्रतिज्ञ की भांति उन्होंने अपने जीवन को देश की सेवा में लगा दिया। वह कहा करते—असली हिंदुस्तान हमारे गांवों में ही है और गांवों की सांगोपांग उन्नति ग्रामोद्योग द्वारा ही संभव है। इसीलिए कुमारप्पाजी अंततक ग्रामोद्योग के मोर्चे पर डटे रहे।

गांधीवादी अर्थशास्त्र के इस प्रकाण्ड पण्डित की ४ जनवरी १९५२ को 'हीरक जयन्ती' मनाई गई थी। उस अवसर पर उन्हें श्री ए० के० जार्ज और श्री जी० रामचन्द्रन के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'दि इकौनामिक्स ऑव पीस : दि कॉज ऑव दि मैन' ('शान्ति का अर्थशास्त्र, लक्ष्य और व्यक्ति') शीर्षक एक अभिनन्दन ग्रंथ भी भेंट किया गया था। कर्मठ व्यक्ति के लिए उम्र का क्या तकाजा? साठ के ऊपर होने पर भी वह कर्म-मार्ग पर डटे रहे। सन् १९५२ और ५३ में

उन्होंने रूस की यात्रा की। सन् १९५४ में विश्व-शान्ति परिषद् के प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने यूरोप की व्यापक यात्रा की और अपने विचारों से सबको अवगत कराया।

कुमारप्पाजी ने अब इस संसार से चिर विदा ले ली है। उनके निधन से भारत अपने एक सच्चे सपूत, महान चित्तक, कर्मठ देश-सेवक, प्रकाण्ड अर्थशास्त्री तथा ठोस रचनात्मक कार्यकर्ता की सेवाओं से सदा के लिए वंचित हो गया। वह नहीं रहे, किन्तु उनका प्रेरणामय, अनुकरणीय जीवन नई पीढ़ी को याद दिलाता रहेगा कि पढ़-लिखकर भी असली भारत की, जो गांवों में बसा है, सेवा की जा सकती है; यह पाठ पढ़ाता रहेगा कि जीवन में सिक्कों का ही नहीं, सेवा का भी मूल्य है; यह सिखलाता रहेगा कि अपने सिद्धान्तों के लिए झुकने का कोई अर्थ ही नहीं है। योजना-आयोग की प्रथम बैठक में भाग लेने कुमारप्पाजी गये तो एक तांगे पर बैठकर ही! स्थान-स्थान पर तांगा रोका गया, किन्तु वह दृढ़ रहे और गंतव्य स्थान पर पहुंचे; हालांकि उन्हें वहां तक पहुंचने में काफी दिक्कतें उठानी पड़ीं। केवल यही नहीं, दूसरे और तीसरे दिन भी वह उस स्थान के लिए तांगे पर ही सवार होकर गये। ऐसे धुन के पक्के थे—श्री जे० सी० कुमारप्पा। आज देश को ऐसे ही विचारों के धनी और धुन के मस्त युवकों की आवश्यकता है जो संक्रमण काल में आगे बढ़कर नवाजित स्वराज को ग्राम्य-स्वराज्य में परिणत करने में सहायक हो सकें। कुमारप्पा चले गये, पर क्या कृतज्ञ भारतवासी उनके द्वारा सम्पन्न निस्स्वार्थ सेवा को कभी भुला सकेंगे?

(पृष्ठ १०२ का शेष)

१८. प्यार से पुकारने में, जैसे वाली (बालकृष्ण को), ओमी (ओमप्रकाश को), अजिती (अजितप्रसाद को), मदनी (मदनलाल को) आदि।

ऊपर के उदाहरणों से हम देखते हैं कि 'ई' प्रत्यय संस्कृत, हिन्दी, फारसी, तथा अंग्रेजी आदि में समान रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द बनाने में काम आता है। इसके

प्रयोग से स्त्रीलिंग, औजारवाचक, लघुतावाचक, स्थानवाचक, जाति या भाषा-वाचक, समुदाय, रंगों के नाम, कपड़ों के नाम, भाववाचक, पदसूचक, व्यवसाय-सूचक, विशेषण तथा कर्तावाचक आदि शब्द बनाये जा सकते हैं। यदि इस एक ही प्रत्यय पर अधिकार प्राप्त कर लिया जाय तो उपरोक्त अठारह प्रकार के नये शब्द आसानी से बनाये जा सकते हैं।

शिवनारायण उपाध्याय

धुआं क्यों नहीं उठता ?

एक समय एक देश में एक राजा राज्य करता था, राजा का यह नियम था कि वह रोज रात को वेप बदलकर नगर में जाता और प्रजा की स्थिति देख-भालकर लौट आता था।

हर बार राजा को प्रजा की स्थिति उन्नत लगती, और वह रोज घर लौटकर प्रजा पर टैक्स बढ़ा देता था।

बढ़ते-बढ़ते प्रजा टैक्सों के भार से लाचार हो उठी। लेकिन राजा का उल्लंघन करने की ताकत किसीमें नहीं थी।

उधर राजा के खजाने भरते जा रहे थे, इधर प्रजा की स्थिति विगड़ती जा रही थी।

टैक्स वसूली का कार्य इतनी सख्ती से होता था कि प्रजा पर बकाया नहीं रहता था। प्रजा पर बकाया नहीं रहने से राजा समझता था कि प्रजा की टैक्स देने की क्षमता बढ़ती जा रही है। अतएव वह नित्य टैक्सों की दर बढ़ा देता था।

एक रोज राजा वेप बदलकर घूमने के लिए नहीं गया और अपने राजमहल की अटारी पर खड़े होकर नगर का निरीक्षण करने लगा।

उसने देखा कि राजमहल तथा कर्मचारियों के घरों से तो पर्याप्त धुआं निकल रहा है, लेकिन प्रजा के घरों से धुआं नहीं निकलता। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने लगातार दो-चार दिनों तक अटारी पर खड़े होकर नगर-निरीक्षण किया, लेकिन प्रजा के घरों से धुआं नहीं निकला।

उसने इस बात का कारण जानने के लिए कर्मचारियों की एक सभा बुलाई लेकिन किसीसे भी संतोषजनक उत्तर

नहीं मिल सका।

लाचार राजा ने स्वयं वेप बदलकर स्थिति की जांच करने का निश्चय किया।

दूसरे दिन राजा ने भिखारी का वेप लेकर एक घर के सामने आवाज लगाई, “रोटी मिले, मां रोटी !”

बुढ़िया ने अंदर से ही जवाब दिया, “रोटी नहीं है, आगे जा बाबा आगे।”

राजा ने दूसरे घर आवाज लगाई, “रोटी मिले, मां रोटी !”

तो मां ने कहा, “यहां रोटी कहां रखी है, रोटी के लिए कोई बड़ा घर देखो बाबा, बड़ा घर।”

राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने तीसरे घर के सामने आवाज लगाई, “रोटी मिले मां रोटी !”

तो उस घरवाली ने कहा, “बेटा प्रजा के घर में रोटी कहां से आई। रोटी या तो राजा के घर मिलेगी, या राज-कर्मचारियों के घर। यहां तो कई दिनों से चूल्हे में आग नहीं पड़ी, धुआं नहीं निकला। यदि धुआं ही उठता तो वही तुम्हें दे देती।”

सुनते ही राजा स्तब्ध होकर वापस राजमहल में आ गया और उसने तुरंत राजाज्ञा निकालकर प्रजा पर के सारे टैक्स माफ कर दिये, अपने कोठारों में रखा समूचा अनाज सारी प्रजा में बंटवा दिया।

दूसरे दिन राजा ने देखा घर-घर चूल्हे जल उठे, हर घर से धुआं निकलने लगा और समूची प्रजा में आनंद की एक लहर छा गई।

(एक निमाड़ी लोक-कथा)

नेमिशरण मित्तल,

विश्व-राजनीति के क्षितिज पर नया अंधकार

हम सोच रहे थे कि आज जगत के सामने केवल लोकतंत्रीय राज्य-व्यवस्था और सर्वग्राही-राज्यवाद (टोटेलिटैरि-यनीज्म) के बीच चुनाव करने का समय आया है। ठीक उसी घड़ी में विश्व-राजनीति के धूमिल क्षितिज पर एक नया अंधकार छा गया है जो अत्यन्त घना तो है ही, जिसकी छाया मानवता का दम घोटती-सी भी लग रही है।

जिस नये अंधकार का उल्लेख हमने किया है वह है न्यूक्लियर-विज्ञान द्वारा मनुष्य के नाश के साधनों की खोज और उन साधनों का व्यापक निर्माण। विनाशक शक्ति की मात्रा में होनेवाली इस अकल्पित वृद्धि ने आज के शक्तिशाली राष्ट्रों की नीति को नया आधार प्रदान किया है और उसके कारण अनेक संबंधित क्षेत्रों में अगणित समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं। राज्य के हाथ में इस नई भौतिक शक्ति के आ जाने से हमें गंभीरता के साथ इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि हम आलस्यवश मानव जाति के जिन बुनियादी प्रश्नों को टालते जा रहे थे उनके टालने के परिणाम आगे कितने अधिक घातक और भयंकर हो सकते हैं। ये प्रश्न हैं राष्ट्रीय राजनीति में लोकतंत्र की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक सिद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दृढ़ नैतिक मान्यताएं और मर्यादाएं जिनके आधार पर हमारा अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार अधिक-से-अधिक संयत हो सके तथा ऐसा बन सके कि ज्वालामुखी के मुख पर बैठे हुए इस संसार में हमारे कामों या बातों से उत्तेजना का वह विस्फोट न हो जो सारी मानव-जाति को पलक मारते इस धरा से सदा के लिए मिटा देने की सामर्थ्य रखता है।

नाशकारी शक्ति मानव के हाथ में अनादि काल से रही है, आत्महत्या के साधन उसे सदा उपलब्ध रहे हैं और उनके बावजूद वह इस धरती पर निरंतर वृद्धि पाता रहा है। नाश के जो नये साधन उसके हाथ में आज आ गये हैं, उनमें वास्तव में नर्याभन कुछ नहीं है, अन्तर केवल मात्रा का है। करतक मानव के व्यक्तिगत और नैतिक जीवन में जो

शक्ति एक तत्त्व बनकर रही आज वही समूची मानवजाति का कटु सत्य बन गई है। राज्य के हाथ में शक्ति का यह प्रथम आविष्कार नहीं है, फिर भी संपूर्ण विनाश की यह शक्ति सर्वथा नई है, हम अभी इसके अभ्यस्त नहीं हुए हैं और यह भी सत्य है कि यदि हम अणु और उद्जन की इस फिजन और फ्यूजन शक्ति के प्रति सावधानी नहीं बरतते तो हमारा सर्वनाश निश्चित है। हमने द्वितीय महायुद्ध का आरंभ जिन साधारण विस्फोट बंबों से किया था उनकी तुलना यदि हम उस भयंकर बम्ब से करें जो हमने द्वितीय महायुद्ध की पूर्णाहुति के समय हिरोशिमा पर डाला था तो हमें ज्ञात होगा कि विनाशक शक्ति में कई हजार गुना वृद्धि हुई और आज तो हिरोशिमा के अणु विस्फोटक से हम बहुत आगे बढ़ गये हैं। आज हमारे हाथ में जो हाईड्रोजन-फ्यूजन बम्ब है उसके सामने हिरोशिमा का वह संहारक अस्त्र नगण्य ठहरता है। हाईड्रोजन बम्ब ने अणु-बम्ब की अपेक्षा एक हजार से अधिक गुणा विनाशक शक्ति हमें प्रदान की है। यदि हमारे हाथ में ऐसे कुछ बम्ब आ जाते हैं तथा हमारी बुद्धि हमारा साथ छोड़ देती है तो समझना होगा कि हम इस धरती पर महान् प्रलयंकर भगवान् शंकर के साक्षात् अवतार ही होंगे अर्थात् हम इस पृथ्वी की गोद से मानव का अस्तित्व सदा के लिए नेस्तनाबूद कर सकेंगे। उस स्थिति में जब संसार के छोटे-बड़े देश पारस्परिक समस्याओं को सुलझाते समय बगल में अणु और उद्जन बम्ब लेकर बैठेंगे मानवजाति का भविष्य और अस्तित्व कितना धूमिल हो जायगा आज तो सोचते भी नहीं बनता। किसी राज्य-नायक की सनक सारे संसार में भयंकर आग पैदा कर सकती है और उसके लिए सोचने या पछताने का अवसर मानव को तब नहीं मिलेगा।

कुछ विचारकों का मत है कि दूसरे विश्व-युद्ध के पश्चात् ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गई थीं कि यदि अणु और उद्जन के महानाशक शस्त्र रूस और अमेरिका के पास न होते तो तृतीय विश्व-युद्ध कभी का आरंभ होगया

विश्व-राजनीति के क्षितिज पर नया अंधकार : ९३ :

नेमिशरण मित्तल

होता, इस प्रकार उनके विचार से इन शस्त्रों ने विश्व राजनीति में संतुलन, भय और निरोध पैदा किया है। जहां दोनों पक्ष ईमानदारी से जानते हैं कि युद्ध के आरंभ की चन्द घड़ियों के पश्चात् ही युद्धक्षेत्र श्मशान हो जाएगा तथा वहां रेडियो-सक्रिय धूलि के एक ढेर के सिवाय कुछ न रहेगा, विजय के उत्सव का प्रश्न ही नहीं उठता, वहां दो पक्ष अधिक संयम का प्रयोग करते हैं तथा युद्ध की संभावना कम होती जाती है। यह न्यूक्लियर-शक्ति का प्रतिरोधक या युद्ध-निरोधक उपयोग बताया जाता है। युद्ध टल रहा है, यह एक सत्य है और इसका श्रेय अणु-शक्ति को दिया जा सकता है। कहा जाता है कि इस शक्ति का प्रयोग वैसा ही व्यक्ति कर सकता है जो बुरा और पागल दोनों हो, केवल बुरा व्यक्ति इससे डरेगा। परंतु हमारे लिए यह कहना कठिन है कि मूर्खता मनुष्य पर कब सवार होती है या वह पागल कब हो सकता है। हमें राइट आनरेबुल हर्बर्ट एसविथ का यह कथन याद आता है कि, "विज्ञान ने मानवजाति को आत्महत्या की ओर उन्मुख कर दिया है।" हमारे मन में यही प्रश्न है कि क्या अब विज्ञान का वह लक्ष्य पूरा हो गया है और मनुष्य अपने अनन्त अंत के कगारे पर जाकर खड़ा हो गया है जहां से उसे मामूली-सी गर्म हवा का सौका मृत्यु के सर्वग्राही मुख में ढकेल देगा और इस पृथ्वी के महान् कोष में मानवजाति सम्बन्धी अध्याय इस प्रकार बन्द हो जायगा ?

इस युग में उद्जन आयुध से खिलवाड़ करना बुद्धिमानी का लक्षण नहीं माना जा सकता। कैसी विडम्बना है कि एक ओर मानव नाना प्रकार की विकास-योजनाएं बना रहा है, दूसरी ओर उस सबको वर्वाद करने के लिए शक्ति-संग्रह कर रहा है। आज शान्ति का विचार मानवजाति के इतिहास में पहली बार इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि उसके बिना कोई मार्ग ही नहीं है। मानव को अपने मन में से सदा के लिए विरोधी के प्रति घृणा का भाव निकाल देना होगा क्योंकि घृणा और उद्जन एक भयानक मिश्रण का निर्माण करते हैं।

आज हमारे राजनैतिक निर्णय अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के संदर्भ में हों यह अनिवार्य हो गया है। राज्य की प्रभुता का सिद्धान्त शक्ति के इस नये उद्भव से बहुत प्रभावित हो गया

है, वह (सावरेन्टी) सीमित हो गई है और अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण का क्षेत्र राष्ट्रीय जीवन में बढ़ता जा रहा है। हमें अपने राष्ट्रीय जीवन में दूसरों का हस्तक्षेप सहन ही नहीं निमंत्रित करना होगा, क्योंकि हम उसी प्रकार का हस्तक्षेप दूसरों के राष्ट्रीय जीवन में स्वयं करना चाहते हैं जिससे कि हम एक-दूसरे की नीयत और तैयारी के बारे में आश्वस्त रह सकें ताकि संघर्ष के हर छोटे-मोटे अवसर पर हम आशंका और पराजय की निराशा से अभिभूत होकर उद्जन और अणु आयुधों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित न हो सकें। विविध राज्यों को मिलकर संघीय राष्ट्रीयता का निर्माण करना पड़ा है, ठीक उसी प्रकार विविध राष्ट्रों को मिलकर संघीय-विश्व बनाना होगा जिससे कि हरेक राष्ट्र संयम में रह सके और मानवता की रक्षा की जा सके। अपने व्यक्तिगत हितों को जिस प्रकार एक व्यक्ति ने अपने राज्य-हित के सामने बलिदान किया है ठीक उसी प्रकार राज्यों को अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों और संकीर्ण अस्तित्वों को विश्व-हित में विलीन एवं समर्पित करना अनिवार्य हो गया है। हमें राजनीति-विज्ञान की उस धारणा को अब संशोधित कर लेना होगा जो हर राज्य को सावरेन्टी या प्रभुता के नाम पर अणु और उद्जन आयुधों का एक विशाल ढेर तैयार कर लेने, बड़ी संख्या में अंतर्महाद्वीपीय-दूर-मारक-प्रक्षेपणास्त्र बनाने तथा अड्डे बनाने की छूट देता है। अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण का नया तत्त्व उदय होना राजनीति की सफलता के लिए अनिवार्य हो गया है जो कि निरंकुश प्रभुता के पुराने विचार को सीमित और पुनः परिभाषित करेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि अब मानवजाति को राष्ट्र से भी अधिक विशाल केन्द्रीय शासन के निर्देशन और आयोजन में जीना होगा तथा आम आदमी की प्रभुता उससे बहुत दूर, इतनी दूर चली जायगी कि लोकतंत्र का विचार एक मादक स्वप्न बनकर रह जाय, वरन् इतना ही कि हमें अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के मामलों में अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रहना होगा। जिसके संचालन में हमारा समानुपातिक भाग रहेगा। जैसे भारत के राज्य सेनाएं नहीं रख सकते, पुलिस रख सकते हैं, सेनाएं रखना संघ-शासन का काम है, ठीक इसी प्रकार विश्व-संघर्ष में हर राज्य पुलिस रख सकेगा, सेना नहीं। राज्य की आंतरिक व्यवस्था हम अकेले कर लें और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था हमारे

प्रतिनिधि दूसरे राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ बैठकर विश्व-हित के संदर्भ में करें, यह सर्वथा उचित ही नहीं नितान्त आवश्यक हो-गया है, यदि मानवजाति टिकना चाहती हो।

असीम हिंसा के इन तत्त्वों के अभ्युदय ने हिंसा में से उसके भक्तों का विश्वास उठा दिया है, कुछेक के मन में पूरा अविश्वास तो नहीं, परंतु हिंसा के तत्त्व में शंका और भय-मिश्रित अश्रद्धा अवश्य उत्पन्न हुई है। काम इतने से चलेगा नहीं। जबतक हम अहिंसा की विधायक और सर्व-संग्राहक सामर्थ्य में सक्रिय विश्वास करके हिंसा का आश्रय नहीं छोड़ते तबतक हम मानवजाति के ऊपर मंडराते हुए संकट का निवारण नहीं कर सकेंगे तथा इस जगत् को भयमुक्त नहीं कर सकेंगे। कनाडा के विदेशमंत्री और संयुक्त राष्ट्र संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री लेस्टर बी० पियर्सन ने कहा है, "मानवजाति के अस्तित्व के लिए व्यापक अहिंसा की प्राप्ति की आशा तो अविश्वसनीय-सी है तथापि कोई कारण नहीं है कि हम तुरंत 'हिंसा पर कम भरोसा करने' और 'कम

हिंसा पर भरोसा करने' की दिशा में अग्रसर होने की चेष्टा न करें। इन दोनों दिशाओं में प्रगति की पर्याप्त गुंजाइश है।" अपने इस कथन के पश्चात् श्री पियर्सन अहिंसा के केन्द्रीय तत्त्व अर्थात् मानवीय परिवार की स्थापना की ओर आशाभरी निगाहों से देखते हैं, हम उनकी इस आशा में उनके साथ हैं। वह कहते हैं, "हमारे आध्यात्मिक मार्गदर्शकों ने सदा घोषित किया है कि समस्त मानवता एक परिवार है और यह एक प्रकार से केवल आलंकारिक नहीं, वास्तविक रूप में एक शरीर है। यह तथ्य आध्यात्मिक के अतिरिक्त दूसरे मार्गों से भी स्पष्ट होता जा रहा है। प्रौद्योगिक विकास के साथ परस्परावलम्बन बढ़ता जा रहा है। अतः यदि इस मानवीय परिवार को जीवित रहना है तो हमें अपनी एकता की चेतना को गहरा बनाना होगा तथा उसके अनुसार काम करना होगा। यदि हम एक शरीर हैं और हमारी एक अंगुली कट जाती है तो न यह आवश्यक है न बुद्धिमानी का लक्षण ही है कि हम एक भुजा को काट डालें।"

नियति-चक्र

रामचरण हयारण 'मित्र'

काल का ज्वार भव सिन्धु आता रहा,
जीव का भी सदा यान चलता रहा।
ज्ञान का भास्कर स्वच्छ आकाश में,
कभी चढ़ता रहा कभी ढलता रहा। काल का...

शीत आतप प्रबल वायु बाहुल्य से,
पादपों के हृदय को सताता रहा।
लहलहाता हुआ किन्तु तरु शृंग पर,
मोद में फूलता और फलता रहा। काल का...

बादलों के विपुल बाहुओं में बंधी,
चंचला हो पराश्रित विकल हो उठी।
किन्तु लघु शक्ति से ले प्रखर ज्योति को,
राहियों के लिए दीप बलता रहा। काल का...

जय अजय भय अभय मान अपमान औ,
सुख दुःख का सदा चक्र चलते हुए।
इन्द्रियों की विविध कामनाएं लिये,
चित्त अनुराग के बीच पलता रहा। काल का...

जानने योग्य अक्षय परम तत्त्व का,
ज्ञान जाज्वल्य जग में प्रकाशित रहा।
किन्तु तम रूप आसक्ति से विश्व के,
प्राणियों को कुटिल काम छलता रहा। काल का...

साधना का कठिन मार्ग करके ग्रहण,
भावना युक्त पद भूमि धरते हुए।
कल्पना पुष्प के रूप को लक्ष कर,
झूठ सौन्दर्य पर मन मचलता रहा। काल का...

सर्वदा से असत् मान संसार को,
त्यागने के लिए गीत गाते रहे।
किन्तु देखा गया प्राप्त करने इसे,
स्वर्ग से इन्द्र का पांव टलता रहा। काल का...

"मित्र" विधु शक्ति ने शान्ति उद्देश्य से,
दे सुधा बिन्दु हिमगिरि खड़ा कर दिया।
किन्तु हो दग्ध उर में किसी चाह में,
आप-ही-आप बन अम्बु गलता रहा। काल का...

एन. नारायणन

विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता

कहा जाता है कि इन बारह वर्षों में स्वतंत्र भारत की बहिर्मुखी प्रगति हुई है। इस बहिर्मुखी प्रगति में विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता की प्रगति भी निहित है या नहीं, इसे मैं नहीं जानता। फिर भी यह साफ़ है कि इस प्रगति के कारण विद्यार्थियों का स्तर दिन-ब-दिन गिरता जा रहा है। इस बात के कारणों पर हर जगह चर्चा छिड़ी है। हमेशा की तरह हमारे राजनैतिक नेताओं ने भी इस ओर अपनी नज़र दौड़ाई और मुंह में जो आया कह दिया। हमारे प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलालजी ने भी इस विषय पर कहा, जो बहुत गौर करने योग्य है। “विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का कारण स्वयं अध्यापक हैं। अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों का अनुकरणीय रहे और उनके चरित्र-गठन पर ध्यान दे।”

उपर्युक्त कथन पर विचार करते समय आज के शिक्षा-क्षेत्र की दयनीय स्थिति की ओर हमारा ध्यान जाता है। पिछले ज़माने में विद्या ज्ञान-प्राप्ति का साधन रहा। पर आज वह उदर-पूर्ति का साधन है। विद्यार्थी सोचता है कि जब दुनिया में शिक्षा के बिना ही काम चल सकता है तो शिक्षा की आवश्यकता ही क्या? उनकी इस धारणा का मूलधार आज के राजनीतिज्ञ हैं। इनमें बहुत-से ऐसे हैं, जिन्होंने किताबी-ज्ञान के बिना ही बड़े-बड़े ओहदे प्राप्त किये हैं, लाखों-करोड़ों कमाया है। इनको प्रत्यक्ष देखते विद्यार्थी शिक्षा की आवश्यकता पर सोचने लगता है। वह निश्चय कर लेता है कि इस शिक्षा के बिना ही हमारी उदर-पूर्ति हो सकती है; उदर-पूर्ति ही क्या, खज़ाने भर सकते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिज्ञों का जो बोलवाला आज विद्यमान है, वह बड़ी चिन्ता की बात है। जिस प्रकार अंग्रेजों ने अपनी शासन-सहूलियत के लिए भारतीयों को अंग्रेज़ी शिक्षा दी, वैसे आज के राजनीतिज्ञ भी अपनी-अपनी पार्टी-वृद्धि के अनुकूल शिक्षा चाहते हैं। इस सिलसिले में हिन्दी और अंग्रेज़ी शिक्षा की कितनी ही गड़बड़ियां पैदा हो चुकी

हैं। राजनीतिज्ञों की इस चर्चा ने विद्यार्थियों के मन पर अधिक प्रभाव डाला है और उनको भी इस चर्चा-क्षेत्र में खींच लिया है, उनको हड़ताल-अनशन करने की प्रेरणा दी है।

कहा जाता है कि विद्यार्थी का चरित्र-गठन स्कूल में होता है। लेकिन मेरी यह धारणा है कि विद्यार्थी का चरित्र-गठन स्कूल में नहीं, स्कूली जीवन के समय होता है। अर्थात् जब वह स्कूल में पढ़ने योग्य बनता है तभी उसका चरित्र-गठन होता है। इसमें स्कूल से अधिक बाहरी परिस्थितियों का प्रभाव है। आज का विद्यार्थी पुराने ज़माने का किताबी कीड़ा नहीं है। सबेरे से शाम तक वह राजनीतिक पत्रिकाओं को पढ़ता है, राजनीतिज्ञों के जोरदार भाषण सुनता है, छल-कपट से भरी दुनिया को देखता है। यह साफ़ है कि अच्छाई से बुराई का प्रभाव जल्द पड़ता है। इन बुराइयों से प्रभावित वह स्कूल में जाता है; अध्यापकों की मधुरवाणी से सचाई की, सदुपदेश की, नेकनीयती की बात सुनता है। उसके हृदय के बुरे गुण पूछते हैं ‘इतनी सचाई के साथ, नेकी के साथ काम कर क्या पाया है?’ ‘गरीबी, दुख, रोग!’ ‘बस! यह हमें नहीं चाहिए। रास्ता कुछ भी हो, उन्नति चाहिए, धन चाहिए, यश चाहिए।’ बस, बुरे गुणों की जीत हुई और अध्यापक की, सचाई की, सदुपदेश की हार!

आज भारत में असंख्य राजनैतिक दल हैं और ये सबके सब विद्यार्थियों पर बड़ी आशा रखते हैं। हरेक दल का अलग विद्यार्थी-दल भी कायम हो चुका है। राजनीतिज्ञ अपनी पार्टी के प्रचार के लिए विद्यार्थियों की सहायता लेते हैं। विद्यार्थियों में बहुतों को यह भी मालूम नहीं होता कि वह क्या कर रहा है, क्यों कर रहा है? एक बार ऐसी ही एक घटना घटी। जब राज्यों की पुनर्गठन-संबंधी रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो हर कहीं हल्ला मच गया था। यहां (मद्रास में) भी हड़ताल-अनशन शुरू हुए। कारण यह कि मद्रास के एक-दो जिले केरल और मैसूर में चले गये थे। उन्हें वापस

पाने के लिए हल्ला मचाया गया। राजनीतिक पार्टियों के नेताओं ने यह घोषणा की कि सभी लोगों को हड़ताल में भाग लेना चाहिए। स्कूल के विद्यार्थी भी उस दिन स्कूल न जायें। हड़ताल शुरू हुई। स्कूल के कुछ विद्यार्थी ही बाहर खड़े होकर स्कूल में आनेवालों को रोकने लगे।

एक-दो दिन बीते। हड़ताल में जिन विद्यार्थियों ने भाग लिया, उन्हें मैंने बुलाया और पूछा, “लड़को, आपने कल-परसों हड़ताल में भाग लिया था। ज़रा यह बताओ कि आपने जिन-जिन जगहों को वापस पाने के लिए हल्ला मचाया, वे जगह कहां-कहां हैं?” अधिकांश विद्यार्थियों ने यही कहा, “पंडितजी, हम तो यह नहीं जानते कि वे जगह कहां-कहां हैं। लेकिन हमने इसलिए इस हड़ताल में भाग लिया कि अमुक राजनैतिक पार्टी ने चार-चार आने देकर कहा कि कल स्कूल में न जाओ और स्कूल के बाहर खड़े होकर चिल्लाओ कि कोई स्कूल में मत जायें।”

इससे साफ़ है कि विद्यार्थियों को आकृष्ट करनेवाले कौन हैं? यह आकर्षण उचित हो या अनुचित, विद्यार्थी इसीको चाहता है। वह चाहता है कि मैं भी इन हड़ताल-अनशनों में भाग लेते-लेते बड़ा आदमी बनूँ, यश पाऊँ, धन कमाऊँ। इस आकर्षण का कारण अध्यापक कैसे हो सकता है?

आजकल मद्रास में एक नई क्रान्ति शुरू हुई है। भारत सरकार ने ‘यह ऑल इंडिया रेडियो’ के बदले ‘यह आकाशवाणी है’ कहने की आज्ञा दे डाली है। तुरंत ही यहां के राजनीतिज्ञों ने यह प्रचार किया कि ‘आकाशवाणी’ हिन्दी शब्द है। चाहें तो इस शब्द का उत्तर भारतीय रेडियो स्टेशनों में प्रयोग कर लें। हमारे रेडियो स्टेशनों में तमिल शब्द ‘वानो ली’ का ही प्रयोग कराना चाहिए। वस, इस ‘आकाशवाणी’ शब्द को लेकर चर्चा शुरू हुई, अनशन शुरू हुए। विद्यार्थियों ने स्कूल छोड़कर, जोर-शोर के साथ हड़तालों में भाग लिया। इस तरह विद्यार्थियों के स्कूल छोड़ने का कारण कौन हैं? क्या बेचारे अध्यापक पर इसका ज़िम्मा लगाना ठीक है?

कुछ दिन पहले मद्रास के विभिन्न राजनैतिक दलों के नेताओं ने मिलकर यह प्रस्ताव पास किया कि आगे से हम

अपनी पार्टी-वृद्धि के लिए विद्यार्थियों की सहायता न लेंगे। इस प्रस्ताव से ही यह साफ़ है कि अबतक ये सभी लोग अपनी पार्टी-वृद्धि के लिए विद्यार्थियों की सहायता लेते आये हैं। इस प्रस्ताव के बाद भी इन पार्टियों ने अपना-अपना विद्यार्थी दल नहीं छोड़ा है। वे सबके-सब जैसे-के-तैसे कायम हैं। हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि मद्रास ने ही पहले-पहल उपर्युक्त प्रस्ताव पास किया है। प्रस्ताव पास कर लेने पर भी जब मद्रास की यह हालत है, तब भारत के अन्य प्रान्तों के बारे में क्या कहा जाय?

राजनैतिज्ञों की बात सुनते-सुनते विद्यार्थी में अच्छे-बुरे की पहचान-शक्ति भी नहीं रह गई है। वह अच्छी तरह नहीं पढ़ता, अंक कम पाता, फेल हो जाता तो इसका इलजाम अध्यापक पर लगाता है। अगर अच्छी तरह पढ़ता, अंक अधिक पाता, पास हो जाता तो तब भी अध्यापक पर इलजाम लगाता, कहता कि इस अध्यापक ने क्या पढ़ाया? यह पास होना मेरे प्रयत्न का फल है। विद्यार्थी के इस तरह कहने का कारण कौन हैं? जब राजनीतिज्ञ अपना क्षेत्र छोड़कर शिक्षा के क्षेत्र में आकर विद्यार्थियों के दिलों पर अपना प्रभाव डालता है, तभी विद्यार्थी अध्यापक पर बिना सोचे-समझे यह इलजाम लगाता है।

एक घटना सुनिये। हाल में पास के एक शहर के म्युनिसिपल हाईस्कूल में एस० एस० एल० सी० (‘मैट्रिक’ की समकक्ष) की चुनाव-परीक्षा चली और उस परीक्षा में, २५७ विद्यार्थियों में ४५ विद्यार्थी फेल हुए। इन विद्यार्थियों को अपनी हार पर सोचने तक का अवसर नहीं दिया गया। म्युनिसिपलिटि के कुछ मेम्बरों और बाहर के कुछ राजनीतिज्ञों ने विद्यार्थियों को उकसाया। तुरंत ही हड़ताल शुरू हुई। स्कूल के करीब १५०० विद्यार्थी स्कूल नहीं गये। (इस स्कूल की कुल विद्यार्थी संख्या १८०० के लगभग है।) आखिर विद्यार्थियों की जीत हुई। हेडमास्टर ने सभी विद्यार्थियों को एस० एस० एल० सी० परीक्षा लिखने भेज दिया।

इस एक घटना से आज के शिक्षा-क्षेत्र का पूरा ढांचा प्रकट हो जाता है, अध्यापकों की दयनीय हालत का पूरा परिचय मिल जाता है यानी विद्यार्थियों पर राजनीतिज्ञों के प्रभाव का फल साफ़ हो चुका है।

विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता

- : ९७ :

कहा जाता है कि विद्यार्थी का चरित्र-गठन स्कूल में होता है। इसलिए अध्यापकों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों के अनुकरणीय बनें। यह कथन एक हद तक सच है। पर आज परिस्थिति इसके अनकूल नहीं है। पुराने काल में विद्यार्थी अध्यापकों के पास जाते, आदर के साथ उनका अनुसरण करते और अध्यापक से सद्गुण, सदाचार सीखते थे। लेकिन आज के विद्यार्थी के लिए स्कूल और अध्यापक से अधिक आकर्षण की वस्तुएं बाहर पड़ी हैं। वे सब उसको अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं।

स्कूल के बाहर ठाट-बाट से, कीर्ति से जीवन बिताने वालों को देख विद्यार्थी अध्यापक से इनकी तुलना करता है। बेचारे अध्यापक में ठाट-बाट भी नहीं, कीर्ति भी नहीं इस कारण से अध्यापक की वाणी का विद्यार्थी पर कोई असर नहीं पड़ता। अध्यापक विद्यार्थी को बता सकता है कि सचाई से, सदाचार से, सद्गुणों से हरकिसी का जीवन-स्तर ऊंचा हो सकता है। इसके विपरीत जब वह बाहरी दुनिया में सचाई के बिना, सदाचार के बिना, सद्गुणों के बिना ऊपर उठे हुए लोगों को देखता है तब उसका मन अपने-आप बुराई की ओर झुकता है। इस झुकाव को अध्यापक कैसे रोक सकता ?

विद्यार्थियों के आकर्षण की ओर एक वस्तु है सिनेमा। सिनेमा-कलाकारों में बहुत-से ऐसे हैं, जिन्होंने स्कूल को देखा तक नहीं। बल्कि थोड़े-से समय में, थोड़े-से प्रयत्न से, बड़े करोड़पति व कीर्तिमान् बने हैं। बड़े ठाट से मोटरों पर उन्हें घूमते देख विद्यार्थी का मन ही नहीं, बड़ों का मन भी आकर्षित हो जाता है। फिल्म भी ऐसे आते हैं, जिनमें कोई सीख नहीं, प्रेरणा नहीं, सद्गुण-सदाचारों का प्रचार नहीं। (एक-दो ही फिल्म इसके विपरीत हैं।) ऐसे फिल्मों को, उसमें अभिनय करनेवाले अभिनेता-अभिनेत्रियों के सुन्दर-सुडोल शरीर को, वस्त्राभूषणों को देखकर विद्यार्थी दांतोंतले जंगली दबाता है। उसको इसका पता नहीं कि यह अभिनय, झूठा अभिनय, धन पाने का, यश पाने का अभिनय है। ऐसी फिल्मों को देखकर विद्यार्थियों की काम-पिपासा जग उठी है। वह हरकिसी लड़की को बुरी दृष्टि से देखता है। उसकी कल्पना बुरी, विचार बुरे, नीयत बुरी, रंग-ढंग बुरा ! इस स्थिति में अध्यापक की मधुर वाणी का क्या महत्व ?

सभी विद्यार्थी ऐसे बुरे नहीं हैं। पर हैं अधिकांश ऐसे ही। आर्थिक स्थिति में निम्नकोटि का अध्यापक इनका अनुकरणीय कैसे बने ? अगर अवश्य ही उसे इन बुरे विद्यार्थियों का अनुकरणीय बनना हो तो उसे भी बुरे गुणों को अपनाना होगा। तब अच्छे विद्यार्थी उनका अनुकरण करना छोड़ देंगे। कोई भी अध्यापक यह नहीं चाहेगा कि वह स्वयं बुरा बनकर बुरे विद्यार्थियों का अनुकरणीय बना रहे।

स्वयं पंडित नेहरू मानते हैं कि अध्यापकों का वेतन चपरासी के वेतन से कहीं कम है। पर यह जानते हुए भी वह लाचार हैं। कह सकते हैं कि वेतन से कर्त्तव्य बड़ा है। लेकिन जब वेतन जीवन-मरण का आधार बन गया है तब कर्त्तव्य अपने-आप पीछे रह जाता है। कर्त्तव्य की बात 'प्लैट फार्मों' पर ठीक हो सकती है। पर आज के वास्तविक जीवन में कर्त्तव्य से धन की महत्ता बड़ी और बड़ी है। इसलिए केवल कर्त्तव्य की दुहाई देकर अध्यापकों को विद्यार्थियों के अनुकरणीय बनने का उपदेश देना कहांतक ठीक है ? आज भी अध्यापक, आर्थिक स्थिति से अपने स्तर के और अपने से निम्न स्तर के विद्यार्थी-वर्ग का अनुकरणीय है। पर वह समस्त विद्यार्थी-वर्ग का अनुकरणीय कैसे, कब बने ? अध्यापक विद्यार्थियों का अनुकरणीय बन भी सकता है (!) तब भी कौन कह सकता है कि विद्यार्थी पर बाहरी परिस्थिति का प्रभाव न पड़ेगा।

बाहरी परिस्थितियों से आकृष्ट विद्यार्थी स्कूल के पाठ पर कैसे ध्यान दे ? ध्यान न देते हुए भी वह परीक्षा में लिखने बैठता है। अध्यापक हर महीने जो परीक्षा चलाता है, उसका विद्यार्थी पर कोई प्रभाव नहीं है। वह जानता है कि वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण होना मात्र काफ़ी है। उसमें भी अनुत्तीर्ण होने की स्थिति में बड़े व्यक्तियों की सिफ़ारिश काम आ सकती है।

कुछ ऐसे बदनसीब विद्यार्थी हैं जिनको बड़े व्यक्तियों की सिफ़ारिश अप्राप्य है। पर उनमें एक और प्रकार का दुस्साहस निहित है। वर्ष-भर पढ़े बिना, वार्षिक परीक्षा के समय संपूर्ण प्रश्न-पत्र के उत्तर लिखने या कुछ ऐसे मुख्य प्रश्नों के जवाब देने, जिनसे वह उत्तीर्ण हो सके, पाठ्य-पुस्तक या उसकी कुंजी लेकर चोरी-चोरी नकल करने लगता है। वार्षिक परीक्षा की अत्यधिक महत्ता ही इस तरह नकल

करने का एकमात्र कारण है। इसलिए चाहिए यह कि वार्षिक परीक्षा की महत्ता कम कर मासिक परीक्षा, साप्ताहिक परीक्षा आदि की, अनुशासन की, चाल-चलन की महत्ता बढ़ाई जाय, तांकि विद्यार्थी को वर्ष-भर पढ़ाई की ओर ध्यान देने और अनुशासनपूर्ण व्यवहार करने की आवश्यकता रहे।

आखिर विद्यार्थियों में भी तब सोचने-समझने की कुछ शक्ति है। उनको चाहिए कि जरा अपनी स्थिति पर सोचें। लेकिन खेद की बात यह है कि बाहरी परिस्थिति आत्म-परीक्षण के लिए उन्हें अवसर ही नहीं देती। इस बाहरी आकर्षण से विद्यार्थियों को रोके रखना अवश्यभावी है।

बाहरी परिस्थिति के प्रभाव से विद्यार्थी को बचाये रखना अध्यापक के हाथ में नहीं है। इसी कार्य के लिए सरकार है। पर सरकार और राजनीतिज्ञ अपने इस कर्त्तव्य को भूलकर शिक्षा के क्षेत्र में अनावश्यक ही दखल दें तब कहना पड़ेगा कि जैसे अध्यापक-वर्ग राजनैतिक क्षेत्र में दखल नहीं देता वैसे राजनीतिज्ञों को चाहिए कि वे भी शिक्षा के क्षेत्र में दखल न दें।

सरकार आजकल स्कूल के विद्यार्थियों को वर्ग-शुल्क से छूट दे रही है। यह छूट विद्यार्थी के सामर्थ्य पर निर्भर नहीं है। किसी-किसी जाति विशेष के लिए यह छूट नियत है।

(८३ पृष्ठ का शेष)

जमाने की तसल्ली नहीं होगी। विज्ञान कुल दुनिया को एक करके ही छोड़ेगा। अगर ऐसा नहीं होगा तो मानव-जाति को खत्म होना होगा। आज जैसे हमारे यहां एक सूबे का नागरिक सारे हिंदुस्तान का नागरिक है, वैसे ही एक देश का नागरिक सारी दुनिया का नागरिक बने, यही हमें करना है। ये सारी सीमाएं टूट जायेंगी। बीसा, पास-पोर्ट वगैरह कुछ नहीं रहेगा। इंसान दुनिया में कहीं भी जा सकेगा और प्यार से खिदमत करके अपनी जिदगी बसर कर सकेगा। इस तरह की दुनिया बनेगी, तभी विज्ञान के जमाने का समाधान होगा।

लोग जानते हैं कि मेरे कुल विचार की बुनियाद अमन, तशद्दुद, अहिंसा पर हैं। मैं अहिंसा को इतना प्यार क्यों करता हूं, इसका जवाब यह है कि मेरा विज्ञान पर प्यार है। मैं चाहता हूं कि विज्ञान खूब बढ़े और वह बढ़नेवाला है ही। उसे कोई नहीं रोक सकता। अगर हम चाहते हैं कि विज्ञान

ऐसा न होकर विद्यार्थी की बुद्धिमत्ता के लिए, अध्यापक की सिफारिश पर, ऐसी छूट दी जाय तो विद्यार्थी का स्तर अवश्य ऊंचा उठ सकता है; उनमें अनुशासनपूर्ण व्यवहार करने की आदत पड़ सकती है।

विद्यार्थी के चरित्र-गठन पर माता-पिता का प्रभाव भी अधिक अंश तक पड़ता है। हरेक माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चे के चरित्र-गठन पर ध्यान दें। स्कूल में जाने के पहले ही उनको नेकी, चरित्रवान्, गुणवान्, परहितार्थी, निःस्वार्थी और त्यागी बनाने का प्रयत्न करें। जब अध्यापक भी इस प्रयत्न में साथ देगा तब विद्यार्थी सचमुच अच्छे बनेंगे।

यह साफ है कि विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का कारण, सद्गुणों का अभाव और बाहरी परिस्थिति का प्रभाव है। इस अनुशासनहीनता का कारण अध्यापक नहीं, बल्कि समाज के समस्त व्यक्ति हैं। समाज के समस्त व्यक्ति जब अच्छे बनेंगे तभी समस्त विद्यार्थी-वर्ग अच्छा बनेगा। जब समस्त राजनीतिज्ञ, पत्र-पत्रिकाएं, सिनेमा-कलाकार, मां-बाप अपना संपूर्ण सहयोग देंगे तभी विद्यार्थियों का चरित्र-गठन अच्छा बन सकता है, तभी अध्यापक विद्यार्थियों के चरित्र-गठन में अपना पूर्ण सहयोग दे सकता है।

बढ़े तो विज्ञान के साथ अहिंसा का होना लाजमी है। विज्ञान और हिंसा, तशद्दुद इकट्ठा हो जाय, तो इंसान का खात्मा हो जायगा। मैं राह देख रहा हूं उस दिन की, जब 'एटॉमिक इनर्जी' (अणुशक्ति) हासिल होगी और हर गांव में पहुंचेगी। वह एक 'डीसेंट्रलाइज्ड' (विकेन्द्रित) ताकत है, जो गांव को अपने पांवों पर खड़ा कर सकती है। बहुतों का खयाल है कि सर्वोदय दकियानूस, पुराने जमाने का विचार है, जो विज्ञान को पसन्द नहीं करता। लेकिन यह बिल्कुल ही गलत खयाल है। मैंने बार-बार कहा है कि विज्ञान पर अगर किसीका हक है तो सर्वोदय का ही है, दूसरों का नहीं है। अगर दूसरों के हाथ में विज्ञान की ताकत जायगी तो वह मनुष्य को खत्म करनेवाली साबित होगी। अगर वह ताकत सर्वोदय के साथ जुड़ जायगी, तो इंसानियत पनपेगी, इंसान का भला होगा। ये सब बातें शिक्षकों के बीच रखकर मैं समझता हूं कि मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा किया है।

सत्य की पहली सीढ़ी मानवता

भारतीय इतिहास में देश की एकता को प्रतिष्ठापित करने में संतों ने बहुत बड़ा योगदान दिया है। यदि दक्षिण के संतों से इस एकता के प्रयासों का समारंभ समझें तो रामानुज, वल्लभाचार्य, चैतन्य, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नरसी, मीरा, कबीर, दादू, सूर, तुलसी आदि एकता के महान् सत्य की ओर निरंतर आगे बढ़ते गये और चूंकि सभी सत्य के आग्रही थे इस कारण जनता ने भी बराबर उनका साथ दिया। सत्य-मार्ग के राहगीर को साथी जुटाने नहीं पड़ते, अपने-आप जुट जाते हैं।

सत्य असीमित, अनंत और नित्य चैतन्य हुआ करता है। इस कारण संतों ने देश, जाति की बात से ऊपर मानवता को स्थान दिया। पूर्ण सत्य की प्रथम सीढ़ी मानवता है, दूसरी सीढ़ी प्राणित्व और तीसरी सृष्टितत्व है। सत्य इन तीनों से सर्वोपरि है। संतों ने प्रथम सीढ़ी को अपनाया और देश में भावनात्मक एवं वैचारिक एकता स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया। गांधीजी इसी स्वर्णिम परम्परा के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। उन्हें भी पूर्ण सत्य की प्राप्ति नहीं हुई थी, इस कारण उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम दिया 'सत्य के प्रयोग'। पूर्ण सत्य की प्राप्ति तो मनुष्य को राम-मय या ब्रह्म बना देती है। इस कारण सत्य की प्रथम सीढ़ी मानवता पर पैर रखनेवाले गांधी अपनी पुस्तक का इससे दूसरा उत्तम नाम दे ही नहीं सकते थे।

इन संतों ने एक बड़ा भारी काम और भी किया, वह है दर्शन की ऊर्ध्वगामी गति को रोक उसके पैर धरती पर ही मजबूत करने में सहयोग दिया। पर्वतों और गुफाओं में जाते हुए ब्रह्म को पुनः संसार में लौटा लाये। ब्रह्म का एकांत समाप्त कर अनेकांत कर दिया। दर्शन को व्यक्ति-परक से समाज-परक बना दिया। जाति, देश, समाज एवं राज्य के संकुचित दायरे में मस्त जनता ने हमेशा संतों की निर्भयता के कारण संतोष की सांस ली। ये संत जनता को हमेशा ही यह उद्बोधन देते रहे कि वे मनुष्य हैं, जानवर नहीं, इसी कारण जनता प्रत्येक प्रकार के उत्पीड़न के खिलाफ

विद्रोह करती रही। गांधी को महात्मा या संत कहने से यही तात्पर्य है कि उन्होंने संतों की परम्परा को न केवल अधुण्ण रखा, परन्तु उसको एक नया रूप ही दे दिया। गांधी के सिपाही बिना हथियारों के हथियारों से लैस क्रूर सेनाओं से लड़ते थे। यहां तक कि गांधी की सेना में दिल का पनापन रखना भी गुनाह माना जाता था। दुश्मनों से लड़ा जाता था दुश्मन समझकर नहीं, परन्तु भाई समझकर और प्रेम के हथियार से। इन महात्माओं और संतों की बात ही अनोखी है। ये अपनी सेना की आत्मशक्ति बढ़ाते हैं, हथियारी शक्ति नहीं। इनकी सेना में भरती सैनिक को पहली शिक्षा दी जाती है कि "तुम अमर हो", इस कारण तुम्हें निर्भय रहना चाहिए।

मैं समझता हूं कि भारतीय दर्शन की सर्वोत्तम उपलब्धियों को कार्यरूप में परिणत कर देने का श्रेय इन संतों को ही है। विशेषकर गांधीजी ने तो समाज के एक भी अंचल को नहीं छोड़ा। सत्य की किरणें सभीपर पड़ती हैं, सूर्य किरण देने में कभी भेद-भाव नहीं बरतता। अच्छे, बुरे, ऊंचे, नीचे, सुगन्ध-दुर्गन्ध सभीपर समान रूप से सूरज चमकता है। अच्छाई को पुष्ट करने की क्षमता और बुराई को नष्ट करने का अदम्य उत्साह सत्य के रूप में रहा करता है। यही कारण है कि गांधी को हमें सभी रूप में देखना पड़ता है। प्रश्न होता है, हम किस रूप में उन्हें न देखें। बापू नाम तो विख्यात है, परन्तु कई आत्मीय परिजन उन्हें "बापू मेरी मां" कहकर भी पुकारते हैं। गीता के 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव, त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देवः' सरीखे रूपवाले गांधी भी अपने देश में पूजित हुए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्द "गांधी किताबी सत्य नहीं, एक जीवित सत्य है, एक ऐसा सत्य जो देश के पीड़ितों-बंचितों की कुटिया का द्वार खटखटाता है, जिसकी वेश-भूषा ठीक वैसी ही है जैसी कि खुद उनकी और जो उन्हीं-के देश के गरीबों, पीड़ितों और बंचितों की भाषा में नसे

बात करता है”, अक्षरशः सत्य है।

मशीन और विज्ञान ने सीमाओं को तोड़ने का काम किया है। भौगोलिक सीमाओं पर तो विज्ञान ने विजय पा ही ली है, साथ-साथ सामाजिक सीमाओं को तोड़कर मनुष्य को मनुष्य के नजदीक लाने का प्रयास किया है। मशीन को चलाने के लिए हाथ चाहिए, जाति नहीं। इस तरह जाति की दुर्दमनीय दीवारें ध्वस्त होगईं। विज्ञान ने मनुष्य को एक स्थान पर लाकर खड़ा अवश्य कर दिया, परन्तु वे सब बन जाते हैं, ईंट के ढेर के सदृश। भावनात्मक एकता ला सकना विज्ञान के बस की बात नहीं है। वह तो दर्शन, संस्कृति और साहित्य ही कर सकता है। साहित्य और संस्कृति भी कभी-कभी एकदेशीय हो सकते हैं, परन्तु दर्शन तो एकदेशीय हो ही नहीं सकता। दर्शन सत्य की खोज का नाम है और सत्य केवल एक ही है, इस कारण वास्तविक रूप में एकता लाने में दर्शन बड़ा भारी काम करता है।

संतों का दर्शन क्या रहा है? इसका उत्तर केवल है “सत्य”। गांधी ने दो बातों को अपनाया था—सत्य और अहिंसा। सत्य और अहिंसा इतने व्यापक हैं कि इनमें सबकुछ आ जाता है, फिर वह आपकी घरेलू समस्या हो या धार्मिक या राजनैतिक। राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का भी मार्ग गांधीजी ने सत्य और अहिंसा से बनाया था। वैसे सत्य और अहिंसा के स्थान पर केवल सत्य का ही प्रयोग किया जाय तो अहिंसा

उसमें अपने-आप आ जाती है। जितने भी मानवीय गुण हो सकते हैं, वे सत्य में समाविष्ट हो जाते हैं। यही कारण था कि उन्होंने राष्ट्रीय संघर्षों का नाम सत्याग्रह दिया था।

मैं यह मानता हूँ कि गांधी जीवित दर्शन थे। वेदान्त को कार्यरूप में परिणत कर देनेवाले मनीषी थे। अपने स्वतः को ब्रह्म या सत्य न कहकर वह चाहते थे कि सारी जनता ब्रह्म कहलाये। वह थोथे दार्शनिक की तरह व्यक्ति-निष्ठ न होकर समाजनिष्ठ थे। धर्म, सत्य, एवं सौन्दर्य को वह हमेशा सामाजिक दृष्टिकोण से ही देखते थे। यही कारण है कि उन्होंने जहाँ एक ओर सामाजिक समस्याओं की गुत्थियों को सुलझाया वहाँ दूसरी ओर भूखों के लिए रोटी व घर की चिन्ता की। उन्होंने कहा था, “वह जाति, जिसे दो जून रोटी तक नसीब न हो, न तो किसी धर्म की बाहक हो सकती है, न कला की। मुझे वही सुन्दर लगता है जो कि भूख से भस्म देश की लाखों-लाख जनता के काम आये। पहले जीवन की आधारभूत चीजों की व्यवस्था कीजिये, जीवन में दयनीयता और कलंकारिता का समावेश होने में देर नहीं लगेगी। कला और साहित्य वही है जिसका देश के अपार जनसमूह के साथ सम्पर्क कायम हो।”

गांधी सच्चे कलाकार थे, क्योंकि वे मनुष्यों को उनकी आत्मा वापस दिलाकर उसमें सौन्दर्य और सौरभ प्रकट कर देते थे। सचमुच गांधी मनुष्य-समाज के एक सफल बागवान थे।

जो व्यक्ति मेरे यश पर डाका डालता है वह एक ऐसी चीज का अपहरण करता है जो यद्यपि उसे तो धनी नहीं बनाती, किन्तु मुझे गरीब अवश्य बना जाती है।

—शेक्सपियर

प्रत्ययों की रानी 'ई'

हिन्दी में हिन्दी, संस्कृत, फारसी तथा अरबी के प्रत्ययों का प्रयोग होता है। शब्द-रचना में उपसर्गों तथा प्रत्ययों का मुख्य स्थान है। इनकी सहायता से अनेक शब्द बनते हैं, परन्तु उपसर्गों की अपेक्षा प्रत्ययों की संख्या बहुत है। इन प्रत्ययों में 'आ' तथा 'ई' प्रत्यय प्रसिद्ध हैं और इनकी सहायता से अनेक प्रकार के शब्द बनते हैं। यदि 'आ' को प्रत्ययों का राजा कहा जाय तो 'ई' को प्रत्ययों की रानी कहना बेजा न होगा। यहां 'ई' से भिन्न-भिन्न प्रकार के बननेवाले शब्द नीचे दिये जाते हैं, जिनके अनुकरण पर नये शब्द बनाये जा सकते हैं :

(हि०) १. स्त्री-लिंग प्रत्यय हिन्दी। आकारान्त और फारसी हकारांत शब्दों से जो हिन्दी में आकारान्त बन जाते हैं, स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिए यह प्रत्यय प्रयुक्त होता है, जैसे बकरी, बन्दी (फा०) (बंदा से, दासी), बांदी (नौकरानी के लिए ही आता है), पनिहारी (पनिहारा से), महरी (महरा से, या वर्तन मांजनेवाली), शहजादी आदि।

अकारांत शब्दों से स्त्रीलिंग, जैसे कहारी, गौदड़ी, नदी, पठानी, ब्राह्मणी, बन्दरी आदि।

स्त्रीलिंग विशेषण, जैसे अच्छी, गहरी, छोटी, बड़ी, सुन्दरी, लम्बी आदि।

२. औजार-वाचक संज्ञा, जैसे गिरंडी चक्की, चक्री, चखी, चटखनी, चिमटी, जीभी (जीभ साफ करने की सलाई), थापी (थापने का औजार), दानी, दांती, दूधी (दूध पिलाने की तूती), धनकुट्टी (धान कूटने का औजार), धुनकी, नक-चूँटी, परखी (परखना से), बुहारी (बुहारना से) फांसी, मापी (मापक), सूली आदि।

३. लघुता-वाचक संज्ञा प्रत्यय। अकारांत और आकारांत संज्ञाओं में लगता है, जैसे आरी (आरा से), उपली, कनस्तरी (अंग्रेजी कनस्तर से), गिलासी, घाटी, टंकी (पानी भरने का सन्दूक जैसा डब्बा, अंग्रेजी टैंक से), टोकरी बली, डोरी, डोली, डोलकी, पहाड़ी, मूली (सं० मूल—जड़ से, अतः यह विशेष अर्थ में मूली नामक भाजी के लिए आती

है), रस्सी, रोटी, शीशी आदि।

सू०—यह प्रत्यय विदेशी शब्दों के साथ बिना झिझक के लगाया जाता है। यहां भी आरा और शीशा फारसी और गिलास, टैंक, तथा कनस्तर अंग्रेजी शब्दों के साथ लगाया गया है।

४. स्थान-वाचक, जैसे आचारी (आचार का वर्तन, या आचार के बरतनों को रखने का स्थान), कोतवाली (कोतवाल से, थाना), दुछती (दो छतों के बीच का कम ऊंचा गोदाम, स्टोर, दो कमरों के बीच का छोटा कमरा), बरसाती (बरसात में सोने का स्थान), वह दफ्तर जहां क्रय-विक्रय पत्रों आदि पत्रों की रजिस्ट्री होती है) आदि।

५. जाति या भाषा, एक अथवा दोनों का, जैसा अंग्रेजी, अर्धमागधी, अरबी, अवधी, आसामी (असमिया भी), कश्मीरी, गुजराती, गुरुमुखी, (लिपि है), चीनी, जापानी, तुर्की, पंजाबी, बागड़ी, भारती, फारसी, मराठी, महाजनी (मुण्डी दोनों लिपि हैं), मारवाड़ी, यूनानी, रूसी, लातीनी, शौरसेनी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी आदि।

६. समुदाय-वाचक, जैसे छत्तीसी, पच्चीसी (पच्चीस से, प्रयोग बैताल-पच्चीसी, प्रेम-पच्चीसी), पंचमी, बत्तीसी (बत्तीस दांतों का समुदाय, बत्तीस कथाओं का समुदाय), बीसी आदि।

७. भूषण-वाचक, जैसे अंगूठी, कंठी (कंठ से कहावत —भूखे भक्ति न होये गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला), कर्धनी, तगड़ी, तिलड़ी, बाली (बाल-सी पतली, कानों में पहनने का आभूषण), पहुंची (पहुंचा से) आदि।

८. मिठाइयों के नाम, अन्दरसी, इमरती, जलेबी, बरफी, बत्तीसी, बूंदी (बूंद से), आदि।

९. रंगों के नाम, जैसे अंगूरी, आबी (आब—पानी), आसमानी (आसमान से, इसीके अनुकरण पर आकाशी बनाया जा सकता है), उन्नाबी (उन्नाब से), कपूरी, किश-मिशी, खाकी (खाक—मिट्टी, रेत—वर्दी), गुलाबी, धियाकपूरी, चाकलेटी, धानी, नसवारी (हुलास का रंग),

प्याजी (प्याज, गंठा), बदली (बादल का रंग), बादामी, बेंगनी, स्लेटी (स्लेट से), शरबती, सिन्दूरी आदि।

१०. कपड़ों के नाम, जैसे आंगी (अंग से, स्त्रियों का प्रसिद्ध वस्त्र), ओढ़नी (ओनी भी), चोली (मु० चोली दामन का साथ), कमरी (कमर से), गंजी, जवाहरी (जवाहरकट जाकेट, कमरी के अनुकरण पर), बंडी (?) बरसाती (वर्षा ऋतु के पहनने का मोमिया कोट तथा चादर) मसहरी (मच्छरदानी, मच्छर से, च का स हो गया। रामनामी (रामनामी छपी चादर), रुमाली (रुमाल से), लुंगी, शतरंजी (शतरंज नुमा जाजम या बिछाने का वस्त्र), खदरी (कमरी की तरह का एक वस्त्र) आदि।

११. स्थानों पर चीजों के नाम, जैसे चीनी (चीन से, चीनी मिट्टी, दानेदार चीनी, खांड), मिखी (मिख से, बहुत साफ की हुई खांड की जमाई हुई डलियां, कूजे, तई), मुलतानी, सुरती (सूरत से, खाने का तम्बाकू, सूरत का घटिया किस्म का कपड़ा जो अंग्रेजी काल में विलायत को जाता था।) १

१२. सिक्कों के नाम तथा विविध, जैसे अशरफी, अठमाशी (आठ माशे का पौण्ड, अशरफी), पनसेरी (पांच सेर का वट्टा), सोहागी (सोहाग सामग्री, बिहार में विवाह के समय वधु के लिए दी जानेवाली)।

१३. (हि०, फा० भाव-वाचक संज्ञा। (अ) संज्ञाओं तथा विशेषणों से, जैसे आवादी, कमी, खटाई, गर्मी, गृहस्थी, चोरी, चातुरी, तेजी, तुरशी (खटाई, कटुता), नेकी, बदी, बनजी, लाली, सफेदी, सवारी (सवारी का वाहन भी), साढ़ी (आसाढ़ी भी, गेहूं चने आदि की फसल, रबी, ज्वार) सावनी (सावनी, वाजरे आदि मकई की फसल, सावन मास में बोलने के कारण यह नाम पड़ा, खरीफ), सुस्ती, सौदागिरी आदि।

(आ) (क्रियाओं से), जैसे कुट्टी (कूटना से, कुटने का

१. सुरती कपड़ा घटिया होने के कारण, लंकाशायर में सुरती शब्द का अर्थ ही घटिया और मिला हुआ हो गया। प्रो० अर्नेस्ट ब्लैकली ने ८ मई सन् १८६३ के 'टाइम्स' से एक रोचक उदाहरण दिया है। इसमें बताया गया है कि एक शराब बनानेवाले कारखाने ने इस बात पर हर्जाना प्राप्त किया कि उनको सुरती शराब बनानेवाले अर्थात् घटिया शराब बनानेवाला लिख दिया गया था।

भाव, चारे की कुट्टी भी), चरी (चरना से, जुवार आदि के हरे पौंदे), टिटाकरी, डुबकी, झपकी, सिड़की (शिड़कना से), थपकी, दुबकी, भगी (भागना से), मरोड़ी, हँसी आदि।

१४. क्षेत्रफल-सूचक, तिस्वांसी, बिस्वांसी (तिस्वांसी का बीसवां भाग, बीसवां—अंश—ई, बिस्वांसी बीघे का बीसवां भाग, एक भूमि का एक पैमाना) आदि।

१५. मुगल-काल में कुछ फौजी पद-सूचक प्रत्यय, जैसे तीसहजारी (तीस हजार सेना का सेनापति), पांचहजारी, बाईसी (बाईस जिलों की फौज जो मुगल बादशाहों के जुलूस के साथ निकलती थी), आदि।

१६. व्यवसाय-वाचक संज्ञाएं भी इस प्रत्यय के योग से बनती हैं, जैसे कागजी (कागज का व्यापारवाला), गंधी, सुगंधी, घोसी (गवाला), छीपी (कपड़े छापनेवाला), तम्बोली, तेली, धोबी, नेगी, पंसारी (?), विसाती, बराती (बरात से), मदारी (?), माली, रागी, व्यापारी, सांगी (स्वांग भरने तथा गाने-बजानेवाले)।

१७. सं० हि०, फा० अं० विशेषण-सूचक तथा कर्त्ता-वाचक संज्ञा। संज्ञाओं के अन्त में लगाया जाता है, जैसे अकाली, अपराधी, अमरीकी, आसाढ़ी (आषाढ़ी फसल), कांग्रेसी, किरोड़ी, क्रोधी, करामाती, काबुली, किताबी (—कोड़ा, ज्ञान), घमंडी, छीपी (छापने से, कपड़े छापने-वाला), जनसंधी, जवाबी कार्ड, दर्शनी (दर्शन—देखना, —हुंडी), देसी, दंडी (दंडधरी) दानी, दीवानी, देहाती, दोषी, ध्यानी, धनी, धूपछांही साड़ी, धोबी, नहरी पंचायती, पक्षी, पापी, पूर्वी, फौजदारी, फौजी, बरसाती (—नदी, —नाला, —मेंढक), बैसाखी (बैसाख की उपज, बैसाख सम्बन्धी), भावी, मानी, माही (माह महीने से, —घी), मियादी (मियाद-अवधि, —हुंडी, —बुखार), मुसलमानी, मुस्लिमलीगी, मिस्त्री, मुलकी, मुलतानी, यात्री, रोगी, लक्खी (लाख संख्या से, —मेला —बड़ा मेला, —बंजारा, लाख रुपए की पूंजीवाला व्यापारी), लोभी, शराबी, शास्त्री, शाही, स्वाभिमानी, स्वदेशी, संधी, समाजी, स्कूली, संसारी, समाजवादी, सवारी (—गाड़ी), साथी, साम्यवादी, साहसी, हजारी, हाजी (हज से, मक्के-मदीने का मुस्लिम यात्री), हिम्मती, हिमायती आदि।

(शेष पृष्ठ ९० पर)

प्रभाकर जोशी

सत्याग्रही कुमारप्पा

वह मंगल सुप्रभात, कितनी मनोरम, कितनी सुहावनी और हृदय में उत्साह लिये वातावरण की गहराई और शान्ति बटोरे मगनवाड़ी को मगन कर रही थी। सन् '५२ के दिसम्बर महीने में छात्रालय के मैदान में पानी छिड़का था, उड़ीसा की पवित्रा बहन ने आंगन में रांगोली निकाली थी। कक्षा साफ सुथरी, टाट-पट्टियां व्यवस्थित बिछी हुई थीं। सारे विद्यार्थी कतारबद्ध बैठे-बैठे कुमारप्पाजी के आगमन की राह देख रहे थे। कुमारप्पाजी के पिछले भाषणों का संदर्भ लिये, भावी प्रश्नोत्तरों की रूपरेखा बांधे, कई भाई-बहन आपस में धीमी-ऊंची बातें कर रहे थे कि सहसा एक घंटा बजा। सब सहम गये, बातें बन्द हो गई, सबकी निगाह दरवाजे पर जम गई। बहनों की फुसफुसाहट, भाइयों की गुनगुनाहट, सब बन्द होकर वातावरण में शान्ति छा गई। धीमी पदचाप, किन्तु तेज कदमों से कुमारप्पाजी ने कक्षा में प्रवेश किया। अपने हमेशा के सीधे स्वर में उन्होंने पूछा, "कक्षा मंत्री कौन है?"

"मैं हूँ", मैंने यथाशक्ति सीमित शब्दों में उत्तर देने की कोशिश की।

"तुमने आज एक बहुत बड़ी गलती की है। सत्याग्रह की दीक्षा लेनेवाले विद्यालय में तुमने असत्य का ढिंढोरा पीटा है।"

मैं समझ नहीं पाया कि मुझसे क्या गलती हुई? "क्या मैं जान सकता हूँ," मैंने तेजस्वितापूर्वक किन्तु धबराहट के साथ पूछ लिया।

"आज मैं कक्षा लेने आ रहा था तब आठ बजकर तेरह मिनट हो रही थी। तुमने सवा आठ की घंटी लगा दी। घंटे की आवाज सुनकर सब सहम गये। मैंने अपनी घड़ी की ओर देखा। मेरी आंखें धोखा नहीं खा सकती थीं। दो मिनट पहले घंटी क्यों बजाई?"

मैं कुमारप्पाजी की समय की पाबंदी जानता था। मैं कोई वहाना बनाकर झूठ भी कैसे कह सकता था, फिर भी हिमत करके मैंने दलील देने की कोशिश की, "आपके आते

ही मैंने घंटी इसलिए बजाई कि सब तैयार हो जाय और कक्षा ठीक सवा आठ बजे आरंभ हो जाय। मेरे ख्याल से समय के दो मिनट पूर्व स्वस्थ हो जाना अच्छा है।"

"तुम्हारे लिए दो मिनट का भले ही कोई मूल्य न हो, किन्तु हजारों के दो मिनट मिलकर घंटों का हिसाब हो जाता है। मेरे सामने बैठे पचास विद्यार्थियों के दो मिनट, आस-पास के मजदूरों व रामनगर मोहल्ले के निवासियों के दो मिनट, आज बेकार गये। उन्होंने सोचा होगा कि सवा आठ बज गये और मगनवाड़ी के घंटों के आधार पर बनी उनकी दिनचर्या में वे उठ बैठें होंगे। तुम्हारे हाथों ने घंटे पर चोट लगाकर सारी दुनिया में सवा आठ बजने की आवाज लगा दी। क्या सबके लिए यह एक धोखा नहीं हुआ? क्या १३ मिनट को १५ मिनट कहना झूठ नहीं है?"

"है तो सही। किन्तु मैंने असत्य समझकर नहीं, सहज भाव से पूर्व तैयारी की दृष्टि से घंटी बजाई थी। क्या इतनी छोटी बातों में हमें उलझना चाहिए?" मैंने जिज्ञासु भाव से पूछा।

कुमारप्पा थोड़े गंभीर हो गये। कहने लगे, "हमारे जीवन में हम असत्य के छोटे-छोटे प्रसंगों को पचाकर, सत्य की उपासना करते हैं। ऐसी छोटी-सी गलती को हम अपनी होशियारी मानकर सत्याग्रह की उपासना करना चाहते हैं। गांधीजी सत्य के पुजारी थे। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म असत्य को उन्होंने जीवन से निकालकर सत्याग्रह की शक्ति खड़ी की थी। सचाई के छोटे किन्तु प्रभावशाली शस्त्र से उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य की नींव को हिला दिया था। और हम आज उनकी छत्रछाया में बैठकर, स्वयं अपनी कमजोरियों पर, असत्याचरण पर गांधीवाद का लेप चढ़ाकर सत्य के आग्रही कहलाना चाहते हैं? मन, वचन, कर्म से सत्य की बारीकियों को न पहचाननेवाले हम क्या बापू के स्वप्न को साकार कर सकेंगे। याद रखिये, हमारी छोटी-सी गलती आगे चलकर पहाड़ का रूप ले लेगी।"

(शेष पृष्ठ १०६ पर)

चन्द्रशखर दुबे

एक गिलास पानी

मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए एक व्यक्ति ने सात-आठ साल की बच्ची के साथ होटल में प्रवेश किया।

किसी कुर्सी की ओर जाने के वजाय वह व्यक्ति बीच राह में ही खड़ा रह गया। बच्ची अलमारी में सजी मिठाइयों को व मिठाई खानेवालों को हसरतभरी नजरों से देखने लगी !

आर्डर-मास्टर से नजरें मिलते ही उस व्यक्ति ने बच्ची की ओर संकेत कर कहा, "भैया, एक गिलास पानी दे देना जरा।"

आर्डर-मास्टर ने उस व्यक्ति को व्यावसायिक दृष्टि से तौलते हुए रुखाई से कहा, "यह प्याऊ नहीं है।"

उस व्यक्ति के चेहरे पर क्रोध की एक लहर आई; मगर दूसरे ही पल वह गायब हो गई। वह बच्ची का हाथ खींचकर बाहर जाने के लिए मुड़ा। किन्तु दो-चार कदम जाकर ही वह फिर लौट आया। एक खाली कुर्सी पर बैठते हुए वह जरा कड़ककर बोला, "एक चाय, एक गिलास पानी लाओ।"

आर्डर-मास्टर के संकेत पर छोकरे ने चाय व पानी उसके सामने लाकर रख दिया। उस व्यक्ति ने पानी का गिलास बच्ची के होठों से लगा दिया। बच्ची ने एक सांस में ही गिलास खाली कर दिया। उसने बच्ची की पीठपर हाथ फेरते हुए पूछा, "और पियोगी?"

बच्ची ने नकारात्मक सिर हिला दिया।

वह व्यक्ति उठ खड़ा हुआ व बच्ची को लेकर चल दिया। चाय टेबुल पर जैसी-की-तैसी रखी रही। वह उसने छुई भी नहीं।

आर्डर-मास्टर की नजरों से यह छिपा नहीं रहा।

उस व्यक्ति के गल्ले के सामने पहुंचते ही आर्डर-मास्टर ने आवाज लगाई, "एक आना।"

वह व्यक्ति इकट्ठी फेंककर सीढ़ियां उतर गया। आर्डर-मास्टर ने उसकी मंगवाई हुई चाय मंद-मंद मस्कराते हुए दूसरे ग्राहक के सामने रख दी। होटल का काम पूर्ववत् चलता रहा। मानों कुछ हुआ ही न हो।

धर्म वही है, जो सबको धारण करता है। अलग-अलग रहने पर धर्म नहीं बनता। धर्म तभी बनता है, जब सब एक हो जाते हैं। तभी धर्म की जरूरत भी खड़ी होती है। धर्म है कि क्रोध नहीं आना चाहिए। लेकिन इसकी कसौटी क्या? गुस्सा करने के लिए भी सामने दूसरा मनुष्य चाहिए। इसी तरह परीक्षा के लिए भी समाज चाहिए। सहकार धर्म है, लेकिन क्या अकेले रहने से सहकार सधेगा? समाज होगा, तभी तो सहकार सधेगा और धर्म पहचाना जायगा। सत्य और प्रेम धर्म है। पर अगर अकेले रहते हैं, तो प्रेम किस पर करेंगे? प्रेम-धर्म तभी प्राप्त होगा, जब हम समाज में रहेंगे। इस तरह देखा जाय, तो ध्यान में आयगा कि मानव के जितने भी धर्म हैं, सभी समुदाय पर आधारित हैं।

—विनोबा

जुगमन्दिर तायल

लोकगीतों में वर का आदर्श

लोकिक संसार में जितने भी संबंध हैं उनमें सर्वाधिक निकट का संबंध है दाम्पत्य संबंध। संसार के अन्य संबंध जीवन के एक अंश के संबंध होते हैं पर यह संपूर्ण जीवन का संबंध होता है। खेद का विषय है कि हमारे समाज में जीवन के इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण संबंध के निर्णय करने में ही सर्वाधिक अनुत्तरदायी पूर्ण रुख लिया जाता है। जिनके जीवन से विवाह का संबंध होता है, उनसे ही राय लेना उचित नहीं समझा जाता है। माता-पिता या अन्य संबंधी ही अपनी इच्छा या अनिच्छा इस संबंध में अंतिम एवं सर्वोपरि मानते हैं।

विवाह-संबंध-निर्णय की यह वर्तमान प्रथा प्राचीन नहीं है। प्राचीन समय में भारत में स्वयंवर होते थे, जिनमें कन्या को अपने मनोनुकूल पतिवरण की पूर्ण स्वतंत्रता होती थी—विशाल भारतीय वाङ्मय से यह स्पष्ट है। यह प्रथा मध्यकाल तक भी रही। संयोगिता स्वयंवर के प्रसंग से यह स्पष्ट है। किंतु कालान्तर में यह प्रथा नष्ट हो गई और कन्या के लिए पिता की इच्छा ही सर्वोपरि एवं अंतिम हो गई।

पर लोकगीतों का संसार इस संसार से भिन्न है। वे जनमानस की आत्मा के सीधे गायक होते हैं। समाज के कृत्रिमताजन्य बाह्य आवडों के कारण जो भाव मन की पतों से उभरकर बाहर नहीं आने पाते, लोकगीत उनको वाणी प्रदान करते हैं। जनमानस का निश्छल प्रतिबिम्ब होते हैं, लोकगीत !

राजस्थान के कुछ लोकगीत इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। कन्या के हृदय के ये संदेशवाहक हैं। समाज में कन्या को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने मनोवांछित वर के विषय में अपने विचार उपस्थित कर सके। पर लोकगीत उसकी मनोवांक्षा को रूप देने में सर्वथा समर्थ हैं। अनजान कन्याएँ कितने ही समय से लोकगीतों द्वारा अपनी मनोकामनाएँ गाती आई हैं। एक कन्या अपने बाबा से कहती है—

“कालो मत हेरो बाबाजी कुल नै लजावै
गोरो मत हेरो बाबाजी अंग पसीजै
लांबो मत हेरो बाबाजी सागर चूटै
ओछों मत हेरो बाबा बावन्यू बतावै
ऐसो वर हेरो कासी रो वासी
बाई रे मन भासी हसती चढ़ आसी”

यह कन्या पंडित वर चाहती है। काला उसे नहीं चाहिए क्योंकि वह हँसी का पात्र होगा; गोरा सुकुमार होने के कारण अधिक परिश्रमी नहीं होगा, उसे स्वेद शीघ्र ही आयेगा; अधिक लम्बा भी सुन्दर नहीं होता; छोटे को सब वामन कहकर चिढ़ायेंगे; अतः कन्या अपने लिए ऐसा वर चाहती है जो काशी में रहता हो अर्थात् काशी का पंडित हो। जब वह हाथी पर चढ़कर आयेगा तो कन्या के मन को भायेगा।

एक दूसरी कन्या का आदर्श वर है—

“मैड़ी बैठयो मद पीवै ए, लीली केरो असवार
खाँगी बाँधै पागड़ी मधरी चाले चाल
कड़ माडे घोड़े चढ़े ए चाल निरखतो जाय
ओ वर देवी माता गोरल ए म्है थाने पूजन आय”

यह गण गौर पूजन का गीत है। गणगौर से एक कन्या ने अपना आदर्श पति मांगा है। यह कन्या वीर पति चाहती है। उसका पति मैड़ी में बैठकर मद पीनेवाला, घुड़सवारी में चतुर, टेढ़ी पगड़ी बांधनेवाला, धीमे चलनेवाला और कमर मोड़कर घोड़े पर चढ़नेवाला हो।

राजस्थानी लोकगीतों में तुलसी के लोकगीत प्रसिद्ध हैं। घर-घर पूजी जानेवाली तुलसी की एक कथा है। उसने शालग्राम से विवाह किया था। तुलसी के गीत के रूप में यह किसी कन्या की ही मनोकामना प्रकट हुई है।

“कं बाई थाने चाँदो वर हेरो
क सूरज वर हेरो हो राम।
चाँदो तो बाबोजी चकमक, उगे
तो सूरज की. किरण घणरी हो राम।

कं बाई थांन ईसर वर हेरां
 कं कानू वर हेरो हो राम।
 ना बाबाजी ईसर वर हेरो
 ना कानू वर हेरो हो राम।
 पण आप किसन वर हेरो हो राम।”

तुलसी के बाबा का कहना है कि बाई चांद के समान वर खोजे या सूर्य के समान। पर तुलसी को दोनों ही स्वीकार नहीं हैं। चांद की चमक स्थिर नहीं है और सूर्य में ताप अधिक है। इसी प्रकार शिव और कृष्ण को भी तुलसी अस्वीकार कर देती है, क्योंकि शंकर का अधिकांश समय तपस्या में व्यतीत होता है, घर वह कम ही रहते हैं और कृष्ण की प्रेमिका तो आजीवन कुमारी ही रहती है। अतः तुलसी शालिग्राम वर चाहती है।

गणगौर के एक और लोकगीत में एक कन्या ने कृष्ण जैसा वर मांगा है। वह अपना समस्त परिवार भी कृष्ण जैसा चाहती है।

“म्हें तो सासू जसोदा, एक किसन वर मांग रही
 थांने सासू जसोदा एक, किसन वर देख्यां”

लोक की अपनी रुचि होती है। इस कन्या को कृष्ण जैसा वर ही स्वीकार है जिसे तुलसी अस्वीकार कर देती है। गणगौर भी प्रसन्नता से यशोदा जैसी सास और कृष्ण जैसा वर देने को प्रस्तुत है क्योंकि उपासिका की कामना अनुचित नहीं है। यह कामना उसके भविष्य को सुखमय बनाने-वाली ही है।

राजस्थान के ये लोकगीत भारत की उस प्राचीन परंपरा का स्मरण कराते हैं जब कन्या को मनोनिकूल पति वरण की पूर्ण स्वतंत्रता थी। लोक से वह परंपरा आज नष्ट हो गयी है पर लोकगीतों में वह आज भी सुरक्षित है। क्या समाज के कर्णधार इस ओर ध्यान दे सकेंगे? प्राचीन भारतीय परंपरा को पुनर्जागृत कर मध्यकालीन अंधकार द्वारा प्रदत्त अभिशाप को समाप्त करने का कदम उठायेंगे।

(पृष्ठ १०३ का शेष)

कुमारप्पाजी ने उस दिन डेढ़ घंटे कक्षा ली, किन्तु सत्य की सूक्ष्मता का ही उन्होंने परिचय कराया। अपने जीवन की वारीकियों की ओर हम ध्यान नहीं देते। हमारी ज़रा-सी उदासीनता हमें अपने उद्देश्य से कोसों पीछे हटा सकती है।

सत्याग्रह की कसौटी पर, बापू की तपस्या के परिणाम स्वरूप आज हमें स्वराज्य मिला है। हम दिन-रात कहते हैं कि हमें बापू के स्वप्न को साकार बनाना है। किन्तु कुमारप्पा की दृष्टि से देखें, उनके दिल की घड़कन की आवाज

सुने तो हम अपने-आप ही समझ जायेंगे कि आज हम कितने असत्य में गड़ गये हैं। सत्य का आग्रह तो दूर की बात है, असत्य आज फैशन की वस्तु बन गई है। राष्ट्र-निर्माण के इस संधिकालीन भारत में हमारी समस्त योजनाएं मानवीय नैतिकता से परे असत्य की पगडंडी पर चलकर असफलता की ओर बढ़ती चली जा रही हैं। दो मिनट पूर्व कक्षा की घंटी लगा देने से संसार के ध्वनिमंडल में गुंजार करनेवाले अपराध की तुलना में आज हम कहां खड़े हैं?

३६०
महात्मा रूमी ।

बन्दी का संदेश

एक व्यापारी के पास भारत का एक सुन्दर तोता था । एक बार व्यापारी ने यात्रा का सामान तैयार करके भारत जाने का इरादा किया । जाते समय घर के सब सेवकों तक से पूछा कि प्रत्येक के लिए क्या-क्या लाये । प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी-अपनी पसंद बताई । उसने सबको वचन दिया और तोते से भी पूछा “मुझे भारत देश जाना पड़ गया है । तू बता तेरी याचना क्या है ?” तोते ने कहा, “जब तू वहाँ के तोतों को देखे तो मेरी दशा का वर्णन करना कि तुम्हारी जाति का फ़लों तोता जो तुमसे मिलने को व्याकुल है, अपने भाग्य के चक्कर के कारण हमारी कैद में है । उसने नमस्कार कहा है और अपनी मुक्ति के लिए परामर्श पूछा है । कहना, संभव है कि मैं तुम्हारे मिलने की आशा में ही समाप्त हो जाऊँ और विछोह में जान दे दूँ । क्या यह न्याय है कि मैं बन्दी रहूँ और तुम कभी हरे-भरे मैदानों में और कभी वृक्षों पर आनंद लूटो । क्या मित्रता इसीको कहते हैं कि मैं पिंजरे में बन्दी और तुम सुगंध के बागों में स्वतंत्र घूमो ?”

व्यापारी ने वचन दिया कि उसका संदेश, उसका नमस्कार उसकी जाति तक पहुँचा देगा । जब वह भारत की सीमाओं में पहुँचा तो वन में कुछ तोतों को देखा । घोड़ा रोककर आवाज दी और अपने तोते का नमस्कार और संदेश जो अमानत था, उन्हें सुना दिया । उन तोतों में से एक घर-घर कांपकर नीचे गिर पड़ा और उसकी सांस उखड़ गई । व्यापारी बहुत पछताया और मन में कहने लगा कि मैंने व्यर्थ एक जान ली । शायद यह हमारे तोते की प्रिया थी । मैंने अपनी बात से इस बेचारी को मार दिया ।

जब व्यापारी अपने कार्य से मुक्त होकर अपने देश वापस आया तो प्रत्येक सेवक के लिए उपहार लाया । तोते ने पूछा, “मेरी याचना भी पूरी की ? क्या कहा और क्या देखा उसका वर्णन कर ।” व्यापारी ने कहा, “नहीं, मेरा मन नहीं चाहता । मैं स्वयं पछता रहा हूँ कि मूर्ख बनकर ऐसा संदेश भोलैपन से क्यों ले गया ।” तोते ने कहा, “ऐ मेरे स्वामी !

पछतावा काहे का ? वह ऐसी कौन-सी बात है जिसने तुम्हें इतना दुःखी कर दिया ?” व्यापारी ने कहा, “तोतों के एक दल से मैंने तेरी कथा कह सुनाई । उनमें से एक तोता तेरी पीड़ा से परिचित निकला । संदेश सुनते ही उसका पित्ता फट गया । कांपकर गिरा और मर गया । मैं पछता रहा हूँ कि संदेश ही क्यों सुनाया । परन्तु जब मुख से निकल गया तो पछताने से क्या लाभ ।”

तोते ने व्यापारी से जब यह सुना तो वह भी थरथराकर गिर पड़ा और ठंडा हो गया । व्यापारी ने अपने तोते को इस दशा में पाया तो खड़ा हो गया और टोपी धरती पर पटक दी । दुःख और वेदना से अपने कपड़े फाड़ने लगा । शोक में कहता था कि सुन्दर और मधुर कंठवाले तोते ! अरे अरे तुझे यह क्या हो गया ! तू ऐसा क्यों हो गया ! हाय, हाय, तू ऐसा था, तू वैसा था !

जब रो-पीट चुका तो तोते को पिंजरे से बाहर फेंक दिया । तुरंत ही तोता उड़कर एक ऊँची डाल पर जा बैठा । उस मृतक तोते ने इस प्रकार उड़ान की मानो सूर्य पूर्व से धावा बोलता है । व्यापारी पक्षी की इस हरकत पर चकित रह गया । भुलावे में पड़ा हुआ था । सहसा पक्षी को डाल पर बैठे देखा तो सर ऊँचाकर उसे संबोधित किया, “ऐ मेरी बुलबुल, कुछ हमें भी तो बता । भारत के तोतों ने क्या संकेत किया जिससे तू भाग गया और हमारी आंखों पर अपने छल से परदा डाल दिया । तूने वह चाल खेली कि हमको जलाया और स्वयं प्रकाशित हो गया ।”

तोते ने कहा, “भारत के तोते ने अपनी क्रिया से मुझे यह शिक्षा दी कि आवाज के संगीत और स्वर माधुर्य को त्याग दे क्योंकि तू अपने कंठ के कारण ही बन्दी है । केवल शिक्षा के उद्देश्य से उसने स्वयं को मुर्दा बना लिया जिसका अर्थ था कि ऐ पक्षी तू जो छोटे-बड़े का मन बहलानेवाला गायक है, तू मृतक बन जा कि कैद से मुक्ति पाये ।”

फिर तोते ने नमस्कार करके कहा, “बस, अब ईश्वर

(शेष पृष्ठ ११२ पर)

समालोचनाएं

कसौटी पर

वाणी : श्री सुमित्रानंदन पंत; प्रकाशक--भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; , पृष्ठ-संख्या १८८; मूल्य चार रुपये।

‘वाणी’ में श्री सुमित्रानंदन पंत की १९५७ तक की सैंतालीस नवीन कविताएं संगृहीत हैं। इससे पहले उनका कविता-संग्रह ‘अतिमा’ प्रकाशित हुआ था और इसके बाद ‘कला और बूढ़ा चांद’ नामक एक अन्य काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। इसी बीच ‘सौवर्ण’ भी सामने आया।

इससे यह स्पष्ट है कि पंतजी प्रौढ़ावस्था में भी--जब अधिकांश लेखक सुस्त पड़ जाते हैं--अत्यंत सक्रिय एवं सजग रूप से काव्य-रचना में संलग्न हैं। उनके पाठकों में पिछले दिनों यह धारणा सामान्यतः घर कर गई थी कि पंतजी की इधर की कविता में पहले जैसी भाव-प्रवणता और नवोत्कर्ष नहीं है। किन्तु ‘वाणी’ आदि संग्रहों की कविताएं इस धारणा को झुठलाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि, जैसा ‘वाणी’ की पहली कविता में ही व्यक्त है, “काव्य चरण नित मुझे तुम्हारी ओर अभय ले जायं, हृदय में साध शेष अब : खुलते रहें दृगों के सम्मुख नवोन्मेष में गुह्य प्राण मन के प्रदेश सब।” पंतजी की कविता अब काव्य के बाहरी लक्ष्य--मनोरंजन--से ऊपर उठकर एक श्रेष्ठतर साधना में लीन होगई है। और वह साधना है : युग के तम की पर्वत-वाधाओं के ढहने की, तथा निश्चेतन के अंधकार में ज्योति-केतु के फहरने की।

मानवता के लिए ऐसा सपना देखने की जितनी जरूरत आज के युग में है, उतनी पहले कभी न थी। इस पृष्ठभूमि में पंतजी की विशिष्ट जीवन-दृष्टि का महत्त्व और भी बढ़ जाता है; और अनास्था, कुंठा तथा आत्मवंचना के वर्तमान वातावरण में, जब हम उन्हें यह कहते पाते हैं कि “एक महत् आशा निहारती खग-जीवन से, जड़ चेतन से” तो चित्त आश्वस्त होता है।

सौवर्ण : श्री सुमित्रानंदन पंत; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; पृष्ठ-संख्या ११८; मूल्य ढाई रुपये।

‘सौवर्ण’ में श्री सुमित्रानंदन पंत के दो काव्य-रूपक ‘सौवर्ण’ (१९५४) तथा ‘स्वप्न और सत्य’ (१९५२) संग्रहीत हैं। ये अपने संक्षिप्त रूप में आकाशवाणी से प्रसारित हो चुके हैं। पहले रूपक में कवि ने ‘प्रतीकात्मक रूप से भावी मानव की कल्पना’ प्रस्तुत की है और दूसरे में ‘युग के आदर्श तथा यथार्थ के बीच अविराम रूप से चल रहे संघर्ष’ को चित्रित किया है।

पद्य-नाट्य की शैली में लिखे ये दोनों ही रूपक किसी ठोस कथावस्तु पर आधारित नहीं हैं, यद्यपि कवि ने दूसरे रूपक में किंचित् कथाभास देने का यत्न किया है। वास्तव में इन दोनों में, पंतजी ने अपने सूक्ष्म चिंतन-मनन को किन्हीं पात्रों के मुख से कहलाया है। रूपकों का विषय तथा विवेचन सुबोध नहीं है और सामान्य पाठक की पकड़ में नहीं आता। सच तो यह है कि पंतजी की उत्तरकालीन कविता धीरे-धीरे दीक्षागम्य होती गई है और चेतना के विभिन्न स्तरों तथा युग, मानव, संस्कृति-संबंधी उनके विचारों को ठीक से समझे वगैर पंतजी की कविता का पूरा आनंद ले पाना अधिकाधिक कठिन होता गया है। इसी प्रकार उनकी इधर की कविता में प्रयुक्त स्वर्ण, रजत, भू, पाठक, ऊर्ध्व आदि अनेक शब्दों के प्रतीकार्थ को भी जानना आवश्यक हो गया है।

फिर भी पंतजी की भाव-प्रवणता, विम्ब-रचना और कोमलकान्त-पंदावली के प्रेमीजन निश्चय ही ‘सौवर्ण’ में भी ये गुण पायेंगे और कवि के प्रति, कवि के ही शब्दों में कह सकेंगे कि, “सबकुछ संभव है प्रगल्भ कल्पना के लिए, जो विद्युत गति से, अणुज्व से वेगवती है।”

—अ० कु०

पिया : लेखक उषादेवी मित्रा; प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या २६०; मूल्य सजिल्द रु० ४.५० नये पैसे।

यह एक सामाजिक उपन्यास है, जिसका क्षेत्र बंगाल है, और समस्या है विधवाओं तथा स्त्रियों की। एक बंगाली मजिस्ट्रेट तथा जमींदार सुकान्त चटर्जी हैं। उनकी बाल-विधवा भतीजी पपीहरा उनकी एकमात्र उत्तराधिकारिणी हैं। पपीहरा को घर में 'पिउ' और 'पिया' कहा जाता है। इसी पिया का चरित्र इसमें वर्णित है। वह पाश्चात्य चाल-ढाल में पली, जिद्दी स्वभाव की लड़की, घुड़सवारी में कुशल, उड़्डण्ड पुरुषों को हंटर की नोक पर रखती है। वह स्वाभिमानिनी है और स्त्री स्वातंत्र्य के मूल्य को जानती है, वह किसीके अधीन होकर नहीं, सबपर शासन करके रहना चाहती है। उसे सभी पुरुष हल्के लगते हैं, केवल निशीथ नाम के एक पुलिस सुपरिटेण्डेंट पर कुछ आकृष्ट होती है, पर वह विवाहित है, इसलिए वह उससे विवाह नहीं कर सकता। परंतु पिया उस पर इतनी मोहित हुई कि वह किसी दूसरे पुरुष से विवाह करने पर राजी नहीं। इधर उसके चचा सुकांत अपनी अधेड़ आयु में एक गरीब लड़की कविता से विवाह कर लेते हैं, पर प्रेम करते हैं उसकी रूपवंती विधवा वहन नीलिमा से, जो गर्भवती भी हो जाती है। सुकांत उससे विवाह करने पर राजी नहीं होते, इसलिए नीलिमा आत्म-हत्या से अपना तथा अपने गर्भ का अंत कर देती है। पिया बाद में राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने लगती है और पिकेटिंग आदि करती है, पुलिस उसे पकड़कर जंगल में छोड़ जाती है और उसे बुखार हो जाता है। निशीथ की पत्नी मृणाल उसे अपने यहां आश्रय नहीं देती और वह बुखार में ही लौटती है और मर जाती है। यद्यपि उपन्यास का कथानक विशेष महत्त्व का नहीं है, पर उसमें पाठक को पकड़े रखने की पूरी शक्ति है। इस उपन्यास का यह पांचवां संस्करण है, जिससे इसकी लोकप्रियता सिद्ध होती है। पूर्ण आशा है कि भविष्य में भी इसका पहले से अधिक समादर होगा।

भारत में फलोत्पादन : लेखक जयरामसिंहजी; प्रकाशक : किताब महल-प्रकाशन, ५६९० जीरो रोड, इलाहाबाद; आकार डिमाई; पृष्ठ-संख्या ४६८; मूल्य आठ रुपये।

हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था में कृषि का सुधार बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कृषि की ही एक शाखा फलोत्पादन है। कृषि के साथ-साथ फलों के उत्पादन को बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है। यूँ तो फलों के उत्पादन पर कभी-कभी पुस्तकें निकलती रहती हैं, परंतु अच्छी पुस्तकों का अभी अभाव ही है। यह प्रसन्नता की बात है कि उपरोक्त पुस्तक रचना ने काफी हद तक इस अभाव की पूर्ति की है। प्रस्तुत पुस्तक में तीस परिच्छेद हैं, जिनमें से पहले तेरह परिच्छेदों में फलों से संबंध रखनेवाली बातों का विस्तार के साथ वर्णन है, बाकी में भिन्न-भिन्न जातियों के फलों के उत्पादन-संबंधी बातें बताई गई हैं। यह पुस्तक बागवानी में शौक रखनेवालों, फलोत्पादकों तथा कृषि ने विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी। पंचवर्षीय आयोजनाओं में फलोत्पादन को क्या स्थान दिया जा रहा है, यह बता दिया जाता, तो अच्छा होता। पुस्तक की छपाई, कागज, जिल्द तथा गैट-अप आदि सराहनीय है।

उठोली : लेखक राधेश्याम सक्सेना 'रसिकेश'; प्रकाशक : पं० निगमचंद शर्मा, नारियल बाजार, कानपुर; पृष्ठ-संख्या ३६; मूल्य छह आने।

प्रस्तुत पुस्तक में हास्यपूर्ण उन्तीस कविताएं हैं, जो बच्चों के गाने लायक हैं। ताया-ताई, हमारी चाची, इस्तहान आ गया, खटमल, मच्छर, टमाटर आदि पर कविताएं लिखकर लेखक ने बच्चों के लिए नई तरह की सामग्री दी है। कागज बहुत साधारण है।

दर्द होता रहे मुझे : लेखक : प्रिंस सतीश प्रेमी; प्रकाशक : कविता-प्रकाशन, स्ट्रीट कानूनगो, पठानकोट; पृष्ठ-संख्या २२; मूल्य सवा रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की कुछ अतुकांत कविताओं का संग्रह है। कविताएं साधारण हैं तथा पुस्तक का मूल्य अत्यंत अधिक है।

जलती रहे मशाल रे : लेखक : श्री मदनमोहन परिहार; प्रकाशन : भारत सेवक समाज, जोधपुर; पृष्ठ-संख्या ३२; मूल्य ३० नये पैसे।

इसमें लेखक की पच्चीस कविताएं हैं, जो श्रम और विकास-संबंधी सुन्दर गीत हैं। कविताओं की उपादेयता उनमें से कुछ के नमूनों से ही प्रकट हो जाएगी, जैसे 'आंधी हो

जीवन-साहित्य

: ११० :

मार्च, १९६०

या तूफान', 'तोड़ दो जंजीर', 'पुकार रहा है काम', आदि। गीत मिलकर गाने योग्य हैं। पुस्तक विकास-खंडों में प्रचार योग्य है।

स्वप्न शोभना : लेखक : योगेन्द्र भटनागर; प्रकाशक : भटनागर प्रकाशन, झालानी पुरोहितजी की इक्ती, पुरानी बस्ती, जयपुर; पृष्ठ-संख्या ३८; मूल्य सवा रुपया।

श्री भटनागर हिंदी-उर्दू तथा अंग्रेजी के उदीयमान कवि हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनका सत्ताइस कविताएं हैं, जिनमें बहुत-सी उर्दू की हैं, एक अंग्रेजी की है और कुछ हिंदी की हैं। कविताएं अच्छी हैं और पढ़कर रस लेने योग्य हैं। पुस्तक का मूल्य अधिक है।

बुद्ध वैभव : लेखक : डा० भगवतशरण उपाध्याय; प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६ दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या ११६; मूल्य दो रुपये।

महात्मा के जीवन, बुद्धधर्म की देन तथा बुद्धधर्म से संबंधित कला, राजनीति, बुद्धकालीन जनजीवन आदि विषयों पर डा० उपाध्याय की यह रचना अति उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक विद्यालयों के पुस्तकालयों में रखने योग्य तथा नवयुवकों के पढ़ने योग्य है। यह छोटी-सी पुस्तक बुद्धधर्म संबंधी अच्छी जानकारी देती है।

नय प्रभात : लेखक० ओंकारलाल वर्मा, 'माखन'; प्रकाशक : लवर-लायक मधुर तरंग माला, ऊन, जिला निमाड, मध्यप्रदेश; पृष्ठ-संख्या ३२; मूल्य ५० नये पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के पांच प्रहस्तों का संग्रह है, जो छात्रों द्वारा अभिनय के योग्य हैं, इनमें तीन हिंदी में और दो निमाडी भाषा में हैं। पुस्तक छात्रों के लिए उपयोगी है।

मरुस्थल मुझे चुनौती दे : लेखक : मदनराज दौलतराम मेहता; प्रकाशक : सहकार प्रकाशन, दौलत भवन, जोधपुर; पृष्ठ-संख्या २८; मूल्य ५० नये पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की बारह प्रेरणापूर्ण कविताओं तथा गीतों का संग्रह है। कविताएं सुन्दर तथा गाने योग्य हैं। देश के नवनिर्माण में ऐसी कविताएं उपयोगी सिद्ध होंगी।

शर्मीली कलियां : लेखक व संग्रहकर्ता : दामोदरलाल 'बंदो' और रामशरन शर्मा 'आशिक'; प्रकाशक : गुले-गुलजारप्रकाशन, ३६/४, मुलुंद कॉलोनी, मुलुंद बम्बई; पृष्ठ-संख्या ६६; मूल्य १ रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में उर्दू के बहुत-से मरहूम व जिन्दा शायरों की चुनी हुई कविताएं और शेर हैं। चुनाव अच्छा है। उर्दू शायरी का रस लेने के लिए अच्छा संग्रह है।

अमृत पथ की ओर : लेखक : दीनानाथ सिद्धान्तालंकार; प्रकाशक : पंजाब पुस्तक भंडार, १५७६, फैजगंज, दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या १७५; मूल्य दो रुपये।

प्रत्येक जीवधारी मृत्यु से बचने के लिए प्राणपन से चेष्टा करता है। सब दुःख से बचना तथा सुख पाना चाहते हैं। विश्व के सब धर्म प्रायः और भारतीय धर्म विशेषतया इसी बात का उपाय बताते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में वेदों तथा उपनिषदों के आधार पर अमृत-पथ का रास्ता बताया गया है। पुस्तक नैतिकता का मार्ग समझाने के लिए अति उपयोगी है। भाषा सरल, शैली हृदयग्राहक और विषय उपयोगी है। पुस्तक में वेदों तथा उपनिषदों से श्लोक देकर विषय को अच्छी प्रकार पुष्ट किया गया है। पुस्तक पढ़ने तथा प्रचार योग्य है।

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद की पुस्तकें

स्त्रियां और उनकी समस्याएं : लेखक : गांधीजी; सम्पादक : भारतन कुमारप्पा; पृष्ठ-संख्या १२४; मूल्य एक रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में गांधीजी के लेखों तथा टिप्पणियों का २७ शीर्षकों के नीचे संग्रह है। गांधीजी ने स्त्री और पुरुष में कोई मूलगामी भेद नहीं माना, और उन्होंने भारत के राजनीतिक क्षेत्र में पुरुषों के बराबर खड़ा करके बड़े-से-बड़े पद तक पहुंचा दिया। इस पुस्तक में उन सब बुराइयों की चर्चा है, जिनके कारण स्त्री-जाति अनेक कष्ट पा रही है। स्वतंत्र भारत में भी अभी उनकी समस्याएं ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। इसलिए इस पुस्तक का प्रकाशन सर्वथा सामयिक

कसौटी पर

है। संपादन तथा हिंदी अनुवाद अच्छे हैं। पुस्तक अधिक से अधिक प्रचार के योग्य है।

शाकाहार का नैतिक आधार : लेखक तथा प्रकाशक उपरोक्त; पृष्ठ-संख्या ३६, मूल्य २५ नये पैसे।

शाकाहार का नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। गांधीजी कट्टर शाकाहारी थे, और इंग्लैण्ड में विद्यार्थी-काल में भी उन्होंने अपने शाकाहार के व्रत को निभाया। प्रस्तुत पुस्तिका में गांधीजी के लेखों, पत्रों, भाषणों के अंश आठ शीर्षकों के नीचे दिये गए हैं। पुस्तक अति उपयोगी तथा प्रचार योग्य है।

श्रीवाल्मीकि रामायण दर्शन : लेखक : पाण्डुरंग वैजनाथ आठवले शास्त्री; संग्रहकार : श्री रूपनारायण कुन्दन-लाल शर्मा; प्रकाशक : श्री तत्वज्ञान विद्यापीठ, थाणा बम्बई; पृष्ठ-संख्या २४८; मूल्य सजिल्द दो रुपये।

कवि शिरोमणि वाल्मीकि-रचित संस्कृत रामायण के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक में सत्रह परिच्छेदों में शास्त्रीजी के प्रवचनों का संग्रह है। प्रास्ताविका के अतिरिक्त, पांच परिच्छेदों में रामायणकालीन शासन, अर्थ तथा समाज-व्यवस्था आदि दी गई है और बाकी ग्यारह परिच्छेदों में मित्र-मित्र पात्रों के चरित्रों का वर्णन है। चरित्र-चित्रण श्रद्धापूर्ण तथा विद्वत्तापूर्ण है। शैली बहुत करके कथावाचक की है। पुस्तक में कहीं-कहीं रामायण के अंध-श्रद्धालुओं की अच्छी पर मीठी चुटकियों में खबर ली है, जैसे १४८ पर हनुमान भक्तों के संबंध में आप कहते हैं, “परंतु हमने तो आज दो पैसे के तेल और एक आने की माला में हनुमान का मूल्यांकन कर डाला है। शनिवार के दिन यह वस्तुएं अर्पण कर दीं और सिद्धर का टीका मस्तक पर लगा लिया। कि सारी भक्ति आ जाती है।” रामभक्त होने के कारण विभीषण की कितनी ही प्रशंसा की जाय, पर हमारे देश को जयचंद तथा मीरजाफर आदि अनेक विभीषणों से जो हानि पहुंची है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। रामायण के श्रद्धालु पाठकों के लिए पुस्तक अत्यंत उपयोगी है।

अर्थशास्त्र का परिचय : अनुवादक : महेन्द्र मिश्र; पृष्ठ-संख्या १६१; मूल्य २ रुपये।

व्यापार के नव क्षितिज : अनुवादक : परदेशी; पृष्ठ-संख्या १११; मूल्य २ रुपये।

प्रकाशक : बोरा एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई २।

आज के युग की मुख्य समस्या रोटी की है और उसका सही हल हासिल करने के लिए अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों का कुछ-न-कुछ परिचय हर नागरिक के लिए जरूरी है।

बाजार में स्पर्धा ही स्पर्धा है जो प्रायः उत्पादक को और विक्रेता को एकाधिकार में लिप्त कर देती है। कहीं यह एकाधिकार एक लानत न बन जाय, कहीं छोटे-छोटे ‘उपजीवी’ उद्योग हमेशा के लिए नष्ट ही न हो जाय, इस-लिए कभी-कभी शासन को ‘नशनल रिकवरी एक्ट’ (यू० एस० ए०, १९३३) जैसे कानूनों द्वारा हस्तक्षेप करना अपरिहार्य हो जाता है।

वस्तुओं और सेवाओं के सच्चे उत्पादक हैं—मजदूर। आज मजदूर जाग चुके हैं। मजदूर-संघों की बढ़ती शक्ति ने उपभोक्ता-वर्ग को ‘मिश्र अर्थव्यवस्था’ के रूप में सबसे बड़ा लाभ दिया है।

राष्ट्र के अपूर्ण उत्पादन का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि किस प्रकार उस उत्पादन के वितरण में पुत्रों को दिया गया व्यय-धन, सिपाहियों की पेंशनें और पत्नी को दी गई रकम—राष्ट्र की उत्पादन-संपद से (और करभेद के झंझट से) मुक्त है। ‘ऋण और मुद्रा’ की राष्ट्रीय नीति द्वारा उपभोग के अहम मसले—युद्ध के दौरान में तथा युद्धोपरांत ‘स्फीति और मंदी’—को कुछ हद तक वश में लाया जा सकता है : कमर्शल बैंकों द्वारा सरकार (करादि के माध्यम से) ऋण ले भी सकती है, दे भी—कि उत्पादन के रास्ते में व्यर्थ के रोड़े न आयें और न ही व्यापारियों के हाथों में बढ़ती दौलत निष्प्रयोजन-खर्च हो जाय। इस प्रकार व्यापार की परिस्थितियों पर अंकुश रहता है, और स्फीति की ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति के ‘चरम-बिन्दु’ तथा मंदी की अधोगामी वृत्ति के ‘निम्न-बिन्दु’ के बीच राष्ट्र जीवन संभला रहता है।

किन्तु इन सब कानूनों और कूटनीतियों का तथा जागरूकता का, परिणाम क्या सचमुच अच्छा ही हुआ?

यह तो, केवल, व्यक्ति-व्यक्ति के दैनिक जीवन का 'स्तर' ही बतलायेगी।

पिछले ४५ वर्षों में दो महायुद्ध हुए, राष्ट्रों के प्राकृतिक स्रोतों का क्रमशः क्षय एवं 'उपयोग' युद्ध की सर्वभक्षी प्रवृत्तियों के अग्नि-मुख में ही हुआ; और इन बदलती परिस्थितियों के बावजूद 'रूढ़ियों' वैसे-की-वैसे ही स्थिर रहें! मानव-मन को अपना दृष्टिकोण राष्ट्रीय-संकीर्णता से उठाकर अंतर्राष्ट्रीय करने में आज भी मुश्किल हो रही है। अंतर्राष्ट्रीयता की इस नई दौड़ में राष्ट्रीय सरकारों की बड़ी शक्ति तथा संपत्ति का 'अपव्यय' राष्ट्र में हो रहे दल-गत संघर्षों से जूझने में ही हो जाता है।

वैसे तो आनेवाली पीढ़ी ही स्वयं अपनी समस्याओं का हल निकालने में समर्थ होगी, किंतु अनुसंधान द्वारा—पूँजी-लागत के क्षेत्र में; उपभोग, व्यापार-नियंत्रण, राज्य तथा 'व्यापार-वृत्तियों के पूर्वाभास' के क्षेत्रों में—कुछ 'पंचमुखी' दिशा-निर्देश दे देना हमारा कर्तव्य भी हो जाता है। आम जनता को इतना भी भरोसा हो सके कि हमारी 'दूर गत' योजनाओं में बाज़ार के उतार-चढ़ाव से कुछ फर्क नहीं पड़ने का—अर्थशास्त्री को इतने से ही पर्याप्त निश्चिन्तता मिल जाती है।

मुख्य समस्या आज जो हमारे सामने है, वह इन तीन प्रश्नों में विभाजित की जा सकती है:—

१. क्या बेकारी को पूरी तरह से दूर करने के लिए कीमतों का चढ़ाव ज़रूरी होगा?
२. क्या बेकारी दूर होने के बाद समाज का आमूल-नवीकरण तो अपरिहार्य न होगा?

(पृष्ठ १०७ का शेष)

आपकी रक्षा करे, ऐ मेरे स्वामी, विदा! तूने बड़ी दया की कि मुझे अंधेरी कैद से स्वतंत्र कर दिया।"

व्यापारी ने कहा, "तुमपर ईश्वर की कृपा हो। जा, तू जाते-जाते मुझे एक नया मार्ग दिखा गया।"

तोते ने अपने देश की ओर रुख किया और यात्रा की कठिनाइयाँ सहन करने के पश्चात् सुख से रहने लगा। उधर व्यापारी अपने मन में कहा—मेरे लिए अब उचित

३. राष्ट्र में इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों की संगति अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, विशेषतः पिछड़े राष्ट्रों पर, कैसी रहेगी?

अमेरिका की क्रमिक प्रगति का यह अध्ययन दोनों ग्रंथों में, इस प्रकार, हर राष्ट्र के लिए आत्मबोध की दिशा में प्रेरक होना चाहिए। खास तौर पर, तालिकाएँ तो आँख खोल देनेवाली हैं।

अमेरिका के संमुख समस्या यह नहीं है कि (अंतर्राष्ट्रीय में) आयात-निर्यात में संतुलन किस प्रकार कायम किया जाय, अपितु यह कि कहीं बाकी दुनिया कम्युनिस्ट न बन जाय, सो—किस हद तक और कब तक अन्यान्य देशों को अर्थ की सहायता देते चलना हमारे लिए उचित, तथा संभव, होगा? (सभ्यता की उन्नति के साथ) 'मानवता की दृष्टि' के दूषित होने की संभावनाएं अधिक हैं।

दोनों पुस्तकें बहुत ही उपयोगी हैं। परंतु अनुवाद करते हुए आगे से (अच्छा होगा यदि) यह ध्यान में रहे कि पारिभाषिकों के "वैज्ञानिक" (संस्कृत-प्रसूत) उल्लेख कहीं भाषा की स्वाभाविकता में पग-पग पर बाधक तो नहीं होने लगे। उदाहरणार्थ, हमें "परिणामकारक; जो अबतक अनदेखा था; जीवन की चौड़ी धारा; व्ययमान ('म्रियमाण' के अनुकरण पर); नीतियों का पीछा; इत्यादि" प्रयोग कुछ स्वाभाविक नहीं जंचे। अनूदित ग्रंथों में यह दोष प्रायः सामान्य ही पाया जाता है कि वाक्य का तात्पर्य, समझने के लिए पाठक को 'मूल अंग्रेजी शब्द क्या था?' के लिए कई बार सिर खुजाना पड़ता है।

—लाजपतराय

यही है कि तोते के मार्ग पर चलूँ क्योंकि वह बिलकुल उज्ज्वल और साफ़ है। तोते के मरने से अभिप्राय श्वास को मारना है। देख, वसंत ऋतु में भी पत्थर पर हरियाली नहीं आती। इसलिए तू धरती (मिट्टी) हो जा कि तुझसे रंग-बिरंगे फूल खिलें। वर्षों से तू सख्त पत्थर बना रहा। थोड़ी-सी देर के लिए मिट्टी होकर भी परीक्षा कर।

—अनु० हरिवंश

हमारी राय

फरजा व कैसे ?

केरल का भावी दायित्व

केरल का तूफान आखिर शान्त होगया। वहाँ के अंतरिम चुनावों ने सारे देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था और जबतक चुनाव हो नहीं गये, कांग्रेस और सरकार के कर्णधारों को बराबर चिन्ता बनी रही। पाठक जानते हैं कि केरल में साम्यवादियों का बड़ा जोर है, पर साम्यवादी मंत्रिमंडल ने अपने शासनकाल में कुछ ऐसी कार्यवाहियाँ कीं, जिनसे राष्ट्रपति को विवश होकर वहाँ अपना शासन कायम करना पड़ा। किसी भी लोकतंत्री राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था आपातकालीन कदम के रूप में कुछ ही दिन तक रखी जा सकती थी। अतः वहाँ चुनाव हुए और कांग्रेस को सबसे अधिक मत प्राप्त हुए; लेकिन इस अकेले दल का इतना बहुमत नहीं हो पाया कि वह मंत्रिमंडल बना सकता, फलतः वहाँ कांग्रेस तथा प्रजा-समाजवादी दल का संयुक्त मंत्रिमंडल बना है, जिसमें ८ मंत्री कांग्रेस के और ३ प्रजा-समाजवादी दल के हैं। मुख्यमंत्री प्रजा-समाजवादी दल के नेता श्री पत्तम थानू पिल्ले बने हैं।

यह कहना बड़ा कठिन है कि यह संयुक्त मंत्रिमंडल कबतक साथ काम कर सकेगा, कितना काम कर सकेगा और उसके मिले-जुले प्रयास से साम्यवाद की शक्ति को कितना सीमित किया जा सकेगा, लेकिन एक बात निश्चित है और वह यह कि यदि वहाँ के सत्ताधारी नेताओं ने दलगत स्वार्थों को छोड़कर व्यापक ध्येय को सामने रखकर पारस्परिक सहयोग से काम नहीं किया, वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं को तिराजलि नहीं दी और आपसी फूट के बीजों को नष्ट नहीं किया तो आगे उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम होगा, जिसने केवल केरल को ही भुगतना पड़ेगा, अपितु समूचे देश पर भी उसका गहरा असर पड़ेगा।

भारत में केरल ऐसा प्रदेश है, जहाँ शिक्षितों की संख्या

का प्रतिशत सबसे अधिक है, अतः यदि विवेक-पूर्वक वहाँ के निवासियों की बुद्धिमत्ता और समझदारी का उपयोग किया जा सके तो केरल सारे देश के लिए एक आदर्श उपस्थित कर सकता है। लेकिन यह तभी संभव होगा, जब वहाँ के अधिकारी वर्ग-भेद, जाति-भेद तथा विचार-धारा की विषमता को महत्व न देकर एक ऐसी हवा पैदा करें, जिससे शासन के प्रति वहाँ के निवासियों में आत्मीयता के भाव उदय हों और वे संगठित प्रयत्न द्वारा अपने प्रदेश की बुनियाद को पक्का कर सकें।

रूस में 'टाल्स्टाय और भारत' केन्द्र

पाठकों को यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि सोवियत सरकार ने टाल्स्टाय की जन्म-भूमि यास्नाया पोलियाना में 'टाल्स्टाय और भारत' नामक केन्द्र शीघ्र ही स्थापित करने का निश्चय किया है। बताया जाता है कि इस केन्द्र में टाल्स्टाय तथा भारतीय लेखकों की सामग्री के संग्रह के साथ-साथ गांधीजी तथा उनकी विचार-धारा से संबंधित सामग्री के अध्ययन की विशेष रूप से सुविधा की जायगी।

वस्तुतः कुछ दिन पहले श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने एक सुझाव दिया था कि दिल्ली में राजघाट पर टाल्स्टाय-भवन तथा टाल्स्टाय की जन्म-भूमि यास्नाया पोलियाना में गांधी-पुस्तकालय की स्थापना होनी चाहिए। उस सिलसिले में रूसी अधिकारियों से चर्चा और पत्र-व्यवहार भी किया गया था।

रूस में गांधीजी और उनकी विचार-धारा के अध्ययन की विधिवत् व्यवस्था का यह पहला प्रयास होगा और हम इसका स्वागत करते हैं। जिस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में भिलाई का कारखाना अपना महत्व रखता है, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी कहीं बढ़कर सांस्कृतिक क्षेत्र में, इस कदम का महत्व होगा।

निस्संदेह रूस की सरकार भारत के साथ अपने संबंधों को प्रगाढ़ करने के लिए प्रयत्नशील है। अभी पिछले दिनों रूस के प्रधानमंत्री श्री ब्रुश्चेव ने जहां भारत के औद्योगिक विकास के लिए अतिरिक्त आर्थिक सहायता स्वीकार की है, वहां सांस्कृतिक संबंधों को गहरा करने के लिए भी काफ़ी मदद दी है।

लेकिन हमें खेद है कि टाल्स्टाय-भवन के निर्माण के विषय में अभी तक कोई प्रगति नहीं हुई। पाठक जानते हैं कि गांधीजी और टाल्स्टाय के विचार बहुत मिलते थे और दोनों महापुरुष एक-दूसरे के प्रति बड़ी आत्मीयता रखते थे। अतः यदि 'गांधी स्मारक निधि' इस दिशा में पहल करे तो उचित ही होगा। उसके पास साधन हैं। वह आगे आयेगी तो उसे और भी साधन मिल जायेंगे। हमारे देश में टाल्स्टाय के प्रशंसकों की संख्या कम नहीं है। उनमें से अनेक प्रभावशाली व्यक्ति मदद देने के लिए आगे आ सकते हैं।

समय आगया है कि अब इस दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार करके कोई योजना तैयार की जाय और व्यवस्थित रूप से कार्य आरंभ कर दिया जाय। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जबकि राजनैतिक सम्बन्ध किसी भी दिन हवा में उड़ सकते हैं, सांस्कृतिक सम्बन्धों की जड़ जम जाने पर उन्हें भारी-से-भारी तूफान भी नहीं हिला सकते।

हिन्दी के तीन महारथियों का विछोह

हिन्दी-गगन से हाल ही में तीन पुराने तारे लुप्त हो गये। २३ जनवरी को हिन्दी पत्रकार-क्षेत्र के महारथी श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे का, ३० जनवरी को हिन्दी की सुविख्यात प्रकाशन-संस्था हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर के संचालक श्री नाथूराम प्रेमी का और २ फरवरी को लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री का स्वर्गवास होगया।

गर्देजी की मातृभाषा यद्यपि मराठी थी, तथापि उन्होंने आजीवन हिन्दी की सेवा की। वह उच्चकोटि के लेखक थे। उनकी मौलिक पुस्तकों में 'श्रीकृष्ण-चरित' 'गांधी-सिद्धान्त', 'एशिया का जागरण' आदि विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। अरुदित ग्रंथों में, 'योग-प्रदीप' 'गीता-प्रबन्ध' इत्यादि बहुत लोकप्रिय हुए। पत्रकार-कला के क्षेत्र में

उनकी प्रतिभा 'भारत मित्र', 'नवजीवन' 'अमर-भारत' आदि पत्रों के सम्पादक के रूप में सामने आई और उनके द्वारा सम्पादन-कला का मानदण्ड ऊंचा हुआ।

प्रेमीजी में प्रामाणिक लेखक, प्रवीण सम्पादक तथा ऊंचे दर्जे के प्रकाशक का आश्चर्यजनक समन्वय था। वह हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं के भी ज्ञाता थे। 'जैन साहित्य और इतिहास' उनका वह मौलिक ग्रंथ है, जो लेखक के गहन ऐतिहासिक अन्वेषण तथा सूक्ष्म चिन्तन का आभास कराता है। उनकी सम्पादन-कला की छाप उनकी संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकों पर स्पष्ट दिखाई देती है। पुस्तकों की शुद्धता और मुद्रण की सुरुचिपूर्णता से पता चलता है कि प्रत्येक पुस्तक के प्रकाशन पर वह कितना परिश्रम करते थे।

चतुरसेनजी हिन्दी के पुरानों लेखकों में से थे। उपन्यास-कार और कहानी-लेखक के रूप में हिन्दी-जगत् में उनका अपना स्थान था। उनके अनेक उपन्यास, कहानी-संग्रह, नाटक आदि उपलब्ध हैं। उनकी रचि बड़ी व्यापक थी। सामाजिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा अन्य अनेक विषयों को उन्होंने अपनी कृतियों का माध्यम बनाया। उनकी लेखन-शैली बड़ी शक्तिशाली थी और उसमें ऐसा प्रवाह था कि उनकी रचनाओं को पाठक बड़ी रचि से पढ़ते थे।

इन तीनों महारथियों के निधन से हिन्दी-जगत् की जो क्षति हुई है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यों तीनों ने ही अच्छी आयु पाई, लेकिन आज जबकि हिन्दी के भण्डार को पूरी तरह भरने का गुरुतर दायित्व सामने है, इन अनुभवी वृजुर्ग साहित्य-सेवियों का विछोह विशेष रूप से खटकता है।

हम तीनों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कामना करते हैं कि उनकी सेवा-वृत्ति, उनकी साधना और उनकी परिश्रमशीलता हमारा सतत मार्ग-दर्शन करते रहें।

भ्रष्टाचार की महाव्याधि

आज के युग में जिन महाव्याधियों ने हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को अत्यन्त विषाक्त बना रखा है, उनमें सबसे भयंकर व्याधि भ्रष्टाचार की है। उसका प्रवेश

सभी क्षेत्रों में हो चुका है और सबसे अधिक दुःख और चिन्ता की बात यह है कि इस बीमारी की जड़ें बड़ी तेजी से फैल रही हैं। नौकरियों में पक्षपात, दफ्तरों में रिश्त, खाद्य सामग्री एवं औषधियों में मिलावट, व्यवहार में बेईमानी आदि-आदि बातें इतनी प्रचलित हो गई हैं कि पग-पग पर उनका अनुभव किया जा सकता है। यदि आपको अपना कार्य कराना है और जल्दी कराना है तो वह सीधे रास्ते से संभव नहीं हो सकता। मजे की बात यह है कि अधिकारी लोग यद्यपि स्वीकार करते हैं कि उनके विभाग में भ्रष्टाचार है, तथापि वे कहते हैं कि प्रमाण लाओ, तब हम कुछ कर सकेंगे। रिश्त का प्रमाण कहां से आवे ? यदि प्रमाण मिल भी जाता है तो वर्षों मुकदमा चलता है और अंततोगत्वा अपराधी या तो 'सदेह' की बिना पर छूट जाता है, या इतनी थोड़ी सजा पाता है कि उससे उसकी अपराध-वृत्ति पर कोई असर नहीं पड़ता। परिणाम यह कि शासन की शिथिलता और प्रमाद के कारण अनैतिक आचरण बराबर बढ़ता जा रहा है।

आम धारणा है कि भ्रष्टाचार छोटे-छोटे कर्मचारियों में ही नहीं, बड़े-बड़े अफसरों में भी फैला हुआ है। श्री सी० डी० देशमुख ने इस ओर शासन का ध्यान पिछले दिनों आकर्षित करते हुए एक ट्रिव्यूनल की मांग की थी, जिसका समर्थन अन्य बहुत-से लोगों ने किया था। हाल ही में भारत सरकार के गृहमंत्री श्री पंतजी ने भी एक सक्वैलर द्वारा अपने मंत्रालय को सचेत किया है। नेहरूजी तो बार-बार देशवासियों को चेतावनी दे रहे हैं।

प्रश्न उठता है कि इतना सब-कुछ होते हुए भी भ्रष्टाचार दूर क्यों नहीं हो रहा ? इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि लोगों के दिलों से शासन का भय दूर हो गया है और वे जानते हैं कि यदि वे बेईमानी करेंगे तो पहले तो उन्हें पकड़ा ही नहीं जायगा और यदि पकड़े भी गये तो छूटने में देर नहीं लगेगी। दूसरा यह कि हमारे नेताओं की आवाज में अब इतना जोर नहीं रहा कि उनकी बात सुनी ही जाय। हमारे बड़े-से-बड़े नेता, यहां तक कि राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री तक, बड़े जोरों से भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं, लेकिन फिर भी वह दूर होने या घटने के बजाय बढ़ता जा रहा है। तीसरा यह कि लोगों में

नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था घट गई है।

हम मानते हैं कि इन तीनों ही बातों में सच्चाई है, यदि शासन कड़ा हो जाय और भ्रष्टाचार को निर्मूल करने के लिए कमर कसले, यदि हमारे नेता अपनी कथनी के अनुसार अपनी करनी को बनाकर अपनी बात कहें और यदि लोगों में नैतिकता के लिए निष्ठा उत्पन्न हो जाय तो भ्रष्टाचार एक क्षण टिक नहीं सकता। लेकिन आज के युग में ये तीनों ही बातें असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हैं।

तब ?

इस बुराई को मिटाने का एक ही रास्ता है और वह यह कि लोकमत जाग्रत हो। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का अनैतिक आचरण करे, उसे उसके पड़ोसी पहले तो समझा दें, फिर भी यदि वह न माने तो समाज में उसे तिरस्कृत किया जाय और उसके भ्रष्टाचार की सार्वजनिक रूप में चर्चा कर दी जाय। हम मानते हैं कि यदि गलती करनेवाले को प्यार और सहानुभूति से समझाया जायगा तो वह अपनी गलती के सार्वजनिक प्रदर्शन का अवसर नहीं देगा। समाज में निन्दा और तिरस्कार किसी भी व्यक्ति के लिए सबसे कठोर दण्ड होते हैं।

यह हुई भ्रष्टाचार को मिटाने की सार्वजनिक चेष्टा। इसके साथ ही ऊपर से कानून भी अपना काम करे, रिश्त का या और किसी तरह का मामला सामने आवे तो युद्ध की-सी आपातकालीन तत्परता से वह उसका फैसला करे, कानून में एक कहावत है कि "न्याय में विलम्ब करने का अर्थ होता न्याय न देना।"

इस प्रकार जबतक सरकार और जनता दोनों भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कमर नहीं कस लेंगे, तबतक यह व्याधि नहीं मिटने की और जबतक यह व्याधि नहीं मिटेगी तबतक देश की जड़ कदापि मजबूत नहीं हो सकती।

भाषा की एकरूपता

भाषा की एकरूपता निश्चित करने की आवश्यकता पर हम 'जीवने साहित्य' में कई बार लिख चुके हैं। एक बार तो हमने कृतिपय विद्वानों के मत इकट्ठे करके दिये थे, लेकिन उस दिशा में अबतक कुछ भी परिणाम नहीं निकला। वाराणसी के भाषा-विषयक अपने निधम हैं, कलकत्ते के

अपने, बम्बई के और दिल्ली के अपने-अपने। परिणाम यह कि कहीं 'चाहिए' लिखा जाता है तो कहीं 'चाहिये', कहीं 'गये' लिखा जाता है तो कहीं 'गए', कहीं 'लिये' लिखा जाता है तो कहीं 'लिए', कहीं 'दीवार' लिखा जाता है तो कहीं 'दीवाल', कहीं दही का प्रयोग पुल्लिंग में होता है तो कहीं स्त्रीलिंग में, कहीं 'निकर पहनी जाती है' लिखा जाता है तो कहीं 'निकर पहना जाता है' इस प्रकार।

ये तो थोड़े-से नमूने हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी में तीन लिपियां प्रचलित हैं। एक तो सामान्य रूप में लिखी जानेवाली देवनागरी है। दूसरी वर्धा लिपि, जिसमें स्वरा-खड़ी का काम 'अ' पर मात्रा लगाकर चलाया जाता है। उसके समर्थकों का मानना है कि इससे मुद्रण के टाइपों के कई केस कम हो जाते हैं। उससे मिलती-जुलती 'लोकनागरी' है, जिसको बिनोबाजी ने चालू किया है। वह वर्धा-लिपि से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। लेकिन उसमें गुजराती के कुछ अक्षर हिन्दी के उन अक्षरों के स्थान पर ले लिये गए हैं, जिनकी बनावट के कारण अर्थ-बोध में चूक हो जाने की सम्भावना रहती है। 'इ' की मात्रा को अक्षर के बाद में लगाया जाता है, जिससे उच्चारण के अनुसार भी लिपि पूर्णतया वैज्ञानिक रहे। वर्तमान लिपि में 'कि' को यदि हम ठीक से पढ़ें तो वह यों पढ़ा जायगा—'इ+क' अर्थात् 'इक'। लोकनागरी में उसे क+इ = 'की', इस तरह लिखा जाता है। 'इ' और 'ई' की मात्राओं में भेद करने के लिए बड़ी के अंत में एक घुंड़ी लगा दी जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज तीन-तीन लिपियां चल रही हैं और अनेक शब्दों के भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे न केवल बच्चों को अपितु बड़े पाठकों को भी भारी कठिनाई होती है।

लिपि की एकरूपता के लिए सरकार की ओर से

कमेटियां बनी हैं, कान्फ्रेंसें हुई हैं, पर उन सबके बावजूद आज हम जहां के तहां हैं। एक बार सरकार एक निर्णय करती है, उसके अनुसार कुछ दिन काम होता है और फिर वह निर्णय बदल दिया जाता है।

वस्तुतः यह प्रश्न बड़ा गम्भीर और महत्वपूर्ण है। अपने देश में राष्ट्रभाषा का प्रचार बढ़ रहा है और संसार के कई अन्य देशों में हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था होगई है। हम लोगों के पास कभी-कभी ऐसे पत्र आते हैं कि उनके लेखकों का समाधान करना कठिन हो जाता है। दृष्टान्त के रूप में हमसे पूछा जाता है कि हिन्दी की अमुक पुस्तक में एक ही पृष्ठ पर कहीं 'चाहिए' लिखा है, कहीं 'चाहिये', दोनों में शुद्ध कौन है? हिन्दी के अमुक लेखक ने 'निकट' का स्त्रीलिंग में इस्तेमाल किया है; लेकिन हिन्दी के दूसरे लेखक ने पुल्लिंग में। हम किसे ठीक मानें? ये और ऐसे ही प्रश्न हमें भाषा-सम्बन्धी हमारे प्रमाद का स्मरण दिलाते हैं।

कौन-सी लिपि ठीक है, शब्दों का कौन-सा रूप सही है, इसके विवाद में हम यहां नहीं पड़ना चाहते। हमारा तो केवल इतना निवेदन है कि हिन्दी की यह अराजकता दूर होनी चाहिए। हिन्दी के भाषा-शास्त्री, अखिल भारतीय संस्थाएं तथा भाषा-विशेषज्ञ मिलकर गम्भीरतापूर्वक विचार कर और शब्दों के रूप निर्धारित करके केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों से उन्हें अपने यहां प्रचलित करने का अनुरोध करें।

यह कार्य जितनी जल्दी होजाय, अच्छा है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, राष्ट्रभाषा प्रचारसमिति, वर्धा तथा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा इस विषय में संगठित रूप से प्रयत्न करें तो उसका फल अवश्य निकलेगा।

(पृष्ठ ११७ का शेष)

बड़े सुन्दर रूप में निकल रहा है, मूल्य ८)।

'गीता-माता' और 'मेरे समकालीन', गांधीजी की पुस्तकें हैं। 'गीता-माता' में गीता-विषयक रचनाएँ हैं, गीता-बोध, अनासक्ति-योग भी उसमें आगये हैं। 'मेरे समकालीन' में अनेक व्यक्तियों के गांधीजी द्वारा लिखे बड़े ही मार्मिक

संस्मरण हैं। ये दोनों ही पुस्तकें काफ़ी समय से अप्राप्य थीं। अब फिर से छप रही हैं।

इनके अलावा और भी कई पुस्तकों के पुनर्मुद्रण हो रहे हैं। नया सूचीपत्र मंगाकर पूरी जानकारी ले लीजिये।

—मंत्री

‘मंडल’ की ओर से

हमारे कुछ आगामी प्रकाशन

‘मण्डल’ से कई ऐसी पुस्तकें तैयार हुई हैं और हो रही हैं, जिन्हें हरकोई पढ़ना चाहेगा। राजाजी की नई कृति ‘राजाजी की लघु कथाएं’ उनकी रोचक, मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद कहानियों का बड़ा सुन्दर संग्रह है। प्रत्येक कहानी सचिव है और इतनी प्रभावशाली शैली में लिखी गई है कि एक बार हाथ में उठा लेने पर बिना सारी कहानियां पढ़े पुस्तक हाथ से नहीं छूटती। दो रंग की छपाई, सुन्दर आवरण, अच्छी कागज।

नेहरूजी की ‘कुछ पुरानी चिट्ठियां’ अपने ढंग की अगली पुस्तक है। सन् १९१७ से लेकर १९४८ तक के ३१ वर्षों के ३६६ पत्र इसमें संग्रहीत हैं। पत्र भी ऐसे कि एक-एक पंक्ति में पुराना युग बोलता है। पत्र-लेखकों में लगभग सभी प्रमुख राष्ट्रीय नेता हैं। अनेक विदेशी व्यक्तियों के भी पत्र हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे हमारे इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, उस युग को सामने लाकर खड़ा कर देते हैं, जिसकी नींव पर आज हमारा स्वतंत्र देश खड़ा है। पत्र होने के नाते उसमें सन्दनशीलता तो है ही।

नेहरूजी की ‘इतिहास के महापुरुष’ को जो भी पढ़ेगा, उसीको लाभ होगा। ‘विश्व इतिहास की झलक’ में से उन चुनी हुई विभूतियों का हाल इस पुस्तक में दिया गया है, जिन्होंने इतिहास को नया मोड़ दिया। यह पुस्तक बताती है कि जीवन की सार्थकता बड़े-बड़े काम करने में है। इसे पढ़कर एक नई स्फूर्ति, एक नई प्रेरणा मिलती है। यह तथा ऊपरवाली पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

यशपाल जैन की ‘रूस में छियालीस दिन’ विश्व के एक विकाशशील देश के अध्ययन के लिए बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। साथ ही घरबैठे वहां के विभिन्न स्थानों की यात्रा का आनन्द भी देती है। यात्रा-वृत्तान्त के अतिरिक्त रूस के साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राज-नैतिक तथा अन्य रूपों की बहुत ही प्रामाणिक झांकी इस पुस्तक द्वारा मिलती है। सवा दोसौ पृष्ठ, मोटी मजबूत

जिल्द, ३२ पृष्ठों में आठपेपर पर ५० चित्र, फिर भी मूल्य केवल ३)। पुस्तक हाल ही में तैयार हुई है।

संस्कृत के विद्वान् डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा संकलित ‘सुभाषित-सप्तशती’ ज्ञान का अनन्त भंडार है। प्राचीन ग्रंथों से विचार-रत्नों को चुन-चुनकर इस पुस्तक में दिया गया है। स्वाध्याय के लिए बड़ी स्वस्थ सामग्री इसमें मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों संग्रहकर्ता ने गागर में सागर भर दिया है। जीवन-निर्माण के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति को इसे पढ़ना चाहिए।

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय की ‘मनुष्य का वचन’ हमें बताती है कि अपनी विकास-प्रक्रिया में मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था क्या थी, वह शुरू-शुरू में किस प्रकार रहता था, क्या करता था, किस प्रकार के अस्त्र काम में लाता था, आदि-आदि। इस माला की तीन पुस्तकें पहले निकल चुकी हैं—‘पृथ्वी बनी’, ‘जीव आया’, ‘मनुष्य जन्मा’। यह चौथी है। बीसियों चित्र, दो रंग की सुन्दर छपाई, बढ़िया कागज।

इनके अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें प्रेस में हैं।

पुनर्मुद्रण

‘मण्डल’ की कई पुस्तकें समाप्त होगई थीं और उनके पुनर्मुद्रण की मांग बराबर होरही थी। ऐसी पुस्तकों में से ‘हिन्दुस्तान की कहानी’ (सम्पूर्ण) छपकर तैयार होगई है, जिल्द बंध रही है। इस पुस्तक से पाठक भलीभांति परिचित हैं। उसकी छपाई बहुत बढ़िया और शुद्ध हुई है, जिल्द पक्की और आवरण आकर्षक। मूल्य केवल ८)।

‘बापू की कारावास-कहानी’ उन पुस्तकों में से है, जो सदा प्रेरणा का स्रोत रहेंगी। गांधीजी के आगाखां महल में इक्कीस महीने की नजरबंदी के दिनों की बड़ी सूक्ष्म झांकी इस पुस्तक में मिलती है। महादेवभाई और बा के निधन के चित्र आंखों में आंसू ला देते हैं। डा० सुशीला नैयर की यह कृति गांधी-साहित्य की ही नहीं, भारतीय साहित्य की एक अनूठी चिन्ता है। इसका नया संस्करण (शेष पृष्ठ ११६ पर)

युगप्रभात

केरल का हिन्दी पाक्षिक

भावात्मक एकता भौगोलिक एकता की गारंटी है और 'युगप्रभात' पिछले ३ सालों से भारत की भावात्मक एकता को बढ़ावा देनेवाली विविध रचनाओं को, जिनमें दक्षिण की चार मुख्य भाषाओं से अनूदित सामग्री की प्रधानता है, प्रकाशित कर हिन्दी को भारतीय प्रतिनिधि भाषा बनाने की निरंतर चेष्टा कर रही है। नवम्बर से 'युगप्रभात' का चौथा साल शुरू हो रहा है। एक प्रति का दाम २५ नये पैसे।

वार्षिक चन्दा ६ रुपये

छमाही तीन रुपये

एजन्सी के लिए लिखें—

मैनेजर—

युगप्रभात

कालिकट (केरल)

समाज-शिक्षा कार्यकर्ताओं के लिए
हिन्दी की एकमात्र पत्रिका

प्रौढ़-शिक्षा

जो प्रौढ़-शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित स्तम्भों द्वारा समाज-शिक्षा-कार्यकर्ताओं व प्रौढ़-शिक्षा-संचालकों के कार्य में सहायता देती है। समाज-शिक्षा-शास्त्रियों की रचनाओं द्वारा कार्यकर्ताओं का मार्ग स्पष्ट करती है। प्रौढ़-शिक्षा की विवेचना और पद्धति की व्याख्या करती है।

सामुदायिक विकास खंडों, श्रमिकों, कृषकों व महिलाओं के केन्द्रों के लिए भी उपयोगी रचनाएं प्रकाशित करती है। अवश्य मंगाये। कम-से-कम एक प्रति तो पढ़कर देखियें।

एक प्रति ४० न. पं.

वार्षिक चन्दा रु. २.००

व्यवस्थापक—“प्रौढ़-शिक्षा”

भारती प्रौढ़शिक्षा संघ;

१८, बी. इन्द्रप्रस्थ मार्ग, नई दिल्ली।

सबसे सस्ता और सुन्दर सचित्र मासिक

जा गृ ति

संस्थापित १९४८

चौरंगा आवरण अनेकों इक रंगे चित्र
५६ पृष्ठ की सम्पूर्ण छपाई आर्ट पेपर पर
इसपर भी मूल्य केवल २५ नये पैसे
अप्रैल अंक के मुख्य आकर्षण

हरकूहीलदार (आंचलिक कथा) 'शैलेश' मटियानी।
चमत्कुमारी (हास्य कथा)—परशुराम। खंडहर
(समस्या एकांकी)—सत्येन्द्र शर्मा। सुख का स्रोत
(ऐतिहासिक एकांकी)—रामचन्द्र महेन्द्र। तुम्हारी
आंखों में तब और अब (मुक्त छन्द)—वच्चन बच्चा
मर जायगा। (व्यंग्य) श्री चिरंजात शर्मा। आदि।

एजंटों को ५ से १०० प्रतियों पर २५ प्रतिशत
और इससे ज्यादा पर ३३ १/३ प्रतिशत कमीशन दिया
जाता है। डाक-खर्च प्रकाशकों के जिम्मे। नमूने की
प्रति के लिए आज ही लिखें।

सम्पादक हिन्दी

लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब, चंडीगढ़

सम्पदा का...चिर प्रतीक्षित विशेषांक

सहकारी कृषि अंक

१५ अगस्त १९५६ को
प्रकाशित हुआ है।

- अपूर्व सूचनात्मक और विचारपूर्ण सामग्री
- 'सम्पदा' के विशेषांकों की परम्परा में एक और कड़ी

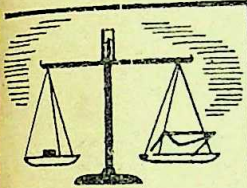
सम्पदा—अशोक प्रकाशन मन्दिर

२८/११ शक्तिनगर, दिल्ली—६

टिकट सावधानी से चिपकाइये

इससे

डाक प्रेषण में शीघ्रता आती है



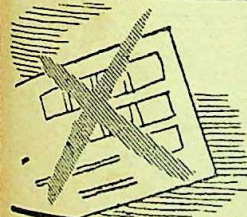
• तोल के अनुसार ठीक टिकट लगाइये

कम टिकटों और बिना टिकटों वाली चिट्ठियां देरी से पहुंचती हैं, क्योंकि छंटाई के समय उन्हें हिसाब लगाने के लिए अलग रख दिया जाता है।



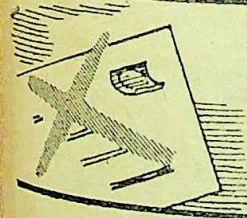
• टिकट, पते वाली तरफ ऊपर के दाहिने कोने में चिपकाइये

इससे छंटाई के काम में कम समय लगता है और साथ ही स्वचालित मशीन से मुहर लगाने का काम तेजी से होता है।



• आवश्यक मूल्य की कम से कम टिकटें लगाइये

इससे साफ पता लिखने के लिए काफी जगह बच रहेगी और टिकटों पर मुहर लगाने में भी सुविधा होगी।



• टिकट अच्छी तरह चिपकाइये

अच्छी तरह न लगे टिकट यदि गिर गए तो उन पत्रों को बेरंग अथवा कम टिकट वाले पत्र समझा जाता है। इनके जाने में देरी भी हो सकती है।

हमें उत्तम
सेवा का अवसर दीजिये
डाक-तार विभाग

अपर्याप्त और ठीक ढंग से टिकट न लगाने से पत्रों के पहुंचने में देर ही नहीं लगती अपितु उससे सम्बन्धी डाक-व्यवस्था में अड़चन पैदा हो जाती है।

अपने टिकट ध्यान-पूर्वक लगाइये

DA 59/356

जब आप रेल से सफर करते हैं

तब क्या आप अपने साथ हीरे-जवाहिरात, घड़ियां, रेशम, दुशाले, कपड़े, वाद्य-यंत्र
• अथवा अन्य मूल्यवान वस्तुएं ले जाते हैं?

यदि हां तो

कृपया उन वस्तुओं को जब आप रेलवे के अधिकारियों को सौंपें और उन वस्तुओं के
बंडलों में से प्रत्येक का मूल्य ३०० रुपये से अधिक हो, तो

१. बुकिंग कराते समय उनके मूल्य को लिखित रूप में घोषित कर दें, और
२. सामान्य किराये के अलावा घोषित मूल्य पर एक अंश अदा कर दें।

यदि ऐसा नहीं किया गया

तो उन वस्तुओं के खोने, नष्ट होने, खराब होने अथवा उनको क्षति पहुंचने की
जिम्मेदारी रेलवे स्वीकार नहीं करेगी।

उपरोक्त तथा अन्य अनेक वस्तुओं की सूची रेलवे समय-सारिणी और पथ-प्रदर्शिका में
'अपवादस्वरूप वस्तुओं' की सूची के रूप में दी गई है।

सबसे निकट के स्टेशन के स्टेशन-मास्टर से सम्पर्क करने पर आपको विस्तृत
सूचना प्राप्त हो जायगी।

—उत्तर रेलवे—

१६५६ के

हमारे नवीन प्रकाशन

१. दशरथनंदन श्रीराम	—राजाजी ५.००	१२. अमृत की बूंदें	—सम्पा० आनंदकुमार १.००
२. कथा सरित्सागर	—सोमदेव ६.००	१३. पक्षियों की दुनिया	—सुरेशसिंह १.५०
३. खाद और उसके उपयोग	—शंकरराव जोशी ३.००	१४. आंसू और मुस्कान	—खलील जिवान १.००
४. खेती के साधन	—ना. दु. व्यास १.२५	१५. ज्ञान की गरिमा	—बलदेव उपाध्याय २.००
५. परमहंस की कथाएं	—महावीरप्रसाद पोद्दार १.५०	१६. आकाश-दर्शन	—छोटूभाई सुथार २.००
६. नये जीवन की ओर	—शिवचन्द्र दत्ता १.००	१७. मैं इनका ऋणी हूँ	—इंद्र विद्यावाचस्पति २.००
७. ग्रामोद्योग	—शोभालाल गुप्त १.००	१८. तूफान और ज्योति	—सुमतिदेवी धनवटे २.५०
८. सहकारी समाज	—वैजनाथसिंह १.००	१९. कोई शिकायत नहीं	—कृष्णा हठीसिंग २.५०
९. शेख फरीद	—टीकाकार विद्योगी हरि ०.३५	२०. धान की की खेती	—राजदेव त्रिपाठी १.००
१०. स्वामी दादूदयाल	” ०.३५	२१. नैषध चरित	—श्रीहर्ष ०.३७
११. कबीरदास	” ०.५०	२२. शारदीया	—जगदीशचंद्र माथुर १.५०

समाज-विकास-माला की पुस्तकें : मूल्य, प्रत्येक का ३७ न. पं.।

२३. नन्हा अबाबील	२४. स्वामी विवेकानन्द	२५. आपभला जगभला	२६. नासिक
२७. सूर के पद	२९. संत वेमन्ना	२९. आराम हराम है	३०. गोरा-बादल
३१. पाठलिपुत्र	३२. महर्षि अगस्त्य	३३. शेख सादी	३४. दानवीर कर्ण
३५. गोदावरी	३६. कुम्हार की बेंटी	३७. नर्मदा	३८. शंकराचार्य
३९. अमरनाथ	४०. महारानी अहि-ग्राबाई	४१. पढ़ेंगे-लिखेंगे...	४२. कोणार्क

प्रेस में

१. कुछ पुरानी चिट्ठियां	—जवाहरलाल नेहरू	७. संघर्ष नहीं सहयोग	—कोपाटकन
२. आसन	—धर्मचंद सरावगी	८. बापू की कारावास-कहानी	—सुशीला नैयर
३. मनुष्य का वचन	—देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	९. भारत-विभाजन की कहानी	—ए. के. जानसन
४. मैथिली लोक-कथाएँ	—भगवानचंद्र 'विनोद'	१०. राजाजी की लघु कथाएँ	—राजगोपालाचार्य
५. रूस में छियालीस दिन	—यशपाल जैन	११. सुभाषित सप्तशती	—मंगलदेव शास्त्री
६. हिंदुस्तान की कहानी (संपूर्ण)	—जवाहरलाल नेहरू	१२. जानवरों का जगत	—सुरेशसिंह

सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

शारदीया

हमारी नवीन
कृति

नाटक-साहित्य
की
एक अनमोल देन

जगदीशचन्द्र माथुर

इस भावपूर्ण नाटक की रचना ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर की गई है। सुपाठ्य होने के साथ-साथ इसे मंच पर भी सफलतापूर्वक खेला जा सकता है। सुन्दर छपई, बढ़िया कागज, मूल्य केवल रु. १.५०

संस्त साहित्य मंडल, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, संस्त साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में छपवाकर प्रकाशित

अप्रैल १९६०

जीवन

साहित्य

सम्पादक

हरिभाऊ उपाध्याय

यशपाल जैन



श्रेष्ठ धन

सोने-चांदी के लाखों-करोड़ों सिक्कों को मैं श्रेष्ठ धन नहीं कहता। उसमें तो भय-ही भय हैं।...श्रेष्ठ और अचंचल तो मैं इन सात धनों को मानता हूँ—श्रद्धा, शील, लज्जा, लोक-भय, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा। इस सप्तविध धन को कौन लूट सकता है और कौन छीन सकता है ?

—बुद्ध

नवरचना का मासिक

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

हफ्तावार : चालीस नये पैसे

अहिंसक

वर्ष : इक्कीस

अंक : चार

विषय-सूची

- | | | | |
|--|---------------------------------|---|---------------------------|
| १. विश्व-राष्ट्र के सूत्रे | -विनोबा १२१ | १०. योगवाशिष्ठ और भागवत की कहावतें | |
| २. स्वामी दयानन्द और मूर्तिपूजा | | | -कन्हैयालाल सहल १३९ |
| | -सत्यदेव विद्यालंकार १२६ | ११. क्षमा के स्वरूप | |
| ३. धरती का लाल | -डी० मोहन नहरू १२८ | | -नरेन्द्रकुमार भनावत १४० |
| ४. चांद और चरखा | | १२. विदेशों में दिखानेवाली संस्थाएं | |
| | -भगवानचन्द्र गुप्त 'विनोद' १२९ | | -प्रेमनारायण अग्रवाल १४४ |
| ५. निरुत्साहित न होना | -श्रीमाताजी १३० | १४. चांद पर हम क्यों चढ़ें ! | |
| ६. बापू और सरदार | | | -रामचंद्र 'चंद्रभूषण' १४८ |
| | -रामनारायण उपाध्याय १३१ | १४. सेवाग्राम का सर्वोदय सम्मेलन : एक झांकी | |
| ७. रवीन्द्र-संगीत | -श्रीकांत गोगटे १३३ | | -सुरेश राम १४९ |
| ८. दो लघु कथाएं | | १५. कसीटी पर | |
| | -तेजकुमार बस्व 'निर्मोही' १३६ | | -समालोचनाएं १५१ |
| ९. बीसवीं सदी का तेलगू-साहित्य : कविता | | १६. क्या व कैसे ? | -सम्पादकीय १५४ |
| | -अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार १३७ | १७. 'मंडल' की ओर से | -मंत्री १५७ |

नवीन प्रकाशन

- | | | |
|--|---------------------------------|------------|
| १. राजाजी की लघु कथाएं | —राजगोपालाचार्य | मूल्य १.५० |
| चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सरल, सुबोध, एवं शिक्षाप्रद कहानियां। | | |
| २. मनुष्य का बचपन | —देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय | मूल्य १.०० |
| मनुष्य के प्रारंभिक अवस्था की कहानी चित्रों सहित। | | |
| ३. धान की खेती | —राजदेव त्रिपाठी | मूल्य १.०० |
| जापानी पद्धति से अनेक चित्रों सहित। | | |
| ४. रूस में छियालीस दिन | —यशपाल जैन | मूल्य ३.०० |
| रूस की यात्रा का बड़ा ही सजीव विविध विषयों की जानकारी युक्त वर्णन। | | |
| ५. मानव-अधिकार | —विष्णुप्रभाकर, राजदेव त्रिपाठी | मूल्य १.२५ |
| मानव अधिकारों के संघर्ष की कहानी। | | |
| ६. शारदीया | —जगदीशचन्द्र माथुर | मूल्य १.५० |
| एक भावपूर्ण मौलिक नाटक। | | |

इन तथा अन्य पुस्तकों के लिए लिखिये

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवनसाहित्य

वर्ष २१]

अप्रैल, १९६०

[अंक ४]

विश्व-राष्ट्र के सूबे !

विनोबा

शान्ति के कौन-कौन-से बुरे परिणाम होते हैं, यह दुनिया ने देख लिया है। हिंसक युद्ध के परिणाम पिछले दो महायुद्धों में हम देख चुके हैं। इसलिए अब लोगों में शान्ति की चाह पैदा हुई है। चाह तो हुई है, पर राह नहीं खुली है। राह की तलाश हो रही है। हिंसा की शक्ति को विकसित करने के लिए मानव-समाज ने हजारों साल बिताये हैं। उसमें वैज्ञानिकों ने और वीर पुरुषों ने अपनी-अपनी ताकत लगाई है। अब अगर शान्ति की राह ढूँढना चाहते हैं, तो शान्ति की शक्ति बढ़ाने का संशोधन करना होगा। उसके लिए त्यागी और वीर पुरुषों को पराक्रम करना होगा, वैज्ञानिकों की भी मदद लेनी होगी और चितन करनेवालों को चितन करना होगा। यह नहीं कि हिंसा की शक्ति विकसित करने के लिए हजारों साल लगे तो अहिंसा की शक्ति विकसित करने में भी उतने ही साल लगने चाहिए। आज जमाने की रफ्तार तेज हो गई है। पहले जो चीज हजारों साल में होती थी, वह आज पच्चीस साल में हो सकती है। पुराने जमाने में जो प्रयोग हुए, वे दुनिया के किस हिस्से में हुए, उसका पता दुनिया के दूसरे हिस्सों को नहीं लगता था। गौतम बुद्ध भारत में घूमते रहे, लेकिन हिंदुस्तान के बाहर की दुनिया को यह पता नहीं था कि ऐसा एक महापुरुष दुनिया को दिव्य विचार देता हुआ भारत में घूम रहा है। दुनिया को पता नहीं था, सत्ता ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान के भी दूर के हिस्सों को

पता नहीं था कि गौतम बुद्ध का "मिशन" एक हिस्से में चल रहा है। यही हालत ईसा मसीह की थी। इन दिनों अगर उस कोटि के किसी महात्मा का काम दुनिया के किसी भी हिस्से में चलेगा, तो कुल दुनिया का ध्यान उसकी तरफ लग जायेगा, याने जितना समय पहले लगता था, उतना समय अब नहीं लगता। इसलिए अहिंसा की शक्ति विकसित करने के लिए हजारों साल बिताने पड़ेंगे, यह खयाल गलत है।

अणु-शक्ति का उपयोग न किया जाय, इतनी ही मांग अभी की जा रही है। मांग करनेवालों में से बहुत-से हिंसावादी हैं और हिंसा चाहनेवाले हैं। अहिंसा को मानने वाले बहुत थोड़े हैं। अणु-शस्त्रों के पहले छोटे-छोटे शस्त्रास्त्रों के लिए दुनिया में सहूलियत थी, वह अब नहीं है। इसलिए जो महाशय अणु-शस्त्र के खिलाफ बोलता है, वही कोड़े की सजा या फांसी की सजा के अनुकूल बोलता है। ये जो छोटे-छोटे मध्यम शस्त्र हैं, उनकी मदद वे चाहते हैं, ताकि चन्द लोग बहुत लोगों को अच्छी तरह दबा सकें। दूसरों को दबाने का यह जो शस्त्र था, वह अब टूट रहा है। इसलिए वे चाहते हैं कि अणु-शस्त्र के प्रयोग बंद हों। मेरे मन की हालत इससे बिलकुल उलटी है। मैं हमेशा कहता आया हूँ कि ये अणु-शस्त्र हिंसा के परमोत्कर्ष के द्योतक हैं और अहिंसा के नेजदीक हैं। जैसे एक "वर्तुल" की परिधि के दो सिरे होते हैं, उसी तरह एक ओर आणविक हिंसा और

दूसरी तरफ अहिंसा है। देखने में तो दोनों दूर लगते हैं, पर वे एक-दूसरे से बहुत नजदीक होते हैं। मैं मानता हूँ कि अणुशस्त्रों के निषेध की मांग में उन लोगों की मानवीय दया-बुद्धि, 'ह्यूमैनिटेरियन' दृष्टि भी है। लेकिन मैं पूछना चाहता हूँ कि उनकी जाँच मांग है, क्या उसमें 'ह्यूमैनिटेरियन' दृष्टि के अलावा और कुछ भी है? आज के जमाने में लोगों को दवाने के जो शस्त्र हैं, क्या उन्हें वे छोड़ना चाहते हैं? क्या अहिंसा की शक्ति बढ़े, ऐसा वे चाहते हैं? क्या अहिंसा के आधारपर समाज-रचना हो, इसको वे पसंद करते हैं? एक तरफ वे लोग करुणा महसूस करते हैं, और उधर दंड-शक्ति भी चाहते हैं। मैं उनके साथ अन्याय नहीं करता। उनमें करुणा जरूर है, पर वह रानी नहीं है, दासी है। करुणा के ही कारण सेनाओं में डॉक्टरों की और रेडक्रॉसवालों की सेवाएं आवश्यक होती हैं। वे सारे करुणा से भरे रहते हैं। लेकिन उस करुणा में लड़ाई खतम करने की ताकत नहीं होती है। लड़ाई में रानी है हिंसा। हिंसा-रानी के राज्य में करुणा-दासी को सेवा के लिए रखते हैं। उतनी मात्रा में उनमें करुणा है। लेकिन वे दंड-शक्ति से लोगों को दवाना भी चाहते हैं। इस तरह कुछ करुणावादी और कुछ अधिक संख्या में दंडवादी, दोनों मिलकर अणु-शस्त्रों के खिलाफ मांग कर रहे हैं।

मैं कहता हूँ, जितनी हिंसा या क्रूरता तलवार चलाने वाला करता है, उतनी अणु-बम डालने वाला नहीं करता। वह नुकसान ज्यादा करता है, पर क्रूरता उसमें नहीं होती। किसीको अगर खंजर मारना हो, तो आंखें फोड़नी होंगी, आवेश लाना होगा, द्रिल कठोर करना होगा। अगर उस वक्त उसकी फोटो निकाली जाय तो वह जानवर की-सी फोटो मालूम होगी। उसी तरह ऊपर से बम डालनेवाले की फोटो ली जाय तो उसमें एक मामूली इंसान की शकल दिखाई देगी। वह भयानक शस्त्र अपने हाथ से डालता है, पर उसके मन में क्षोभ नहीं होता। अब क्षोभ 'आउट आफ डेट' हुआ है। क्षोभ अब पुरानी चीज हो गई है। अहिंसा में तो क्षोभ है ही नहीं, पर हिंसा में भी उसका स्थान नहीं रहा है।

चीन की और हमारी सरहद पर जहाँ कुछ हुआ, और लोग एकदम प्रक्षुब्ध हुए। किंतु अगर हमारा मन

ऐसे ही प्रक्षुब्ध होनेवाला है, तो हम इस जमाने के लायक नहीं हैं, ऐसा मानना चाहिए। इस जमाने में गणित चाहिए, क्षोभ काम का नहीं। अगर हमें बम डालना है तो उसे किस दिशा में डालना है, कौन से कोण से डालना है और किस जगह डालना है, इसका हिसाब करना पड़ता है। हिसाब तो बिल्कुल सही हो, लेकिन मन में क्षोभ बिल्कुल नहीं होना चाहिए। अगर क्षोभ रहा तो निशाना गलत होगा। इसलिए इसके आगे हिंसा के लिए भी क्षोभ अनुकूल नहीं पड़ेगा। जेल में फांसी के तख्ते पर जब किसी को लटकते हैं, तो लटकानेवाला जो अधिक होता है, वह अपने को गुनाहगार नहीं मानता। वह समझता है कि मैं अपना कर्त्तव्य कर रहा हूँ। वहाँ जो डाक्टर हज़िर रहता है, वह मानता है कि मैं "ऑन ड्यूटी" काम पर तैनात हूँ। जेलर का भी दिल साफ रहता है। वह कहता है, मेरा इसमें दोष नहीं है, यह सब कानून के मुताबिक हो रहा है। सजा देनेवाला न्यायाधीश भी सजा लिख देता है और घर जाकर अपने बाल-बच्चों के साथ प्रेम से खाता-पीता है। यह एक नया जमाना आ रहा है। इसमें अंदर से इंसान की आत्मा बिल्कुल साफ रहती है। इसलिए हमको समझना चाहिए कि दंड-नीति वाले जितने क्रूर होते हैं, उतने अणु-शस्त्रवाले नहीं होते। इन दिनों का जो चिंतन चलता है, वह भी अखिल विश्व का चलता है। अगर पुरानी ही हालत होती, तो आज किसी की सरहद पर हमला होनेपर दुनिया पर उसका असर नहीं होता। चीन के नजदीक पुर्तगाल का एक छोटा-सा द्वीप है। लेकिन चीन उस पर हमला नहीं कर सकता। पुराना जमाना होता, तो कर देता। आज अगर करता है, तो वह अखिल विश्व का सवाल बनता है। इसलिए आज चिंतन करनेवाले लोग गलत चिंतन कर सकते हैं, उसके परिणामस्वरूप हिंसा भी हो सकती है और हानि भी हो सकती है, लेकिन उनका चिंतन क्रूर नहीं हो सकता। इसलिए मैं कहता हूँ कि अणु-शस्त्रों के खिलाफ जिहाद बोलनेवाले लोग अहिंसा चाहते ही हैं, ऐसा नहीं है।

मैं जितना विचार करता हूँ, उतना मेरा विचार दृढ़ बनता जा रहा है कि अणु-शस्त्रों से डरने का कोई कारण नहीं। यह तो व्यापक चिंतन के अभाव का परिणाम है। अब तो चांद पर जाने की कोशिश चल रही है। इस तरह

व्यापक बनने के प्रयत्न के फलस्वरूप ये शस्त्र निकले हैं। लेकिन आज जो व्यापक बनने की कोशिश चल रही है, उसमें से अमन की राह तभी निकलेगी, जब हम "जय जगत्" को समझेंगे। इसके आगे "जय हिंद" भी संकुचित होगा। "जय हिंद" से छोटा नारा तो कतई नहीं चलेगा। लेकिन "जय हिंद" का नारा भी कोना साबित होगा। इसलिए मैं समझ रहा हूँ कि आगे हमारा संबंध चीन से सतत आनेवाला है। पहले चीन से हिन्दुस्तान का संबंध नहीं था। दोनों के बीच हिमालय खड़ा था। दोनों की "वार्डर" सुरक्षित मानी जाती थी। लेकिन वह संरक्षण संकुचित था। इसलिए वह रक्षण टिकनेवाला नहीं है। चीन-हिन्दुस्तान का संबंध बत निकट का होनेवाला है। चीन हमारा पड़ोसी बन गया है। इसलिए अगर हम तीव्रता से या क्षोभ से कुछ कर लेते हैं, तो वह चीज काम की नहीं होगी। उससे मसला हल नहीं होगा। यह संबंध तात्कालिक नहीं है, कायम का संबंध है। इसलिए चीन और हम एक ही दुनिया के हैं, यह ध्यान में रखना होगा। यह सिर्फ चीन और हिन्दुस्तान के लिए मैं नहीं बोल रहा हूँ। सिर्फ मिसाल के लिए मैंने उनका नाम लिया। यह बात मैं सब देशों के लिए बोल रहा हूँ।

'एस० आर० सी०' ने जब नई राज्य-रचना की तो उसके वारे में काफी कशमकश चली। बेल्लारी इधर हो या उधर, बेलगांव का क्या किया जाय, इस तरह का वाद-विवाद चला। उसमें खराब मन भी प्रकट हुआ। फिर भी हम समझे थे कि हम एक ही हिन्दुस्तान के नागरिक हैं। हमारा देश एक ही है। इसलिए झगड़े भी मर्यादित हुए। मैं समझता हूँ, उसी तरह चीन और हिन्दुस्तान का सवाल है, क्योंकि आज जो राष्ट्र माने गये हैं, वे इसके आगे प्रांत माने जायेंगे और सब दुनिया प्रांतों का एक समूह, एक इकाई मानी जायेगी। उधर सारी दुनिया की एक बड़ी इकाई और इधर ग्राम की छोटी इकाई।

मैं हिमाचल प्रदेश में गया था, तब मैंने देखा कि वहाँ के लोगों में काफी उत्साह था। उसका कारण बताते हुए मैंने कहा था कि हिमालय की भव्यता यहाँ के लोगों के जीवन में प्रकट हो रही है। मैंने जो कारण बताया उससे वहाँ के "सियासतदा", जिनको मैं "नादां" कहता हूँ, वे खूब हुए। कहने लगे, हमारे यहाँ अपनी असंबली नहीं

है। याने झगड़ने की अपनी जगह नहीं है, ऐसा उनका कहना था। क्योंकि हिमाचल प्रदेश केंद्रीय सरकार के मातहत है। मैंने कहा, तुम्हारे लिए यह खुशी की बात है कि बीच की एक कड़ी टूट गई। आगे तो यह होनेवाला है कि इधर मजबूत, अपने पाँव पर खड़ा हुआ ग्राम-स्वराज्य और उधर मजबूत विश्व, याने ग्राम में पूरी भौतिक और सामाजिक शक्ति रहेगी और विश्व में पूरी नैतिक शक्ति रहेगी। ये प्रांत, देश, कॉमनवेल्थ आदि बीच की कड़ियां नहीं रहेंगी। फिर गांववाले अपनी योजना बनायेंगे। उसमें किसी का दखल नहीं होगा। आज क्या होता है? योजना ऊपर से बनकर नीचे आती है। वह चीज जो ऊपर है नीचे आते-आते खराब होकर आती है। और नीचे की चीज ऊपर पहुंचाते-पहुंचाते पहुंचती ही नहीं! इसलिए मैंने उनको समझाया, तुम प्रगति पर हो, तुम्हारी सियासत तरक्कीपर है। आगे आनेवाली दुनिया के तुम नजदीक हो। इसीलिए तुम्हारे यहाँ पंजाब के जैसे सियासी झगड़े-पचड़े नहीं हैं। इतना समझाया, तब वे समझ गये। कहने लगे कि यह सही है कि पंजाब के झगड़े यहाँ नहीं हैं। उसमें उन्होंने धन्यता महसूस की।

अब आगे बीच की कड़ियां टूटने वाली हैं। आज के राष्ट्र कल सूबे होनेवाले हैं। चीन, जापान, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड, हिन्दुस्तान, सब आगे की रचना में देश रहनेवाले नहीं हैं। इसलिए जिस तरह हमने अपने अंदर-अंदर के झगड़े हल किये, उसी तरह देश-देश के बीच जो झगड़े हैं, उनको हल करना होगा। "आबू" की गिनती कहां करें? राजस्थान में करें या गुजरात में? इस बात को लेकर मनमुटाव भी कितना हुआ! आबू हवा खाने की जगह है, तो दोनों ही जाओ वहां हवा खाने के लिए। लेकिन नहीं। दोनों चाहते हैं कि "आबू" हमारे सूबे में रहे। आबू तो वहीं रहा, जहां भगवान ने उसे रखा है! इनका झगड़ा यह था कि नक्शे में वह कहां हो? वैसे ही कौन-सा शहर कहां हो, यह क्या सोचते हो? ये झगड़े जब चलते थे, तब मैं विनोद में कहा करता था कि तुम अपने हाथ में ही रखना चाहते हो न? क्या-क्या रखोगे? हाथ में रखना ही है तो मैं तुम्हें 'यूक्लिड' सिखावा हूँ। एक सवाल सीखो। ए० बी० सी० का त्रिकोण अपने हाथ में रखो। उसमें सब

आ जायेगा। ए० याने अफगानिस्तान, बी० याने बर्मा और सी० याने सीलोन। तीनों को अपना मानो। तीनों के राज्य भले ही अलग-अलग हों। तुम वहाँ के लोगों को अपना मानो। अतः मैं जम्मू-कश्मीर में गया था। वहाँ 'जम्मू एण्ड कश्मीर स्टेट' कहते हैं। मैंने कहा, सिर्फ 'कश्मीर' क्यों नहीं कहते? तो उन लोगों ने बताया जम्मू एक स्वतंत्र स्थान है। जम्मूवालों को दुःख होता है कि दुनिया में कश्मीर का ही नाम होता है। वहाँ झेलम घाटी है तो यहाँ चिनाव घाटी भी है। यहाँ भी सृष्टि-सौंदर्य बहुत है। लेकिन जान-बूझकर इसकी उपेक्षा करते हैं। जम्मू के लोग नाराज हैं, इसलिए कुछ संतुलन करना जरूरी हुआ। तो थोड़े में उन्होंने उनका समाधान कर दिया। उससे स्टेट को अब 'जम्मू एण्ड कश्मीर स्टेट' कहते हैं। मैं तो उसको 'जम्मू एण्ड कश्मकश स्टेट' ही कहता था। लेकिन एक मीटिंग में मैंने कहा, आप 'जे० के० स्टेट' कहते हैं, तो क्या इतने ही अक्षर हैं जंग्रेजी में? 'जे० और के० के बाद कुछ अक्षर हैं या नहीं? आप अगर उस अक्षर को छोड़ देंगे, तो वह हिस्सा छूट ही जायेगा। 'जम्मू-कश्मीर एण्ड लद्दाख स्टेट'—'जे० के० एण्ड एल० स्टेट' कहना चाहिए।

असल में तो लद्दाख और तिब्बत हमारा ही है। उसी दुनिया का एक हिस्सा है, जिसमें हम रहते हैं। विश्व-राष्ट्र का एक सूबा है। कश्मीरी कह रहे थे, कश्मीर में राय-शुमारी होनी चाहिए। मैंने कहा, किससे पूछा जाय? क्या गांव से पूछा जाय कि तू कहां जाता है? क्या हाथ से पूछा जाय? कश्मीर तो एक अंग है और दुनिया पुरुष है, इसलिए कश्मीर के बारे में आज दुनिया की राय लेनी होगी। एक जमाने में भारत अपने बाप का था, कश्मीर अपने बाप का था, चीन अपने बाप का था। लेकिन आज कश्मीर दुनिया का है, चीन दुनिया का है, भारत दुनिया का है।

यह चीज हमको जाननी और पहचाननी होगी। अगर नहीं जानते और पहचानते हैं, तो मार खायेंगे। विज्ञान तेजी से बढ़ रहा है। हमको अपना दिमाग साफ रखना होगा। नहीं तो मसले कमी हल होने वाले नहीं हैं, बल्कि मसले बढ़ते ही जायेंगे। फिर मानव-समाज में कश्मकश बढ़ती जायेगी। अगर ऐसा ही चलता रहा, तो मैं

कहता हूँ, होने दो एक बार दुनिया का खातमा! यों भी इस तरह खातमा ही होनेवाला है। मैं अहिंसा से ज्यादा वेदान्त मानता हूँ, इसलिए कहता हूँ कि खातमा होना है तो होने दो!

क्या अफगानिस्तान, क्या चीन, क्या पाकिस्तान, क्या महाराष्ट्र और क्या गुजरात, इनमें जो कश्मकश चलती है, वह दिल और दिमाग की है। आज दिमाग बड़ा बना है, लेकिन दिल छोटा-सा ही रहा है। इसके कारण मनुष्य के विकास में विसंगति आई है। शारीरिक विकास मनुष्य का अगर समान नहीं हुआ, तो शरीर टिकेगा नहीं। आज दिमाग और दिल में मेल नहीं है, इसलिए जितना संतोष जंगल के शेर को है, उतना संतोष 'शेरे-कश्मीर' को नहीं है, याने किसी शेरे-इंसान को नहीं है। क्योंकि जंगल के शेर का दिल जैसा छोटा होता है, वैसा ही उसका दिमाग भी छोटा होता है। उसको अपना शिकार मिल गया, तो वह खुश होता है। चीन के जंगल के शेर की हालत क्या है, यह यहाँ का शेर नहीं सोचता और यहाँ के शेर की हालत क्या है, यह चीन का शेर नहीं सोचता। दोनों का दिल और दिमाग समान और छोटा है। इसलिए दोनों को संतोष है। ऐसी अगर हमारी हालत होती, तो हमको भी संतोष रहता। कुछ-कुछ ऐसी हालत पहले हमारी थी। हर गांव स्वयंपूर्ण था। दूसरे गांव के साथ संबंध ही नहीं आता था। चीनी यात्री लाओत्से ने उस वक्त के आदर्श ग्राम का वर्णन किया है। उसने लिखा है रात को कुत्तों की भूकने की आवाज सुनकर एक गांव के लोग मानते थे कि कहीं नजदीक दूसरा गांव होगा। याने वहाँ जाकर देखने की जरूरत उनको मालूम नहीं होती थी। लेकिन इन दिनों चांद पर मनुष्य हैं या नहीं, मंगल पर मनुष्य हैं या नहीं, इसकी खोज हो रही है। हमारे पुराने लोगों ने मंगल को "भौम" नाम दिया है। मंगल पर भूमि होनी चाहिए, ऐसा अंदाज हमारे प्राचीनों ने किया था। लेकिन उस जमाने में उसके नजदीक जा नहीं सकते थे। मंगल पर अगर मनुष्य बसते हैं, तो रहें आनन्द से, ऐसा मानते थे। इस तरह वे अल्प-संतुष्ट थे। लेकिन जब उपनिषद् का ऋषि सामने आया, तब उसने यह अल्प संतोष तोड़ा। उसने कहा—“यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति।”

आज कहीं कुछ घटना होती है, तो कुल दुनिया को उसका पता चलता है। दिमाग इतना बड़ा बन गया है। उस हिसाब से हमने अपना दिल कितना बड़ा बनाया ? अगर दिल बड़ा नहीं बना तो उसके लिए जिम्मेवार कौन है ? क्या चीन जिम्मेवार है ? क्या भारत या पाकिस्तान जिम्मेवार है ? इसके लिए मनुष्य का असमान विकास ही जिम्मेवार है। हमको अपना दिल बड़ा बनाना पड़ेगा। इसी वास्ते "जय जगत्" पुकारना होगा। खुशी की बात है कि हिंदुस्तान में "जय जगत्" समझाने की कोशिश नहीं करनी पड़ी। यहां के लोगों ने उस मंत्र को सहज उठा लिया है, क्योंकि यहां की ऐसी मनोवृत्ति है कि व्यापक कल्पना सहज ग्रहण होती है। "जय हिंद" तो समझाना पड़ेगा, तभी समझेंगे। और "जय पंजाब" समझाना तो "जय हिंद" से भी मुश्किल होगा। इस तरह हिंदुस्तान दुनिया को राह दिखा रहा है कि दिल व्यापक बन सकता है।

इसी लिए मैं कहता हूं कि एक तरफ गांव और दूसरी तरफ विश्व। हर एक गांव अपने पांव पर खड़ा होगा। गांव की योजना दिल्ली नहीं करेगी। देहात की योजना देहात बनायेगा। इसका मतलब यह है कि अगर लड़ाई छिड़ जाय—भगवान करे ऐसा न हो, लेकिन मान लो कि छिड़ गई तो अनाज के भाव आसमान में चढ़ेंगे। भाव आसमान में

चढ़ेंगे और आसमान से नीचे सिर्फ बम आयेंगे ! उस हालत में अगर गांव के पास अनाज नहीं रहा, तो गांव को कौन बचायेगा ?

१९४३ में बंगाल में अकाल पड़ना तीस लाख आदमी भूख से मर गये। जेल में इन चर्चा करते थे और कहते थे कि अंग्रेजों का राज्य है, उनके कारण यह सब हुआ है ! अब अगर वंसी नौबत आ गई तो अंग्रेजों के सिरपर पाप नहीं मढ़ सकेंगे। इसलिए मैंने येलवाल में देश के नेताओं के सामने कहा था कि "ग्राम-दान" "डिफेंस मेजर" है, देश के संरक्षण की तरकीब है। गांव में दायम चीजें न हों, तो चलेगा। लेकिन जो चीजें पहले दर्जे की हैं, वे तो गांव में होनी चाहिए। अभी चीन से झगड़ा चल रहा है। मान लो, हिंदुस्तान की सेना पीछे हट रही है, ऐसी खबर आई तो सारा देश भयभीत होगा। अगर देश में गांव-गांव अपने पांव पर खड़े रहें तभी देश सुरक्षित रहेगा। मैं मानता हूं कि हिंदुस्तान की सेना काफी मजबूत है। चीन आक्रमण तो करेगा ही नहीं, पर अगर वह झगड़ा भी करता है, तो उसका मुकाबला सेना कर सकेगी। लेकिन इतने से भी देश सुरक्षित नहीं रह सकेगा। देश को अगर सुरक्षित बनाना है, तो दिल्ली से गांव का प्लानिंग नहीं होना चाहिए।

सिरसा, १७-१२-५९

(पृष्ठ १३० का शेष)

उसे तुच्छ, कृत्रिम और हीन रूप दे देते हैं। हम यह नहीं जानते कि परिणाम क्या हो सकता है या क्या होना चाहिए। यह तो बाद में पता लगेगा। जब वह सामने आता है, जब परिवर्तन साधित हो जाता है तब हम पीछे मुड़कर देखते हैं और कहते हैं, "ओह, इसीकी ओर तो मैं बढ़ रहा था", किंतु यह सब बाद में पता लगता है। इससे पहले तुम्हारे अंदर केवल कुछ अस्पष्ट प्रकार की कल्पनाएं होती हैं जो कि सच्ची उन्नति के सामने, सच्चे रूपांतर के सामने बिल्कुल उथली और तुच्छ होती हैं।

अतएव पहली बात यह है कि हममें अभीप्सा तो है,

पर हमें यह ठीक पता नहीं कि वह कौन-सा सच्चा फल है जो हमें प्राप्त होना चाहिए। केवल भगवान् ही उसे जान सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि हम भगवान् से यह कहें, "मैं तुम्हें अपना प्रयत्न सौंपता हूं, किंतु इसके बदले में मेरी उन्नति अवश्य होनी चाहिए; यदि ऐसा नहीं हुआ तो मैं तुम्हें कुछ नहीं दूंगा।" यह सौदा है, और कुछ नहीं।

जो सहज रूप में किया जाता है और इसलिए किया जाता है कि मनुष्य इसके सिवाय और कुछ कर नहीं सकता तथा जो सद्भावनापूर्वक समर्पण के रूप में किया जाता है, उसी कार्य में सच्चा महत्त्व होता है।

सत्यदेव विद्यालंक

स्वामी दयानन्द और मूर्तिपूजा

विभिन्न धर्मों का प्रादुर्भाव एक-दूसरे के विरोध के रूप में नहीं, अपितु प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। परस्पर जो विरोध दीख पड़ता है वह भी प्रतिक्रिया का ही रूपान्तर है। अंग्रेजी राज की दुर्नीति भारतीयों में परस्पर विरोध-भाव पैदा करने की थी और इसी विरोध-भाव को अंग्रेज कूटनीतिज्ञ अपने शासन का मूल आधार मानते हैं। सम्प्रदायवाद और धार्मिक विरोध की दुर्भावना प्रायः उनकी ही देन है। वैसे भी धार्मिक विद्वेष मानव की स्वाभाविक दुर्बलता है, जिसका वह सहज शिकार हो जाता है। वर्तमान युग में आर्यसमाज का प्रादुर्भाव तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुआ और वह तीव्रता जब कट्टरता व संकीर्णता में परिणत हुई तब विरोध भाव का उग्र हो जाना स्वाभाविक था। परन्तु वस्तु-स्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन विरोध की इस मनोवृत्ति से नहीं किया जा सकता। वास्तविकता को जानने व समझने के लिए निरपेक्ष भाव होना आवश्यक है।

हिंदु समाज में आर्य समाज के प्रति उग्र विरोध-भाव पैदा करनेवाला मुख्य प्रश्न मूर्ति-पूजा के खंडन अथवा विरोध का रहा है। परन्तु मूर्ति-पूजा के खंडन या विरोध की प्रतिक्रिया कुछ नहीं है। स्वामी दयानन्द की वह कल्पना या सूझबूझ सर्वथा अपनी या मौलिक नहीं थी। आर्यसमाजी भाई शिवरात्रि के उपवास और जागरण की घटना को इतना अधिक महत्त्व दे देते हैं कि वे उसीको युवक मूलशंकर के दिल व दिमाग में मूर्ति-पूजा के विरुद्ध भावना पैदा होने का मूल कारण मान बैठे हैं। यह ठीक है कि शिवमंदिर में सबके निद्रावश हो जानेपर यदि कहीं चूहे ने शिवलिंगपर चढ़कर नैवेद्य आदि को खाना शुरू न कर दिया होता तो कदाचित् ही मूलशंकर के हृदय में वह उथल-पुथल पैदा हुई होती जिसने उसको स्वामी दयानन्द बना दिया। फिर भी इस घटना का इतना महत्त्व नहीं है जितना कि उसको दिया जाता है। वैदिक कर्मकांड की अति के रूप में ही मूर्ति-पूजा का प्रादुर्भाव हुआ। एक अर्थ विद्वान् ने तो यहांतक लिखा है कि अग्निकुंड की कल्पना और यज्ञ की भावना में से ही

शिवलिंग का प्रादुर्भाव हुआ है। अग्निकुंड के चारों ओर पानी डाला व प्रवाहित किया जाता है। सामग्री व घी की जो आहुतियां उसमें दी जाती हैं उनसे उसके भीतर शिवलिंग का-सा आकार बन जाता है। उनका कहना यह है कि कालान्तर में इसीका रूपान्तर शिवलिंग-पूजा में परिणत हो गया। कर्मकांड और पूजा-पाठ भी अत्यंत विकृत होकर इस अति पर पहुंच गया कि उसके कारण समाज में सामाजिक जड़ता व धार्मिक मूढ़ता घर कर गई। यहां उदाहरण के लिए दक्षिण के राजा रामदेव के मंत्री हेमाद्रि का उल्लेख करना पर्याप्त होना चाहिए। उनका लिखा 'चतुर्वर्ग' चिन्तामणि ग्रंथ मिलता है। उनकी गणना अपने समय के हिंदु-आचार्यों में की जाती थी। उन्होंने अपने ग्रंथ में हिंदुओं के धार्मिक व सामाजिक कर्मकांड की विशेष रूप से चर्चा की है। उसी काल के काशी के पंडित नीलकंठ, कमलाकर भट्ट आदि ने भी अपने ग्रंथों में हिंदुओं के कर्मकांड का विशद विवेचन किया है। उन्होंने प्रत्येक नैष्ठिक हिंदू के लिए वर्ष में लगभग दो हजार व्रत, पूजा तथा अनुष्ठान आदि कर्मकांडों का विधान किया है, जिनका औसत प्रतिदिन ५-६ के लगभग पड़ता है। जिस समाज और उसके नेताओं का सारा ध्यान, समय, शक्ति तथा सम्पत्ति आदि इन कर्मकांडों में लगते रहेंगे वे और क्या कर सकेंगे? मध्यकाल में विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध की शक्ति इसी कारण कम होगई और हमारा देश गुलाम बन गया।

इस अति कट्टरता, जड़ता व मूढ़ता की प्रतिक्रिया उसके खंडन या विरोध के रूप में होनी स्वाभाविक थी और उसका सूत्रपात प्रायः महाभारत के समय श्रीकृष्ण ने ही कर दिया था। गीता का अर्जुन आज के सामान्य हिंदु की तरह कर्मकांड में उलझा हुआ ऐसा धर्म-विमूढ़ बन गया था जिसको पग-पग पर अपना कुल-धर्म तथा सनातन धर्म डूबता और वर्ण-संकरता फैलती दीख रही थी। सबसे बड़ा भय उसको यह था कि पिंडोदक क्रियाएं लुप्त हो जाने से उसके सारे पितर नरकगामी बन जायेंगे। श्रीकृष्ण ने उसकी इस धर्म-

विमूढ़ मति को दूर करने के लिए गीता का उपदेश किया और उसके प्रारंभ में ही "वेदवादरताः" तथा "क्रिया-बहुल-विशेषाय" आदि कहकर वैदिक कर्मकांड पर ही चोट की और सारी गीता में वैदिक व सनातन धर्म-संबंधी धर्मान्ध-मूढ़ता और कर्मकांड-संबंधी सामाजिक जड़ता का प्रतिवाद किया है। अंत में तो सर्व-धर्म-परित्याग का उपदेश देने में भी संकोच नहीं किया। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण को आदि धर्म-सुधारक कहना चाहिए। ऐसे क्रांतिकारी महापुरुष को भी हिंदू समाज में सोलह कलाओं से पूर्ण अवतार मान लिया गया। श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित यह सुधारक परंपरा बुद्ध, महावीर, शंकर तथा मध्यकालीन संतों द्वारा पुष्ट की गई। वर्तमान काल में राजा राममोहन राय, ज्योतिर्बाले, दयानन्द, विवेकानन्द तथा गोपालराव आगरकर आदि तक चली गई। इस परंपरा के विपरीत प्रवाह को भी समय-समय पर विशेष बल मिलता रहा। सायण, महीधर, हेमाद्रि, नीलकंठ, कमलाकर भट्ट आदि आचार्य उनमें प्रमुख थे। सामान्य जनता की मूढ़ भावना भी इसी विपरीत प्रवाह की पोषक रही है। यही कारण है कि मध्यकालीन क्रांतिकारी सुधारक संतों तथा आधुनिक महापुरुषों को भी उनके अनुयायियों ने संकीर्ण संप्रदायों की हृदयदियों में बंद करके उनके नाम पर नये संप्रदाय, नये शास्त्र, नये मंदिर, नई मूर्तियां, नये मठ, नये अखाड़े, नये तीर्थ, नये गुरु और नये महंत आदि खड़े कर दिये। वे सब कट्टरता व संकीर्णता के प्रवाह के प्रहरी बन गये और उसका बाल बौका भी न हो सका। इसी प्रकार सनातन धर्म के नाम से खड़ा किया गया धर्मान्धता का और जन्म-जाति-बिरादरी आदि के नाम से गढ़ा गया सामाजिक पड़यंत्र दोनों कुछ ऐसे दृढ़ बन गये कि उनपर सदियों से निरंतर किये जानेवाले प्रहारों का भी कोई असर न हो सका।

यहां हम विशेष रूप से उस प्रबल प्रतिक्रिया की चर्चा करता चाहते हैं जिसके कारण स्वामी दयानन्द चहुंमुखी धार्मिक व सामाजिक क्रांति के प्रवर्तक बन गये। उसके लिए हम स्थाली-पुलाक न्याय से केवल मूर्ति-पूजा का उल्लेख करता चाहते हैं। मूर्ति-पूजा हिंदू कर्मकांड की प्रतीक है। मध्यकालीन संतों के समय में हिंदू कर्मकांड के साथ-साथ मुस्लिम कर्मकांड, अंध-विश्वास, तथा सामाजिक अंध-

परंपराएं भी जुड़ गईं। कबीर, नानक, रैदास, दादू, मल्लू-दास, प्राणनाथ, सहजोबाई, राम स्नेही संत राय चरण, चैतन्य, नामदेव, खेचर और चोखमेल आदि सभी संतों ने हिंदू, मुस्लिम दोनों के धर्मान्धताजन्य मिथ्या विश्वासों, रूढ़ियों तथा कर्मकांड आदि का अत्यन्त तीव्र नाश में प्रतिवाद किया है। यहां तक कि ईश्वर-अल्ला, राम-रहीम, कृष्ण-करीम काशी-कावा तथा मंदिर-मस्जिद आदि की दुई और उनके साथ जुड़ी हुई धर्मान्ध रूढ़ियों और कर्म-कांडों का भी विरोध किया है। दोनों में अपने-अपने ढंग की मूर्ति-पूजा प्रचलित थी, उसका भी उन्होंने खंडन किया। यहां हम उनकी वाणियों का विस्तार के भय से उल्लेख नहीं करना चाहते।

इसी प्रसंग में एक और ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है। जैन और बौद्ध धर्म दोनों का प्रादुर्भाव वैदिक कर्मकांड की कट्टरता, जड़ता व मूढ़ता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। दोनों का विकास व विस्तार भी प्रायः एक साथ ही होता है परंतु बौद्ध धर्म इस देश में से उठ जाता है और जैन धर्म बना रहता है, इसका कारण क्या है? हमारी दृष्टि में इस प्रश्न का उत्तर दोनों धर्मों के विकास व विस्तार के क्रम के तुलनात्मक अध्ययन से मिल जाता है। बौद्ध धर्म का प्रारंभ हीनयान से हुआ। सम्राट अशोक ने हीनयान के रूप में ही उसका विस्तार किया। उसमें मंदिर, मूर्ति, बिहार व मठ आदि के आडम्बर व पाखंड नहीं थे। संभवतः शास्त्रों का भी इतना महत्त्व नहीं था। सम्राट कनिष्क के समय में महायान का प्रादुर्भाव हुआ और उसमें मंदिर, मूर्ति, बिहार, मठ व शास्त्र आदि सब आडम्बरों व पाखंडों की प्रतिष्ठा हो गई। तब इसी रूप में अपने देश तथा विदेशों में भी बौद्ध धर्म का बड़े वेग से विस्तार हुआ। उसके कुछ वर्ष बाद बज्रयान का सूत्रपात होनेपर बौद्ध धर्म ने हिंदु धर्म के चार्वाक तथा बाममार्ग का रूप धारण कर लिया। इस रूप में उसका ऐसा अंत हुआ कि वह इतिहास का विषय रह गया। जैन धर्म के विकास का क्रम उसके विपरीत है। पहली बात तो यह है कि उसका विस्तार राजधर्म की अपेक्षा अधिकतर प्रजाधर्म के रूप में हुआ। दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों के रूप में उसका प्रारंभ हुआ। उसमें विशालतम मंदिरों और उनसे भी अधिक विशाल मूर्तियों आदि की प्रतिष्ठा हुई। पूजा-पाठ, शास्त्रों के अध्ययन,

जप-तप आदि कर्मकांडों में उन्होंने हिंदुओं को भी मात दे दी। श्वेतांबर स्थानकवासी संप्रदाय के प्रादुर्भाव का जैन-धर्म के लिए महायान की अपेक्षा सर्वथा विपरीत परिणाम हुआ। इस संप्रदाय ने मंदिरों, मूर्तियों तथा पूजा-पाठ आदि कर्मकांड का विरोध किया। ठीक दोसौ वर्ष पहले श्वेतांबर तेरापंथी संप्रदाय ने एक कदम और आगे बढ़ाया और स्थानकों की मान्यता भी समाप्त कर दी। इस प्रकार जैनधर्म क्रांतिकारी सुधारों की ओर उन्मुख रहा है और इसी प्रवृत्ति ने उसको जीवित रखा है।

वर्तमान धार्मिक पुनर्जागरण इस लंबी क्रांतिकारी सुधारक परंपरा की ही एक और शाखा है। मध्यकालीन संतों तथा स्थानकवासी तेरापंथी जैन साधुओं के संदेश की प्रतिक्रिया इस धार्मिक पुनर्जागरण के रूप में और भी अधिक तीव्र हुई। इन जैन साधुओं का राजस्थान, सौराष्ट्र तथा कच्छ, काठियावाड़ में विशेष प्रभाव रहा। काठियावाड़ में स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ। शिवरात्रि के दिन घर छोड़कर वह इसी प्रदेश में से होते हुए मथुरा पहुंचे। बंबई में १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना हुई। अजमेर व राजस्थान उनके मुख्य कार्यक्षेत्र रहे। यह सारा ऐतिहासिक

घटना-क्रम साक्षी है कि स्वामी दयानन्द में कर्मकांड की कट्टरता, पूजा-पाठ आदि की रूढ़ियों और मूर्ति-पूजा व मंदिर आदि के आडम्बरों के प्रतिकूल जो तीव्र विरोध की उग्र भावना पैदा हुई वह सदियों से चली आ रही क्रांतिकारी सुधारक प्रवृत्तियों की परंपरा का ही परिणाम थी। उनपर निश्चित रूप से मूर्ति-पूजा-विरोधी उस प्रदेश के संतों व जैन साधुओं का भी कुछ प्रभाव पड़ा होगा। अन्य सुधारक संस्थाओं की भी कम-अधिक यही स्थिति है। मुश्किल यह है कि मानव की मनोवृत्ति उस मूढ़ किसान के समान है जो खेत की रक्षा के लिए बाड़ को ही सबकुछ मानकर खेती को सुखा डालता है। धर्म की रक्षा के लिए क्रांतिकारी सुधारक महापुरुषों ने सदियों से निरंतर जो प्रयत्न किये, उनको उनके अनुयायियों ने उस मूढ़ किसान की तरह सबकुछ मानकर संप्रदायों, नये सांप्रदायिक कर्मकांडों और नई संकीर्णता का रूप दे दिया। मकड़ी के जाले की तरह वह स्वयं अपने द्वारा बनाये गये कर्मकांड के इस जाल में फंसा ही रहा। इसी दृष्टि से हमें अपने इतिहास का अवलोकन और क्रांतिकारी सुधारक महापुरुषों की कृतियों का अध्ययन करना चाहिए।

धरती का लाल

उग आयो पूरव में सूरज, कांधे धरी कुदाल जी।
दूर देश को करो अंधेरो, हाथां लियां मशाल जी।

उग आयो० ॥

जागी जमी, जमानो जाग्यो, जाग्या म्हांका भाग जी।
मैं चाल्यां हिल गयो समन्दर, धरती हुई निहाल जी।

उग आयो० ॥

पाकी ज्वार, बाजरो पाक्यो, गेहूं भर्या भण्डार जी।
ई धरती पे नहीं रहलौ, अब कोई कंगाल जी।

उग आयो० ॥

घणा दिनां सूं म्हांने खावै, ए पूंजी का नग जी।
वे दिन बीत्या, म्हां की धरती, मैं ईका रखवाल जी।

उग आयो० ॥

यें जानों छो, धन धरती पर, है सबको अधिकार जी।
खोदो खेत सीचवां चालां, मैं फोड़ा पाताल जी।

उग आयो० ॥

बीत्यो जुल्म अंधेरा का जुग, मैं उठ्या ललकार जी।
जुल्मी सुन ले कान खोल कै, मैं धरती का लाल जी।

उग आयो० ॥

डी: मोहन नेहरू

भगवानचन्द्र गुप्त 'विनोद'

मैथिली की लोक-कथा :

चांद और चरखा

एक बुढ़िया थी। उसके चार बेटे थे, सूरज, चांद, वरुण और पवन। एक दिन चारों बेटे गांव में पूड़ी-मिठाई का भोजन खाने जा रहे थे। जाते समय बुढ़िया ने कहा, "बेटा, मेरे लिए भी थोड़ा भोजन लेते आना।" कहते-कहते बुढ़िया के मुंह में पानी भर आया। बूढ़े और वच्चे की अकल एक-सी हो जाती है।

चारों बेटे खूब इच्छापूर्ण भोजन खाकर घर लौटे। बुढ़िया के भोजन मांगने पर सभी बहानेबाजी करके बातें बनाने लगे। सूरज बोला, "मां, भोज में किसी तरह की मिठाई नहीं परोसी गई थी। सिर्फ पूड़ी-तरकारी का ही भोज था।"

वरुण बोला, "नहीं मां, भइया झूठ बोलते हैं। मिठाइयां जरूर परोसी गई थीं। किन्तु इतनी कम मिठाइयां परोसी गई थीं कि मैं ही सब खा गया।"

पवन बोला, "नहीं मा, बहुत सारी मिठाइयां परोसी गईं! जो चाहे जितनी खा सके! किन्तु, क्या बताऊं मां, मुझे मिठाइयां लेने में बहुत ही संकोच मालूम पड़ा। इसी लिए नहीं ला सका।"

अबतक चांद चुप था। उसने चुपके से मां की खोइछा (आंचल) में लड्डू-पेड़े देते हुए और खुशी के मारे मचलते हुए बोला, "लो मां, इतनी मिठाइयां परोसी गईं कि मैं तो खा ले नहीं सका। मैंने कुछ जेब में नुका^१ ली थीं!"

चांद के इस प्रेम से बुढ़िया बहुत खुश हुई। मिठाइयां खाईं। शीतल जल पीकर हृदय जुड़ाई। उसने चांद को आशीष दिया, "जाओ बेटा, ठंडे-ठंडे उगना और ठंडे-ठंडे डूबना।"

यह आशीष उसने और बेटों को नहीं दी। अतः चांद बाजतक ठंडे-ठंडे उगता और डूबता है और लोगों को बहुत आता है। इसके विपरीत लोग गरमी के मारे सूरज को कोसते हैं, वरसात में अत्यधिक कीचड़-पानी से तंग आकर वरुण को और आंधी में पवन को।

१. छिपा लेना।

चांद है कि उसका सदा स्वागत-ही-स्वागत है। बच्चों के लिए वह अभी भी बादल को आर-पार करते हुए सोने की कटोरी में दूध-भात लिये आता है।

चांद के दिन घटते-बढ़ते रहते हैं। सो बुढ़िया माता परोपकारी बेटा चांद के घर रहकर ही सुख-दुःख काटती है और चरखा चलाती रहती है।

छुटपन में मैंने यह कथा अपनी माता की गोद में बैठकर चांदनी रात में सुनी है। चांद में जो छाया है, उसे ही बुढ़िया और चरखा माना गया है। चरखा के प्रति हमारी कितनी प्राचीन और ऊंची भावना है, यह इस कथा से अभिव्यक्त होता है।

रामचरितमानस के एक प्रसंग का स्मरण हो रहा है। एक ब्रार रामचन्द्रजी ने पूर्व दिशा में उदित मयंक को देखा और सबों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया—

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि, मृगपति सरिस असंक ॥

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी।
परम प्रताप तेज बल रासी ॥
मत्त नाग तम कुंभ बिदारी।
ससि केसरी गगन बन चारी ॥
बिथुरे नभ मुकुता हल तारा।
निसि सुन्दरी केर सिगारा ॥
कह प्रभु ससि महं मेचकताई।
कहहु काह निज-निज मति भाई ॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
सहि महं प्रगट भूमि कै झाई ॥
मारेउ राहु ससिहि कह कोई।
उर महं परी स्यामता सोई ॥
कोउ कह जब विधि रति मुख कीन्हा।
सार भाग्य ससिकर हरि लीन्हा ॥

(शेष पृष्ठ १३६ पर)

श्रीमाताजी

निरुत्साहित न होना

प्रश्न : अधिक अच्छा करने के लिए प्रयत्न करते हुए भी जब हम अपने अंदर प्रगति का आभास नहीं पाते तो हम निराश हो जाते हैं, उस समय हमारे लिए क्या करना सबसे अच्छा होगा ?

उत्तर : पहली बात यह है कि निरुत्साहित न होओ। निरुत्साह तुम्हें कहीं भी नहीं पहुंचायेगा। सर्वप्रथम तुम्हें अपने-आपसे यह कहना होगा कि तुम यह समझने में सर्वथा असमर्थ हो कि तुमने प्रगति की है या नहीं; कारण, जो तुम्हें जड़ता की अवस्था प्रतीत होती है वह प्रायः ही एक लंबी तैयारी का समय होता है, कभी-कभी यह समय बहुत लंबा होता है, पर ऐसा नहीं कि समाप्त ही न हो। वस्तुतः यह प्रगति के पहले का समय होता है।

कभी-कभी हम समय को महीनों और सप्ताहों में गिनते हैं और फिर अचानक ही जो चीज तैयार हो रही थी, वह प्रगट हो जाती है। और तब हम देखते हैं कि कई स्थलों पर एक ही साथ परिवर्तन हो गया है।

जैसा कि योग में सब चीजों के साथ होता है, उन्नति के लिए प्रयत्न उन्नति के प्रयत्न के प्रेम की खातिर किया जाना चाहिए; प्रयत्न का आनंद और उन्नति की अभीप्सा अपने-आपमें ही पर्याप्त मानी जानी चाहिए, परिणाम से उन्हें स्वतंत्र रखना चाहिए। योग में जो-कुछ भी किया जाय वह 'करने' के आनंद की खातिर किया जाय, उस फल की खातिर नहीं जिसे तुम प्राप्त करना चाहते हो। चाहे जो कुछ भी हो, जीवन में और सब वस्तुओं में परिणाम सदा तुम्हारे अधिकार में नहीं होता। और यदि हम अपनी प्रवृत्ति को ठीक रखना चाहते हैं तो हमें सहज-स्वाभाविक रूप में ही कार्य करना, अनुभव करना, सोचना तथा प्रयत्न करना चाहिए, वस्तुतः यही करना उचित भी है, फल पाने की इच्छा से कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं होना चाहिए।

ज्यों ही हम फल के विषय में सोचने लगते हैं, हम सौदा करना शुरू कर देते हैं और यह चीज हमारे प्रयत्न में से

समस्त सच्चाई को निकाल देती है। तुम उन्नति करने के लिए प्रयत्न करते हो, क्योंकि तुम अपने अंदर इसकी आवश्यकता, प्रयत्न और प्रगति करने की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव करते हो। और यह प्रयत्न ही वह आहुति है जो तुम अपने अंदर स्थित भागवत चेतना को, विश्व में स्थित दिव्य चेतना को समर्पित करते हो। यह तुम्हारा कृतज्ञता प्रकाशित करने का, अपने-आपको समर्पित करने का, एक ढंग है। इसके परिणामस्वरूप उन्नति होती है या नहीं, इस बात का कुछ महत्त्व नहीं है। तुम तभी प्रगति करोगे जब तुम्हारा प्रगति का समय आयेगा, इसलिए नहीं कि तुम इसकी इच्छा करते हो।

यदि तुम उन्नति की इच्छा करते हो, उदाहरणार्थ, यदि तुम अपने ऊपर स्वामित्व प्राप्त करने के लिए, अपने दोषों, अपनी कमजोरियों और अपूर्णताओं को दूर करने के लिए प्रयत्न करते हो और एकदम ही अपने प्रयत्न के फल को पाने की आशा करते हो तो तुम्हारे प्रयत्न की समस्त सच्चाई चली जाती है। वह एक सौदा बन जाता है।

अतएव, दो बातों का याद रखना जरूरी है: सबसे पहले तो हम फल के विषय में निर्णय देने के अयोग्य हैं। भगवान् पर भरोसा रखो और अपने आपसे कहो: "मैं वह सबकुछ देने को तैयार हूँ जो मैं दे सकता हूँ, वह सब प्रयत्न और एकाग्रता भी जिसके मैं समर्थ हूँ। यह निर्णय बही करेगा कि बदले में मुझे क्या देगा; वह भी तभी जबकि बदले में कुछ मिलना आवश्यक हो। मुझे क्या पता कि मुझे क्या फल मिलना चाहिए।"

इससे पहले कि हमारे अंदर कुछ रूपांतर हो जाय, क्या हम रूपांतर की दिशा को, उसके ढंग या उसके रूप को जानने का निश्चय कर सकते हैं ?

हम कुछ भी नहीं जानते, हम केवल कल्पना करते हैं; और सामान्यतया तो ऐसा होता है कि हम जिस फल को पाना चाहते हैं, उसे सीमित और संकुचित बना देते हैं।

(शेष पृष्ठ १२५ पर)

बापू और सरदार

गांधीजी और सरदार वल्लभभाई पटेल के बीच अत्यंत ही स्नेहिल संबंध थे। जिस तरह नदी के अंदर एक अंतरधारा होती है जो नदी के प्रवाह को सूखने नहीं देती, उसी तरह इन दोनों महापुरुषों के बीच स्नेह की एक ऐसी निमल धारा प्रवहमान थी जिसने उनकी जीवन्त रसधारा को सूखने नहीं दिया। अपने व्यस्त राजनैतिक जीवन के बावजूद भी बापू और सरदार के बीच एक लंबा पत्र-व्यवहार चलता रहता था। अभी-अभी मणिवहन पटेल द्वारा संपादित सरदार वल्लभभाई पटेल के नाम लिखित गांधीजी के पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, इससे भी इन संत और भेनानी की घनिष्ठ मैत्री एवं विनोदी स्वभाव का पता चलता है।

गांधीजी से जब सरदार का परिचय हुआ तो प्रारंभ में वे उन्हें "भाई श्री" लिखा करते थे लेकिन बाद में उनका संबंध "भाई" और "चिरंजीव" तक घनिष्ठ होता चला गया।

बापू सरदार को कितना प्यार करते थे और उनके स्वास्थ्य की उन्हें कितनी फिक्र थी इसका पता उनके पत्रों से चलता है। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा—

"आप शरीर पर खूब अत्याचार कर रहे हैं। परंतु स्वस्थ से कोई कुछ कह या करा सकता है? स्वास्थ्य बिगाड़ लेंगे, तो बहुत मुनना पड़ेगा।"

दूसरे पत्र में पूछा—

"आपका वजन कितना रहता है? क्या खाते हैं? कितना लेते हैं? कुछ भजूं? मांगे बिना तो मां भी नहीं परोसती। और वह भी मेरे जैसी मां! फिर पूछना ही क्या? अब सुबह की प्रार्थना में जाने का वक्त हो गया। इसलिए बस।"

एक बार जब सरदार बीमार पड़े तो मीठी चुटकी लेते हुए लिखा—

"आप तो बीमार पड़ने ही वाले थे। आप दूसरों के सारदार हैं, लेकिन अपने तो दास ही मालूम होते हैं। सच्चे

सरदार तो वे होते हैं जो खुद अपने पर सरदारी भोगें। आप समय पर काबू रखें, और सब बातों के नियम बना लें तो बहुत जियेंगे। कठौती कूंडे पर हंसती है, यूँ समझकर यह बात उड़ा न दें।"

एक और पत्र में लिखा—

"दवाओं के बलपर कहांतक टिकेंगे? कौन-सा राज्य लेना है? धीरे चलिये।"

कठौती लकड़ी की होती है और कूंडा पत्थर का। यहां बापू ने अपने आपको 'कठौती' कहकर स्वयं अपनी अस्वस्थता पर भी व्यंग किया है। साथ ही स्वराज्य के सेनानियों द्वारा "कौन-सा राज्य लेना है" का मधुर विनोद भी कितना सुन्दर बन पड़ा है।

बापू कम-से-कम शब्दों में, अपनी बात कहने और उसमें भी विनोद की गहरी चुटकी लेने से चूकते नहीं थे। सरदार के जन्म-दिवस पर बधाई भेजते हुए आपने लिखा—

"सुना है आज आपका जन्म-दिवस है। इसीलिए सेवा के वर्षों में से एक वर्ष तो गया। ऐसे अनेक वर्ष जायें, ऐसी कामना करना यह कहने के बराबर है कि आप दीर्घायु हों। देखना, हमें स्वराज्य लेकर ही जाना है।"

बापू सरदार को कितना प्यार करते थे, इसका पता निम्न घटना से चलता है।

सन् '३३ में जब बापू को गिरफ्तार कर यरवदा जेल भेजा गया तो उससे एक दिन पूर्व ही सरदार को उस जेल से हटाकर नासिक भेज दिया था। बापू को जब इस बात का पता चला तो उन्हें अत्यंत दुख हुआ। कहते हैं यरवदा जेल में बापू भर्तृहरि नाटक की एक पंक्ति यादकर अक्सर गुन-गुनाया करते थे, "मेरे जखम जोगे नहीं मिटे।" (जोगी बन जाने से दिल का घाव नहीं मिटता)।

सरदार निरे नाम के सरदार नहीं थे, वरन् अपने दृढ़-निश्चयीपन के कारण बापू भी उन्हें अपना गुरु मानते थे। देखिये अपने एक पत्र में उन्होंने सरदार को लिखा—

"कुछ मामलों में मेरा सारा आधार सिर्फ आप पर रहता

है, इसलिए मैं तो अक्सर एकलव्य की तरह करता हूँ। एकलव्य द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर और मूर्ति से ज्ञान प्राप्त करके, धनुर्विद्या में अर्जुन के बराबर हो गया। मैं आपकी मानसिक प्रतिमा बना लेता हूँ और उसे पूजता हूँ।”

बापू के पत्रों से पता चलता है कि उनका जीवन कितना व्यस्त था और वे किस तरह अपने व्यस्त जीवन में से भी पत्र लिखने का समय निकाल लिया करते थे। देखिये, अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा है—

“आप नाराज न हों। यह पत्र आपको २॥॥ वजे सबेरे लिख रहा हूँ। अलार्म ३ वजे का लगाया था। लेकिन १२ वजे के पहले ही वज गया और मैं उठ बैठा। दातुन करके लिखने बैठा और थोड़ा लिखने के बाद घड़ी पर निगाह पड़ी तो देखा १२ वजे हैं। काम इतना चढ़ गया है कि सोने की हिम्मत न हुई। इसलिए सोचा जितना हो सके कर डालूँ। “हरिजन” का काम लगभग पूरा करके अब आपको पत्र लिख रहा हूँ। फिर बा को लिखूंगा।”

अपने दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा—

“इस समय सबेरे के २॥ वजने जा रहे हैं। राष्ट्रीय सप्ताह शुरू होता है। आजकल उठने का यह समय साधारण बन गया है।”

एक और पत्र में लिखा—

“आज रात को एक वजे बिल्कुल ताजा उठ बैठा हूँ। इससे चौंकिये नहीं। नाराज न होइये। और चिंता में भी न पड़िये। यह तो ईश्वर की महिमा है।”

एक बार अपनी अस्वस्थता के बावजूद भी सरदार पटेल को पत्र लिखते हुए आपने लिखा था—

“आपको पिछला पत्र लिखने के बाद तुरंत ही हाथ से पत्र लिखना बंद करना पड़ा था। मैंने देखा कि मुझमें जरूरी शक्ति नहीं आई थी। अब शक्ति आ गई है या नहीं, यह आजमाने को जी कर रहा है। यह आजमाईश तो आपको पत्र लिखकर ही की जा सकती है न !”

बापू को इतना अधिक काम करते देखकर कोई रोकने वाला न हो, ऐसी बात नहीं। समय-समय पर सरदार उन्हें खरी-खरी सुनाने से चूकते नहीं थे। एक बार अस्वस्थता

के बावजूद भी उनके हाथ का लिखा पत्र पाकर सरदार ने महादेव भाई को लिखा था—

“बापू के हाथ का पत्र देखकर आनंद तो हुआ, परंतु साथ ही फिकर भी हुई। अभी हाथ से लिखने या लिखवाने का भी, लोभ उन्हें छोड़ देना चाहिए। लिखना शुरू कर देंगे तो किसे लिखेंगे और किसे न लिखेंगे? विश्व को कुटुम्ब बनाकर बैठे हैं इसलिए काजी को सारे शहर की फिकर और महात्मा को सारी दुनिया की फिकर। वहां अभी सबको भूलकर एक प्रभुजी को ही भजते रहने में सार है।”

अंत में उनके विनोदी स्वभाव की भी एक-दो झलकें देखियेगा। अपने यहां नाती-जन्म की बात सुनकर उन्होंने सरदार को लिखा था—

“मणिलाल की मुशीला के लड़का हुआ है। मणिलाल ने आज तक खबर ही नहीं दी। इस वंशवृद्धि में मेरी तो दिलचस्पी ही नहीं रही। अगर कुछ है तो आंतरिक उद्वेग। फिर भी यह कहने से कि कुदरत को कौन रोक सकता है या यूरोप की पद्धति (संतति-नियमन की) ग्रहण करके, “चार लोचने! चलो आनंद मनायें और उसका परिणाम रोकें” की वृत्ति अपनाने से शुद्ध ज्ञान मिल ही नहीं सकता।”

एक और पत्र में लिखा है—

“मैं आनंद में हूँ। मेरी, आपकी, सबकी डोर ‘मीरा के बालम’ के हाथ में है। वह जैसे खींचेगा, वैसे हम खिंचेंगे।”

एक और सूत्रवाक्य लीजिये—

“मुझे तो चिंता करने की फुर्सत ही नहीं मिलती, इसलिए चिंता न करने की सलाह देने की जरूरत नहीं पड़ती।”

और इस एक पत्र से उनके अंतिम दिनों की वेदना का पता चलता है। लिखते हैं—

“मेरे पास कोई न दौड़े। मदद देनेवाले तो बहुत हैं। मेरे जीने का आधार केवल हिन्दुस्तान की परम शांति है। उसे प्राप्त करने को आपलोग सब कुछ करेंगे ही। मेरे मृत्यु की आगाही पर जोर न देकर कहिये कि मेरी भूलों तो मुझे मरने देने में कोई हानि नहीं। मैं आनंद में हूँ।

बापू के आशीर्वाद !”

रवीन्द्र-संगीत

गुहदेव रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा बहुमुखी थी और उन्होंने संगीत के क्षेत्र में भी विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। वे केवल कवि नहीं थे, भावगीतकार कवि थे। उनका संगीत बंगाल में बहुत ही लोकप्रिय है।

रवीन्द्रनाथ पर बचपन से ही संगीत का प्रभाव पड़ा था। उनके बड़े भाई हेमचन्द्रनाथ और ज्योतिरिन्द्रनाथ संगीत के बड़े प्रेमी थे। बच्चों को संगीत-सिखाने के लिए शिक्षक नियुक्त कर रखे थे। संगीत-शिक्षण के संबंध में कई मनोरंजक संस्मरण रवीन्द्रनाथ के आत्मचरितात्मक पुस्तकों में जगह-जगह मिलते हैं। पिता-श्री के साथ हिमाचल-भ्रमण करते समय प्रार्थना के समय ब्रह्मसमाज के उपासना-गीत वे नियमित रूप से गाते थे। भारतीय शास्त्रीय संगीत शिक्षण के अलावा पाश्चात्य संगीत की भी जानकारी रवीन्द्रनाथ को मिली थी। ज्योतिरिन्द्रनाथ और रवीन्द्रनाथ दोनों पियानो पर गीतों की तर्जें निकाला करते थे। आगे चलकर सत्रह वर्ष की उम्र में रवीन्द्रनाथ इंग्लैंड गये तब पाश्चात्य संगीत का उन्हें अच्छा परिचय हुआ। रवीन्द्रनाथ की आवाज मधुर थी। जोरा-सांको वाड़ी में, विलायत के दौरे में और इंग्लैंड में भारतीय और पाश्चात्य संगीत के गायन के कारण वे परिचितों में अधिक लोकप्रिय थे। इस प्रकार बचपन से ही संगीत के वातावरण में पलने के कारण आगे के जीवन में संगीत-क्षेत्र में भी वे बहुत बड़ी सेवा कर सके।

हिंदुस्तानी संगीत के राग-रागिनियों के आधार से ही बंगाली संगीत की प्रगति हो रही थी। फिर भी आगे चलकर वैष्णव भक्त-कवियों के कीर्तन-संगीत की प्रधानता बढ़ती गई। रवीन्द्रनाथ से पहले बंगाल में रामप्रसाद, तिथिगुप्त, राम वसु आदि नामी संगीतकार हो गये थे। उनके गीत मधुर और भावपूर्ण तो थे ही, पर अंग्रेजी शिक्षण से प्रभावित आधुनिक समय में वे सारे संगीतकार पिछड़ गये। रवीन्द्रनाथ शास्त्रीय संगीत के वातावरण में छोटे से बड़े हुए थे। शास्त्रीय संगीत में घुसे हुए दोष उन्हें अधिक मालूम पड़ता और वे कीर्तन संगीत के भावपूर्ण माधुर्य की ओर आकृष्ट

होते गये। संगीत में वस्तुतः गाने का महत्त्व होता है, पर महफिलों में संगीत-शास्त्र को ही प्राधान्य दिया जाता है और गायन गौण होता है। शास्त्रीय संगीत में खासकर हिंदुस्तानी संगीत में गीत तो कुछ खास रहता ही नहीं है, राग-रागिनियों का विस्तार ही चलता है। मीठी आवाजवाले श्रेष्ठ गायक ही इस प्रकार के गायन पूरी सफलता के साथ प्रस्तुत कर सकते हैं। लेकिन अधिकतर मीठी आवाज और भावपूर्ण गीतों के अभाव में गायन कानों को, तथा अर्धशिक्षित गायक के हास्यास्पद अंग-विक्षेपों के कारण आंखों को दुःखदायी ही होते हैं। उत्तम दर्जे का शास्त्रीय संगीत दुर्लभ होता है और इसलिए उसका क्षेत्र सहज ही मर्यादित होता है। दूसरा यह भी कि झूठे अभिमान के वश होकर सरस लोकसंगीत की उपेक्षा करने के कारण शास्त्रीय संगीत और भी मर्यादित होता है।

राग-रागिनियों का महत्त्व रवीन्द्रनाथ भी मानते थे। गीतों की शब्द-रचना संगीत का वाहन है और इसलिए शब्द-रचना गौण हो जाय, यह स्वाभाविक ही है। राग-रागिनियों का ऐश्वर्य स्वयंभू होता है। यह स्पष्ट है कि रस-निष्पत्ति के लिए उन्हें गीतों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है। लेकिन बंगाल में काव्यों की परंपरा पहले से ही चली आयी थी और काफी प्रभावकारी भी थी। इसलिए विशुद्ध संगीत का व्यापक प्रसार हो नहीं सका। यह स्वाभाविक ही था कि वह वैष्णव कवियों की पदावली से लेकर आधुनिक समय तक खासकर काव्यों के आधार से ही बढ़ता जाय। इसके बावजूद काव्यात्मक गीत पर राग-रागिनी का भाव पड़ने के कारण गीत गौण हो जाते हैं। परंतु कुल मिलाकर सरस गीतों की पृष्ठभूमि के कारण संगीत की रस-वृद्धि होती है ऐसा ही मालूम होता है। रवीन्द्रनाथ चूंकि बड़े कवि और अच्छे संगीतज्ञ थे, इसलिए भावगर्भित कविता के अनुरूप रस की निष्पत्ति करनेवाले राग-रागिनियों का मेल बैठकर अथवा राग-रागिनियों की स्वरमाधुरी के अनुरूप भावपूर्ण काव्य की पृष्ठभूमि बेकर रवीन्द्रनाथ ने दूध में मिश्री

मिलाने जैसा महत्वपूर्ण कार्य किया। काव्य और संगीत के जोड़ के संबंध में रवींद्रनाथ कहते हैं, “काव्यांतर्गत शब्द” रचना मानवकृत रचना है और संगीत नैसर्गिक होता है। शब्द-रचना स्पष्ट और सीमित होती है तो संगीत अस्पष्ट और सीमाहीन होता है। इसलिए शब्द-रचना में संचार करनेवाला मनुष्य मानव-लोक में होता है और वही मनुष्य संगीत के जोड़ से सारे विश्व के साथ एकरूप और समरस होता है। इसलिए काव्य के साथ संगीत का मेल बैठ जाय तो मानव की सुखदुःख आदि भावनाओं को अनंत आकाश जैसी व्यापकता प्राप्त हो जाती है। व्यक्तिगत वेदना प्रातःकालीन और सायंकालीन वर्णच्छटा के साथ एकरूप होती है। विश्व के विराट् अव्यक्त के साथ संयोग होने के कारण मानवीय वेदना में अलौकिक सौंदर्य निर्माण होता है।”

रवींद्र-प्रतिभा के प्रभातकाल से ही संगीत का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। वैष्णव संत कवियों का अनुकरण करते हुए रवींद्रनाथ ने किशोर-अवस्था में भानुसिंह की पदावली की रचना की। उनके आरंभ के काव्य-ग्रंथों के नाम भी संध्या-संगीत, प्रभात-संगीत, शैशव-संगीत आदि हैं। सुप्रसिद्ध वन्देमातरम् गीत की तर्ज भी इन्होंने ही बिठाया था। इनका पहला गीतसंग्रह “रविछाया” १८८४ ई० में प्रकाशित हुआ। तारुण्य में ही ‘वाल्मीकि-प्रतिभा’ और ‘मायार खेला’ नामक दो गीत-प्रधान नाटक लिखे। इन नाटकों में हिंदुस्तानी पद्धति के गीतों के साथ-साथ इन्होंने आइरिश गीतों का भी समावेश किया है। पौरस्त्य और पाश्चात्य संगीत का समन्वय करने का यह प्रयोग काफी यशस्वी हुआ। पर खुद उन्हें शायद समाधान न होने से ही आगे यह प्रयोग छोड़ दिया और भारतीय राग-रागिनियों का उपयोग चालू रखा। रवींद्रनाथ के आगे के काव्यग्रंथों में से गीतांजलि, गीतालि और गीतिमाल आदि नाम देखने से यह स्पष्ट दिखता है कि उनपर आरंभ से अंततक संगीत का कितना प्रभाव रहा है। उन्होंने अपने सारे नाटकों में गीतों का खूब उपयोग किया है। रवींद्र के समूचे भावगीतों की संख्या लगभग दो हजार तक पहुंच गई है। इस एक ही बात से भी उनकी संगीत-विषयक साधना की कल्पना की जा सकती है। रवींद्र-संगीत के अंतर्गत भाव-गीतों की स्वरलिपि तैयार की गई। इन स्वरलिपियों के आज तक ५१ भाग विश्वभारती की ओर से ‘स्वरवितान’ के

नाम से प्रकाशित हुए हैं। स्वरलिपियों का संकलन करने में रवींद्रबाबू की भतीजी श्रीमती इंदिरादेवी चौधुरी का काफी बड़ा हिस्सा रहा है। उनके दीर्घ परिश्रम के कारण रवींद्रनाथ के भावगीतों को स्थायी स्वरूप प्राप्त हो गया है।

विशेष बात यह है कि रवींद्रबाबू ने यद्यपि हजारों गीत रचे हैं, पर उनमें कहीं भी वही-वही भाव पुनरुक्त हुआ हो, ऐसा नहीं है। ताल, स्वरविन्यास और भावाभिव्यक्ति आदि के व्यापक वैचित्र्य के कारण सारे भावगीत विशिष्ट बन पड़े हैं। रवींद्रनाथ ने प्रचलित तालों का उपयोग करते हुए, कुछ नये तालों का भी प्रयोग किया है। नौ, ग्यारह और तेरह मात्राओं के तीन नये ताल उन्होंने बनाये हैं। इस संबंध में उनकी विशेषता माननी ही पड़ेगी। स्वर-विस्तार में माधुर्य लाने की दृष्टि से उन्होंने प्रचलित राग-रागिनियों में कई मिश्रण भी किये। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने शास्त्रीय पद्धति का नियम भंग कर दिया। क्योंकि प्रचलित शास्त्रीय संगीत में भी देशीतोड़ी, काफी सिंधु, गौड मल्लार, वसंतवहार आदि कई मिश्रित जाति के राग भी प्रसिद्ध हैं। प्रचलित अडाणा और शंकरा राग भी क्रमशः सारंग-कानडा, विहाग-कल्याण जैसे मिश्र रूप के हैं। अलग-अलग रागों के मिश्रण से रवींद्रनाथ ने लगभग तीस नई रागिनियां बनाई हैं। उनका तथा और भी कई राग-मिश्रणों का उपयोग करके उन्होंने लगभग एक हजार गीतों की तर्जें निश्चित की हैं। इसी प्रकार से बाऊल, कीर्तन, भटियाली आदि लोकसंगीत के प्रकारों का भी उपयोग उन्होंने काफी किया है और इससे अपने संगीत-रस अधिक समृद्ध किया है। शास्त्रीय संगीत की दंभमूलक और आभिजात्य की संकीर्णता का उल्लंघन करके रवींद्रनाथ ने संगीत को सर्वलोकाभिमुख बना दिया।

भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी रवींद्र के भावगीतों में बहुत विचित्रता दीखती है। सृष्टिव्यापी सौंदर्यदर्शन से जो आनंदानुभूति हुई है उसके मेल से कवि सीमाहीन और विराट् जीवन का अनुभव करता है। इस अनुभव को स्थायी बनाने के लिए वह सीमावद्ध जीवन से मुक्त होने को छटपटाता है, भावी वियोग की आशंका से उदास होता है। इस प्रकार की वेदना रवींद्र के भावगीतों में चित्र-विचित्र रूप में कई बार व्यक्त हुई है। वे भावना के आवेग का अनुभव

दुटि आंखिर परे दुइदि आंखि
मिलिते चाइ दुरंत संगीते,

के ताहादेर मनरे कथा लये
बीणार तारे तुल्ये प्रतिध्वनि
आमि जदि भवेर कुले बसे
परकालेर भालो मंदई गणि ।

“खूब घने बकुल-वृक्ष के नीचे युवक-युवतियों की मुलाकात होनेपर उनके प्रेमभरे नयनों का भावपूर्ण संगीत के माध्यम से मिलन कराना हो तो उस समय उनके मन की मूकभाषा को समझकर उसे वीणा के झंकार के साथ मेरे सिवा भला कौन व्यक्त करेगा ? मैं बूढ़ा हुआ, फिर भी संसार-सागर के किनारे जड़ बनकर बैठे-बैठे परलोक के भले-बुरे की फिक्र करने के बजाय इस संगीतकार की भूमिका को ही मैं पसंद करूंगा ।”

रवीन्द्रनाथ के भावगीतों में भक्ति-प्रधान गीत भी काफी हैं। प्राचीन काल के ऋषि परमेश्वर-प्राप्ति के लिए कठोर तपस्या करते थे। आधुनिक काल में यह ऋषितुल्य महा-कवि संगीत-साधना के द्वारा मधुर भक्तिरस का आलाप लेता रहा। वे कहते हैं—

दांडिये आछो तुमि आमार गानेर ओ पारे,
आमार सुरगुलि पाय चरण आमि पाइने तोमारे ।
“हे परमेश्वर, तू मेरे संगीत के उस किनारे बैठा है। मेरे भक्तिगीतों के स्वरों को तो तेरे पवित्र चरणों के स्पर्श का लाभ मिलता है, परंतु मुझे तो इस किनारे तुझ से दूर रहना पड़ रहा है।”

इसलिए परमेश्वर के साथ मिलन की इच्छा करते हुए ही शायद रवीन्द्रनाथ प्रार्थना करते हैं—

तोमार काछे ए वर मांजि
मरण हते जेनो जागि गानेर सुरे ।

“हे करुणाधन भगवान, मैं तुझसे अब एक ही वर मांगता हूँ। वह यह कि मृत्यु-निद्रा के बाद जब मैं जागूँ तब संगीत के स्वर में ही मेरा चैतन्य समाविष्ट रहे ।”

चंचल स्वरविलास में बार-बार करते हैं। रवीन्द्रनाथ लिखते हैं, “भैरवी, तोड़ी और रामकली के मिश्रण से बनी हुई एक प्रभातकालीन रागिनी को गुनगुनाते समय एकदम मेरे मन में तीव्र लेकिन मधुर चंचलता का आलोड़न निर्माण हुआ। कुछ तो भी अनिर्वचनीय भावना के आवेग से मन व्याप्त हो गया। एक ही क्षण में इस वास्तविक, सीमावद्ध जगत् का और जीवन का अद्भुत परिवर्तन अनुभव हुआ। मानो मानवीय अस्तित्व की सारी कठिन समस्याओं का भाषाहीन लेकिन संगीतमय, भावनामय उत्तर ही मेरे कानों में निनादित हो उठा।” इस प्रकार की दुर्लभ अनुभूति केवल श्रेष्ठ कलाकारों को ही प्राप्त हुआ करती है। सीमावद्ध जीवन की विषण्णता में रवीन्द्र को संगीत के संयोग से ज्यों ही मुक्ति का आस्वाद प्राप्त होता है, त्यों ही वे कहते हैं—

आमार मुक्ति आलोय आलोय एइ आकाशे
आमार मुक्ति धुलाय धुलाय घासे घासे ।
देह मनरे सुदूर पारे हारिये फेलि आपनारे
गानेर सुरे आमार मुक्ति ऊर्ध्व भासे ।

“अनंत आकाश तक फैल जानेवाले इस विपुल प्रकाश में, इस स्नेहमयी धूल में और सजीव हरियाली में मुझे मुक्ति का अनुभव हो रहा है। देह-मनोतीत अवस्था में मैं अपना अस्तित्व भूल गया हूँ, अर्थात् संगीत की स्वरधारा में मुक्ति की अनुभूति लहराती हुई भास होती है।

रवीन्द्रनाथ के अनेक भावगीतों में मानवीय सुख-दुःखों के विविध उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। प्रियजनों के विरह-मिलनात्मक भावना की विचित्र अभिव्यक्ति तो बार-बार गोचर होती है। पर ऐसी भावाभिव्यक्ति में कहीं अदम्य उद्वेग नहीं है, बल्कि शांत और कामनाहीन प्रेम-भावना का, विरही प्रेम की आकुलता का दर्शन होता है। अपने भावगीतों के इस कर्तव्य को ध्यान में रखकर ही शायद रवीन्द्रनाथ अपनी ढलती उमर में ही उत्साह के साथ रचना में लगे रहे। वे कहते हैं—

जदि होथाय बकुल बनच्छाये
मिलन घटे तरुण तरुणीते

तेजकुमार बम्ब 'निर्मोही'

दो लघु कथाएं

कर्कशो सास

सूरज भगवान् उनकी मा और उनकी स्त्री राणादे—तीनों साथ ही रहते थे। वहू के प्रति सास का स्वभाव जरा कड़ा था। वह राणादे को तरह-तरह के कष्ट देने लगी। सास और सूरज भगवान को तो अच्छे बत्तीस तरह के भोजन मिलने लगे, पर विचारी राणादे को छाछ-आटा और नमक की रावड़ी दी जाने लगी। वहू अत्यन्त धीरजवान थी कुछ भी न बोली।

एक दिन यह बात सूरज भगवान के कान में पड़ ही गई। सूरज भगवान ने अपनी मां को इस व्यवहार पर समझाया। किन्तु मां ने कहा "बेटा, 'रावड़ी' देने से आलस नहीं आता है, पट्टरस भोजन से आलस्य बहुत बढ़ता है। इसलिए वहू को 'रावड़ी' देती हूं तो बुरा थोड़े ही सोचती हूं! दूसरे मेरा बुढ़ापा है, अगर वहू को आलस आने लगेगा, तो काम-काज कौन करेगा?"

यह सुनकर सूर्य भगवान निरुत्तर थे, किन्तु कुछ क्षणों के बाद उन्होंने कहा, "मां, क्या सभी सास अपनी वहू को 'रावड़ी' देती हैं?"

अब मां मौन थी। उसने कोई उत्तर न दिया। सूर्य भगवान ने समय देखकर कहा, "मां, उन वहुओं को तो बहुत आलस आता होगा, जो पट्टरस भोजन करती हैं, जिन्होंने कि 'रावड़ी' का मुंह ही न देखा है?"

मां शर्मिन्दा थी। अब उसने धीरे-धीरे अपना व्यवहार भी बदल दिया।

होड़ बुरी : मत करो

एक घर में सास-वहू का नित्य झगड़ा होता था। वहू के कहने में आकर बेटे ने भी आंख बदल दी! एक दिन बेटा अपनी मां को दूर वन में खेत की रखवाली पर छोड़ आया और फिर उसकी सुध भी न ली। लड़का मौज से रहने लगा और वहां वृद्धा माता दाने-दाने के लिए तरसने लगी।

वृद्धा मां की स्थिति पर गणेशजी को दया आ गई। उन्होंने छोटे बालक का रूप धरा, और वृद्धा मां की सहायता करने चले। वृद्धा मां बालक को पाकर प्रसन्न हुई और स्नेह-प्रेम से अपने पास रख लिया। गणेशजी ने वृद्धा को धन-धान्य से भरपूर खजाने दिये और बालक के रूप में नित्य पास रहने लगे।

जब यह बात लड़के और वहू के कान में पहुंची, तब वे मां से आकर क्षमा मांगने लगे। फिर वृद्धा माता को घर ले गये। यह बात पड़ौसी ने अपनी स्त्री से सुनी तो उसने भी, धनी बनने के लिए, अपनी मां को वन में ले जाकर छोड़ दिया। उसने उधर कुछ दिनों तक सुध न ली और बाद में वहां गया तो वृद्धा मां का शव पाया जो कि जंगली जानवर खा रहे थे। इस प्रकार होड़ में पड़ौसी ने अपनी माता के प्राण गंवा दिये।

किसी ने ठीक ही कहा है, "होड़ का मुंह काला हो!" उपर्युक्त दोनों कथाएं सासों के स्वभाव से संबंध रखते हुए भी हमें बहुत बड़ी शिक्षा देती हैं।

(पृष्ठ १२९ का शेष)

छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं।
तेहि भग देखिय नभ परिछाहीं॥
प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा।
अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
विष संजुत कर निठुर पसारी।

जारत विरहवंत नर नारी॥
कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति विधि उर बसति, सोई स्यामता अभास॥
यह सुनकर रामचन्द्रजी विहंस पड़े और उन्होंने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया।

अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

बीसवीं सदी का तेलगू-साहित्य : कविता

भारत की, संसद् द्वारा मान्यता-प्राप्त, चौदह भाषाओं में हिंदी के बाद तेलगू भाषा को बोलने वाले सबसे अधिक हैं। यह आंध्र देश की भाषा है। प्राचीन तेलगू पूर्णतः संस्कृतमय है। यदि लिपि की भिन्नता न हो तो नैषध महाकाव्य के तेलगू-अनुवाद को पढ़ने और समझने में संस्कृत जाननेवाले को कोई कठिनाई न होगी। पद्यों में संस्कृत की क्रियाओं की जगह तेलगू की क्रियाएं भर रख दी गई हैं। 'पार्जितर' सरीखे लोग यह समानता देखकर शायद यह कहने से भी न चूके कि संस्कृत का नैषध, तेलगू के नैषध-काव्य का रूपान्तर है। किंतु प्रथम महायुद्ध के बाद से इस प्रवृत्ति में परिवर्तन आ रहा है। बंगला में जैसे बंकिम, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, मधुसूदन दत्त, द्विजेंद्रलाल राय की संस्कृतनिष्ठ बंगला की जगह कवींद्र रवींद्र ने बंगाल के विभिन्न जिलों के गांवों में बोली जानेवाली बंगला के शब्दों का अपने काव्य, गीत, और उपन्यासों में बहुत मात्रा में प्रयोग किया है, उसी प्रकार आधुनिक तेलगू के लेखक भी संस्कृत-शब्दों को हटाकर तेलगू-शब्दों को अधिकाधिक मात्रा में स्थान दे रहे हैं। तेलगू-साहित्य को जन-साहित्य का रूप देने की दृष्टि से आधुनिक लेखक इसको बहुत आवश्यक समझते हैं। अतः प्राचीन तेलगू-साहित्य और आधुनिक तेलगू साहित्य में बराबर अंतर बढ़ता जाता है।

प्राचीन और नवीन तेलगू-साहित्य में दूसरा अंतर यह है कि आधुनिक तेलगू-लेखक अंग्रेजी और कुछ-कुछ बंगला से अत्यधिक मात्रा में प्रभावित हैं। भावों की अभिव्यक्ति, विचारों को प्रकट करने की शैली में स्वतंत्रता से काम लिया गया है। वर्णित विषयों का क्षेत्र अति व्यापक हो गया है। बीसवीं सदी के आरंभ से १९३५ तक तेलगू में कविता की प्रधानता रही। इस समय के काव्यमें नये लेखकों का, प्राचीन पद्धति, शैली, कथावस्तु के प्रति, खुला विद्रोह प्रकट होता है। राष्ट्रीय आन्दोलन, शैली और कीट्स की रोमांटिक कविता, कालेजों की शिक्षा, और शान्तिनिकेतन एवं रवींद्रनाथ से

इस समय का काव्य प्रभावित है। प्राचीनता की बेड़ियों को इसने तोड़ दिया है। पुराने बंधनों से यह मुक्त है। पुरानी नीरसता का इमने त्याग कर दिया है। इस नई काव्य-धारा के स्रष्टा हैं: देवुलापल्ली कृष्णशास्त्री, रायाप्रोले सुब्बाराव, टी. शिवशंकर शास्त्री (अब शिवशंकर स्वामी), बी० सत्यनारायण शास्त्री, नैनी सुब्बाराव और अब्बुरी रामकृष्ण राव। इन्होंने अपने गीतों से जनमानस को बंदल दिया। ये गीत-काव्यों के रचयिता आज भी जीवित हैं। प्राचीन परंपराओं के प्रति उच्च स्वर में विद्रोह करने वालों के अग्रणी हैं, कृष्णशास्त्री। इसको 'राजमहल के बुर्ज में आभिजात्य दासी' बहुत प्रिय है। पर वह रक्त, हाड़, मांस की नहीं। शुभ्र चांदी, बादलों के मध्य चमकती सुनहरी रेखा, सुबह की ओस, आसमान के चमकते तारे हैं। इसकी कविता में कल्पना की उड़ान है, भावों की मृदुल सुगंध है। यह आंध्र का 'शैली' है। इसकी प्रेरणा का स्रोत 'शैली' है। 'उर्वशी' और 'कृष्णपक्षम्' इसके प्रसिद्ध गीति-काव्य हैं। सुब्बाराव का 'त्रिनकनकोनम्', और 'स्वप्नकुमारम्' और रामकृष्ण राव का 'मल्लिकाम्बा' प्रसिद्ध हैं। शिवशंकर शास्त्री 'हृदयेश्वरी' में मन और आत्मा की एकता के लिए यत्नशील हैं। यह प्रेम का गायक है। सत्यनारायण शास्त्री और नैनी सुब्बाराव प्रेम के मतवाले कवि हैं। 'दीपावलि' में शास्त्री का संकल्प है कि तीर्थयात्रा का अंत प्रेमसागर के पार हो।

लोक-गीतों या आल्हा के समान तेलगू में 'बल्लड' है। इसको साहित्यिक रूप देने का श्रेय गुरजादा अप्पाराव को है। एक समय जनता इसके ही गीतों व 'बल्लड' को सड़कों पर गुनगुनाती हुई फिरती थी। अप्पाराव के कार्य को आगे बढ़ाने और इस परंपरा को चालू रखने में उसके चचेरे भाइयों बासवराजू अप्पाराव, और ननदुरी सुब्बाराव ने बड़ा काम किया है। मद्रास में पढ़ते हुए ये सभाओं में अपने भाई के गीतों को इस रीति से गाते थे कि जनता मुग्ध हो जाती थी। अप्पाराव का 'सेलायेती' और सुब्बाराव

का 'थेंकी पातालू' सुन कर जनता उल्लास से भर जाती थी और उसके दुःख-शोक भाग जाते थे। इन 'बल्लडों' में गांवों की प्रेम की कहानियां, गांव की भाषा में ही कही गई हैं। किन्तु इस रूप में और इस कुशलता से कही गई हैं कि उसमें कवित्व है, माधुर्य है और भावपूर्णता है। अडवी बापी राजू सर्वतोमुखी प्रतिभा के साहित्यिक हैं। यह पेंटर हैं, गल्पलेखक हैं, उपन्यास-लेखक हैं, कवि हैं, किंतु इनकी ख्याति विशेष रूप से 'बल्लड' के कारण फैली। 'बल्लड' में इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का पूर्ण विकास दिखाई देता है।

अंग्रेजी और हिंदी में ऐसा काल भी आया है, जब कविता तो खूब लिखी गई, किन्तु वह कवित्वशून्य थी। अंग्रेजी साहित्य का 'जार्ज काल' ऐसा ही था। हिंदी में भी यह अवधि काफी लंबी है। किंतु तेलगू को अभिमान है, पिगली लक्ष्मी-कान्तन और कस्तूरी बेंकटेश्वर राव के कारण उसको यह दुर्दिन कभी नहीं देखना पड़ा। 'तोलाकारी' इनकी कविताओं का प्रथम संग्रह है। 'सौन्दरनन्दनम्' बौद्ध-युग पर एक काव्य है। तेलगू गीति-काव्य में यह अनुपम है। स्वाधीनता-संग्राम की ध्वनि गीतों और बल्लडों में मुखरित हो रही है। इनमें केवल कल्पना और भावना ही नहीं हैं, बल्कि संगीत का माधुर्य भी है।

१९३५ के साथ तेलगू-साहित्य एक नया मोड़ लेता है। वह कम्युनिज्म से प्रेरणा लेने लगता है। श्रीरंगम् श्रीनिवास राव ने रोमांटिक परंपरा के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यह आंध्र में 'श्री० श्री०' के नाम से प्रसिद्ध है। 'महाप्रस्थानम्' उसका घोषणा-पत्र ही नहीं है, सुन्दर अनुपम काव्य-रचना भी है। यह सर्वहारा-वर्ग का कवि है। खेतों और कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के कठोर परिश्रम और उनके दैन्य का कवि वर्णन करता है। काव्य-प्रणयन की कवि में अद्भुत क्षमता है। शब्दों और छंदों के चुनाव में कौशल से काम लिया गया है। 'श्री० श्री०' अपने वर्ग का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कवि है। परंतु कम्युनिस्ट कवियों की कविता तेलगू-साहित्य में अभी स्थान नहीं बना पाई है। 'श्री-श्री' और अरुद्र की कविता की छाप नये तेलगू-साहित्य पर गहरी नहीं पड़ी है। परंपरागत काव्य-सरिता पहले के समान प्रवाहित हो रही है। इस परंपरा के कवियों

में मल्लवराप्प विश्वेश्वर राव, दिलाका गणपति शास्त्री और वुरची सुन्दरम् विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। सुन्दरम् ने 'पंचवटी' काव्य लिखकर विशेष ख्याति पाई है। इनके साथ ही तेलंगाना के सी० नारायण रेड्डी और दाशरथी का नाम भी जोड़ना चाहिए। इनके गीति-काव्य से तेलगू-साहित्य अलंकृत और समृद्ध हुआ है।

तेलगू-साहित्य में नवीन प्रवृत्ति अब पुरातन की ओर जाने की है। प्राचीनता की ओर अभिमुख होनेवाले कवि असाधारण प्रतिभा के हैं। इनमें जनधियाल पप्पय्या शास्त्री, नन्दुरी कृष्णमाचारलू, जी० जोशूआ, गाडियाराम शेष शास्त्री और विश्वनाथ सत्यनारायण विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। पप्पय्याशास्त्री 'करुणाश्री' के नाम से प्रसिद्ध है। सत्यनारायण सर्वतोमुखी प्रतिभा का लेखक है। गीत, कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना महाकाव्य, इन सब में इसकी समान गति है। यह इस समय राम की जीवनी पर महाकाव्य लिख रहा है। यह महाकाव्य आधुनिक रामायण से अधिक बड़ा है। शैली, स्वरूप, रचना—इन सब दृष्टि से यह महान् है। श्रीपाद कृष्णमूर्ति ने 'महाभारतम्' पूरा कर लिया है और यह प्राचीन शास्त्रीय रीति का पालन करते हुए लिखा गया है।

तेलगू-साहित्य में कविता आज भी लोकप्रिय है और इसका बड़ा प्रचार है। किंतु धीरे-धीरे कथा-कहानी, उपन्यास आदि गद्य अब अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। हिन्दी-साहित्य में जिस प्रकार इन दिनों कहानी, गल्प और उपन्यास अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। हिंदी में नाटक अधिक नहीं लिखे जा रहे हैं—रेडियो-नाटकों को छोड़कर—और न वे लोकप्रिय हुए हैं। किंतु तेलगू में मराठी के समान नाटक बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं। संख्या की दृष्टि से भी नाटक अधिक मात्रा में प्रसिद्धि पा रहे हैं। संभवतः, इसका कारण कृष्णा-गोदावरी का द्वाबा है। आंध्र का एक भाग यदि शस्य-श्यामल है, हरा-भरा है, समुद्र-तट विस्तृत होने के कारण मुक्त-द्वार का अनुभव करता है, तो रायल सीमा का प्रदेश सूखा है, मीलों तक हरा तिनका तक नजर नहीं आता, यद्यपि आंध्र प्रदेश की प्राचीन राजधानियां इसी प्रदेश में थीं। एक ही प्रदेश में इतने अंतर का होना शायद नाटकों की उत्पत्ति में

(शेष पृष्ठ १५० पर)

कन्हैयालाल सहल

योगवाशिष्ठ और भागवत की कहावतें

योगवाशिष्ठ वेदांत का एक प्रसिद्ध ग्रंथ-रत्न है। महर्षि वशिष्ठ ने रामचन्द्र को जो उपदेश दिये, उनका वर्णन इस ग्रंथ में हुआ है। बत्तीस हजार श्लोकों में यह ग्रंथ समाप्त हुआ है। भाषा इसकी प्रसादगुण-संपन्न है। इस ग्रंथ में 'सूक्तियों के साथ यत्र-तत्र तत्कालीन कहावतें भी विकीर्ण हुई दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कहावतों को लीजिये—

१. तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः

क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥ ६३० १६३।५६॥

'यह हमारे पिता का कुआ है', ऐसा कहते हुए कापुरुष लोग खारा जल पीते हैं। कूपमण्डूक तथा प्रतिक्रियावादी व्यक्तियों को लक्ष्य में रखकर आज भी इस लोकोक्ति का प्रायः प्रयोग किया जाता है।

२. अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ ६३०।६७।२८

अर्थात् किसी को नीम अच्छा लगता है तो किसी को मधु। इस उक्ति को पढ़कर महाकवि सूरदास के निम्नलिखित पद का स्मरण हो आता है।

ऊधो मन माने की बात।

दाख छोहरा छाड़ि अमृतफल विष कीरा विष खात ॥

जो चकोर को देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।

मधुप करत घर फोरि काठ में बंधत कमल के पात ॥

ज्यों पतंग हित जानि आपनी, दीपक सौं लपटात।

'सूरदास' जाको जासौं हित, सोई ताहि सुहात ॥

३. उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥ ६३०।१३६।६

अर्थात् जिसके पैर में जूते हैं उसे समस्त पृथ्वी चर्मावृत ही जान पड़ती है।

४. सतां साप्तपदं मैत्रम् ॥ ६३०।१२१६।४॥

अर्थात्, सात पद साथ चलने से ही सज्जनों में मित्रता हो जाती है।

५. न हि पीतामृतायान्तः स्वदते कटु कांजिकम् ॥

६३०।४५।४०॥

अर्थात् जिसने अमृत पिमा है उसे कड़वी कांजी अच्छी

नहीं लगती।

६. अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः।

अर्थात्, जो कल्याणकारी है उसे आज ही कर।

यह उक्ति योगवाशिष्ठ के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों में भी उपलब्ध होती है।

७. महाभारत और रामायण में जिस प्रकार "अनिर्वेदः श्रियो मूलम्" उपलब्ध होता है, योगवाशिष्ठ में "अनुद्वेगः श्रियो मूलम्" (३।११।२२) यह पाठ मिलता है।

८. यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ ॥ ६।८७।१७

९. उहान्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा ॥ ६३०।६८।३७

अर्थात्, जहां बड़े-बड़े हाथी डूब जाते हैं, वहां भेड़ों की क्या बिसात !

१०. कपर्दकार्धलाभेन कृपणो बहु मन्यते।

अर्थात्, यदि कृपण को आधी कौड़ी भी मिल जाती है तो वह उसे बहुत करके मानता है।

११. त्यक्त्वावनेविटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा ॥ ५।४८।५५

यह उक्ति "बिरछ ते जो पात टूटे बहुरि न लागै डार" का स्मरण दिलाती है।

१२. पूर्वसिद्धस्वभावोऽयमादेहं न निवर्तते ॥ ३।८२।४०॥

अर्थात्, जब तक देह है, स्वभाव मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता।

१३. जले जलचरव्यूहान् सूक्ष्मान्स्थूलो निकृन्तति।

ग्रासार्थं निर्दयो मत्स्यः कंवात्र परिदेवना ॥ ५।१४।२०

मात्स्य न्याय से संबंध रखनेवाले अनेक श्लोक संस्कृत-वाङ्मय में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं।

१४. पापस्य हि भयाल्लोको राम धर्मे प्रवर्तते ॥ ५।७५।३७

अर्थात्, "हे राम ! पाप के डर से ही लोग धर्म-कार्य में प्रवृत्त होते हैं।" किसी अंश में इसीसे मिलती-जुलती गोस्वामी तुलसीदास जी की एक उक्ति है "भय बिन होत न प्रीत"; जो कहावत की भांति प्रयुक्त होती है।

१५. न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादंकुरः कुतः ॥ ६३०।५७।१२

संभवत्यंगलगति न बीजेन विनाङ्कुरः ॥ ६।९४।६२॥

अर्थात् जहां बीज ही न हो, वहां अंकुर कैसे हो सकता है। “न रहेगा वांस, न बजेगी वांसुरी” एक इसी प्रकार की लोकोक्ति है।

१६. यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृत्तच्युतं फलम् ॥६७०॥१२५॥३२

अर्थात्, जो फल शाखा से अलग हो चुका, उसे यत्न करके भी फिर कौन लगा सकता है ?

१७. “यावत्तिलं यथातैलम्” ॥६१०४॥४२॥

अर्थात् जबतक तिल हैं, तभी तक तेल है।

१८. लोकस्थितिरलंघ्या हि महतामपि मानद ॥६१६५॥३०

अर्थात्, महापुरुषों को भी लौकिक व्यवहार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। संस्कृत की एक अन्य लोकोक्ति में कहा गया है, “यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्।” “नाचरणीयम्” की द्विरुक्ति ध्यान देने योग्य है।

जैसा ऊपर कहा गया है, योगवाशिष्ठ वेदांत का प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। दार्शनिक ग्रंथ होने के कारण इसमें कहावतों की अपेक्षा सूक्तियों की अधिकता है जो स्वाभाविक है।

श्रीभागवत की कहावतें

पुराणों की कहावतों का अभी विधिवत् अध्ययन नहीं हुआ है। कथा-वार्ताओं की प्रधानता होने के कारण पुराणों में लोकोक्तियों का मिलना स्वाभाविक है। यहां श्रीभागवत से कुछ उक्तियां उद्धृत की जा रही हैं—

१. अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृतः ॥८१२४॥५०

अर्थात्, अंधे को जैसे अंधे का नेता बना दिया गया हो। वेदांत के ग्रंथों और भाष्यों में इस न्याय अथवा प्रसिद्ध कहावती उपमा का स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है।

२. आशा हि परमं दुःखं नैराश्र्यं परमं सुखम् ॥११८॥४४

३. जिह्वां क्वचित्संदशति स्वदग्धिः, तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥११२३॥५१

यदि कोई दांतों से जिह्वा को काटे तो किस पर क्रोध किया जाय ? दांतों पर क्रोध करने में दूसरी पीड़ा आ खड़ी होगी।

४. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥१११८॥१६

इस श्लोक का प्रत्येक चरण पठित-समाज में लोकोक्ति की भांति व्यवहृत होता है।

५. धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।

तेजीयसां न दोषाय वल्लेः सर्वभुजो यथा ॥११३३॥३०

“समर्थ को नहीं दोष गुसाई” प्रकारान्तर से यही बात गोस्वामी तुलसीदास कह गये हैं।

६. पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः ॥१११७॥५३

७. भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते ॥७१२॥२१

८. सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक् पुमान् ॥

१०५४॥३८

मिलाइये, “करणी भोग आपकी के बेटी के बाप।”

(पृष्ठ १३८ का शेष)

सहायक है। ‘नागार्जुन-सागर’ बन जाने से रायल सीमा दुर्भिक्ष के संकट से भविष्य में बचा रहेगा। लेकिन एक ही प्रदेश के जीवन का हेर-फेर नाटकों की उत्पत्ति में अवश्य सहायक है। गंगा-तट का जीवन एकरस और एक समान है। इस प्रदेश के लोगों के जीवन में कोई भिन्नता, और विशेषता नहीं, विशेष अंतर और विरोध नहीं, फलतः नाटकों की उत्पत्ति नहीं हुई। नाटकों के लिए जीवन-केवल

रंगीला ही न होना चाहिए, अपितु परस्पर-विरोधी, सुख-दुःख की छाया से संमिश्र भी होना चाहिए। आंध्र प्रदेश में यह है। हैदराबाद को छोड़कर यदि गून्तूर में जाइये तो बड़ा अंतर दिखाई देता है। नागार्जुन सागर जहां बनाया जा रहा है, उसके आर-पार के प्रदेश में भी अंतर है। इस कारण यदि तेलगू में नाटक लोकप्रिय हों तो विस्मय की बात नहीं।

नरेन्द्रकुमार भनावत

क्षमा के स्वरूप

भौतिक जीवन की विलासी परिस्थितियों में उलझकर आज हम आध्यात्मिक साधना से कोसों दूर भाग चुके और हमारे जीवन का दृष्टिकोण बदल गया। हम क्रोध के बलपर अपने आपको झू-भंगिमा की अभिव्यक्ति पर तोलने लगे। आध्यात्मिक दिवाला निकालकर हमने क्या क्या खोया और क्या-क्या नहीं पाया? "ज्ञान खोया, विज्ञान पाया; श्रद्धा खोई, अभिज्ञता पाई; आचार खोया, विचार पाया; विश्वास खोया, तर्क पाया; नीति खोई, बुद्धि पाई; प्रेम खोया, इत्म पाया और दिल खोया, दिमाग पाया।" महावीर के अमर सिद्धांत 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' की अवहेलना और उपेक्षाकर हम महावीर के अग्रगामी अनुयायी कहलाये? क्षमा का दूध पिला-पिला कर हमने कायर भुजंग का भरण-पोषण किया? आज क्रोधाग्नि में जल-जलकर विश्व का कण-कण भस्म होने जा रहा है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम क्षमा का सही अर्थ समझकर, उसके लेपनसे दग्ध एवं ज्वलित विश्व-प्राण को सान्त्वना दें।

क्षमा का अर्थ अत्यंत व्यापक एवं ध्वन्यात्मक है। साधारणतः बदला लेने की पूर्ण शक्ति होनेपर भी अपना अपकार करनेवाले के साथ किसी प्रकार का प्रतिकार न कर प्रसन्नतापूर्वक उसके अपकार को सहन करना क्षमा कहलाता है। "ज्ञानस्याभरणं क्षमा" कहकर क्षमा की परिभाषा की गई है।

जीव, कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) से प्रेरित होकर अज्ञानवश दूसरों का अपकार करता है। क्रोध के वशीभूत होकर वह किसीको मार डालता है, तो किसीको अपशब्द कहकर आंखें लाल करता दिखाई देता है। मान के वशीभूत होकर वह छोटे मुँह बड़ी बात कर शिष्टाचार को ताक में रख अपने आपको देवता समझ बैठता है। माया की होड़-हड़प में वह परिग्रही बनकर शोषक बन बैठता है तो अपनी पेट की ज्वाला को शांत करने में न जाने कितने निर्दोष प्राणियों की बलि ले लेता है। लोभ के वशीभूत होकर वह भाई भाई का गला काट देता है तो मां-बाप के खून का

प्यासा बन बैठता है। सचमुच कषाय-कलुषित जीवन दो कौड़ी का भी नहीं रहता। जीवन का अर्थ अनर्थ बन जाता है। जिंदगी मौत की कब्र बन जाती है। मानवता कराह उठती है। कहा भी है—

“कोहो पीड़ पणासेइ, माणो विणय-नासणो।

माया मितानि नासेइ, लोभो सब्ब विणासणो॥

अर्थात्, 'क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है, और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।' तो इस प्रकार प्रेम, विनय, मित्रता और सर्वगुणों से रहित जीव अज्ञानवश किसी तरह का बुरा कर दे, किसी प्रकार का नुकसान कर दे तो इसका बदला न लेकर प्रतिशोध और प्रतिकार न कर, शान्तिपूर्वक अपकार को सहन करनेवाला क्षमावान् कहलाता है।

अब प्रश्न उठता है कि प्रतिशोध और प्रतिकार न करने में कौन-सी परिस्थितियों का साथ और सहयोग होना चाहिए। क्या बाहुबली अपकारी के अपकार को क्षमा करनेवाला कृशकायी क्षमावान है? क्या भरे-पूरे लंबे-चौड़े कुटुम्बवाले अपकारी के अपकार को क्षमा करनेवाला अकेला व्यक्ति, जिसके पास न परिवार है न पूंजी, क्षमा-मूर्ति है? क्या जिसकी समाज में प्रतिष्ठा है, जिसके पास जमीन है, जायदाद है, ऐसे अपराधी के अपराध को क्षमा करनेवाला घर-बार से रहित, निर्धन मानव क्षमाशील है? नहीं! नहीं! क्षमा का सच्चा अर्थ यह नहीं है। विवशता और लाचारी को क्षमा के क्षेत्र में तनिक भी स्थान नहीं है। क्षमा और मजबूरी में ३ और ६ का अंतर है। क्षमा और कायरता साथ-साथ नहीं चल सकती। क्षमा का चोली-दामन का-सा संबंध अगर किसी के साथ है तो क्षमता के साथ। बदला लेने की पूर्ण शक्ति होते हुए भी बदला न लेना, प्रतिकार की पूर्ण क्षमता रखते हुए भी प्रतिकार न करना, क्षमा का आदर्श है। दीन और भयातुर बनकर किसी को क्षमा करना क्षमा न होकर कायरता है, मजबूरी है, विव-

शता है। क्षमा का अधिकारी और पात्र कौन है? इस प्रश्न का उत्तर प्रगतिशील कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने अपने महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' में दिया है—

“क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल है।
उसको क्या जो दन्त हीन,
विष रहित विनीत सरल है।”

क्षमा अगर किसी का शृंगार और आभूषण बन सकती है तो उस सर्प की, जिसमें फुफकारने की शक्ति है, फण फैलाने की ताकत है, विष धारण करने का बल है; न कि उस सर्प की जिसके न दांत हैं न जिसके पास जहर ही है। इस प्रकार की क्षमा वीरों का भूषण है। क्षमा का अर्थ हमने ऊपर स्पष्ट कर दिया, अब प्रश्न है वीरों का। ऐसे कौन-से वीर हैं जो क्षमा का आभूषण पहनते हैं?

क्षमा का धारक वीर न तो युद्धवीर है, न वाग्वीर, न मस्तवीर है न पाखण्ड-वीर। उसकी वीरता अनोखी एवं अद्भुत है। कुछ लोग कहते हैं क्षमा का सिद्धांत अव्यावहारिक एवं कायरता को बढ़ावा देने वाला है। लेकिन वे भूल करते हैं; महात्मा गांधी ने क्षमा और अहिंसा को एकाकार कर दिया है। क्षमा धारण करनेवाला वीर न तो टीन के डिब्बों की तरह जल्दी गरम होता है और न जल्दी ठंडा। वह तो पृथ्वी की तरह क्षमावान्, समुद्र के समान गंभीर और आकाश की तरह स्थिर होता है। वह एटम और हाइड्रोजन बमों की विनाशक एवं विस्फोटक ज्वालामुखियों से मानवता का अभिवादन कर वीर होने का दावा नहीं करता। वह लुक-छिपकर चापलूसी कर अपनी स्वाधीनता और स्वाभिमानता को ठोकर लगाकर अपना उल्लू सीधा नहीं करता। जैसा कि नीति में कहा है—

नमन नमन में फरक है, बहुत नमैं नादान।

दगाबाज दूना नमैं, चीता चोर, कमान ॥

वह चीता, चोर, कमान बनकर शिष्टाचार का प्रदर्शन नहीं करता।

लेकिन वह वीर-भावनाओं के कारण वीर बनता है। उत्साह और उदारता की गोद में पलकर उसकी वीरता बढ़ती है। वह सोचता है कि अपकार करनेवाला तो दया का पात्र है। उसपर क्रोध करना स्थय के कर्म बांधना है।

इसलिए वह अपनी अंतरात्मा से कह उठता है, “खमेह अवराह मे”—मेरा अपराध क्षमा करें। वह अपने मन को चेतावनी देता है कि तू निंदकों की निंदा मत कर, आलोचना की प्रत्यालोचना मत कर और फिर संदेश देता है कि तू अपने निंदकों को आशीर्वाद दे। क्योंकि वे जितना श्रेय अपना नहीं करते, उससे अधिक श्रेय तेरा करते हैं। वे अपने लिए आश्रयी बनकर तेरे लिए संवर रूप बनते हैं। तेरे विषय-कषाय को रोकते हैं। इसलिए हे मन, जहां मानव तुझे फटकारे, दुत्कारे वहां तू उससे प्यार कर, स्नेह कर। जहां वह तुझे गाली दे, वहां तू उसे मिश्री की डली दे। जहां वह तुझपर भार डाले, वहां तू उसका आभार मान। जहां वह कांटा बनकर चुभे, वहां तू फूल बनकर बिखर जा, जहां वह आंधी और झंझावात बनकर तुझे उड़ाये, वहां तू शीतल, मंद, सुगंधित मलयानिल बनकर उसके प्राण सहला। जहां वह तुझे विष की घूंट दे, वहां तू उसकी अमृत से मनुहार कर। जितनी उदार भावना से वह तुझे मदद दे, उतनी ही उदार भावना से तू उसे स्वीकार कर। जितनी क्रूर कठोर ठोकर वह लगाये, झूला बनकर उतना ही नजदीक तू आ। जितना वे तेरा अपकार करें, उतना ही तू उनका सत्कार कर। क्योंकि तेरी निंदा करने में उनको प्रसन्नता होती है। सोच तो मन ! दूसरों को प्रसन्न करने के लिए कौन क्या नहीं करता? कोई रूप का दीपक जलाकर पतंगों को आनंदित करता है। कोई वीणापर गा-गाकर कुरंग को मुग्ध करता है। कोई सौरभ फैलाकर माधुर्य को आकर्षित करता है? कोई मान-हानि सहनकर दूसरों को सुख देता है। पर तू बिना कष्ट उठाये, बिना जीवन खतरे में डाले, दूसरों को आनंदित करता है। सचमुच तू भाग्यशाली है, तू निंदक के सुख का सहायक और कारण है। और हे मेरे मन, तू यह भी याद रख, ये जितने भी कष्ट तुझे उठाने पड़ रहे हैं, जो कुछ भी अनादर और अपमान, दुख और दर्द तुझे मिल रहे हैं वे भले ही किसी व्यक्तिविशेष के कारण आते हों, पर वे तेरे कर्म काटने के कारणभूत। इसलिए तू तो आध्यात्मिक दीवाली मना। धर्म का दीपक जला और यह भी सोच कि सारे दुःख तेरे कर्मों के ही फल हैं। (क्योंकि, कषाय कम्पाण न मोक्ख आथि)।

हमसे अपने पूर्व भव में अवश्य उस निंदक का कोई

न कोई अपकार हुआ है इसीसे वह इस समय हम से प्रतिकूल प्रवृत्ति कर रहा है। अतः इस समय अगर हम बदला न लेकर उसके साथ सहानुभूति और सहिष्णुता का बर्ताव करेंगे तो एक ओर उसके हृदय की मलिनता धुलेगी, दूसरी ओर हमारे कर्म की गठरी का भार उतरेगा; इसलिए भगवान् महावीर ने ललकारकर उद्बोधन दिया—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्वया जिणे ।

मायमज्जव भावेण लोभं संतोसओ जिणे ।

अर्थात्, तुम्हें अगर क्रोधाग्नि ने जला दिया हो तो क्षमा के नीर से उसे शांत करो। अहंकार का भुजंग डस गया हो तो मृदुता की अमर बूटी का प्रयोग करो। माया का विच्छेदक लगा गया हो तो ऋजुता की अमृतधारा से उसे सहलाओ। लोभ के तीर से घाव पड़ गया हो तो संतोष का महम लगाओ। इस प्रकार का व्यवहार और आचरण करनेवाला वीर सच्चे अर्थ में वीर और क्षमावान् है। वह क्षमा का आभूषण पहनने का अधिकारी है। चण्ड कौशिक ने क्या नहीं किया? लेकिन क्षमावतार भगवान् महावीर ने उसके कालकूट को दूध बना दिया। गज सुकुमार ने क्षमा की अग्नि में तपकर सिद्धि प्राप्त की। जो वीर आत्मा का दमन नहीं करता, आत्मा को नहीं जीतता, वह वीर नहीं। सच्चे वीर के व्यक्तित्व एवं कर्म का परिचय देते हुए महावीर ने कहा—

जो सहस्सं सहस्साणं, सगामे दुजए जिणे ।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

अर्थात्, जो दुर्जय संग्राम में लक्ष-लक्ष योद्धाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह सच्चा वीर नहीं है; जो अपने शत्रुपर विजय प्राप्त कर लेता है, वही सच्चा वीर है और वही उसकी सच्ची विजय है।

क्षमा वीर का कोई भौतिक भूषण नहीं है। कोई बाह्य शौर्य का प्रतीक और प्रदर्शन नहीं है, सोने-चांदी से निर्मित गहना नहीं है। वह तो हृदय का भाव है, आत्मा

की अभिव्यक्ति है। भौतिक गहनों को तो “सव्वे आभरणा भारा” भार रूप कहा गया है। क्षमा को पहन कर वीर आत्मा से साक्षात्कार करता है। आत्मा पर विजय प्राप्त करता है। बहुत-से साथी किसीसे क्षमा मांगने में लघुत्व की भावना का अनुभव करते हैं, लज्जा और शर्म महसूस करते हैं। पर सच तो यह है कि क्षमा ही महत्त्व की भावना को उद्भावित करती है। कहा है—

क्षमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात ।

कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥

भृगु महाराज के लात मारनेपर भी विष्णु का मान नहीं घटा। प्रत्युत उसमें और चमक आ गई।

आज का राजनीतिज्ञ एक-विश्व की, अन्तर्राष्ट्रीयता की बड़ी लंबी-चौड़ी बातें करता है। सैनिक व्यय और सेना बढ़ाकर प्रत्येक राष्ट्र वीर होने का दम्भ भरता है। विश्व-शांति कायम करने के लिए समय-समय पर सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं, पर कोई ऐसा नहीं है जो कि आत्मा को टटोले। आत्मा का मंथन कर, क्षमा का अमृत ढूँढ़ निकाले। आज के साम्राज्य-लिप्सु एवं भावी युद्ध-विभीषिका से संतप्त एवं प्रपीड़ित विश्व के राष्ट्र को “क्षमा वीरस्य भूषणम्” का रहस्य एवं अर्थ समझकर सच्चा वीर बनने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर हम वास्तव में “आत्मवत् सर्वभूतेषु” और “वसुधैव कुटुम्बकम्” की भावना को अंकुरित करना चाहते हैं, तो इसका केवल एक ही सार्व-भौम उपाय है और वह है क्षमा का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग। इसलिए आज की बड़ी शक्तियों को चाहिए कि वे समय-समय पर आयोजित विश्वव्यापी सम्मेलनों में महावीर की इस अमर वाणी का उद्घोष कर उसे घर-घर पहुंचाएं, धरती की धड़कन के साथ उसका स्वर मिलाएं और प्राणों के स्पंदन के साथ उसे जीवन में उतारें—

“खामेमि सव्वजीवा, सव्वेजीवा खमंतु मे ।

मिति मे सव्व भूएसु, वेरं मज्जं नकेणइ ॥”

प्रेमनारायण अग्रवाल

विदेशों में दिखानेवाली संस्थाएं

विदेश-यात्रा का लक्ष्य जितना आपके सामने स्पष्ट होगा, उतना ही अधिक आपको यह मालूम होगा कि आपको किस देश में क्या-क्या देखना है और कितना समय आपके पास है, अथवा कितने समय में क्या-क्या देखना संभव है। वास्तव में थोड़े समय में भी बहुत-कुछ देखा जा सकता है और ज्यादा समय में भी बहुत कम या मामूली-सा। यह सब यात्री के व्यक्तित्व, प्रबंध-कुशलता व जानकारी पर निर्भर करेगा।

आजकल अनेक प्रकार के विदेशी प्रतिनिधिमंडल भारत आते हैं और भारत से भी अनेक देशों में जाते हैं। इन प्रतिनिधि-मंडलों के सदस्यों के पास बहुत कम समय होता है और इतने कम समय में भी ये बहुत-कुछ देख-समझ लेते हैं जो साधारण व्यक्ति की शक्ति और कल्पना के बाहर की बात है। इसके अनेक कारण होते हैं। जो उनको अपने देश में बुलाता है वह उनको जानता है कि वह उनको क्या-क्या दिखाना व बताना है। उन लोगों की रुचि क्या-क्या है और वे क्या-क्या देखना-भालना चाहते हैं। वह उनके लिए सारा प्रोग्राम पहले से ही बना रखता है। जिस-जिस जगह उनको ले जाना है, जिनसे मिलाना है, दावतें आदि सब पहले से निश्चित कर लेते हैं। उनके वहां पहुंचते ही वह सब कार्यक्रम एकदम प्रारंभ होजाता है, उनका कोई भी समय किसी भी बात में बरबाद नहीं करना पड़ता है। उनके लिए दुभाषिया, होटल, गाइड आदि सब का प्रबंध रहता है।

परंतु ये सुविधाएं अन्य यात्रियों को उपलब्ध नहीं होतीं और उनका बहुत-सा समय होटल तलाश करने, दुभाषिया ढूंढ़ने, गाइड मिलने आदि अनेक बातों में बरबाद जाता है। अनेक यात्रियों को यह भी पता नहीं होता कि कौन जगह कहाँ है, किस चीज को ढूंढ़ने के लिए कहाँ जाना है और उनको देखने के लिए किससे बात करनी है।

यह भी बहुत-कुछ यात्री की अपनी जानकारी, अनुभव व तैयारी पर निर्भर करता है। प्रायः वह अपनी रुचि की चीजों की लंबी-चौड़ी लिस्ट तो भारत छोड़ने पर बना लेता

है और समझता है कि विदेशों में पहुंचकर वह सब कर सकेगा। प्रायः उसकी निगाह में वहां की विचित्र परिस्थितियां और परेशानियां नहीं आ पातीं और वहां पहुंचकर वह कुछ दिनों इधर-उधर घूम-घाम कर परेशान होजाता है कि जितना वह चाहता था उतना वह न कर सकेगा। उतने के लिए समय कम है और ज्यादा समय ठहरना उसके लिए अनेक निजी कारणों से संभव नहीं होता।

हमने भी भारतवर्ष से चलने से पूर्व विदेशों में देखने-भालने की चीजों की बड़ी लंबी-चौड़ी सूची बनाई थी, पर लंदन में पहुंचकर चक्कर में पड़ गये। इतने विशाल नगर में एक जगह से दूसरी नई जगह जाने-आने में काफी समय व पैसा लगता और बिना किसी ठीक मार्ग-प्रदर्शन के अंधेरे में ढूंढ़ने के समान ही था। वहां हमारे कुछ मित्र थे, पर वे इस संबंध में उचित मार्गप्रदर्शन न कर सके और हमारा बहुत-सा समय, पैसा व शक्ति बरबाद गया। कई बार तो हम दिन-भर घूमते-फिरते रहे पर कोई मतलब की चीज न देख सके या मनमाना काम न कर सके। वहां की इमारतें, सड़कें आदमी सभी चीजें मुझे काटने को दौड़तीं और सोचता कि कि कहां जाऊं, किससे पूछूं और बिना किसी खास बात को बताये उनसे कैसे पूछूं। प्रत्येक व्यक्ति हमारे मतलब की बात बता भी न सकता था।

अगर सिनेमा, थियेटर, अजायबघर, प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान आदि को देखना हो तो कोई बता भी दे। पर हमारी रुचि अजीबोगरीब थी जिसे कोई उचित अनुभवी और जानकारी समझ सकता था। वह हमारे मतलब को सुनता-समझता और फिर मार्गप्रदर्शन का काम करता। इसके अभाव में हम अपने पांच मास के लंदनप्रवास में और ढाई मास के यूरोप और मध्यपूर्व के देशों के भ्रमण में भी बहुत कम पा सके। हां, अगर हम अब दुबारा जायं तो अवश्य ही अपेक्षाकृत बहुत ज्यादा देख-समझ सकते हैं।

हम अपनी यह जानकारी पाठकों के सामने रख रहे हैं ताकि वे हमारी तरह अंधेरे में न ढूंढ़ें और कम-से-कम

समय में अधिकाधिक देख सकें और कम-से-कम पैसा खर्च करके।

अगर आपको ऐतिहासिक स्थान देखने हैं तो यूरोप के प्रायः सभी देशों में यात्रा-एजेंट लोग इसका प्रबन्ध करते हैं। प्रत्येक बड़े-बड़े शहर में व देश के प्रमुख स्थान घुमाने-दिखाने के लिए उनकी विशेष तौरपर बनी हुई लारियां होती हैं जो यात्रियों को लेकर वे स्थान दिखाती हैं। उनमें विभिन्न भाषाओं में बोलनेवाले गाइड होते हैं जो प्रत्येक स्थान का ऐतिहासिक व वर्तमान महत्त्व दिखाते जाते हैं। ये लारियां विशेष प्रकार की बनी होती हैं जिनमें बैठकर आप चारों तरफ व ऊपर की चीजें देख सकते हैं। उनकी आधी छत में दोनों किनारों पर कांच के शीशे लगे होते हैं जिनमें से आप ऊपर का सब-कुछ देख सकते हैं।

ये बसें नियत समय पर छूटती हैं और प्रत्येक का मार्ग व दर्शनीय स्थान निश्चित होते हैं। बड़े-बड़े शहरों को कई-कई प्रकार से बांटकर वहां की बहुत-कुछ चीजों को तीन-चार चक्करों में आप देख सकते हैं या जो आपकी पसंद की चीजें हों उनके अनुकूल बस चुन सकते हैं। ये बसें रात में उन देशों का "रात का जीवन" (नाइट लाइफ) दिखाने तक को चलती हैं। प्रत्येक शहर में पहुंचते ही स्टेशन पर आपको 'टूरिस्ट इनफॉर्मेशन कार्यालय' में जाना चाहिए। वह आपको इस प्रकार की सब जानकारी देगा और उस संबंध में छपा हुआ साहित्य भी दे देगा या आप यात्रा-एजेंट से मालूम कर सकते हैं।

अगर देश के दर्शनीय, रमणीय, प्राकृतिक दृश्य देखने हों या अन्य स्थान, तब भी आप अपने यात्रा-एजेंटों से या इन टूरिस्ट इनफॉर्मेशन कार्यालयों से विशेष जानकारी प्राप्त कर लें। कई देशों में इनकी भी इसी प्रकार की बसें जाती-आती रहती हैं जिनमें आप सम्मिलित हो सकते हैं। लंदन से कई बसें चलती हैं जो समस्त या अधिकांश यूरोप को इसी प्रकार घुमाती हैं। उनके भी मार्ग, शहर दर्शनीय स्थान आदि निश्चित होते हैं और आप अपनी सुविधा के अनुसार छांट सकते हैं। पर ये बहुत कीमती होते हैं जो साधारण यात्री के लिए संभव नहीं होता और अनेक ऐसी चीजें होती हैं जिनसे उसे दिलचस्पी न हो। ऐसी स्थिति में इतना खर्च करना उचित नहीं। हम समझते हैं स्वतंत्र

रूप से घूमने में यात्री इतना तो न देख सकेगा, पर काम की चीजें अपनी सुविधा और रुचि के अनुसार अवश्य देख सकेगा और खर्च भी काफी कम होगा। ये तो धनी पुरुषों के लिए हैं। उनके लिए इनकी उपयोगिता बहुत अधिक है और उन्हें इनमें अवश्य सम्मिलित होना चाहिए। साधारण यात्री अपेक्षाकृत सस्ते होटलों में ठहरकर, सस्ते रेस्टोरेंट में खाना खाकर कम पैसे खर्च करना पसंद करेगा और धनी आदमी को सब चीज बढ़िया चाहिए। कुछ देशों में रेलवे भी विशेष ट्रेनें छोड़ती हैं और स्टेशन पर उतरते ही उनकी तरफ से गाइड मिलता है जो शहर या ऐतिहासिक स्थान दिखाता-बताता है। लंदन के आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज के विश्वविद्यालयों और शेक्सपियर के जन्मस्थान के लिए यह प्रबंध है। यूरोप के विभिन्न देश घूमने के लिए भी सस्ता वापिसी रेलवे टिकट मिलता है।

परंतु शहर में घूमने-फिरने के लिए इनमें शामिल होना अच्छा है क्योंकि कम समय में बहुत-कुछ देखकर साधारण-सा ज्ञान हो जायेगा। हमने तो कोपनहेगेन, पेरिस, वियना आदि में इनमें भाग लिया था।

प्रत्येक शहर में क्या देखने योग्य है, उसका साहित्य आपको कहीं भी मिल जायेगा, बुकसेलरों के यहां भी, और उनसे आप अपनी रुचि की चीजों को छांटकर देख सकते हैं। पर वास्तव में इन चीजों को देखने में ज्यादा समय नहीं लगता। इनको तो आप दो-एक दिन में देख सकते हैं। एक शहर में एक तरफ की चीजें एक बार में देख सकते हैं जिससे एक ही तरफ बार-बार जाने में समय बरबाद न हो। दो-तीन बार में सब-कुछ देखा जा सकता है।

सबसे बड़ी दिक्कत तब आती है जब आप इन चीजों के अतिरिक्त ऐसी चीजें देखना चाहते हैं जो आमतौर पर सबके लिए खुली नहीं होती हैं और जिनमें जाने या जिनको देखने के लिए विशेष आज्ञा प्राप्त करनी होती है या विशेष प्रबंध करना पड़ता है।

इन चीजों को देखने के लिए भी वहां प्रबंध है और कितनी ही संस्थाएं ऐसी हैं जो इनमें आपकी सहायता करेंगी, पर आपको विशेष प्रयत्न से इनके बारे में अपनी रुचि के अनुसार तलाश करना पड़ेगा। इनका पता लग जाने पर या इनके द्वारा सहायता का आश्वासन प्राप्त होनेपर आपका

मार्ग बहुत-कुछ सरल हो जायेगा।

प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव व आवश्यकता अलग-अलग होती हैं और प्रत्येक बात का ख्याल करके ऐसे दिखाने-वाली अनेक संस्थाएं हो सकती हैं। सबके बारे में तलाश करना और यहां लिखना नितान्त कठिन है पर हम मोटे रूप से यहां कुछ ऐसी जानकारी लिख रहे हैं जो उनका मार्ग-प्रदर्शन कर सकेगी या उनकी रुचि के अनुकूल दिखानेवाली संस्थाओं से उनका परिचय करा देगी। कम-से-कम इनमें उनको आवश्यक जानकारी या उन संस्थाओं के पते आदि मालूम हो जायेंगे जो उनको अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

कुछ देशों में आपके ध्वे-संबंधी जो संस्थाएं होती हैं वे आपको सहायता दे सकती हैं। अगर आप व्यापारी हैं तो उन देशों के चेम्बर आफ कॉमर्स या इण्डस्ट्री फेडरेशनों से आप अपना संबंध स्थापित करें। उन देशों में स्थित भारतीय दूतावास भी शायद आपकी सहायता करे और कुछ बता सके या सीधा प्रबंध कर दे। सुना है कि वे ऐसा करते हैं पर प्रत्येक भारतीय यात्री के लिए नहीं। वे तो कुछ प्रमुख भारतीयों के लिए ही करते हैं जो सरकारी कर्मचारी हों, संसद के सदस्य हों या विशेष प्रभावशाली हों। हमने तो उनसे कोई सहायता नहीं चाही और न कोई साधारण श्रेणी का ऐसा भारतीय मिला जिसने उनकी सहायता के संबंध में बताया हो। दो-एक प्रभावशाली व्यक्तियों ने तो बताया कि उनके लिए ऐसा किया गया है।

इंग्लैंड में तो ब्रिटिश सरकार की ओर से दो विशेष संस्थाएं कायम हैं जो विदेशियों को खासकर कॉमनवेल्थ और उपनिवेशों के नागरिकों की इन कामों में भरसक सहायता करती हैं, उनका पथप्रदर्शन करती हैं, और अधिकार-पूर्ण ढंग से पूरी जिम्मेदारी के साथ।

ब्रिटिश कौंसिल इंग्लैंड के इस क्षेत्र में एक विशालकाय सरकारी संस्था है। यह पत्रकारों के अतिरिक्त अन्य सभी को अंग्रेजी जीवन, संस्थाओं, साहित्य, संस्कृति आदि से परिचित कराने के लिए सहयोग देने में बहुत आगे है। लंदन में इसका विशाल कार्यालय है और अनेक देशों में उसकी शाखाएं हैं। भारत में नई दिल्ली में इसका कार्यालय है। विद्यार्थियों, अध्यापकों, सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं आदि को यह सहयोग देती है। इसके भारतस्थित कार्यालय से, इंग्लैंड जाने से

पूर्व, आपको संबंध स्थापित करना चाहिए और यह अपने लंदनस्थित कार्यालय के लिए आपको परिचयपत्र दे देगी। वहां पहुंचकर आप उनसे मिलें और अपना उद्देश्य आदि बतावें तो वह आपके लिए स्कूलों, कालिजों, अंग्रेजों के परिवारों आदि में प्रवेश पाने के लिए विशेष प्रबंध कर देगी।

पत्रकारों, लेखकों को इससे कोई भी सहायता नहीं मिल सकेगी। उनके लिए एक दूसरा ही विभाग है, क्योंकि पत्रकारों के मस्तिष्क का गठन दूसरे ही प्रकार का होता है और उनके प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। इसके लिए लंदन में ब्रिटिश सरकार का विदेशी, कॉमनवेल्थ या औपनिवेशिक विभाग है। इनमें सूचना-विभाग है जो इन देशों के पत्रकारों की सहायता करता है। आप भारतीय हैं, भारत कॉमनवेल्थ में है, अतएव कॉमनवेल्थ विभाग का सूचना-कार्यालय आपकी सहायता करेगा। वह आपको इन चीजों के देखने-भालने समझने के लिए प्रबंध कर देगा। उससे काम लेने के लिए आवश्यक है कि आप भारत में दिल्लीस्थित ब्रिटिश इनफॉर्मेशन सर्विस से संबंध स्थापित करें और इससे परिचय-पत्र लें।

ऐसे पत्रकारों के लिए कुछ सुविधाएं प्रत्येक देश में हैं। आप उनके विदेशी विभाग के सूचना कार्यालय में चले जायें तो हमारा ख्याल है वहां के कर्मचारी आपकी उचित सहायता करेंगे, अपने देश के बारे में यथोचित साहित्य प्राप्त करने में व चीजों के देखने के लिए प्रबंध करने में।

प्रत्येक देश में विभिन्न संस्थाएं हैं जो विभिन्न प्रकार के विदेशी यात्रियों की विभिन्न तरीकों से सहायता करती हैं। जिस देश में आप जा रहे हों उसके बारे में आपको विशेष प्रयत्न करके मालूम करना होगा और सबसे अच्छी बात यह है कि वहां जाने से पूर्व भारत में ही यह जानकारी प्राप्त कर लें व उनसे संबंध कायम कर लें। अगर आप उनको ठीक तारीख बता सकें, जब आप वहां होंगे, तो वह पहिले से ही आपके लिए प्रबंध कर सकते हैं। समय, शक्ति व पैसे को अपव्यय से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि भारत में ही यह सब जानकारी आपको मिल जाय। वहां पहुंचकर मारे-मारे फिरने में बहुत घाटा रहेगा।

इसके लिए आप भारत-स्थित उन देशों के दूतावासों आदि से पूछताछ करें। यह आपको अपने देश के संबंध

में पहिले से ही बातें बता सकेंगे। वहां की कुछ सामग्री दे सकेंगे या आपके प्रिय विषयों के संबंध में जानकारी दे सकेंगे। उनके पास प्रचुर मात्रा में साहित्य होता है जिसे भेजकर वे खुश होंगे, क्योंकि प्रत्येक दूतावास का अपने देश के बारे में भारत में अधिकाधिक जानकारी देना प्रचार करना और दोनों देशों में निकटस्थ संबंध स्थापित करना प्रमुख कार्य होता है।

अगर आपको यह मालूम है कि किस देश में कौन-से व्यक्ति से मिलना है, कौन-सी संस्था को देखना है तब तो आप सीधा उसे लिखकर भी समय, तारीख आदि निश्चित कर सकते हैं। जब आप यह कुछ भी न जानते हों तो उनके दूतावास को सबकुछ बताना चाहिए। वहां के लोग आपकी सहायता करेंगे।

इन सबके होते हुए भी आपको परेशानी हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक देश का अपना ढंग है और प्रत्येक के विभिन्न विभाग हैं जो इन कामों को करते हैं। फिर बहुत-कुछ इन कर्मचारियों के रुख व आपके ढंग पर भी निर्भर करता है कि कहां से कौन जानकारी मिल सकती है। हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विकसित देश में, कम-से-कम यूरोप में तो निश्चय ही, ऐसी संस्थाएं हैं या सरकारों के ऐसे विभाग हैं जो अपने यहां के बारे में जानने में सहयोग देंगे। यह काम आपका है कि आप उनको अपनी रुचि व आवश्यकता के अनुसार ढूँढ़ निकालें। उनके मिल जानेपर अंधेरे में नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा और परेशानी बहुत कम हो जायेगी। वह तो खटाखट आपकी आवश्यकतानुसार प्रबंध करती चली जायेगी।

भारत में भी भारत सरकार की ओर से उसके विभाग व ऐसी संस्थाएं हैं जो विदेशी यात्रियों की इस कार्य में सहायता करती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं की संख्या व कार्यक्षेत्र दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे उनकी मांग बढ़ती जाती है, उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है, इनका विस्तार होता जाता है।

इनके अतिरिक्त भारत में कुछ ऐसी गैर-सरकारी संस्थाएं हैं जैसे भारत-चीन, भारत-रूस, भारत-इंडोनेशिया मैत्री-संघ जो विदेशियों की सहायता के लिए कायम हैं। ये भी उनका पथप्रदर्शन करती हैं। इसी प्रकार अन्य देशों में भी हैं जिनसे आपको सहायता मिल सकती है।

इनसे किसी प्रकार की आर्थिक सहायता की आशा करना या कहना तो व्यर्थ-सा ही है। वे तो केवल आपके मार्गप्रदर्शन का कार्य करती हैं जिससे आप कम-से-कम समय में उनके देश के बारे में अधिकाधिक जान-सकें।

कभी-कभी ये आर्थिक सहायता भी करती हैं जो विभिन्न प्रकार की होती है। वह आने-जाने का किराया व रहने का सारा खर्चा स्वयं कर सकती हैं, या सिर्फ किराया दे या वहां घूमने-फिरने का खर्चा। यह वे अपनी आवश्यकतानुसार तय करती हैं विभिन्न राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक आदि कारणों के आधार पर। कभी वे सीधा निमंत्रण देती हैं, कभी संस्थाओं द्वारा, कभी भारत सरकार द्वारा जिसका जैसा भारत सरकार से समझौता हो। पर ये सुविधाएं साधारण व्यक्तियों के लिए नहीं हैं, वरन् उनके लिए हैं जिनकी तरफ से कोई तार खींचनेवाला हो या आप कोई महत्वपूर्ण विभाग या काम कर रहे हों जिससे आपको प्रभावित करने के लिए यह ढंग अपनाया जा सके। प्रत्येक व्यक्ति इन आर्थिक सुविधाओं को पसंद न करेगा, पर अधिकांश स्त्री-पुरुष तो इनकी आशा में देश के हितों की अहुति देने में नहीं चूकते। जो इनपर खर्च करता है वह उनसे कुछ आशाएं रखता है कि उनके पक्ष में कुछ काम करें। पर जो उनसे कोई आर्थिक सहायता न लेकर अपने लिए केवल देखने-भालने या मिलने-जुलने की सुविधा चाहता है, उसकी स्वतंत्रता पर कैसे वार कर सकते हैं! यह बात दूसरी है, किसी कारणवश किसी का किसी से कुछ समझौता होजाय या अन्य कोई लाभ होजाय। व्यापारी लोग तो इस लिए जाते हैं कि उनका व्यापारिक संबंध स्थापित हो और उनका आर्थिक लाभ हो, चाहे माल भेजकर या मंगाकर। पर यह तो प्रत्यक्ष व्यापारिक लाभ है। अन्य राजनैतिक लाभों की दृष्टि में भी ऐसा किया जाता है और सुनने में आया है कि विदेश जाने से कुछ लोगों का उनसे अन्य प्रकार का संबंध होगया।

कुछ समय पूर्व भारत में इस प्रकार के निमंत्रणों की विदेशों से बाढ़-सी आ गई थी। प्रायः व्यक्तियों को सीधे निमंत्रण मिलता था। भारत सरकार ने इसके प्रभाव से सचेत होकर इसपर कुछ रोकथाम लगाई है। कुछ संस्थाओं को निमंत्रण भेजे जो प्रतिनिधियों का चुनाव कर या भारत

सरकार को जो उचित उनकी आवश्यकतानुसार चुनाव कर दे या उनकी सिफारिश कर दे। लिखने का तात्पर्य यह है कि कोई भी करे, इस प्रकार के अवसर अधिकाधिक आ रहे हैं और करीब-करीब प्रत्येक तरह के स्त्री-पुरुषों के लिए। कुछ के लिए ज्यादा, कुछ के लिए कम। परंतु साधारण स्थिति

के व्यक्ति को इनसे आशा न करके अपने पैरों पर ही खड़े होना चाहिए, जबतक उसके पास कोई तगड़ा जोर न हो। आर्थिक सहायता को छोड़कर शेष सहायता तो सबको ही मिल सकती है और इसके लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।



रामचंद्र 'चंद्रभूषण'

चांद पर हम क्यों चढ़ें !

चांद पर हम क्यों चढ़ें !
व्यर्थ की इन भावनाओं में भला हम क्यों बहें !
क्यों नहीं हम चांद धरती पर उतारें !
स्वप्न की जीवंत यह प्रतिभा चली जो झिलमिलती
बज रही हर तार पर,
एक लंबी मूर्च्छना से उठ किरण यह सुगबुगाती
छा रही अंधियार पर,
गीत का यह काफिला क्षणभर न रुकता
दृष्टि से आगे सदा द्रष्टव्य झुकता,
हम भँवर में क्यों पड़ें !
क्यों न हम चुपचाप उस भागीरथी को खींच लें !
जो हमारी चेतना के दग्ध पुरखों को उबारे
हर कदम पर प्रक्रियाओं से गुजरता यह जयी मन
दायरे को तोड़ता,
हर विषय को बांधता अपने अहम् में यह चिरन्तन

और केंचुल छोड़ता,
मान्यताओं से बड़ा विश्वास इसका
मौत के भी बाद कोई श्वास इसका
हम नखत पर क्यों मरें !
क्यों न सारे तर्क की हम आप मीमांसा करें !
झांक निज व्यक्तित्व में हर एक दूरी को पुकारें !
एक तृष्णा जो नये आयाम रचती जा रही है
हर चढ़ाव-उतार पर,
एक सहज प्रवृत्ति जो संस्कार बनकर आ रही है
हर डगर पर, द्वार पर,
एक सहज रश्मान जिस पर मन समर्पित,
एक साधन जो स्वयं अर्जित, विसर्जित,
हम समुन्दर क्यों तरें !
कल्पनाओं की शिला से क्यों न रच हम सेतु दें !
मेटकर लंका मनुजता को संवारें !

सुरेश राम

सेवाग्राम का सर्वोदय सम्मेलन : एक भांकी

“स्वराज्य को मिले बारह साल हुए। मगर देशमें गरीबी अब भी है, गरीबों पर अत्याचार अब भी होते हैं। हमारा स्वराज्य गांव-गांव तक नहीं पहुंचा है। मनुष्य-मनुष्य के बीच की तमाम दीवारें टूटनी चाहिए। यह सारे भेद-भाव मनुष्य के खुद के खड़े किये हुए हैं। हमारा सबका एक ही धर्म है—मानवधर्म। वापू ने हमें सिखाया कि मानवता के सद्गुणों का विकास ही मानवधर्म है। उसकी उन्होंने राह सुझाई। उसीपर सन्त विनोबा ने चलकर सामाजिक और अहिंसक क्रांति की रूपरेखा पेश की है। दृढ़संकल्प होकर हम इस क्रांति को सम्पन्न करें।”

ये उद्गार सेवाग्राम में होनेवाले बारहवें अखिल भारत सर्वोदय सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए, उत्कल के वयोवृद्ध पितामह आचार्य हरिहरदास ने प्रकट किये। याद हो कि वापू की अचानक विदाई के बाद मार्च १९४९ में उनके साथियों, मित्रों और अनुयायियों ने मिलकर सर्वोदय समाज की स्थापना की थी। तीन साल बाद अप्रैल १९५१ में विनोबाजी ने भूदान-यज्ञ आन्दोलन का श्रीगणेश किया। आंदोलन की व्यापकता जितनी बढ़ी, सर्वोदय सम्मेलन भी उतना ही ज्यादा बढ़ा और लोकप्रिय होता गया। विनोबाजी इसके प्रेरणा-स्रोत रहे।

अपने देश में विद्या या ज्ञान के लिए बारह साल की मियाद रेखी गई है। बारह साल माने एक जीवन-अध्याय की पूर्ति और दूसरे का श्रीगणेश। इसलिए सर्वोदय समाज की स्थापना के बाद, बारहवें साल पर सेवाग्राम में सम्मेलन का होना सहज स्वाभाविक है। पंजाब में यात्रा करने के कारण विनोबाजी इस मौके पर नहीं आये। उनकी अनुपस्थिति में सम्मेलन का होना इस बात की पहचान है कि सर्वोदय आन्दोलन लड़कपन से निकलकर अपनी जवानी में आ रहा है।

यह सम्मेलन तीन दिन तक चला—२६, २७ और २८ मार्च। सेवाग्राम में महादेवभाई हॉल के सामने जो आंगन है, वहींपर पंडाल था। मंच एकदम सीधा-सादा था—

न कोई चित्र, न प्रदर्शन। ऊपर मोटे अक्षरों में तीन शब्द जरूर लिखे थे :

श्रम ! शान्ति !! समर्पणम् !!!

सबको ऐसा महसूस होता था मानो घरपर ही हैं। वापू और बा की तपोभूमि में ऐसा न होता अचरज की बात होती। ठहरने, नहाने-धोने, पेशाब-पाखाने और खाने-पीने के, सभी इंतजाम अच्छे थे। इसका श्रेय सेवाग्राम और वर्धा की संस्थाओं में काम करनेवाले अनेक कार्यकर्ता भाई-बहनों को है। हम सबके मेजमान या स्वागत समिति के अध्यक्ष थे श्री भाई चिमनलाल व्यास। यह आश्रम के व्यवस्थापक हैं और जबसे सेवाग्राम आये, १९४६ से, तब से यहीं हैं। कभी रेल सफ़र तक नहीं किया।

सम्मेलन के पहले छः दिन तक, २० मार्च से २५ तक, विभिन्न प्रश्नों पर चर्चा हो चुकी थी। करीब तीन सौ प्रमुख कार्यकर्ता देशभर से जमा हुए थे। सम्मेलन के मौके पर तो तीन हजार से ज्यादा कार्यकर्ता आ गये थे। आस-पास के जिलों के और स्थानीय लोगों को मिलाकर, कुल हाजरी आठ हजार के ऊपर हो गई थी। मंच पर दो लाउड-स्पीकर थे। एक अध्यक्ष के आगे, दूसरा बोलनेवाले के वास्ते। आचार्य हरिहरदास के अलावा मंच पर केवल तीन सज्जन और थे—स्वागताध्यक्ष श्री चिमनलाल भाई, सर्व-सेवा संघ के अध्यक्ष श्री वल्लभस्वामी और सर्वोदय समाज के मंत्री श्री राधाकृष्णन्, जो कार्यक्रम का संचालन कर रहे थे। बाकी सब श्री शंकरराव देव हों या श्री जयप्रकाशबाबू, दादा धर्माधिकारी हों या धीरेंद्र भाई—सभी नीचे फ़र्श पर, सब कार्यकर्ताओं के साथ। कुछ मेहमान भी मौजूद थे—जैसे कांग्रेस अध्यक्ष श्री संजीव रेड्डी, भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष श्री डेवर भाई, गांधी स्मारक निधि के मंत्री श्री जी० रामचंद्रन, कई मिनिस्टर इत्यादि। बहनें भी काफी संख्या में थीं।

इस सम्मेलन की विशेषता यह है कि देश के विभिन्न भागों से ३२० कार्यकर्ता पैदल आये थे। इनकी अड़तालीस

टोलियां थीं। कुल मिलाकर इन भाई-बहनों ने ८५,८३० मील की पदयात्रा की। उड़ीसा के सुप्रसिद्ध ग्रामदानी जिले कोरापुट से ८९ भाई-बहन आये थे। ऐसी सामूहिक तपस्या स्वतंत्र देश के इतिहास में बड़ी प्रेरणादायी घटना है।

पिछले बारह महीने में सर्वोदय जगत् में हुए दो काम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो आंध्र के कृष्णा और गुंटूर जिलों में सर्वोदय-पात्र। तेनाली से यह काम शुरू हुआ और आज इस क्षेत्र में २०३७५ सर्वोदय-पात्र लगातार जारी हैं। इनसे ५१ सेवकों को पोषण मिलता है जो रात्रि-पाठशाला, प्रौढ़-शिक्षा, कताई, सफाई, दवा-दारु, सिलाई-कढ़ाई आदि तरह-तरह से सेवा करते हैं। दूसरा है शान्ति-सेना का काम, जिसकी कुछ झलक केरल प्रान्त में देखने में आई। वैसे कुछ शहरों में भी, जैसे बंगलौर, अहमदाबाद, इलाहाबाद और सीतामढ़ी (विहार) इसका काम हुआ।

आज का सबसे बड़ा सवाल है कि—आगे क्या करना? उस दिशा में सुझाया गया कि सघन रूप से काम किया जाय, प्रेम-क्षेत्र बनाये जाय और ग्राम-स्वराज्य की कल्पना को अमली जामा पहनाया जाय। जरूरत है कि हम जनता जनार्दन से एकरूप हों और उसीका आधार लें—किसी संस्था, सरकार, निधि या विशिष्ट व्यक्ति का नहीं। हम सबको मिलकर जनशक्ति जागृत करनी है।

तीसरे दिन, २८ ता० को श्री वल्लभस्वामी ने सम्मेलन का निवेदन पेश किया। इसमें बारह साल में देश में हुए काम का सिंहावलोकन किया गया। उसमें बताया गया है—

आजादी के बाद गांधीजी के भारत से जो अपेक्षा हुई थी यह पूरी नहीं हुई।... समाज व अर्थरचना में मूलभूत परिवर्तन का जो मौक़ा मिला था उससे देश फ़ायदा नहीं उठा पाया।

अंत में कहा गया :

“यह परिस्थिति जनता तथा सर्वोदय में श्रद्धा रखनेवाले सेवकों के लिए एक चुनौती है। हम मानते हैं कि सर्वोदय की राहपर चलकर इन सारी समस्याओं का हल निकल सकता है। भारत की जनता ने गांधीजी के नेतृत्व में बड़ी-बड़ी समस्याओं का सामना किया है। आज भी उस अपरिमेय पुरुषार्थ की संभावना जनता में

भरी पड़ी है। भूदान-ग्रामदान आंदोलन के दौरान में उसकी झांकी मिली है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत की जनता अपनी इस शक्ति को पहचान कर यदि पूर्णरूप से जाग उठे तो सर्वोदय समाज-रचना का वह स्वरूप प्रकट होगा जो मानव के इतिहास में अनोखा रहेगा तथा इससे विश्व-शान्ति और मानव के बीच मधुर सम्बन्धों की एक चिरस्थायी भूमिका का निर्माण होगा। इस शक्ति के आवाहन के लिए और इस नवजागरण के लिए जनता की सेवा में सर्वर्पण का संकल्प ही आज बापू के निर्वाण के बारहवें साल में हमारा पवित्रतम कर्त्तव्य है।”

इस निवेदन के पेश होने के बाद श्री शंकरराव देव का भाषण हुआ। छोटा-सा लेकिन सारगर्भित। उन्होंने कहा कि बारह वरस में देश को पूरा दर्शन हुआ। अब तक माना यह जाता था कि आर्थिक क्रांति बिना हिंसा या अपहरण के नहीं हो सकती। इस चुनौती को हमने स्वीकार किया है और अहिंसा और प्रेम द्वारा क्रांति की प्रक्रिया में लगे हैं।

इस बारह वरस में यह भी साफ़ जाहिर हो गया कि राजसत्ता के द्वारा न पुराने जीवन-मूल्य बदले जा सकते हैं और न नये स्थापित किये जा सकते हैं। सत्ता इस मौलिक परिवर्तन का साधन नहीं बन सकती। बापू ने सत्याग्रह का मार्ग बताया—दवाने के बजाय समझाना यानी शिक्षण और शिक्षण के बजाय प्रेम। विनोबाजी एक क़दम आगे बढ़कर कहते—प्रेम माने क्या? समर्पण। इसलिए हमारा कष्टना का स्रोत होना चाहिए। वह स्रोत प्रकट हो—यही हमारे कार्यक्रम का प्रगतियुक्त विज्ञान है।

सम्मेलन का समारोप करते हुए, आचार्य हरिहरदास ने कहा कि हमको स्नेह के आधार पर अपना काम करना चाहिए। स्नेह की शक्ति के द्वारा ही देश का नव-निर्माण होना चाहिए। उसीमें सबका हित और कल्याण है। आज जनतंत्र चलता है १०० में ५१ के बल पर, ५१ चलते हैं अपने में से २६ के बल पर। तो जिस तरह पास होने के लिए १०० में ३३ नम्बर काफ़ी होते, उसी तरह १०० में २६ जनतंत्र के लिए काफ़ी माने जाते। इसी कारण से अन्याय है, दुःख है, शोषण है। चाहिए तो १०० में पूरे

(शेष पृष्ठ १५३ पर)

समालोचनाएं

कसौटी पर

प्रियदर्शी अशोक : लेखक : श्री धूमकेतु; अनुवादक : श्री श्यामू संन्यासी; प्रकाशक : बोरॉ एण्ड कम्पनी, ३ राउण्ड बिल्डिंग, कालवादेवी रोड, बम्बई २; पृष्ठ-संख्या २४८; मूल्य रु० ४.५०।

श्री धूमकेतु गुजराती भाषा के लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार हैं। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। उनकी गुप्तकालीन उपन्यासमाला का यह आठवां पुष्प है। इसकी कथावस्तु का निर्माण भारतीय इतिहास के उज्ज्वल नक्षत्र सम्राट अशोक के उत्तरकालीन जीवन की घटनाओं के आधारपर हुआ है। तब सम्राट अशोक पूर्णतया बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ चुके थे और शांति, अहिंसा और प्रेम को राज्य की आधारभूत नीति बना चुके थे। लेखक ने इस उपन्यास के द्वारा यह प्रश्न खड़ा किया है कि क्या कोई राज्य केवल शांति और प्रेम की नीतिपर चलकर अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है और उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने दिखाया है कि सम्राट अशोक की शांति की नीति के अतिरेक ने किस प्रकार उनके साम्राज्य के लिए बाहरी और भीतरी खतरे उत्पन्न कर दिये थे और उसके विघटन का सूत्रपात कर दिया था। उपन्यास-लेखक का उत्तर यह है कि राज्य को शांति और उदार नीतिपर चलने के लिए भी शक्तिशाली होना चाहिए। शांति का पक्षपाती आगे होकर युद्ध न करे, किंतु युद्ध की मांग करनेवाले विरोधी तत्त्वों को दबाने की उसमें सामर्थ्य होनी चाहिए। इस उपन्यास में लेखक ने अशोक-कालीन भारत की झांकी प्रस्तुत की है। पाटलिपुत्र के आंखों को चूंधिया देनेवाले वैभव का वर्णन किया है। अशोक की महानताओं और दुर्बलताओं, दोनों का दर्शन कराया है। तिप्परक्षिता के रूप में उसने एक सवल नारी-पात्र की रचना की है। सौंदर्य और रूप-उसके सबसे शक्तिशाली अस्त्र हैं। वह उसके द्वारा अशोक को अपने इशारे पर नचाती है। युवराज

कुणालपर वह अनुरक्त होती है, किंतु जब धर्मभीरु और सदाचारी युवराज उसके आमंत्रण को अस्वीकार कर देता है तो उसका प्यार प्रतिहिंसा में बदल जाता है। वह षडयंत्र करके कुणाल को अंधा बना देती है। कुणाल की पितृ-भक्ति और क्षमा-भावना उसके चरित्र की महानता की द्योतक हैं। राजनीतिक दाव-पेंच, रोमांस और रहस्य से परिपूर्ण यह उपन्यास पाठकों के लिए पर्याप्त मनोरंजक सिद्ध होगा। अनुवाद अच्छा हुआ है।

घर की राह : लेखक : श्री इन्द्र वसावड़ा; प्रकाशक : बोरॉ एण्ड कम्पनी; पृष्ठ-संख्या : १०५; मूल्य रु० १.७५।

श्री वसावड़ा का यह प्रथम उपन्यास है। इसमें एक अनाथ अस्पृश्य बालक मन्नू के विपदापूर्ण जीवन का मर्म-स्पर्शी चित्रण हुआ है। अछूतों के प्रति जो तिरस्कार-भावना समाज में व्याप्त थी, उसका मन्नू को पग-पगपर कटु अनुभव करना पड़ता है। एक सहृदय डाक्टर उसे अपने परिवार में स्थान देते हैं। बच्चों में छुआछूत की भावना नहीं होती। डाक्टर के बच्चे मन्नू से स्नेह करते हैं, किंतु उसे घर छोड़ने को विवश होना पड़ता है। ईसाई मिशनरी उसे आश्रय देते हैं, उसके साथ सद्ब्यवहार भी करते हैं, किंतु धर्म-परिवर्तन की संभावना पर वह आश्रय भी उसे छोड़ देना पड़ता है। अंत में खादी कार्यकर्ता के आश्रय में उसका जीवन नया मोड़ लेता है। वह पढ़-लिखकर और अपनी परिचित लड़की के साथ प्रणयसूत्र में आवद्ध होकर अपने प्रथम उपकारकर्ता डाक्टर परिवार की खोज में निकलता है और उससे मिलकर अपने जीवन की धन्यता अनुभव करता है। उपन्यास-कला की दृष्टि से उसमें कुछ कमियां अवश्य नजर आती हैं, किंतु लेखक उसमें पर्याप्त रस का संचार करने में सफल हुए हैं।

जीवन-साहित्य

: १५२ :

जब भारत जागा : लेखक : श्री उमाशंकर शुक्ल; प्रकाशक : बोरा एण्ड कम्पनी, ३, राउण्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई २; पृष्ठ-संख्या १७४; मूल्य रु० ३.५०।

यह राजनीति की पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास उस युग की याद दिलाता है जब देश स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहा था। एक गुप्त क्रांतिकारी दल की गतिविधियों के आस-पास इसका कथानक गढ़ा गया है। उसमें रहस्य और रोमांस की पुट चढ़ाई गई है। पुलिस अधिकारी की लड़की नंदा को लेकर क्रांतिकारी दल के नेता गोपाल और उसके साथी वीरेश के बीच प्रेम-त्रिकोण उपस्थित करके मानसिक घात-प्रतिघात और द्वन्द्व को उभारा गया है। गोपाल का चरित्र उज्ज्वल और स्वाभाविक है जो क्रांतिकारियों की ख्याति के अनुरूप है। वीरेश एक दुर्बल पात्र है जो अपने प्रेम में हताश होकर पुलिस से जा मिलता है। उसका चरित्र कुछ अजीब और अस्वाभाविक-सा लगता है। उपन्यास में देहाती जीवन और पुलिस तथा उसके पिठुओं के हथकंडों का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। उपन्यास में यदि प्रौढ़ता और गहराई का थोड़ा और समावेश होता तो वह अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता।

—श्रीश

नवजीवन-प्रकाशन मन्दिर के प्रकाशन

१. ऐसे थे बापू : संग्राहक : श्री आर० के० प्रभु; अनुवादक : श्री रामनारायण चौधरी; पृष्ठ-संख्या १६०; मूल्य रु० १.७२।

२. गांधीचरितमानस : योजक : श्री बालजी गोविंदजी देसाई; अनुवादक : श्री काशिनाथ त्रिवेदी; पृष्ठ-संख्या ९४; मूल्य ५० न० पैसे।

३. गांधीजी के पावन प्रसंग : लेखक : श्री लल्लूभाई मकनजी; अनुवादक : श्री सोमेश्वर पुरोहित; पृष्ठ-संख्या ४८; मूल्य ३७ न० पैसे।

४. गीता का संदेश : लेखक : गांधीजी; संग्राहक : श्री आर० के० प्रभु; पृष्ठसंख्या ४४; मूल्य ३० न० पैसे।

ऐसे थे बापू में महात्मा गांधी से संबंधित एक-सौ पचास जीवन-प्रसंगों का संग्रह है, जो भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे लेखों तथा पत्रों आदि से लिये गए हैं। पुस्तक में जो

प्रसंग चुनकर दिये गए हैं, वे गांधीजी के जीवन के अनेक पहलुओं पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं, और सभी पढ़ने में अत्यंत रोचक, शिक्षाप्रद और प्रभावशाली हैं। गांधीजी के जीवन के संबंध में इनसे बड़ी अच्छी जानकारी मिलती है। पुस्तक की प्रस्तावना गांधीजी के अनुयायी और संग्राहक के मित्र भारत के प्रसिद्ध लेखक श्री काकासाहेब कालेलकर ने लिखी है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक गांधी-संबंधी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान पायेगी और हिंदी-जगत् में समादृत होगी।

गांधीचरितमानस में गांधीजी की आत्मकथा में से गांधीजी के जीवन का दक्षिण अफ्रीका की प्रथम यात्रा से लेकर भारत आकर पत्नी और बालकों के साथ पुनः दक्षिण अफ्रीका के लिए प्रस्थान करने तक का अंश संक्षिप्त करके दिया गया है। इसको योजक ने 'उद्योग कांड : आरंभ' नाम दिया है। इस अवधि की गांधीजी की जीवन-कथा उनके उद्योगी जीवन के आरंभ की कहानी होने के कारण अत्यंत रोचक है।

गांधीजी के जीवन के पावन प्रसंग नामक पुस्तक में बापू के जीवन के कुछ प्रसंग दिये हैं, जो जीवन और जगत् को पावन करनेवाले हैं। सभी प्रसंग गांधीजी के जीवनदर्शन को व्यक्त करनेवाले हैं। उनकी भाषा सरल और शैली प्रभावकारी है। पुस्तक सचित्र है।

गीता का संदेश पुस्तिका में गांधीजी के गीता-संबंधी बारह लेखों का संग्रह है। गांधीजी गीता के अनन्य भक्त तथा उसको अपने जीवन में उतारनेवाले थे। इसलिए उनकी लेखनी से लिखे ये लेख गीता-प्रेमियों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होंगे। इससे गीता का महत्व और उसका संदेश पाठकों को मालूम होंगे।

सभी पुस्तकें मोटे टाइप में अच्छे कागज पर मुद्रित और सस्ती हैं। अतः प्रौढ़ों, नवशिक्षितों तथा बालकों के लिए उपयोगी हैं।

१. स्वतंत्र भारत में प्रगति : प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली-८; पृष्ठ-संख्या २८; मूल्य तीस नये पैसे।

१. **बाढ़-नियंत्रण** : प्रकाशक : उपर्युक्त, सचित्र, पृष्ठ-संख्या ४०; मूल्य ६० न० पैसे।

पहली पुस्तक में स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के बारह वर्ष में भारत ने जो प्रगति की है, उसका वर्णन है। इससे भारत की बहुमुखी प्रगति की अच्छी जानकारी मिलती है। दूसरी पुस्तक में भारत में बाढ़ आने के कारण, हाल की बाढ़ों, उनकी रोकथाम के उपायों तथा बाढ़-नियंत्रण कार्य आदि का वर्णन है। भारत में बाढ़-नियंत्रण का कार्य बहुमुखी योजनाओं के द्वारा हो रहा है। पुस्तक में बाढ़-नियंत्रण-संबंधी कार्यों का सचित्र वर्णन है। दोनों पुस्तकें प्रौढ़, शिक्षितों तथा साधारण जानता के लिए उपयोगी हैं।

चिन्तन : रचयिता : श्री उदयचंद शर्मा; प्रकाशक : पं० वद्रीप्रसाद चौधरी; पृष्ठ-संख्या ३५; मूल्य डेढ़ रुपया।

यह इक्कीस वर्षीय कवि तथा बी० ए० के छात्र की छियालीस कविताओं का संग्रह है। कविताएं साधारण, कागज घटिया, प्रूफ पढ़ाई त्रुटिपूर्ण है और पुस्तक के अंत में दो शुद्धि-पत्र हैं। मूल्य भी अधिक है। ये सभी बातें पुस्तक को साधारण प्रमाणित करती हैं। श्री उदयचंद जी तथा दूसरे नये कवियों को पुस्तक प्रकाशित करने से पहले धीरज के साथ अपनी रचनाओं को संशोधित कराना तथा काव्य-रचना का अभ्यास करना चाहिए।

१. **जातक कहानियां** : लेखक : सर्वश्री वासुदेव गोस्वामी, प्रभुदयाल गोस्वामी; प्रकाशक : गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा; पृष्ठ-संख्या ३८, मूल्य रु० १.२५ न० पैसे।

२. **बुद्धदेव** : रचयिता : श्री वासुदेव गोस्वामी; प्रकाशक : साहित्य सदन, शेरोंवाली कोठी, आगरा; पृष्ठ-संख्या २८; मूल्य रु० १.२५ न० पैसे।

३. **करील-कुंज** : रचयिता : श्री वासुदेव गोस्वामी, गोस्वामी पुस्तक सदन, पारखजी का बाड़ा, लडकर (ग्वालियर); पृष्ठ-संख्या ८० + ७२; मूल्य एक रुपया।

श्री वासुदेव गोस्वामी हिंदी में कविता, इतिहास, निबंधों, कहानियों तथा इतिहास के प्रसिद्ध लेखक हैं। आपकी लेखनी से लिखी ये तीनों नई पुस्तकें हिंदी साहित्य को नई देन हैं। 'जातक कहानियां' महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की बारह कहानियां हैं, जो कि बालकों तथा नवशिक्षितों के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। बुद्धदेव एक लघु प्रबंध-काव्य है, जिसमें महात्मा बुद्ध की जीवनी कविता में वर्णन की गई है। पुस्तक की भाषा सरल तथा कवित्वपूर्ण है और पुस्तक बालकों, नवशिक्षितों तथा प्रौढ़ों के लिए अति उपयोगी है। ये दोनों सुन्दर पुस्तकें बड़े टाइप की तथा सचित्र हैं और अधिक-से-अधिक प्रचार-योग्य हैं। करील-कुंज श्री वासुदेव की ब्रजभाषा की अष्टाईस कविताओं का संग्रह है। ब्रजभाषा की कविता-रचना उन्हें विरासत में मिली है और ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा को आगे बढ़ाने का अदम्य विश्वास भी उनमें है। इसमें कवित्त, सवैया, दोहा, छंद, तथा पद आदि सभी हैं। भूमिका श्री विद्यानिवास मिश्र ने लिखी है। आशा है ब्रजभाषा के कविता प्रेमियों में इस पुस्तक का समुचित समादर होगा।

—सा० द० जैन

(पृष्ठ १५० का शेष)

१००—यानी सर्वसम्मति की बुनियादपर जनतंत्र की नींव खड़ी हो—तभी सुख-शान्ति का दर्शन होगा।

अंत में मौन प्रार्थना हुई और फिर राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सुप्रसिद्ध गीत—“नाविकेर गान”—हुआ। बंगला में भी, हिन्दी में भी। उसके कुछ पद ये हैं :—

पल पल हरदम, चंचल कर मन,
जुलम सितम से ना डरियो,

रुको ना, डरो ना, आगे ही बढ़ना,

हिम्मत से बढ़ जाइयो—

हाईयो हाईयो हाईयो।

इस गीत ने सबका दिल छू लिया। यह सचमुच सबके दिल की भावना को जाहिर कर रहा था। निर्भीकता के साथ नम्रतापूर्वक आगे बढ़ें और बापू के स्वप्नों को साकार करें—यह ध्वनि सर्वत्र गूंज रही थी और इस श्रद्धा को लेकर हम सब भक्तिभाव से विदा हुए।

हमारी राय

फिरा व कैरे ?

सही मार्ग

पिछले अंक में हमने सूचना दी थी कि विनोबाजी ने अब अपनी यात्रा-पद्धति बदल दी है। अब उनके महीनों आगे के कार्यक्रम नहीं बनते, न यह निश्चय होता है कि वह कहां-कहां जायंगे और न उनके साथ कोई बड़ी टोली ही रहती है। अब वह स्वयं दो-दो, तीन-तीन दिनका कार्यक्रम बना लेते हैं और इने-गिने व्यक्तियों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चुपचाप पहुंच जाते हैं। हाल ही में उन्होंने एक नया निश्चय और किया है और वह यह कि वह लाउड-स्पीकर का उपयोग नहीं करेंगे और न किसी शहर में पड़ाव डालेंगे। उनका कहना है कि पिछले आठ-नौ साल में उनकी बात दो करोड़ से अधिक व्यक्ति सुन चुके हैं। अब वे घर-घर जाकर लोगों से निकट सम्पर्क स्थापित करके, यह देखना चाहते हैं कि उन बातोंपर अमल हो रहा है या नहीं। यदि हो रहा है तो कितना ?

विनोबाजी द्रष्टा हैं। वह जहां वर्तमान को देख रहे हैं, वहां उनकी दृष्टि उस मंजिल पर भी पहुंच रही है, जिसपर भविष्य में गांधीजी अपने देश को ले जाना चाहते थे।

हम आज संक्रांतिकाल से गुजर रहे हैं। पुराने मूल्यों को चुनौती मिल रही है, पर नये मूल्य स्थापित नहीं हो रहे हैं। परिणाम यह है कि आज का मानव भटक रहा है। हम भारतवासियों की स्थिति तो और भी विषम हो रही है। देश के स्वतंत्र होने और सत्ता के हाथ में आने के बाद से हममें कुछ ऐसी कमजोरियां आ गई हैं, जो सत्ता के साथ प्रायः जुड़ी रहती हैं। हमारा मुंह पदों की ओर हो गया है और सेवा हमारे लिए गौण हो गई है। हम छोटे-छोटे स्वार्थों को साध रहे हैं और देश-हित को जाने-अनजाने क्षति पहुंचा रहे हैं। इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर आज कितने हैं, जो आज के प्रलोभनों से विमुख होकर निस्स्वार्थ भाव से लोकहित के कठिन मार्गपर चल रहे हैं।

आज देश में एक अजीब-सी बेचैनी दिखाई दे रही है। जिस कांग्रेस ने बड़े-से-बड़े बलिदान करके देश को विदेशी सत्ता से मुक्त किया था, वह स्वतंत्र कार्यक्रम के अभाव में निष्क्रिय-सी दिखाई दे रही है और उसका प्रभाव तथा प्रतिष्ठा बड़ी तेजी से घट रही है। उसका मुख्य प्रयोजन चुनाव लड़ना रह गया है। वह आज सत्तात्मक राजनीति का क्षेत्र बन रही है। हम यह नहीं कहते कि चुनावों का लड़ना आवश्यक नहीं है और उससे बचना चाहिए; लेकिन हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि कांग्रेस की समूची शक्ति केवल इसी काम में नहीं लगनी चाहिए। आज दुर्भाग्य से यही हो रहा है। जन-सामान्य पर आर्थिक भार बराबर बढ़ रहा है। अंतर्राष्ट्रीय स्थिति जटिल हो रही है। काश्मीर की समस्या करोड़ों रुपये प्रति वर्ष खा रही है और अब चीन से उल्लंघन शुरू हो गई है।

ये सब इस बात की चेतावनी हैं कि हमें अपने घर की मजबूती पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। विनोबाजी का लक्ष्य यही है और उनका सारा प्रयत्न इसी दिशा में हो रहा है।

गांधीजी ने कहा था कि देश की बुनियाद हमारे नैतिक आचरण की ऊंचाई से पक्की होगी और इसलिए उन्होंने राजनीति को भी नीति की भित्ति पर खड़ा किया। आज यही बात विनोबाजी कह रहे हैं। सच बात यह है कि हमारी बड़ी-बड़ी योजनाएं निष्फल होंगी, यदि हम नीति के मार्ग से हट गये। इसलिए सबसे मुख्य समस्या आज यह है कि हम छोटा-बड़ा जो भी कार्य करें, उसके लिए नैतिकता की कसीटी अनिवार्य रूप से सामने रखें। यदि हमारा नैतिक धरातल ऊंचा हो गया तो आज की अधिकांश समस्याएं स्वतः ही हल हो जायंगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विनोबाजी सही रास्ते पर चल रहे हैं। उनका काम सतह पर भले ही दिखाई न दे, पर वह निश्चय ही नींव का काम है।

न्या व कैसे ?

: १५५ :

हमारी राय

समय आ गया है कि हम उनके विचारों को आगे बढ़ावें और उनके कार्य में सक्रिय योग दें। जरूरी नहीं कि अपना काम छोड़कर सब भूदान में लग जायें, लेकिन जो भी काम हमारे हाथ में हो उसमें नैतिकता का पूरा-पूरा ध्यान रखें। इस प्रकार सभी क्षेत्रों में नीति का समावेश होजाने पर गंदगी को टिकने का अवसर नहीं रह जायगा। अंधेरा उजाले के अभाव में ही टिकता है।

शिक्षा में आमूल परिवर्तन चाहिए

विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता आज देश के लिए एक भारी समस्या बन गई है और उसे सुलझाने के लिए जितने प्रयत्न किये जा रहे हैं, उनसे सुलझने के बजाय यह और उलझती जा रही है। स्कूलों, कालेजों और विश्व-विद्यालयों के उपद्रवों के अतिरिक्त सार्वजनिक जीवन में छात्रों की अनुशासनहीनता बराबर बढ़ रही है। छोटी उम्र में खुले आम धूम्रपान, वसों में अशोभनीय व्यवहार, सड़कों-पर चलते हुए गंदे मजाक; इन तथा ऐसी ही बातों को हम रोज अपनी आंखों से देखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों उच्छृंखलता युवकों के जीवन का नियम बन गई है।

हम कई बार लिख चुके हैं कि इस समस्या का इलाज वह नहीं है, जो किया जा रहा है। इस रोग की जड़ें इतनी गहरी हैं कि ऊपर से मरहम लगाकर उन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता। आयेदिन की घटनाएं हमारी इस धारणा को और भी पुष्ट कर रही हैं।

हमारी निश्चित राय है कि शिक्षा की वर्तमान प्रणाली निरर्थक है। वह छात्रों को जीवन-निर्माण की कोई भी प्रेरणा या शिक्षण नहीं देती, उल्टे उनके कच्चे मनपर विधा-तक संस्कार डालती है। जबतक हमारे शासक और शिक्षा-धिकारी शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन नहीं करेंगे तबतक यह समस्या कदापि नहीं सुलझ सकती।

युवकों की वृत्ति सृजनात्मक होती है, लेकिन इसके लिए आज की शिक्षा-प्रणाली में अवकाश नहीं है। नतीजा यह कि उनकी वह शक्ति गलत स्रोतों में प्रवाहित होने लगती है। अतः आवश्यक है कि हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी हो, जिसमें छात्रों की सृजनात्मक और क्रियात्मक शक्तियों का पूरा उपयोग हो सके।

दूसरी बुनियादी बात है आज का राजनैतिक वायुमंडल।

उसकी गंदगी छात्रोंपर भी गहरा प्रभाव डालती है, बल्कि हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि हमारे राजनैतिक दल अपना मतलब सीधा करने के लिए प्रायः छात्रों को सत्ता-त्मक राजनीति के दल-दल में खींच लेते हैं।

यदि हम चाहते हैं कि हमारे युवकों के चरित्र का निर्माण हो, वे स्वतंत्र देश के जिम्मेदार नागरिक बनें और देश के निर्माण में अपना योगदान दें तो इस समस्या पर हमें बुनियादी रूप में विचार करके उसका हल निकालना होगा। युवकों में अपरिमित शक्ति और कार्य-क्षमता होती है; किन्तु उसका लाभ तभी मिल सकता है, जबकि उसका उपयोग सही दिशा में हो।

किसी विदेशी शिक्षाधिकारी ने कुछ दिन पहले ठीक ही कहा था कि यदि छात्रों की पढ़ाई उनका पूरा समय नहीं ले पाती तो वे खाली समय को ऊलजलूल बातों में लगाते हैं। उनका कहना था कि इंग्लैंड में कभी छात्रों की हड़ताल नहीं हुई, उसका कारण यह है कि उनपर पढ़ाई का इतना भार रहता है कि के खुराफातों के लिए वे समय ही नहीं निकाल सकते।

जो हो, यह मामला अब चरम सीमा पर पहुंच गया है और युग की मांग है कि अब इसकी अधिक उपेक्षा न की जाय।

हम शिक्षाधिकारियों और शिक्षा-शास्त्रियों से अनुरोध करेंगे कि वे वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में देश, काल और परि-स्थितियों के अनुसार आमूल परिवर्तन करें और ऐसी पद्धति देश को दें, जो छात्रों का सही विकास करे और उन्हें उस दायित्व के लिए तैयार करे, जो भविष्य में उनके कंधोंपर पड़नेवाला है।

निन्दनीय कार्य

होली हंसी-मजाक का त्यौहार है, पर हंसी-मजाक की भी मर्यादा होती है। इस बार होली पर किसी व्यक्ति ने एक ऐसा मजाक किया है, जिसकी हम तीव्रतम शब्दों में निन्दा करते हैं। होली के अगले दिन दफ्तर के पते पर हमें एक ऐसा निमंत्रण-पत्र मिला जिसमें दो व्यक्तियों के विवाह की सूचना थी। निमंत्रण-पत्र बाकायदा छपा हुआ था और उसमें लड़के-लड़की के नाम, उनके पते-ठिकाने, सब सही दिये गये थे। बरात के प्रस्थान, आगमन, विवाह-विधि के

संपन्न होने का समय आदि इस ढंग से दिये गये थे कि उनकी सत्यता के बारे में किसीको भी संदेह नहीं हो सकता था। लड़का दिल्ली का तरुण लेखक है और लड़की एक शिक्षा-संस्था की संचालिका है। निमंत्रण-पत्र लड़के के पिता के नाम से छापा गया था और उसे दिल्ली के साहित्यकारों को ही नहीं, बाहर के लोगों को भी भेजा गया था, जैसा कि लड़के को प्राप्त वधाइयों से मालूम होता है।

अब जरा कल्पना कीजिये कि दो व्यक्तियों के साथ इस मजाक से कितना भारी अन्याय हुआ है। इसे मजाक कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि मजाक तो वह होता है, जो दिल को गुदगुदाता है। यह तो एक दूषित कार्य है, जो गहरी चोट करता है और इसका प्रयोजन जान-बूझकर दो व्यक्तियों को गिराने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। पाठक जानते हैं कि हमारे समाज में लड़कियों की स्थिति कितनी नाजुक होती है और जरा-सी बातपर उनके लिए कितनी उलझन पैदा हो जाती है।

इस प्रकार का अशोभनीय दुष्कर्म उसके कर्त्ता की अकुलीनता का द्योतक है और उसकी हर प्रकार से भर्त्सना होनी चाहिए। इतना ही नहीं, जिस किसीने यह काम किया है, उसका पता लगाकर उससे सार्वजनिक रूप से खेद प्रकाशन कराना चाहिए।

चौकानेवाले ग्रांकडे

हाल ही में पत्रों में प्रकाशित एक समाचार से कुछ बड़े ही चौकानेवाले तथ्य सामने आये हैं। समाचार में बताया गया है कि भारत की राजधानी दिल्ली के नागरिक जिन खाद्य-वस्तुओं को रोज इस्तेमाल करते हैं, उनमें किस हद तक मिलावट हो रही है। मसालों में जीरा सब खाते हैं। उसमें एक प्रकार की घास को छोटे-छोटे टुकड़े करके, सुखाकर मिलाया जा रहा है। दूध में औसतन ४९%, दही में ३९% खोये में २९%, आइसक्रीम में ३१% और खुली चाय में १६% मिलावट पाई गई है। इतना ही नहीं, दिल्ली काँपेरिशन के स्कैंड ने चाय के ५९ बोरे और ९ बक्से ऐसे पकड़े हैं, जिनमें चाय में पेड़ों की छाल और पत्तियाँ मिली हुई हैं।

काश्मीर में जितनी केसर पैदा होती है, उससे कहीं

ज्यादा परिमाण में नई दिल्ली के बाजारों में विक रही है। सिविल लाइंस में एक ऐसे कारखाने का पता लगा है, जो जूट के रेशों और रंगीन आटे से बनावटी केसर तैयार करता है।

शहद में खुले आम चीनी की चाशनी पाई जाती है और मक्खन में ४५% रंगीन वनस्पति घी की मिलावट। गेहूँ के आटे, मँदा और सूजी में १५% मिलावट मिली है।

मसालों में तो हद हो गई है। अकेले मिर्चों में १७% रेत मिला पकड़ा गया है।

ये तो कुछ ही नमूने हैं। खाने-पीने की शायद ही कोई चीज हो जो शुद्ध मिलती हो।

इसके लिए जिम्मेदार कौन है? काँपेरिशन के अधिकारी कहते हैं कि दुकानदारों का नैतिक स्तर इतना गिर गया है कि उन्हें रोकना हमारे लिए असंभव है। यही बात केंद्र के स्वास्थ्य मंत्री कहते हैं।

उनकी इस बात में सचाई है और बहुत बड़ी सचाई है कि लोगों का नैतिक स्तर गिर गया है। लेकिन इससे वे अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते। जिनपर सार्वजनिक स्वास्थ्य के संरक्षण का दायित्व है, वे यह कहकर कैसे बच सकते हैं कि हम क्या करें, लोग बेईमान हो गये हैं। हमें इसमें शासन-तंत्र की निर्बलता और अयोग्यता दिखाई देती है।

खाने की चीजों का अमीर-गरीब सबके साथ संबंध आता है और डाक्टरों की निश्चित राय है कि जिस प्रकार की चीजें मिल रही हैं, अर्थात् ईंटों के रेतें, पीली मिट्टी, जूट के रेशे आदि की मिलावट की, उनसे अंतर्द्वियों के रोग पैदा हो सकते हैं। इस प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्य जब खतरे में पड़ रहा है तो अधिकारी अपनी विवशता दिखाकर अपनी जिम्मेदारी से कैसे बरी हो सकते हैं !

हम काँपेरिशन तथा भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय से अनुरोध करते हैं कि वे इस ओर तत्काल ध्यान दें और मिलावट करनेवालों को भारी-से-भारी दण्ड देकर इस विधा-तक कुप्रवृत्ति को रोकें। अगर इस समस्या का जल्दी ही हल न किया गया और लाखों आदमी बीमार पड़े तो फिर संभालना मुश्किल हो जायगा।

‘मंडल’ की ओर से

हाल ही में प्रकाशित कुछ नई पुस्तकें

‘राजाजी की लघुकथाएं’ में २६ कहानियों का संग्रह है। कहानियां छोटी-छोटी हैं, पर इतनी रोचक, मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं कि छोटे-बड़े सबको पढ़ने में आनंद आता है। पुस्तक की छपाई दो रंग में है। बढ़िया कागज, आकर्षक आवरण, सुन्दर छपाई, मूल्य केवल डेढ़ रुपया।

यशपाल जैन की ‘रूस में छियालीस दिन’ में रूस की यात्रा का बड़ा ही सजीव और विविध विषयों की जानकारी-युक्त वर्णन है। २२४ पृष्ठ की सामग्री, १६ पृष्ठ के आर्ट पेपर पर अनेक चित्र, मोटी जिल्द, बढ़िया कवर, मूल्य केवल ३)।

‘मानव-अधिकार’ : विष्णु प्रभाकर तथा राजदेव त्रिपाठी लिखित इस पुस्तक में बताया गया है कि मनुष्य के जीवन में उसके अधिकारों का कितना मूल्य है और उसके लिए संसार में कितना संघर्ष हुआ है और आज हो रहा है। अनेक चित्रों से युक्त इस पुस्तक का मूल्य केवल १) है।

‘मनुष्य का बचपन’ देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय की ‘मानव की कहानी’—माला की चौथी पुस्तक है। पहली तीन थीं : पृथ्वी बनी, जीव आया, मनुष्य जन्मा। यह पुस्तक बड़े रोचक ढंग से मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था की कहानी बताती है। दो रंग की छपाई, बीसियों चित्र, सुन्दर आवरण, मूल्य केवल एक रुपया।

हमारी बाल-साहित्य-माला में छः बड़ी मूल्यवान् पुस्तकें निकली हैं। १. जब दीदी भूत बनीं—इसमें विष्णु-प्रभाकर की साहस और निर्भीकता से संबंधित सुन्दर कहानियां हैं। २. ‘मूरखों की दुनिया’—नारायणदत्त पांडे ने इसमें बड़ी ही मनोरंजक कहानियां दी हैं। ३. ‘दुनिया के अचरज’ में मुरारिलाल शर्मा ने संसार की अनेक प्रसिद्ध वस्तुओं की ज्ञानवर्द्धक जानकारी दी है। ४. ‘भालू बोला’ में राधेश्याम जीगन ने भालू के मुंह से उसकी कहानी कहलवाई है। ५. ‘सेवा करे सो मेवा पावे’ में यशपाल जैन की कुछ

बालोपयोगी कहानियां हैं, ६. ‘बहादुरी का भूत’—इसमें विश्वनाथ गुप्त ने अंग्रेजी की लोकप्रिय पुस्तक ‘डान विंगजट’ का भावानुवाद दिया है। कहानी बड़ी ही मनोरंजक है।

इनके अलावा सातवीं पुस्तक तैयार हो रही है ‘जड़-जगत् की कहानियां’ जिसमें नंदलाल जैन ने कागज, कोयला, चमड़ा आदि की कहानियां उन्हींके मुंह से कहलवाई हैं। ये सभी पुस्तकें मनोरंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हैं।

पुनर्मुद्रण

जवाहरलाल नेहरू की ‘हिन्दुस्तान की कहानी’ सम्पूर्ण रूप में निकल गई है। सुन्दर छपाई, पक्की जिल्द, मूल्य केवल ८)।

‘बापू की कारावास-कहानी’ डा० सुशीला नैयर की ऐतिहासिक कृति है, जिसमें गांधीजी के, आगा खां महल में इक्कीस मास की नजरबंदी की दैनिक डायरी है। मूल्य केवल ८)।

प्रेस में

नेहरू की ‘कुछ पुरानी चिट्ठियां’ बड़े ही महत्त्वपूर्ण पत्रों का संग्रह है।

‘इतिहास के महापुरुष’ में अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के नेहरूजी द्वारा लिखे संस्मरण हैं।

‘सुभाषित-सप्तशती’ में डा० मंगलदेव शास्त्री ने दैनिक स्वाध्याय के लिए प्राचीन ग्रंथों से चुनकर विचार-रत्न दिये हैं।

‘बंगला-साहित्य-दर्शन’ में मन्मथनाथ गुप्त ने बंगला साहित्य के विकास का इतिहास दिया है।

‘विनोबा के जंगम विद्यापीठ में’—इस पुस्तक में विनोबा के निकट व्यक्ति कुंदर दिवाण ने विनोबाजी के साथ की अनेक महत्त्वपूर्ण चर्चाएं तथा संस्मरण दिये हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक नई-पुरानी पुस्तकें तैयार हो रही हैं। विस्तृत जानकारी के लिए लिखिये और इनकी मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से कीजिये।

—मंत्री

सफल जीवन की कुंजी

हरेक व्यक्ति यह चाहता है कि उस का भविष्य उज्ज्वल और सुखद हो। पर जीवन में सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि आप अपने व्यवसाय या कार्य का ठीक चुनाव करें। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार जीविका अपनाने पर आप उन्नति कर सकते हैं और आगे बढ़ सकते हैं।

निम्न पुस्तिकाएं ठीक जीविका चुनने में आपकी सहायक हो सकती हैं :-

"आपना व्यवसाय चुनिये"

हिनो और प्रपेजी में प्राप्य:

दवा बनाने वाला
टीका लगाने वाला
गणई प्रिंटर
नमूने बनाने वाला
बोर्डर काटने वाला
मेकअप (एकॉउंटेंट)
मिनिंग इंजीनियर
मजदूर (मेक. इंजी.)
मशीनिस्ट
मोटरकार ड्राइवर
बोर्डरमेन (मिनिंग इंजीनियर)
मजदूर (मिनिंग इंजी.)
बोर्डर मिनिंग
समाचारिका पाठ्यक्रम
बाजार में
सहकारी पर्यवेक्षक
सामाजिक इंजीनियर
मनन इंजीनियर
मशीन इंजीनियर
विमान इंजीनियर
घाटीबोर्डर इंजीनियर
घाटी बालिक
सर्वेक्षक
गोबर
पंचाल-मिश्र
सामिक इंजीनियर
पावर

विजयी इंजीनियर
टेनो-कम्प्यूटेशन इंजीनियर
विस्तार प्रिंटर (उद्योग)
संस्कार विज्ञान
सांख्यिक योजना के व्यवसाय
सर्व प्रिंटर
कास्ट एकाउंटेंट
टैक्स
कम्पोज़िटर
केवल जोइन्टर
घोट मेंटन बर्कर
बनारस बच मिटर
मशीन पावर
भूगर्भ शास्त्री
विश्व-पुस्तक
कार्यिक विज्ञान-व्यवसायक

केवल प्रपेजी में

मेकर
रेडियोकार
मेरीनस मेकोरेटरी टेक्नोलॉजिस्ट
होर्निकरॉलिट
एयर होल्डर
रिक्ले बर्कर
विज्ञान

प्राप्ति स्थान :

आपके यहां के रोजगार दफ्तर
और
भारत सरकार के पुस्तक विक्रेता

पुनःस्थापन और नियोजन महानिदेशालय,
श्रम व नियोजन मंत्रालय, भारत सरकार,
द्वारा प्रसारित

DA 59/527

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

पुस्तक जगत

(मासिक)

* 'प्रकाशन कला', 'भारत भारती', 'विश्व भारती', 'कसौटी' और 'वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण' आदि सुगठित स्तम्भों में विशिष्ट साहित्यकारों की विवेचना।

* विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन।

* प्रकाशक, लेखक, पाठक और विक्रेता का सम्मिलित मंच।

मूल्य : वार्षिक—३)

अंक २५ न० ५०

'पुस्तक जगत', ज्ञानपीठ, पटना—४

साहित्यिक सांस्कृतिक कलात्मक मासिक

राष्ट्रवाणी

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे द्वारा प्रकाशित यह मासिक पत्रिका हिंदी की सम्मानित मासिक पत्रिकाओं में अपना एक विशेष स्थान रखती है। हिंदी, मराठी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों का सहयोग इसके लिए प्राप्त है। भारतीय भाषाओं के साहित्य के नवीनतम अंतः-प्रवाहों का प्रतिबिम्ब इसमें पाया जाता है। ग्रंथालयों, विद्यालयों, कॉलेजों और साहित्यिक संस्थाओं के लिए अत्यंत उपयुक्त।

किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं। हर महीने की पहली तारीख को अंक प्रकाशित होता है।

[सालाना चंदा चार रुपये]

'राष्ट्रवाणी' में विज्ञापन देना लाभप्रद है।

राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ

पो. बाँ. ५६०, पुणे २.

सबसे सस्ता और सुन्दर सचित्र मासिक

जागृति

संस्थापित १९४८

चौरंगा आवरण अनेकों इकरंगे चित्र
५६ पृष्ठ की सम्पूर्ण छपाई आर्ट पेपर्स पर
इसपर भी मूल्य केवल २५ नये पैसे
अप्रैल अंक के मुख्य आकर्षण.

हरकू हौलदार (आंचलिक कथा) 'शैलेश' मटियानी।
चमत्कुमारी (हास्य कथा)—परशुराम। खंडहर
(समस्या-एकांकी)—सत्येन्द्र शर्मा। सुख का स्रोत
(ऐतिहासिक एकांकी)—रामचन्द्र महेन्द्र। तुम्हारी
आंखों में तब और अब (मुक्त छन्द)—बच्चन। बच्चा
मर जायगा। (व्यंग्य) श्री चिरंजीव शर्मा। आदि।

एजेंटों को ५ से १०० प्रतिशत पर २५ प्रतिशत
और इससे ज्यादा पर ३३ १/३ प्रतिशत कमीशन दिया
जाता है। डाक-खर्च प्रकाशकों के जिम्मे। नमूने की
प्रति के लिए आज ही लिखें।

सम्पादक हिन्दी

लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब, चंडीगढ़

युगप्रभात

केरल का हिन्दी पाक्षिक

भावात्मक एकता भौगोलिक एकता की गारंटी
है और 'युगप्रभात' पिछले ३ सालों से भारत की
भावात्मक एकता को बढ़ावा देनेवाली विविध रच-
नाओं को, जिनमें दक्षिण की चार मुख्य भाषाओं से
अनूदित सामग्री की प्रधानता है, प्रकाशित कर हिन्दी
को भारतीय प्रतिनिधि भाषा बनाने की निरंतर चेष्टा
कर रहा है। नवम्बर से 'युगप्रभात' का चौथा साल
शुरू हो रहा है। एक प्रति का दाम २५ नये पैसे।

वार्षिक चन्दा ६ रुपये

छमाही तीन रुपये

एजेंसी के लिए लिखें—

मैनेजर—

युगप्रभात

कालिकट (केरल)

मिलन और सृजन के नये धरातल पर
मित्रों की उपलब्धि तथा मित्रता के गहरे
प्रयोग एवं निर्वाह के लिए

मैत्री क्लब

भारत के सभी कोनों से आकृष्ट सहृदय, सम्भ्रान्त वर्ग
के पुरुषों एवं महिलाओं के एक बड़े मित्र-परिवार में
आपको भी निमन्त्रित करता है।

साधन और आकर्षण

★ मैत्रीक्लब बुलेटिन

सदस्यों के व्यक्तित्व, रुचियों और उनके मन की
आवश्यकताओं का परिचय देने वाला त्रैमासिक पत्र

★ मिलन शिविर (कैम्पस)

प्रत्यक्ष मिलन और मित्रों के चयन के लिए
मासिक, अर्द्धवार्षिक और वार्षिक

★ पत्र-मैत्री की नई प्रेरणाएं

★ आपके स्नेह, सौन्दर्य और सृजन-

सामर्थ्य के लिए नई भूमिकाएं

संक्षिप्त विवरण के लिए आज ही एक कार्ड लिखें :

संयोजक, मैत्रीक्लब

कैलास, पोस्ट--कैलास (आगरा)

संगवाइये : ग्राहक बनिये !

बालकथाओं का नवीन पत्र --

हिन्दी ज्ञानदूत

प्रतिमास पहली तारीख को प्रकाशित

सम्पादक--भानुकुमार जैन

सहायक सम्पादक--बलवंतसिंह गौर

वार्षिक ४ रु० ८० न. पै.

एक प्रति का ००-८० न. पै.

पता --

११ होमजी स्ट्रीट,
बम्बई-१

सम्पदा

उद्योग • व्यापार • कृषि और खाद्य
बैंक व बीमा • श्रम-कल्याण • पंच-
वर्षीय योजनाएं

देश की अर्थनीति को प्रभावित करने वाली
स्वतंत्र विचारों की हिन्दी मासिक पत्रिका।

छात्रों और शिक्षण-संस्थाओं के लिए
अनिवार्य !

वार्षिक ८) ; शिक्षण संस्थाओं से ७)

आशा है, आपने 'सम्पदा' देखी होगी। यदि
नहीं, तो नमूना मंगाने के लिए ७५ न. पै. के
डाक टिकट भेजना आवश्यक है; किन्तु इस
विज्ञापन का कटिंग नमूने के आवेदन के साथ
भेजने पर एक प्रति निःशुल्क भेजी जायगी।

अशोक प्रकाशन मन्दिर

२८/११ बक्षिनगर, दिल्ली-६

‘आर्थिक-समीक्षा’

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनीतिक
अनुसंधान विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान सम्पादक :

श्री सादिक अली

सम्पादक :

सुनील गुहा

१६ जनवरी १९६० को बृहदाकार

‘बंगलौर कांग्रेस अधिवेशन
विशेषांक’

प्रकाशित हो रहा है।

नेताओं एवं विशेषज्ञों के विद्वत्तापूर्ण लेखों
से ओत-प्रोत

वार्षिक चंदा ७) रु० एक प्रति का ३० नये पैसे

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,

७, जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली

‘मंडल’ के प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

प्रकाश की बातें : ब्रह्मानन्द गुप्त व नरेशवेदी :
पृष्ठ ४४ मूल्य १.५०

‘प्रकाश की बातें’ पुस्तक में प्रकाश के संबन्ध में जानकारी दी गई है। प्रकाश अर्थात् उजाले को यों तो सामान्य रूप से सभी जानते हैं पर इस पुस्तक में इस ढंग से उसके रूपों और रंगों के बारे में विस्तृत तथा सरल ज्ञान कराया गया है, मानों पाठक एक कहानी पढ़ रहे हैं। प्रकाश कैसे चलता है, इतने रंग हमें कैसे दीख पड़ते हैं, आदि बातों का परिचय हमें इस पुस्तक से सहज में प्राप्त हो सकता है। भाषा रोचक और आसान है। —प्रौढ़ शिक्षा, दिल्ली

समुद्र के जीव-जन्तु : सुरेशसिंह, पृष्ठ ४८;
मूल्य १.५०

‘समुद्र के जीव-जन्तु’ में समुद्र में रहनेवाले जीव-जन्तुओं का परिचय कराया गया है। अनेक जीव-जन्तु तो पाठकों के लिए इतने विचित्र होंगे कि उनके बारे में जानकारी पाकर उन्हें आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। पुस्तक में समुद्रों के निर्माण, उनमें जीवों के जन्म व विकास आदि पर भी रोचकता के साथ प्रकाश डाला गया है।

—हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

कथा सरित्सागर : सोमदेव; रूपान्तरकार :
गोपालकृष्ण कौल, पृष्ठ ५४३ मूल्य रु० ६.०० सजिल्द
हमारे प्राचीन साहित्य का हिन्दी में जोरों से अनुवाद हो रहा है, यह बहुत ही खुशी की बात है। ‘कथा-सरित्सागर’ हमारे साहित्य की एक अनमोल निधि है।

—योजना, दिल्ली

दशरथ-नन्दन श्रीराम : चक्रवर्ती राजगोपाला-
चार्य, पृ० ४३६, मूल्य रु० ५.००

प्रस्तुत पुस्तक का मूलाधार वाल्मीकि की रामायण है, शैली एकदम आधुनिक गद्य की है। भाषा प्रवाहमयी। हिन्दी अनुवाद राजाजी की सुपुत्री श्रीमती

लक्ष्मी गांधी ने किया है। इस अनुवाद की सफलता के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पढ़ते समय पाठक को यह मालूम ही नहीं होता कि वह मूल रचना पढ़ रहा है या अनुवाद। —सेनानी, बीकानेर

आंसू और मुस्कान : खलील जिब्रान, पृ० १८४,
मूल्य १.५०

‘आंसू और मुस्कान’ उनकी सबसे पहली और सबसे प्रसिद्ध कृतियों में है। विद्वान् भाषा के बनी हैं और भावों के सागर में पैठे हैं। जीवन के विविध-पहलुओं का उन्होंने बारीकी से अध्ययन किया है और उसी भावपूर्ण आत्मानुभव को उन्होंने इसमें प्रस्तुत किया है। पाठकों को इस पुस्तक की पंक्ति-पंक्ति में सत्य की, सौन्दर्य की, प्रेम की और परमात्मा की झलकें मिलेंगी। —नवभारत टाइम्स, दिल्ली

अमृत की बूँदें : आनन्दकुमार पृ० १७६,
मूल्य १.००

भारतीय वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों, सन्त-मनीषियों, चिन्तकों एवं विद्वानों के विचारों का मन्थन करके चुने हुए सुभाषितों को संगृहीत किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से सारी सामग्री को ४५ विषयों में विभक्त करके विचारों को और भी सुबोध तथा ग्राह्य बना दिया गया है।

—प्रकाशन समाचार, दिल्ली

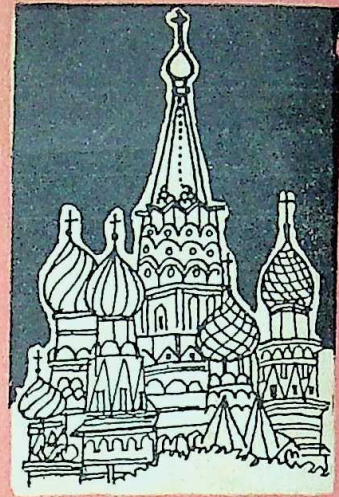
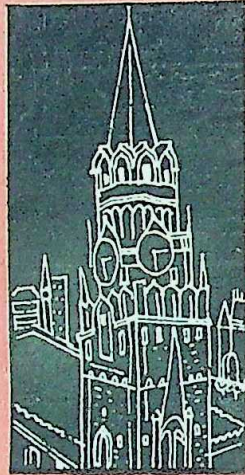
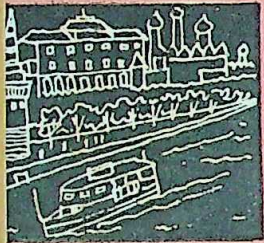
खेती के साधन : नारायण दुलीचन्द व्यास,
पृ० १९६, मूल्य १.२५

इस पुस्तक में खेती के सारे साधनों का परिचय देनेकी कोशिश की गई है। पुस्तक के विषय को दो भागों में विभाजित किया गया है—प्राकृतिक साधन और मनुष्य-कृत साधन। दोनों प्रकार के साधनों पर पुस्तक में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है, चित्रों की सहायता से विषय को रोचक और सुगम बनाने का प्रयास सराहनीय है। —खेती, दिल्ली

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

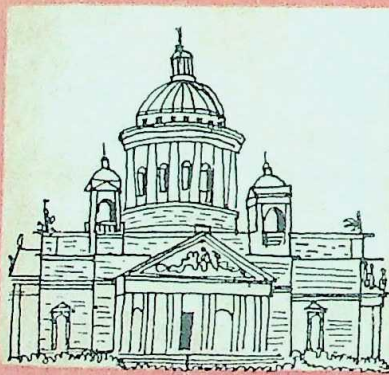
५२१५११५५

रुस .
में
हियालीस
दिन



रुस में हियालीस दिन

यात्रा
साहित्य
की
मूल्यवान
कृति



सरुता साहित्य मंडल प्रकाशन

इस पुस्तक में रुस के प्रवास का बड़ा ही सजीव, रोचक तथा ज्ञान-वर्द्धक वृत्तान्त है। सुन्दर छपाई, बढ़िया आवरण, पृष्ठ २२४। १६ पृष्ठ के आर्ट पेपर पर चित्र। मूल्य केवल तीन रुपये।

सत्साहित्य
प्रकाशन

मई १९६०

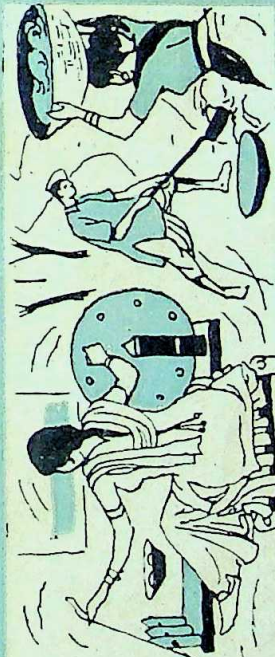
जीवन

साहित्य

सम्पादक

हरिभाऊ उपाध्याय

यशपाल जैन



“मन का मनका फेर”

माला तो कर में फिरै,
जीभ फिरै मुख मांहि ।
मनुवां तो चहुंदिसि फिरै,
यह तो सुमिरन नांहि ॥
माला फेरत जुग गया,
फिरा न मन का फेर ।
कर का मनका डारि दे,
मन का मनका फेर ।

—कबीर

अहिंसक

वर्ष : इक्कोस

अंक : पांच

नवरचना का मासिक

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

एक प्रति का : चालीस नये पैसे

विषय-सूची

- | | |
|---|--|
| १. बुद्धि स्वातंत्र्य के लिए शासन-मुक्त शिक्षा जरूरी
—विनोबा १६१ | ७. विलक्षण 'भिखारी' जमनालाल बजाज
—शातवाहन १७३ |
| २. युग पुरुष
—गौरीशंकर द्विवेदी १६४ | ८. गांधीवाद में अध्यात्म—गंगाप्रसाद विमल १७५ |
| ३. क्रोध आदि वृत्तियों पर विजय
—श्रीअरविन्द १६५ | ९. हम अपनी सीमाओं को पहचानें
—रामकिशोर 'पाषाण' १७८ |
| ४. मूल्यांकन बदल गया है
—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार १६८ | १०. शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न
—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' १८० |
| ५. संस्कृत संस्कृति की झांकी
—काका कालेलकर १७० | ११. मृत्यु और जीवन
—जेम्स ऐलन १८३ |
| ६. हातिमताई से बड़ा
—बाबूलाल कोठारी १७२ | १२. कसौटी पर
—समालोचनाएं १८८ |
| | १३. क्या व कैसे ?
—संपादकीय १९१ |
| | १४. 'मंडल' की ओर से
—मंत्री १९६ |

हमारे नवीन प्रकाशन

- | | |
|--|---|
| राजाजी की लघु कथाएं (कहानियां)
राजगोपालाचार्य १.५० | कोई शिकायत नहीं (संस्मरण) कृष्णा हठीसिंग २.५० |
| रूस में छियालीस दिन (यात्रा) यशपाल जैन ३.०० | मानव-अधिकार (इतिहास)
विष्णु प्रभाकर : राजदेव त्रिपाठी १.०० |
| मनुष्य का बचपन (मानव की कहानी) देवीप्रसाद
चट्टोपाध्याय १.०० | शारदीया (नाटक) जगदीशचंद्र माथुर १.५० |
| बाल साहित्य | |
| जब दीदी भूत बनी (विष्णु प्रभाकर) १.०० | भालू बोला (राधेश्याम झिंगन) १.०० |
| दुनिया के अचरज (मुरारिलाल शर्मा) १.०० | सेवा करे सो सेवा पावे (यशपाल जैन) १.०० |
| मूर्खों की दुनिया (नारायणदत्त पांडे) १.०० | बहादुरी का भूत (अनु० विश्वनाथ गुप्त) १.५० |

समाज विकास माला

मूल्य प्रत्येक का ३७ न० पै०

- | | | | |
|-----------------------|------------|-----------------------|-----------------------|
| संत नामदेव | गुरुवायूर | देवता | बेताल पच्चीसी भाग : १ |
| सेवामूर्ति ठक्करवापा | झलकारी | बंगाल का वीरबल | बेताल पच्चीसी भाग : २ |
| वन-सम्पदा | पशु-पक्षी | शंकरदेव | रामानुजाचार्य |
| ईश्वरचंद्र विद्यासागर | लल्लेश्वरी | विनोबा के पावन प्रसंग | यमुना की कहानी |
| जगन्नाथपुरी | समय का मोल | सती अनसूया | भरत |

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवनसाहित्य

वर्ष २१]

मई, १९६०

[अंक ५]

बुद्धि-स्वातंत्र्य के लिए शासन-मुक्त शिक्षा जरूरी

विनोबा

आज मैं यहां जो मन्दिर देखकर आया, वहां दीवार पर भगवद्गीता के वचन लिखे हुए हैं। सैकड़ों लोग मेरे सामने मन्दिर के अन्दर आये और देवमूर्ति को नमस्कार करके चले गये। मन्दिर में जाने के समय शान्त रहना चाहिए। लेकिन वैसी तालीम हम लोगों को नहीं मिली है। जैसे म्यूजियम वगैरह देखने के लिए जाते हैं, उसी तरह हम मन्दिर में जाते हैं! कोई भी मूर्ति देखते हैं तो उसे प्रणाम करने की आदत हमारे यहां है ही, पर उससे चित्त पर कोई असर नहीं पड़ता। मूर्ति पर मेरी श्रद्धा तो है; मगर हममें जो जड़ श्रद्धा बैठी है वह समाज को सोचने नहीं देती, उसे आगे नहीं बढ़ने देती। सच्ची श्रद्धा की पहचान यह है कि श्रद्धा उत्पन्न होते ही चिन्तन के लिए मनुष्य प्रेरित होता है। इसके उल्टा जहां चिन्तन के खत्म हो जाता है या कुण्ठित हो जाता है, वह श्रद्धा नहीं है, मूढ़ कल्पना मात्र है। उससे थोड़ा फायदा तो होता होगा, मगर फायदे से नुकसान ज्यादा होता है। इसलिए हमारे मन्दिर में जब तक सच्ची श्रद्धा की प्रतिष्ठा नहीं होती और हमें चिन्तन करने की प्रेरणा नहीं मिलती, तब तक मन्दिर बनाने का प्रयोजन सफल नहीं होगा।

मन्दिर के चारों तरफ दीवार पर कुल-की-कुल गीता अंकित की गई है, वह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसका उद्देश्य एक भावना निर्माण करने का है। लेकिन यह सोचने की बात है कि हिन्दू धर्म की विशेषता यह है

कि वह किसी पुस्तक पर खड़ा नहीं है। वेद, उपनिषद्, योगसूत्र, रामायण, महाभारत, योगवासिष्ठ आदि बहुत से शास्त्र संस्कृत में हैं। इसके अलावा भिन्न-भिन्न भाषाओं में भी धर्म-ग्रन्थ हैं। लेकिन हिन्दू धर्म का यह आग्रह नहीं है कि फलाना ग्रन्थ कोई मानता है तभी वह हिन्दू है, और फलाना ग्रन्थ मान्य न किया तो वह हिन्दू नहीं है। जिसको बाइबिल मान्य नहीं वह ख्रिस्ती नहीं, जिसको कुरान कबूल नहीं वह मुसलमान नहीं। याने ख्रिश्चियनों का एकमात्र ग्रन्थ बाइबिल है, मुसलमानों का एकमात्र ग्रन्थ कुरान है। लेकिन हिन्दू धर्म का एकमात्र ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है। हिन्दू धर्म में यहां तक माना गया है कि जब तक मनुष्य किसी एक किताब के दायरे में कैद बना रहता है तब तक उसका विकास नहीं होता; इसलिए आखिरी स्थिति में उस किताब का भी त्याग करना होगा। हिन्दू धर्म ने कहीं यह भी नहीं माना है कि हमको अपनी बुद्धि के खिलाफ कोई चीज कबूल करनी चाहिए। शंकराचार्य ने भाष्य में कहा है कि अग्नि अनुष्ण है, ठंडी है—ऐसा कहने वाली सौ श्रुतियां निकलें तो भी वह प्रमाण नहीं होगा कि अग्नि ठंडी है।

“नहि श्रुतिशतमपि अग्निरनुष्ण

इति ब्रुवत् प्रामाण्यमुपैति।”

याने प्रत्यक्ष अनुभव के खिलाफ कोई भी शास्त्र-वचन मानने की जिम्मेदारी हम पर नहीं है।

योरप में जब विज्ञान का विकास हुआ तो धर्म और साइन्स के बीच विरोध पैदा हो गया। हिन्दू धर्म के साथ साइन्स का इस तरह का विरोध कभी नहीं हुआ। बात यह है कि वस्तु-स्थिति के साथ ज्ञान का विरोध हो ही नहीं सकता। शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' में कहा है—'ज्ञानं वस्तुतंत्रं न पुरुषतंत्रम्'। ज्ञान किसी पुरुष के हाथ में नहीं होता, वह तो वस्तुस्थिति के हाथ में होता है। अग्नि का ठंडा होना, पृथ्वी का घूमना, ये सब मेरे हाथ में नहीं है। हिन्दू धर्म ने हम लोगों को इस तरह की दिमागी आजादी दे रखी है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सारा ज्ञान समझाने के बाद आखिर कह दिया—“विमृश्येतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।” (गीता.अ. १८ श्लो. ६३) 'तुझको जो जंचता है वही कर।' इसके माने यह है कि बुद्धि की स्वतंत्रता नहीं खोनी चाहिए। इसलिए हिंदू धर्म में परस्पर-विरोधी विचार भरा पड़ा है। इसलिए छह-छह दर्शन निकले। सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है, फिर भी कपिलमुनि हिंदू हैं। पतंजलि ईश्वर को मानता है, वह भी हिंदू है। जैमिनि कर्म को मानता है, लेकिन ईश्वर को नहीं मानता। कर्म ही फल देता है, इसलिए ईश्वर की जरूरत क्यों है, ऐसा वह मानता है; फिर भी वह हिंदू है। वादरायण ने कहा, 'कर्म जड़ है, इसलिए वह फल नहीं दे सकता, इसलिए ईश्वर की जरूरत है।' वह वादरायण भी हिंदू है। इन सबके हिन्दुत्व में किसी ने भी शंका प्रकट नहीं की। उसी में से वेदान्त पैदा हुआ है। इससे और आगे बढ़कर गीता कहती है—“त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।” वेद त्रिगुणात्मक है, परं तू तीन गुणों से परे हो जा। उपनिषद् कहता है, 'ज्ञानी जन के लिए पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, लोक लोक नहीं रहते, इसी तरह “वेदा अवेदाः भवन्ति”—वेद अवेद बन जाते हैं।' ज्ञानी मुक्तात्मा बन जाता है। हमारे विकास की पूर्णता तब तक नहीं होगी, जब तक हम एक किताब का दायरा नहीं छोड़ेंगे। “वेदान्तपि संन्यसति—” नारद कहता है आखिर वेद को भी गंगाजल में सपर्पण कर दो! क्या आपको यह मालूम है कि कोई भी ख्रिश्चियन बाइबिल को गंगा में अर्पण करेगा? कोई मुसलमान कुरान को गंगा में अर्पण करेगा? मैंने काश्मीर में कहा था कि मैं वेद, बाइबिल,

कुरान किसी भी किताब को अपने सिर पर उठाने के लिए राजी नहीं हूँ। मैं उनका सबका सार लेता हूँ। जैसे धान का छिलका निकालकर उसके अन्दर का चावल लेते हैं, गन्ने का सिर्फ रस लेते हैं, सन्तरे की छाल उतारकर उसका बाकी हिस्सा भी फेंककर सिर्फ रस सेवन करते हैं। उसी तरह मैं हर एक धर्मग्रन्थ का सार लेता हूँ। इस सत्त्व को, सार को ग्रहण करने के लिए जो अध्ययन करना पड़ता है, उसमें विवेक की जरूरत होती है। उसे उर्दू में 'तमीज' कहते हैं।

हिन्दू धर्म ने यह एक बड़ी बात हमारे सामने रखी है कि दिमाग को आजाद रखना चाहिए, बुद्धि-स्वातन्त्र्य रहना चाहिए। गीता कहती है—“यावानर्थं उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके”, याने जो ज्ञानी पुरुष है, उसके लिए वेद कुएँ जैसे बन जाते हैं। इसलिए मनुष्य को अपनी प्रगति जारी रखनी चाहिए। पुरानी बातें जो हमारी प्रगति में बाधा डालती हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिए। गुरु भी अपने शिष्य को यही उपदेश देता है कि गुरु-गृह में लड़का १२ साल तालीम पाता है। १२ साल के बाद वह जब गुरु से अलग होता है तब समावर्तन-विधि में गुरु उसे कहता है: “यानि अस्माकं सुचरितानि तानि उपास्यानि नो इतराणि।” 'हमारे सुचरित को लेना चाहिए। हमारे गलत काम को ग्रहण नहीं करना चाहिए।' गुरु नहीं कहता कि हमारे सब-के-सब विचार मानने चाहिए। वह बार-बार कहता है कि हमारे गलत कामों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। इस तरह उस जमाने में गुरु दिमागी आज्ञा देते थे।

लेकिन इन दिनों में अपने देश में और दुनिया में एक गलत तरीका चल रहा है। आज सबसे बड़ा खतरा यह है कि तालीम सरकार के हाथ में है। सरकार का शिक्षा-विभाग जो किताबें तय करेगा, विद्यार्थी को उनको ही पढ़ना पड़ेगा! शंकराचार्य, रामानुज, नानक, कबीर के जमाने में यह नहीं था। उनके शिष्य चाहे वह पढ़ते थे और चाहे वह छोड़ सकते थे। लेकिन अब सरकार जो किताब तय करेगी, वह जरूर पढ़नी होगी। फिर, अंग्रेजों के जमाने में स्वतन्त्र बुद्धि से शिक्षा के जो थोड़े-से प्रयोग हमारे देश में चलते थे, स्वराज्य के बाद उनका भी क्या हाल हुआ है? रवीन्द्रनाथ का 'शान्ति-निकेतन, श्रद्धानन्द

बुद्धि-स्वातंत्र्य के लिए शासन-मुक्त शिक्षा जरूरी : १६३ :

विनोबा

का गुरुकुल आदि अब क्या हैं? जैसे दूसरी संस्थाएं चलती हैं वैसे ही वे अब मामूली संस्थाएं बन गई हैं। सौराष्ट्र में मैंने गुरुकुल देखा; उनमें संख्या इत्यादि कुछ करते हैं, बाकी सब आपकी ही अंग्रेजी तालीम चल रही है! वेदाम्यास आदि कुछ नहीं है। मालवीयजी की हिन्दू युनिवर्सिटी का क्या हाल है? शान्ति-निकेतन में भी कुछ संगीत, कला वगैरह विशेष सिखाते हैं, और क्या विशेषता वहां है? आजादी हासिल होने के १२ साल के बाद भी हमने उस दिशा में क्या किया? पिछले दिनों केरल में शिक्षा के बारे में कुछ हेरफेर किया तो सारे देश में होहल्ला हुआ। मैंने कहा—आखिर उन्होंने किया ही क्या? आप जो करते हैं उसीको उन लोगों ने थोड़ा कसकर किया है। आपका स्कूलों का टाइम टेबल भी तो ऊपर से ही लिखकर आता है कि फलाना विषय इतने घण्टे पढ़ाया जायगा। जो किताबें तय हुई हैं वे ही पढ़ाई जायेंगी। इससे बढ़कर खतरा दूसरा नहीं है। क्या यह डेमोक्रेसी है? डेमोक्रेसी तब प्रगट होगी जब तालीम मुक्त होगी। अब तालीम का जो ढांचा बन गया है उस ढांचे को तोड़ना होगा। उपनिषदों में जो विचार-स्वातंत्र्य था वह आज नहीं है। आज तो अखबारों ने वेद का स्थान ले लिया है। हर एक पार्टी का अलग-अलग अखबार! फलानी पार्टीवाला फलाना अखबार ही पढ़ेगा। वही अखबार उसके लिए प्रमाण है, चीन के खिलाफ हिन्दुस्तान के अखबार में छपेगा और उसीको पढ़ कर चीन के बारे में हम वैसे सोचेंगे, चीन के अखबार में हिन्दुस्तान के बारे में जो लिखेंगे, चीन की जनता उसीको प्रमाण मानती होगी। हम चीन की दूसरी बाजू देखते ही नहीं। यह सारा देखकर मैं कहता हूं कि बाबा का वाक्य भी समझे बिना, विचार किये बिना नहीं मानना चाहिए। अपने दिमाग को जो जंचता है वही करना चाहिए। आज के जमाने में साइन्स इस तरह से बढ़ रहा है और दुनिया का अन्तर कम होता जा रहा है कि अगर दिमाग को मुक्त नहीं रखेंगे तो आगे के जमाने में नालायक साबित होंगे। इस जमाने में जड़ वस्तु भी जो तोड़ती थी, वह जोड़ने वाली बनी है। जो प्रशांत महासागर अमेरिका से जापान को जोड़ता था अब वह जापान

को जोड़ता है। अमेरिका अब जापान को अपना पड़ोसी मानता है। वह १५ हजार मील का लम्बा फासला छोटा हो गया है। उसे पार करने के लिए १२-१५ घण्टे लगते हैं। इतना अन्तर जहां मिटने लगा है, वहां पुराने विचार को जैसे के तैसे लेकर बैठने से चलेगा नहीं।

शिवाजी ने सैकड़ों किले बनवाये। आज देश की रक्षा के किले बनायेंगे तो क्या देश की रक्षा होगी? उलटा उन किलों के ऊपर बम गिराना आसान होगा। इस जमाने में शिवाजी का अनुकरण करना है तो उन्होंने जो किले बनाये, उसका नहीं, बल्कि उनके पराक्रम और धर्म-भावना का अनुकरण करना चाहिए। इसी तरह के विचार को सनातन धर्म कहते हैं। शास्त्र में सनातन की व्याख्या बताई है—“सनातनः नित्यनूतनः।” सनातन की व्याख्या ही है कि वह नित्य-नूतन है। यह सृष्टि बदलती रहती है। धूप में, बारिश में नया-नया रूप धारण करती है इसीलिए सृष्टि सनातन है। पिता जाता है, तो पुत्र आता है, पुत्र जाता है तो उसका पुत्र आता है। इस तरह सृष्टि बदलती रहती है। परिस्थिति देखकर जो बदल नहीं सकता, वह सनातन नहीं है।

मेरे प्यारे भाइयो! मैं चाहता हूं कि हमारा दिमाग मुक्त बने। वह किसी मजहब, सियासत, पंथ, ग्रंथ का आश्रय न ले। उन सबको हम पढ़ें, पर आटे को जैसे छलनी से छानते हैं उसी तरह छानकर रख लें। पुराने शास्त्रों से जो छोड़ना हो विचार करके छोड़ दें। भगवद्गीता में से भी कुछ छोड़ना हो तो छोड़ें। पुराने विचार उस जमाने के लिए ठीक थे, लेकिन आज अब हम आगे बढ़ चुके हैं, हमारे लिए उनको पूरा का पूरा वैसा ही लेना ठीक न होगा। पुराने ऋषियों की योग्यता क्या थी, यह मैं नहीं जानता। लेकिन हमारा जमाना उस जमाने से आगे है और मैं उनका पुत्र होने के नाते उनसे छोटा हूं, इसलिए उनके कंधे पर हूं और उनसे ज्यादा दूर देख सकता हूं। ऋषि कहता है “पुत्रात् इच्छेत् पराजयम्, शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्।” पुत्र से पराजय को कामना की जाती है; शिष्य से पराजय की कामना की जाती है। क्योंकि पुत्र तथा शिष्य उनके आगे बढ़ें, यही पिता और गुरु चाहते हैं। पुराने जमाने के बड़े-से-

बड़े गणितज्ञों से आज का विद्यार्थी ज्यादा जानता है, क्योंकि गणित की जो नई-नई खोजें हुई हैं, पुराने लोगों को वह मालूम नहीं थीं।

आज का विद्यार्थी न्यूटन से भी ज्यादा गणित जानता है। पुराने जमाने में जब युधिष्ठिर जुए में हारे और द्रौपदी को दासी बनने की नौबत आई, तब भरी सभा में द्रौपदी ने पूछा कि क्या मेरे पति हार गये, इसलिए मुझे दासी बनना पड़ेगा? उस समय भीष्म, द्रोण, विदुर आदि इस सवाल को पेचीदा समझते थे। आज के जमाने में इस केस को क्या कोई सुप्रीम कोर्ट में भेजना चाहेगा? युधिष्ठिर महाराज धर्मशील थे। उन्होंने धर्म-नियम माना था कि कोई जुआ खेलने के लिए बुलाये तो ना नहीं करना

चाहिए। क्या आज कोई इसको धर्म मानेगा? मनु ने स्मृति में लिखा है कि बार-बार चोरी करनेवाले का हाथ काट डालना चाहिए। क्या आज इस सजा को कोई कबूल करेगा?

हमारे पूर्वजों ने अच्छी-अच्छी चीजें तो दी हैं, उसके साथ कुछ गलत चीजें भी दी हैं।

बात यह है कि हर चीज में श्रेयस् और प्रेयस् होता है। अच्छी चीजें हैं वे लेनी चाहिए और बुरी चीजों को छोड़ना चाहिए और अच्छा-बुरा पहचानने का विवेक हमको हासिल करना चाहिए।

कुरुक्षेत्र,
२७/३/६०

युग-पुरुष

गौरीशंकर द्विवेदी

कर्म-प्रधान विश्व में होता, गीता ने यह गाया;
समय समय पर इती ज्ञान को, मुनियों ने दुहराया।
कर्म-क्षेत्र है यह जग, जो जन करते कर्म निरन्तर;
सफल बनाते नर-जीवन वे, पाते फल श्रेयस्कर।
अपना पेट, श्वान-सूकर भी, यहां किसी विधि भरते;
धन्य वही, जो अपने श्रम से, दुखियों के दुःख हरते।
अपने, अपनों के हित सब ही, सुख-साधन अपनाते;
पर-दुःख दूर करें वे ही नर, जगत-प्रशंसा पाते।

नर से नारायण बनने के, हैं सन्मार्ग निराले;
साधक साधन द्वारा पाते, कर कर कठिन कसाले।
नया मार्ग दिखलाता सब को, साधक साधन द्वारा;
जन-जन के हित अर्पण करता, अपना जीवन सारा।
तब ही साधक सिद्ध कहाता, वह विराम कब लेता;
विश्व-शांति-हित अपना सर्वस, हंस-हंस कर दे बेता।
सिद्ध सतयुगी आया जग में, क्यों न विश्व गुण गावे;
'शंकर' अशरण-शरण मिला युग-पुरुष विनोबा भावे।

१९६०

मनु ने
का हाथ
को कोई

हैं, उसके

स होता
चीजों
ग विवेककुरुक्षेत्र,
७।३।६०नराले;
कसाले।
द्वारा।
सारा।
लेता।
देता।
गावे।
भावे।

श्रीअरविन्द

क्रोध आदि वृत्तियों पर विजय

क्रोध की घटना पर विचार करो और देखो कि कितनी छोटी-सी बात पर तुम्हें क्रोध आ गया और तुम उबल पड़े। यूँ तो आगे चलकर तुम्हें बिना बात के भी क्रोध आने लगेगा। विचार करो कि ऐसी चेष्टाएं कितनी मूर्खतापूर्ण होती हैं। जब क्रोध आये, तुम उसे इस प्रकार शांतिपूर्वक देखो मानों तुम्हारी सत्ता के अंदर किसी और को क्रोध आया हो। ऐसा करने से उसे दूर करने में सचमुच ही कोई कठिनाई नहीं होगी। यह पूर्णतया संभव है कि जब क्रोध बाहर फूट आये तब भी हम अपनी सत्ता के एक भाग में पीछे हटकर स्थित हो जायें और निर्लिप्त समचित्तता के साथ क्रोध का निरीक्षण करें। कठिनाई यह है कि तुम डर और घबरा जाते हो। इस कारण क्रोध तुम्हारे मन को अधिक आसानी से वश में कर लेता है जो इसे नहीं करना चाहिए।

:०:

:०:

:०:

अगर हमारी प्रकृति में क्रोध प्रबल तत्त्व है, तो हम उसे थोड़े समय के लिए कोरे बल-प्रयोग से दबा सकते हैं और इसे आत्मनियंत्रण कह सकते हैं; परंतु अंत में, अतृप्त प्रकृति हमें हरा देगी और वह विकार आश्चर्यजनक शक्ति को लिये हुए अप्रत्याशित क्षण में हमपर लौट आवेगा। केवल दो तरीके हैं जिनसे हम विकार को, जो हमें गुलाम बनाने की चेष्टा करता है, निश्चितरूपेण जीत सकते हैं, एक तो है अन्य भाव के स्थापन की शैली; अर्थात् जब कभी विकार उठे तब उसके स्थानपर विरोधी गुण को ला बैठाना, क्रोध के स्थान पर क्षमा, प्रेम या सहिष्णुता के विचारों को, काम के स्थान पर पवित्रता के ध्यान-मनन को, अभिमान के स्थान पर नम्रता और अपने अवगुणों या अपनी तुच्छता के विचारों को। यह राजयोग की विधि है परंतु यह कठिन, धीमी और अनिश्चित है; क्योंकि प्राचीन परंपराएं और योग का आधुनिक अनुभव दोनों ही यह दिखाते हैं कि वे लोग जिन्होंने कितने ही बरसों से उच्चतम आत्मप्रभुत्व प्राप्त किया हुआ था, उस चीज की प्राप्ति नहीं पा पायीं।

सहसा आश्चर्यचकित रह गये जिसे उन्होंने मृत या सदा के लिए वशवर्त्ती समझ लिया था। परंतु यह स्थापन-शैली यद्यपि धीमी है, तथापि यह प्रकृति की साधारणतम विधियों में से एक है और अधिकतर इस उपाय से ही, जिसे बहुधा अनजान में या जान-अनजान में प्रयुक्त किया जाता है, मनुष्य का चरित्र एक जीवन से दूसरे जीवन में या एक जीवन की अवधि में भी बदलता और विकसित होता है। यह शैली चीजों को इनके बीज तक नष्ट नहीं करती, और वह बीज जिसे योग से जलाकर राख नहीं कर दिया जाता, फिर फूट निकलने और पूर्ण तथा शक्तिशाली वृक्ष के रूप में पनप उठने में सदा समर्थ रहता है। दूसरा तरीका है विकार को भोग (enjoyment) भोगने देना, ताकि उससे जल्दी छुटकारा हो जाय। जब वह अतिभोग से तृप्त तथा श्रान्त कर दिया जाता है, तो वह दुर्बल और जर्जरित शक्तिवाला हो जाता है और उसके बाद एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो कुछ समय के लिए विरोधी शक्ति, प्रवृत्ति या गुण को स्थापित कर देती है। अगर योगी उस अवसर को निग्रह के लिए ग्रहण कर लेता है, तो प्रत्येक उपयुक्त अवसर पर उस प्रकार दुहराया हुआ निग्रह अत्यधिक प्रभावजनक हो जाता है, यहां तक कि वह उस वृत्ति के बल और जीवन-शक्ति को इतनी पर्याप्त मात्रा में न्यून कर देता है कि फिर अंतिम प्रक्रिया-रूप संयम का प्रयोग किया जा सकता है। भोग और प्रतिक्रिया की यह विधि भी प्रकृति की एक प्रिय और सार्वभौम विधि है; परंतु यह अपने आपमें कदापि पूर्ण नहीं है और अगर इसे स्थिर शक्तियों या गुणों पर प्रयुक्त किया जाय तो यह विरोधी प्रवृत्तियों के उतार-चढ़ाव के ऐसे खेल को जारी कर देती है, जो प्रकृति की क्रियाओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है परंतु आत्म-प्रभुत्व की दृष्टि से व्यर्थ और अनिर्णायक है। यह विधि तभी प्रभावजनक हो पाती है जब इसके बाद संयम का प्रयोग किया जाता है। योगी वृत्ति को केवल प्रकृति के एक खेल के रूप में देखता है, जिससे उसका कुछ संबंध नहीं है, जिसका वह केवल द्रष्टा है; क्रोध, काम या मद

उसका नहीं है, वह विश्वजननी का है जो अपने प्रयोजनों के लिए उसे पैदा करती और शांत करती है। तो भी, जब वृत्ति प्रबल, प्रभुत्व जमानेवाली और अक्षीण शक्तिवाली होती है तब यह मनोभाव सच्चे हृदय से धारण नहीं किया जा सकता और सच्चाई से इसे अनुभव किये बिना बौद्धिक तौरपर इसे धारण करने का प्रयत्न करना मिथ्याचार, झूठा आचरण या मक्कारी है। जब वृत्ति बार-बार किये गये भोग और निग्रह से कुछ-कुछ निःसत्त्व हो चुकी हो, तभी प्रकृति, आत्मा या पुरुष की आज्ञा से, अपनी ही पैदा की हुई इस वस्तु के साथ वस्तुतः वर्ताव कर सकती है। वह सर्व-प्रथम वैराग्य द्वारा—अपने स्थूलतम रूप में घृणा-भाव से प्रकट हुए वैराग्य द्वारा—उसके साथ पेश आती है, परंतु यह भाव इतना उग्र है कि स्थायी नहीं रह सकता; तो भी यह उस वृत्ति के रूप में अपना एक संस्कार पीछे छोड़ जाता है, जो विकार की प्रत्यावृत्ति और अल्पकालिक राज्य के बाद भी जीवित बचा रहता है। तदनंतर उसकी प्रत्यावृत्ति को अधीरतापूर्वक, किंतु असहिष्णुता की किसी तीव्र भावना के बिना, देखा जाता है। अंत में परम उदासीनता प्राप्त हो जाती है और प्रकृति की साधारण प्रक्रिया से प्रवृत्ति के अंतिम निष्क्रमण का उस संयमी की सच्ची भावना से निरीक्षण किया जाता है जिसे यह ज्ञान है कि वह साक्षी आत्मा है और उसे किसी वृत्ति के निरोध के लिए उससे केवल संबंधविच्छेद कर लेना है। उच्चतम अवस्था वृत्ति से मुक्ति को प्राप्त करती है या तो लय के रूप में जब वृत्ति सर्वथा और सदा के लिए नष्ट हो जाती है, या फिर अन्य प्रकार के छुटकारे के रूप में जब आत्मा जानती है कि वृत्ति ईश्वर की लीला है और वह इस बात को उसपर छोड़ देती है कि वह (ईश्वर) वृत्ति को बाहर निकाल फेंके या उसे अपने उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल करे। यह कर्मयोगी की मनोवृत्ति है; उस कर्मयोगी की जो अपने को परमेश्वर के हाथों में सौंप देता है और केवल उसके लिए काम करता है, यह जानते हुए कि जो शक्ति उसमें काम करती है वह ईश्वर की ही शक्ति है। आत्म-समर्पण की इस वृत्ति का परिणाम यह होता है कि सर्वभूतमहेश्वर निज भक्त का सब भार स्वयं संभाल लेते हैं और गीता की प्रतिज्ञा के अनुसार अपने सेवक और प्रेमी को सब परेशानियों और बुराईयों से मुक्त कर देते

हैं। उस अवस्था में वृत्तियाँ आत्मा पर प्रभाव डाले बिना शरीर की मशीन में काम करती रहती हैं और केवल तब काम करती हैं जब महेश्वर अपने प्रयोजन के लिए उन्हें उभारते हैं। यह है निर्लिप्तता, लीला के अंदर पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति।

०० : ०० : ०० :

साधारण जीवन में लोग काम, क्रोध, वासना आदि को स्वाभाविक, ज्ञातव्य एवं उचित चीजें समझते हैं और इन्हें मानव-प्रकृति का अंग मानते हैं। जहांतक समाज उन्हें अनुत्साहित करता है अथवा इन्हें निश्चित सीमाओं के भीतर या उचित संयम या मर्यादा के अधीन रखने का आग्रह करता है, वहांतक लोग इन्हें सदाचार के सामाजिक मान या व्यवहार के नियम के अनुसार बश में रखने का यत्न करते हैं। इसके विपरीत, यहां तथा सब प्रकार के आध्यात्मिक जीवन में इन चीजों पर विजय तथा पूर्ण प्रभुत्व की मांग की जाती है। यही कारण है कि यहां संघर्ष अति तीव्र अनुभव होता है, इसलिए नहीं कि ये चीजें साधारण मनुष्यों की अपेक्षा साधकों में अधिक प्रबल रूप में उठती हैं, बल्कि इसलिए कि आध्यात्मिक मन तथा प्राणिक चेष्टाओं में उत्कट संघर्ष चलता है, आध्यात्मिक मन संयम की मांग करता है और प्राणिक चेष्टाएं विद्रोह करती हैं तथा नये जीवन में भी पुनः उसी तरह बने रहना चाहती हैं जिस तरह वे पुराने जीवन में थीं। यह जो धारणा है कि साधना इस प्रकार की चीजें उभाड़ती है, इसमें सत्य इतना ही है कि एक तो साधारण मनुष्य में ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जिनसे वह सचेतन नहीं है, क्योंकि प्राण उन्हें मन से छिपाये रखकर तृप्त करता रहता है जबकि मन समझ ही नहीं पाता कि वह कौन-सी शक्ति है जो इस कार्य को प्रेरित कर रही है। इस प्रकार, जो चीजें परार्थ, परोपकार एवं सेवा के निमित्त की जाती हैं वे अधिकतर अहंकार से परिचालित होती हैं। इन बहानों के पीछे अहंकार छिपा ही रहता है। योग में गुप्त प्रेरक को पद के पीछे से बाहर प्रकाश में लाना तथा उससे छुटकारा पाना होता है। दूसरे साधारण जीवन में कुछ चीजें दबा दी जाती हैं, वे प्रकृति में ही दबी पड़ी रहती हैं और नष्ट नहीं हुई होतीं। वे किसी भी दिन उभर सकती हैं अथवा वे अपने को मन, सा, प्राण, मन, प्राण, मन, प्राण के नाँव स्थायी रूपों या अन्य

गड़बड़ियों में प्रकट कर सकती हैं, जबकि इस बात का स्पष्ट पता नहीं चलता कि उनका असली कारण क्या है। यह तथ्य यूरोपीय मनोवैज्ञानिकों ने अभी हाल में ढूँढ निकाला है और मनोविश्लेषण नामक नये विज्ञान में इस पर बहुत बल दिया है, यहाँतक कि इसका अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। यहाँ भी, साधना में मनुष्य को इन दबी प्रवृत्तियों से सचेतन होकर इन्हें निकाल फेंकना होता है। इसे उभाड़ना कह सकते हैं; परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि इन्हें कार्यरूप में उभाड़ना है बल्कि केवल चेतना के सामने ला खड़ा करना है ताकि अपनी सत्ता में से इनकी सफाई की जा सके।

यह जो बात है कि कुछ लोग अपने को बश में करने में समर्थ होते हैं और दूसरे बहा लिये जाते हैं; इसका कारण है स्वभाव-स्वभाव में भेद। कुछ लोग सात्त्विक स्वभाव के होते हैं और उनके लिए, कम-से-कम कुछ हदतक, संयम करना सुगम होता है। दूसरे अधिक राजसिक होते हैं और संयम को कठिन तथा प्रायः असंभव अनुभव करते हैं। कइयों का मन एवं संकल्प सबल होता है। और दूसरे प्राण-प्रधान मनुष्य होते हैं, जिनमें प्राणिक आवेग अधिक प्रबल होते हैं तथा अधिक ऊपर आये होते हैं। कुछ लोग संयम को आवश्यक नहीं समझते और अपने आपको खुला छोड़ देते हैं। साधना में मानसिक या नैतिक संयम के स्थान पर आध्यात्मिक प्रभुत्व आंशिक होता है, वह हमें नियंत्रित ही करता है न कि स्वतंत्र एवं मुक्त। ऐसा तो केवल आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक संयम ही कर सकता है। इस विषय में साधारण तथा आध्यात्मिक जीवन में मुख्य भेद यही है।

:०: :०: :०:

यौगिक, मनोभौतिक आदि-आदि दृष्टियों से आमाशय, हृदय और आंतों में स्थूल चेतना का नहीं, वरन् प्राणिक चेष्टाओं का निवास है। यहीं पर प्राणी के क्रोध, भय, प्रेम, घृणा तथा उसकी अन्य सब मनोवैज्ञानिक विशिष्टताएं उछल-कूद मचाती हैं और शरीर तथा मन की पाचन-शक्ति में

गड़बड़ी पैदा कर देती हैं।

:०: :०: :०:

क्रोध के कारण आत्मा तमसाच्छन्न हो जाती है, बुद्धि और इच्छाशक्ति शांत साक्षी आत्मा को देखना तथा उसमें स्थित होना भूल जाती है, मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप की स्मृति से भ्रष्ट हो जाता है। इस पतन से इच्छाशक्ति भी विमूढ़, यहाँतक कि नष्ट हो जाती है। कारण, कुछ समय के लिए, हमारी निजस्मृति में इसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। यह क्रोध के बादल से ढंक जाती है। हम क्रोध, आवेश एवं शोक ही बन जाते हैं और आत्मा, बुद्धि तथा इच्छाशक्ति नहीं रहते।

:०: :०: :०:

बस करने की बात यही है कि इन प्रवृत्तियों से अपने आपको अलग कर लिया जाय, अपने अंतरात्मा को खोज निकाला जाय, उसीमें निवास किया जाय; फिर ऐसा कभी नहीं मालूम होगा कि ये सब वृत्तियाँ अपनी हैं; बल्कि ऐसा मालूम होगा कि बाहरी प्रकृति ने अंतरात्मा या पुरुष के ऊपर उन्हें ऊपर-ही-ऊपर आरोपित कर दिया है। उस समय बड़ी आसानी से उनका त्याग किया जा सकता है या उन्हें नष्ट किया जा सकता है।

:०: :०: :०:

अगर तुम अपनी प्राणगत वृत्तियों पर सच्चा प्रभुत्व प्राप्त करना चाहते हो और उन्हें रूपांतरित करना चाहते हो तो यह केवल तभी हो सकता है जब तुम्हारा हृत्पुरुष, तुम्हारी अंतरात्मा पूर्णरूप से जाग जाय, अपना राज्य स्थापित कर ले और तुम्हारी सारी सत्ता को शक्ति के स्थायी स्पर्श की ओर खोलकर अपनी स्वाभाविक विशुद्ध भक्ति, अनन्य अभीप्सा और सभी भागवत वस्तुओं के प्रति होनेवाले अपने अखंड एकनिष्ठ आवेग को तुम्हारे मन, हृदय और प्राण प्रकृतिपर स्थापित कर दे। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पथ नहीं है और किसी अधिक सुगम मार्ग के लिए छटपटाने से कोई लाभ नहीं।

नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

मूल्यांकन बदल गया है

एक दिन

“न जाने आदमी क्यों अपनी औलाद को पालते हैं। उनसे जीवन में तो सुख मिलता नहीं।” मेरे कार्यालय में आनेवाले एक बुजुर्ग पोस्टमैन कह रहे थे। वे अपनी संतान से बहुत खिन्न थे। उन्होंने दिनरात खून-पसीना एक करके अपने बच्चे को पढ़ाया-लिखाया था। पर अब वह अपनी घर-गृहस्थी में मस्त होकर बूढ़े मां-बाप को भूल गया है। वे पूछने लगे कि आखिर हम अपनी औलाद को पालते क्यों हैं?

चौथा दिन

उस दिन तो मैं उन्हें यह सान्त्वना देकर टाल गया कि सभी घरों में यही होता है; लेकिन जब वे चौथे दिन ‘संपदा’ का एक मनीआर्डर लेकर आये, मैंने उनसे कहा कि मैं आपके सवाल का जवाब आज दूंगा। वे मेरे पास रखी कुर्सी पर बैठ गये और कहने लगे, “कहिये”।

इससे एक दिन पहले मेरे घर में एक बिल्ली के दो बच्चे कहीं निकलकर चले गये थे। अब बिल्ली उनको ढूँढ़ने में दिन और रात लगी रही, बार-बार आती, सब कमरों में घूमती, अपनी करुण आवाज में बच्चों को बुलाती, फिर दूसरे और तीसरे घरों में जाती और फिर हमारे यहां वापस आजाती। उसकी करुण ध्वनि और बच्चों के प्रति सहज वात्सल्य देखकर मुझे उस पोस्टमैन के प्रश्न का उत्तर सूझ गया। मंगलमय भगवान् ने माता-पिता के हृदय में जो असीम वात्सल्य भर दिया है, उसीके कारण बच्चों का पालन-पोषण होता है, किसी भावी सुख की लालसा के कारण नहीं; यह उत्तर देते हुए एक नया प्रश्न पैदा हुआ कि जब कुत्ते और बिल्ली जैसे क्षुद्र प्राणी वात्सल्यवश बिना किसी फल की आकांक्षा के संतान का पालन-पोषण करते हैं, तब मनुष्य क्यों इस पवित्र, स्वाभाविक और स्नेहपूर्ण कार्य में भी स्वार्थ की तृप्ति चाहता है। आजकल मनुष्य प्रत्येक कार्य में पैसे की दृष्टि रखता है। क्या हम मनुष्य क्षुद्र पशुओं से भी गये-बीते हो गये हैं कि कोई काम बिना आर्थिक स्वार्थ के

नहीं करना चाहिए।

:०: :०: :०:

मैं पिछले आठ वर्ष से ‘संपदा’ प्रकाशित कर रहा हूँ। यह हिंदी में अर्थशास्त्र में अपने ढंग की एकमात्र पत्रिका है। बहुत-से आदरणीय मित्रों ने इस पत्रिका के संपादन को मेरा दुस्साहस कहा। यह पत्रिका निरंतर आठ वर्षों से प्रकाशित हो रही है। अनेक हितैषी मित्र जब इस पत्रिका को देखते हैं तो वे उसकी गंभीर सामग्री और परिश्रमपूर्ण संपादन को पीछे देखते हैं। पन्ने पलटने पर उनका पहला प्रश्न यह होता है कि इसमें तो विज्ञापन बहुत कम हैं। इससे आपको प्रति मास कितनी आय हो जाती है? अपने प्रति उनकी सहानुभूति और हार्दिक प्रेम देखकर जहां मुझे कुछ प्रसन्नता होती है वहां मैं यह सोचने लगता हूँ कि क्या आज किसी पत्रिका के प्रकाशन की सफलता की कसौटी केवल विज्ञापन और अर्थोपार्जन ही है। उसका योग्यतापूर्ण संपादन और हिंदी के साहित्य-भंडार में एक नये प्रकार की अभिवृद्धि सफलता या अभिनंदन की कसौटी नहीं है? आज हमारी दृष्टि में सफलता का मापदंड क्या केवल पैसा ही नहीं रह गया है!

:०: :०: :०:

आज से कुछ वर्ष पूर्व मैं करनाल गया था। वहां सरकार की ओर से एक बड़ी भारी डेरी खुली हुई है। भारत की सरकारी डेरियों में उसका विशेष स्थान है। उसके अधिकारी अत्यंत ही योग्य और सज्जन व्यक्ति हैं। उन्होंने बड़े प्रेम और उत्साह से इस डेरी की गतिविधियां समझाईं। कहां गायें बांधी जाती हैं, इनको कैसा चारा खिलाया जाता है, कितनी बार दूध दुहा जाता है। कैसे बढ़िया नस्ल के सांडों के द्वारा और किस तरह कृत्रिम गर्भाधान किया जाता है। कौन गाय कितना दूध देती है और कितने अंतर से ब्याती है। यह सब वर्णन और दृश्य मेरे लिए प्रभावोत्पादक था। अधिकारी की नम्रता और सज्जनता के कारण भी हृदय उस महान् कार्य की ओर आकृष्ट हो रहा था।

मूल्यांकन बदल गया है

: १६९ :

कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

किंतु इसके साथ ही उन अधिकारी महोदय ने मुझे कुछ चार्ट दिखाये जो दीवारों पर लटके हुए थे। वे चार्ट भी डेरी के कार्य और उनकी पद्धति के परिचायक थे। एक चार्ट में दिखाया गया था कि कितना दूध देनेवाली गाय को कितने विनीले और चने मिलने चाहिए। जो गाय अधिक दूध देती है, अर्थात् आर्थिक दृष्टि से मानव के लिए जितनी अधिक उपयोगी है, उसे अधिक पौष्टिक भोजन दिया जाता था। कम दूध देनेवाली गाय को कम। एक चार्ट में बताया गया था कि सत्रह दुर्बल और बूढ़ी गायों को रखने और उन्हें चारा देने से जितनी आया (दूध) और जितना व्यय होता है, उससे कहीं कम व्यय में एक पुष्ट गाय को दो-तीन गुना चारा देकर भी अधिक दूध उपलब्ध होता है। इसलिए—? इस प्रश्न का उत्तर उनके पास नहीं था या वे हिंदू-संस्कृति में पले होने के कारण दे नहीं सकते थे। मुझे महात्मा गांधी का एक लेख स्मरण हो आया, जिसमें उन्होंने लिखा था कि एक गाय कम दूध देती है अथवा आर्थिक दृष्टि से निरूपयोगी हो गई है इसलिए क्या उसे जीवन का अधिकार नहीं है? क्या हम अपने बूढ़े माता-पिता के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करेंगे?

मुझे डेरी के अधिकारी ने बताया कि हम कृत्रिम उपायों से बढ़िया नस्ल के सांड का वीर्य एक नली में लेते हैं और वह पांच-छः गायों के लिए पर्याप्त होता है। यों प्राकृतिक दृष्टि से गर्भाधान करनेपर उस अमूल्य वीर्य से केवल एक बछड़ा पैदा होता है। बाकी योंही व्यर्थ हो जाता है। इकोनोमी या बचत की यह कितनी सुन्दर सूझ है। कल यहीं नियम संभवतः पुरुषोंपर भी लागू हो और देश के श्रोज और वीर्य की कितनी भारी बचत होने लगे। स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक कोमल भावनाओं की भी हम अर्थव्यवस्था पर बलि देने लगे हैं। ऐसे कुछ गंभीर विचारों के साथ हृदय में एक व्यथा-सी अनुभव करते हुए मैं डेरी से वापस लौटा।

:०: :०: :०:

आज से कुछ वर्ष पूर्व साहित्यकार, पत्रकार और कवि अपने विचारों का प्रचार करने और साहित्य-सेवा अथवा हिंदी के प्रेम के भाव से अपने लेख लिखते, कृतियां सुनाते और सम्मेलनों में कविताएं पढ़ते थे। आज समय बदल गया है। समाजवाद के समर्थन, पैसेवालों की निंदा तथा गरीब-मजदूर किसान के प्रति कर-सूख-कृषि-सुधार आदि

कवि एक-एक कविता पढ़ने के लिए सार्वजनिक संस्थाओं से भी पचास-पचास, सौ-सौ रूपयों की मांग करते हैं तथा रेल का प्रथम श्रेणी का किराया चाहते हैं। मैंने एक कवि-मित्र से पूछा कि कल तो आप हमारे बुलाने पर अपने पास से तांगा-खर्च करके आते थे और हिंदी को लोकप्रिय बनाने में रस अनुभव करते थे। आप उस समय शिष्टाचार और आदर-सत्कार से ही संतुष्ट हो जाते थे। लेकिन आज आप बिना पचास-सौ रूपया लिये कवि-सम्मेलन में पैर नहीं रखते। वे बोले, “बात तो ठीक है। आज हम भी नृत्य करनेवाली नर्तकी की भांति पैसा मांगते हैं किन्तु आदर और सम्मान का मापदंड आज पैसा है। जो कवि जितना अधिक पैसा मांगता है वह उतना ही ऊंचा और प्रतिष्ठित साहित्यकार माना जाता है।” साहित्य के क्षेत्र में भी कविता नहीं, पैसा माप-दंड हो गया है।

:०: :०: :०:

मैं आर्यसमाज का सदस्य हूं और आर्य समाजों के उत्सवों में यदा-कदा भाग लेता रहता हूं। उत्सव का उद्देश्य वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृति का प्रचार होता है, किन्तु जब कभी अधिकारियों और आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं में बातचीत होती है, तो विद्वानों के सुन्दर प्रभावशाली व्याख्यान या आध्यात्मिक प्रवचनों की अपेक्षा चर्चा का मुख्य विषय यह होता है कि उत्सव के लिए कितना चंदा हुआ और खर्च निकालकर कितना कोष में बचा है। उत्सव की सफलता का मापदंड पैसा ही रह गया है। पहले जनतापर प्रभाव सफलता की कसौटी थी।

:०: :०: :०:

एक दिन कुछ मित्रों में चर्चा चली कि ‘क’ आर्यसमाज में प्रायः जाते हैं। दूसरे ने कहा कि उनका कोई स्वार्थ सिद्ध होता होगा। मैंने कुछ खिन्न होकर पूछा कि क्या आर्य-समाज या सत्संग के प्रति प्रेम के कारण वे समाज में नहीं जा सकते? आप प्रत्येक बात में पैसे की दृष्टि से देखते हैं। मेरे मित्र शायद मेरी बात का उपहास करने को तैयार थे किन्तु मेरी गंभीरता देखकर चुप रह गये।

:०: :०: :०:

पैसे के इसी अर्थशास्त्र को महात्मा गांधी अनर्थशास्त्र

(शेष पृष्ठ १७९ पर)

काका कालेलकर

संस्कृत संस्कृति की झांकी

[संस्कृत के विद्वान् डा० मंगलदेव शास्त्री ने संस्कृत-वाङ्मय से अत्यन्त परिश्रमपूर्वक चुने हुए सुभाषितों का संग्रह किया है, जिसका प्रकाशन 'सुभाषित-सप्तशती' के नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली' द्वारा हुआ है। उसकी बड़ी ही सारगर्भित भूमिका भी काका साहब कालेलकर ने लिखी है, जिसे यहां दिया जा रहा है। सम्पा०]

प्राचीन काल से हमारी जाति सुभाषितों की कदर करती आई है। क्योंकि एक-एक सुभाषित या तो जीवन के अनुभव का एकांगी या गहरा निचोड़ होता है, या प्रेरणादायी—श्रद्धा को चंद चुने हुए शब्दों में टकसाली रूप देता है। लोक-कथाओं में जिक्र आता है कि एक-एक अच्छे सुभाषित के लिए रसिक राजा लक्ष-लक्ष मुद्रा प्रदान करते थे।

सुभाषितों के लिए राजमान्यता प्राप्त करना एक चीज थी। लोकमान्यता पाना दूसरी ही बात थी। राजमान्यता पानेपर कवि का दारिद्र्य दूर हो सकता था। लेकिन लोकमान्यता पानेपर ही कवि अमर होता था। शायद कवि या कवि का नाम अमर न भी हो, कवि की कृति तो अमर हो ही जाती थी। संस्कृत-साहित्य में ऐसे हजारों श्लोक हैं या सूक्तियां हैं, जिनके कर्त्ता का नामोनिशान नहीं रहा है। समाज-हृदय की वह संपत्ति है। और ऐसी सूक्तियां भी उस समाज की संस्कृति का स्वरूप व्यक्त करती हैं। ऐसी समाजमान्य सूक्तियों को और कविता को मैं अपौरुषेय कहता हूं। 'गुमनाम' कहना मुझे पसंद नहीं है।

हमारे पास संस्कृत के जितने सुभाषित-संग्रह हैं वे सब काव्यरसिकों के द्वारा इकट्ठा किये गये हैं। उनमें शुरू में देवताओं की स्तुति या प्रणति होगी। भिन्न-भिन्न कवियों की और सम्राटों की प्रशंसा होगी। बाद में षड्भूत का वर्णन होगा। अन्योक्तियां तो सुभाषित-संग्रहों का मुख्य भाग हैं। हमारे संस्कृत कवि ऐसी अन्योक्तियों में अपना सारा चातुर्य उंडेल देते हैं। शृंगार, करुण आदि नव-रस के नमूने भी सुभाषित-संग्रहों में पाये जाते हैं। स्त्रियों के नख-शिख-वर्णन तो होने ही चाहिए।

राज-व्यवहार और लोक-व्यवहार की बातें इतनी अच्छी होती हैं कि यही हिस्सा लोग ज्यादातर कंठ कर लेते हैं।

प्रहेलिका, अपह्नुति आदि चित्रकाव्य को भी उसमें स्थान होता ही है।

इस तरह हर अभिरुचि के लोगों के लिए ऐसे संग्रहों में कुछ-न-कुछ स्वादिष्ट मसाला मिल ही जाता है।

लेकिन आज हम ऐसे संग्रह चाहते हैं, जिनमें हमारी संस्कृति का प्रतिबिम्ब हम पा सकें। जीवनानुभव जिनमें ग्रंथित है या उन्नत जीवन के लिए जिनमें प्रेरणा मिलती है, ऐसे सुभाषित अगर इकट्ठे किये जायं तो शिक्षा-क्रम में उनका अच्छा उपयोग हो सकता है। सारी जाति की विशिष्ट संस्कृति का स्वरूप पहचानने के लिए ऐसे संग्रहों का उपयोग हो सकता है। और संभाषण में उनका उपयोग करने से वाग्व्यापार को उन्नत रूप मिल सकता है।

शास्त्रवचनों के पीछे ऋषि-मुनियों के धर्मानुभव का प्रभाव होता है। सुभाषितों के पीछे जातीय हृदय की मान्यता होती है।

ऐसे रसिक और उन्नत सुभाषितों के संग्रह की याचना मैंने समय-समय पर कई शास्त्री पंडितों से की। लेकिन उस याचना का स्वीकार तो पंडितवर मंगलदेव शास्त्री ने ही किया। जब-जब श्री मंगलदेव शास्त्री से मिला हूं, उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ी ही है। उम्र में वृद्ध होते हुए भी शरीर से वे आपादमस्तक तरुण ही दीख पड़ते हैं। वेदों का गहरा अध्ययन करते भी उनमें जड़ता नहीं आई है। और परलोक-परायण वेदान्त विद्या का अनुशीलन करते हुए भी उनकी रसिकता या उनका आशावाद क्षीण हुआ नहीं है।

मैंने उनसे कहा कि रसिक और उन्नत ऐसे सुभाषितों का संग्रह मुझे दीजिये और मूल संस्कृत, प्राकृत और पालि-सूक्तियों का हिंदी-अनुवाद भी दीजिये। संग्रह ऐसा हो जिसे स्वदेशी और परदेशी लोकहित-चिंतकों के सामने रखकर हम कह सकें कि हमारी आर्य-संस्कृति की झांकी आपको

संस्कृत संस्कृति की झांकी

: १७१ :

काका कालेलकर

इसमें मिलेगी। मेरी याचना अमोघ नहीं हुई। उन्होंने तुरंत पूछा, 'संग्रह कितना बड़ा हो?' मैंने कहा, "मंगल-प्रारंभ करना है, इसलिए सात सौ श्लोकों से मुझे संतोष होगा।" मेरी कल्पना के सामने सात सौ श्लोकों की भगवद्-गीता थी। दुर्गासप्तशती भी थी और शृंगार-परायण गाथा-सप्तशती को भी मैं भूला नहीं था। जैसे अठारह अध्याय, अठारह पर्व और अठारह दिन का हमारे यहां महत्त्व है, वैसा सात सौ संख्या का भी है। इसीलिए हिंदी में कई सतसई पाई जाती हैं। तो हमारा यह सुभाषित-संग्रह भी सप्तशती का रूप धारण क्यों न करे? शास्त्रीजी को कल्पना पसंद आई। मैंने उन्हें कहा कि ऐसे संग्रह में आपके रचे हुए आधुनिक ढंग और आधुनिक विचार के श्लोक भी आने चाहिए, ताकि हमारा संग्रह अद्यतन कहा जा सके।

शास्त्रीजी ने यथासमय यह सुभाषित-सप्तशती बना करके दे दी। इसमें वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् के वचन भी हैं। और रामायण, महाभारत, भागवत और योगवासिष्ठ के श्लोक भी हैं। धम्मपद आदि बौद्ध, जैन गाथाएं भी हैं और कालिदास, भास, भारवि हर्ष, दंडी आदि महाविज्ञों की सुभग-ललित कृतियां भी हैं। नीति-वैराग्य-शतक तो वे छोड़ ही कैसे सकते? और पंचतंत्र हितोपदेश को तो यहां स्थान मिलना ही चाहिए। आखिरकार शास्त्रीजी ने अपनी रश्मिमाला से और कई अनिर्दिष्ट कवियों तथा अन्य विवेचक विद्वानों के बहुमूल्य उपयोगी तथा सुन्दर सुभाषित भी दिये हैं।

इस तरह हमारी सारी पूरी आर्य-विरासत में से चुनकर यह मनोहर संग्रह तैयार किया है। बहुत-से वचन तो हमारे

आदरणीय पुरखों के हैं। चुनने की दृष्टि और अभिरुचि स्वयं शास्त्रीजी की है। मैं स्वयं चुनने बैठता तो शायद संग्रह दूसरे ढंग का होता। लेकिन न जाने मेरा संग्रह बनाते कितने साल बीत जाते और भाषा के अल्पज्ञान के कारण असंख्य अच्छे-अच्छे वचन रह भी जाते।

अगर एक ही उद्देश्य मन में रखकर सौ रसिक विद्वान् अपना-अपना संग्रह तैयार करते तो हर एक संग्रह अपने ढंग का अनोखा बन जाता। तो भी ऐसे सौ अलग-अलग संग्रहों में जो सुभाषित समान रूप से पाये जाते, ऐसे अनेक सुभाषित इस संग्रह में ही हैं।

हिंदी-अनुवाद में शास्त्रीजी ने केवल शब्दार्थ देने का आग्रह नहीं रखा है। केवल भाव ही रजू किया है। और कहीं-कहीं तो चंद संस्कृत-शब्दों को अपना ही विशिष्ट अर्थ दिया है। ऐसे विशिष्ट शब्दों के कारण सुभाषित का रहस्य अनोखे ढंग से प्रगट होता है।

श्री मंगलदेव शास्त्रीजी ने अपने दीर्घ अध्ययन, मनन-चिंतन के फलस्वरूप यह सुभाषित-सप्तशती तैयार की है। संस्कृत-प्रेमियों के लिए (मेरे ख्याल से संस्कृत में वैदिक संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि सब शैलियां आ ही जाती हैं।) और संस्कृति-उपासकों के लिए यह एक अच्छी मनन योग्य, प्रसन्न गंभीर देन है।

मैं तो उनके प्रति कृतज्ञ हूं ही।

सस्ता साहित्य मंडल के प्रति मेरा इतना घनिष्ठ आत्मीय भाव है कि प्रकाशक के तौर पर उनका अभिनंदन करते मैं अपना ही अभिनंदन करूंगा।

... मैं किसी लकवे या बीमारी से नहीं मरना चाहता, जो मेरी इन्द्रियों को शिथिल कर दे! बल्कि, किसी हत्यारे की गोली से मैं मरना चाहता हूं! मैं इसका स्वागत करूंगा। किन्तु सबसे अधिक मैं अन्तिम सांस तक अपना कर्तव्य-कर्म करते-करते मुरझा जाना चाहता हूं।

—मो० क० गांधी

बाबूलाल कोठारी

लघु कथा

हातिमताई से बड़ा

धीरे-धीरे सारे अरबिस्तान में हातिमताई की दान-वीरता और दयालु स्वभाव की कीर्ति सुगंधित फूल की भांति फैलने लगी। जो भी व्यक्ति सुनता, साधुवाद देता और हृदय में उनके लिए आदर का आसन देता। स्वयं हातिमताई के कानों में उनकी प्रशंसा के गीत आने लगे। उनके कार्यकर्त्ता और मित्र-मंडली के लोग स्वयं उनकी दान-वृत्तिपर मोहित हो उन्हें ईश्वर का अवतार मानने लगे थे। इसी प्रकार एक दिन उनके एक घनिष्ठ और श्रद्धालु मित्र ने उनसे प्रश्न किया, “क्या आपको आपसे भी कोई श्रेष्ठ व्यक्ति इस संसार में दिखाई दिया है?”

“हां, क्यों नहीं, बहुत-से।” हातिमताई ने सरलता से जवाब दिया।

“सच...!” मित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

“हां भई...। यदि उदाहरण चाहते हो तो किसी दिन बता दूंगा।” हातिमताई ने संतोष दिलाते हुए कहा।

इस प्रकार यह बात यहीं समाप्त हो गई। समय बीतता गया। एक दिन एक गांव में हातिमताई की ओर से संपूर्ण गांव को भोज दिया गया था। हातिमताई स्वयं आयोजन की व्यवस्था देखते जा रहे थे और प्रत्येक ग्रामीण को संतोषपूर्वक भोजन करा रहे थे। जब सारे गांव के भोजन का सामूहिक कार्यक्रम समाप्त हुआ, तब वे अपने अन्य मित्रों के साथ उस मित्र को भी लेकर जंगल में प्राकृतिक छटा के अवलोकन-हेतु खाना हुए। जंगल में कुछ दूर पहुंचने पर वे क्या देखते हैं कि एक लकड़हारा एक पेड़ की डाल बड़ी ही तन्मयता से काट रहा है। सारा वदन उसका पसीने से सराबोर था। कड़ी मेहनत करने के कारण उसकी सांस भी द्रुतगति से चल रही थी, किंतु फिर भी वह लकड़ी काटे ही जा रहा था।

हातिमताई को बड़ा आश्चर्य हुआ, उस लकड़हारे की इस मेहनत पर। आज के दिन जबकि उसने सारे गांव और उसके आतिथ्यास के रहनेवालों को खाना दिया, फिर यह लकड़हारा अपने पेट के लिए इतनी मेहनत क्यों कर रहा है!

कम-से-कम आज तो वह अपने शरीर को चैन लेने देता।

इन्हीं शंकाओं के समाधान-हेतु हातिमताई उस लकड़हारे के पास पहुंचे और प्रश्न किया, “भई, आज तो गांव में भोज था। सारा जनसमूह वहां खाना खाने गया। क्या तुम्हें इसकी जानकारी नहीं है?”

“वाह, क्यों नहीं! हातिमताई जैसे धर्मात्मा और दयालु द्वारा भोजन दिया गया हो और मुझे मालूम न हो!” बड़ी सरलता से उसने उत्तर दिया।

“फिर तुम क्यों नहीं गये? कम-से-कम आज बिना परिश्रम के ही तुम्हें भोजन मिल रहा था, ऐसी सूरत में यह बेकार की मेहनत क्यों?” हातिमताई के एक मित्र ने अट-स-प्रश्न किया।

“भई, जब मैं शरीर से हूष्ट-पुष्ट हूं, मेहनत कर सकता हूं, फिर किसी का अहसान क्यों लूं? मैं तो ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूं, कि मुझे मेहनत से पेट भरने की शक्ति दे। दाता हातिमताई का भगवान् भला करे जो दीन-गरीबों को बिना भेद-भाव से दान कर रहा है, किन्तु मैं उसका दुरुपयोग क्यों करूं! उस दान को पाने के वे ही हकदार हैं जो मेहनत से उदर-पूर्ति नहीं कर सकते। मैं शक्ति और सामर्थ्य रहते हुए किसीके अहसान का बोझ नहीं लेना चाहता।” कहकर लकड़हारा फिर अपना कुल्हाड़ा चलाने लगा और हातिमताई तथा उसके साथी आगे बढ़ गये।

जब लकड़हारे से काफी दूर पहुंच गये, तब हातिमताई ने उसी मित्र को, जिसने पहले प्रश्न किया था कि हातिमताई से श्रेष्ठ कौन है, संबोधित करते हुए कहा, “देखा तुमने! एक मैं हूं जो जनता का पैसा कर के रूप में प्राप्त कर आपको ही दान करता फिरता हूं और एक यह है जो अपना उदर अपनी मेहनत से भर रहा है। भला तुम्हीं बताओ कि मैं हातिमताई, जो अपना पेट भी अपनी मेहनत से नहीं भर रहा हूं, श्रेष्ठ है या वह लकड़हारा।”

और उस मित्र के मुंह से सरलता से निकल गया, “हां, वह लकड़हारा आपसे बड़ा है।”

कथा

शातवाहन

विलक्षण 'भिखारी' जमनालाल बजाज

हम भारतीयों के लिए बीसवीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण घटना है स्वतंत्रता की प्राप्ति। जब हम स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो सहज ही उक्त संग्राम को प्राप्त महात्माजी के सबल संचालन की स्मृति ताजा हो उठती है। गांधी-युग के नेताओं व स्वतंत्रता-संग्राम के कर्णधारों में स्व० जमनालालजी बजाज का भी एक प्रमुख स्थान था। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था और उनकी प्रतिभा असाधारण थी। वे एकसाथ राजनैतिक नेता, समाज-सुधारक, संगठनकर्ता, भाषा-प्रेमी, कुशल व्यापारी व बड़े नामी दानी थे। शायद ही ऐसा कोई जनहित का कार्य हो जिसे उनका बल न मिला हो और कदाचित् ऐसी कोई देशहितैषिणी संस्था भी नहीं जिसके संस्थापन या संचालन में उनका वरद हस्त न रहा हो। वे अनेकों के आश्रयदाता व अन्नदाता थे। अपने तन, मन व धन को न्यौछावर करके उन्होंने विश्ववन्द्य बापू के पांचवें पुत्र का स्थान प्राप्त किया था।

उनकी दानशीलता लासानी थी। इस हाथ से जो देते थे, उस हाथ को उसका पता भी नहीं लगता था। सन् १९४१-४२ की बात है। उन दिनों मैं वर्धा में रहता था। उस समय वर्धा भारतीय राजनीति का केन्द्र था। अक्सर कांग्रेस की बैठकें वहीं हुआ करती थीं। जब-तब सभा-सम्मेलन भी होते रहते थे। देश के सब बड़े-बड़े नेता और असंख्य कार्यकर्ता वहां एकत्र होते थे। उन सब को ठहराने, खिलाने-पिलाने का सारा भार जमनालालजी अपने कंधों पर सहर्ष लेते थे और उनके मजबूत कंधे इस भार से कभी थकते न थे। उन्होंने अपने सहयोगियों की एक ऐसी मंडली स्थापित की थी जिससे वे बात की बात में आकाश-कुसुम भी तोड़कर ला सकते थे। देखते ही देखते, जंगल में मंगल का-सा समां बंध जाता था। चारों ओर लहराते हुए तिरंगे झंडे, उत्साही स्वयंसेवकों और सेविकाओं की लंबी कतारें और जयजयकार की गूँज। उन दिनों वास्तव में वहांपर स्वतंत्रता देवी के पुजारियों व योद्धाओं का एक अखंड मेला-सा ही लगता था।

ऐसा मालूम होता था मानों सारी प्रकृति के कण-कण में स्वतंत्रता-प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा प्रतिलक्षित हो रही हो। और इस सारे उल्लास व व्यवस्था के पीछे जमनालालजी का वरद हस्त होता था।

एक दिन की बात है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक समाप्त हुई। सब नेता और कार्यकर्ता अपने-अपने प्रांतों को वापस जा रहे थे। बजाजवाड़ी में बड़ी भीड़ थी। किसी का सामान तांगे पर लदे रहा था तो किसी का मोटर पर। कोई अपनी बगल में बिस्तर दबाये चल पड़ा तो कोई हाथ में खादी की थैली लटकाकर। किस्म-किस्म के लोग वहां मौजूद थे। किसी का कुर्ता मैला था तो किसी की धोती फटी-पुरानी थी। कोई नंगे सिर था तो कोई नंगे पांव। कोई ठेठ ग्रामीण लगता था तो कोई शुद्ध शहरी। कोई वृद्ध था तो कोई युवक। लेकिन उन सबके चेहरों पर एक भावना की समानता अवश्य थी और वह थी स्वतंत्रता-देवी की बलि-वेदी पर उत्सर्ग होने की।

शाम हो गई थी और चारों ओर अंधकार अपना साम्राज्य फैलाने को उत्सुक था। जमनालालजी के बंगले के सामने जिसमें अक्सर मौलाना (अबुल कलाम आज़ाद) साहब और पं० जवाहरलालजी ठहराये जाते थे, इमली के पेड़ के नीचे एक वृद्ध नेता खड़े किसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। थोड़ी ही देर में एक हृष्ट-पुष्ट व स्वस्थ व्यक्ति बजाजवाड़ी से निकलकर धीरे-धीरे उन वृद्ध की ओर बढ़ा और दो-चार मिनट के वार्तालाप के पश्चात् कोई वस्तु उस वृद्ध के हाथ में थमा दी और चुपचाप वापस बजाजवाड़ी की ओर चल दिया। मुझे कुतूहल हुआ कि आखिर वह पुड़िया काहे की हो सकती है? वृद्ध महोदय ने अपने-आप ही एक भोली मुसकान के साथ मुझे यह रहस्य बताकर मेरे कौतूहल को शान्त किया कि "यह मेरे मद्रास तक जाने का किराया व जेब-खर्च है।" यह वृद्ध नेता थे आन्ध्र-केसरी स्व० टी० प्रकाशम् और दाता थे स्व० जमनालालजी बजाज। जमनालाल जी इस प्रकार के गुप्त दानों लिए प्रसिद्ध थे।

परंतु, ऐसे दानी भी किसी से भीख मांग सकते हैं, इसकी कल्पना कोई कैसे कर सकता है? इसका एक छोटा-सा उदाहरण नीचे दिया जाता है :

हिंदी शीघ्रलिपि व मुद्रालेखन की शिक्षा जब हम कुछ लोगों ने पूरी कर ली, तो हमारे गुरु स्व० मुरलीधर जी सबनीस ने हमें जमनालालजी के दर्शनार्थ एक दिन ले चलने का निश्चय किया था। उन दिनों सेठजी (जमनालाल) ने गो-सेवा का व्रत धारण किया था। इसलिए वे बंगले को त्यागकर गो-पुरी में एक छोटी-सी कुटिया में रहने लगे थे। गर्मी के दिन थे और वह भी दोपहर का समय। लू के थपेड़े मानों हमें दुलार की चपत मालूम पड़ते थे, क्योंकि हमारे दिलों में कोई एक अप्रत्याशित उमंग थी और आकर्षण था एक महान् मनीषी से मिलने का। भला लू हमारी क्या परीक्षा ले सकती थी! आखिरकार हम उस कुटिया के नजदीक पहुंच गये। जैसे ही हम उस कुटी के अंदर प्रविष्ट हुए तो हमें अपनी कल्पना के अनुरूप ही दृश्य देखने को मिला। जमनालालजी एक मौन तपस्वी की भांति तख्त पर शांत भाव से बैठे हुए थे। उनके विशाल भाल से महानता के लक्षण स्पष्ट प्रकट हो रहे थे। हमने सादर प्रणाम किया और उन्होंने हमें बैठने की अनुमति देकर कुशल-मंगल पूछना आरंभ किया। हमें लगा कि मानों हम अपने ही कुटुम्ब के एक बुजुर्ग के समक्ष बैठे बातें कर रहे हैं। जब हमारे गुरुजी ने हमारा परिचय कराया तो उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में कहा, “मुझे बड़ी खशी है कि तुम लोग यहां रहकर हिंदी टाइपिंग व शॉर्टहैंड सीख चुके हो। इससे भी मुझे ज्यादा खुशी इस बात की है कि तुममें से एकाध दक्षिण के भी हो। आगे चलकर इस कला की बड़ी जरूरत होगी और तब तुम लोगों की सेवाओं की बड़ी मांग होगी। यदि तुम अभी कहीं खपना चाहो तो मैं किसी संस्था या कारोबार में तुम्हें खपा सकता हूं।” कल्प-तरु मांगने पर वर देता है, परंतु जमनालालजी की विशालहृदयता ने कल्पतरु को भी लजा दिया था। वे याचक या सहायतापेक्षी व्यक्ति के मनोभावों को भंग जाते थे। वे अभय व सहायता का अपना वरद-हस्त स्वयं ही बढ़ा देते थे। हमें भी उनका आश्वासन जब बिना मांगे मिला तो हम आश्चर्य-विभोर हो गये। क्योंकि उन दिनों हिंदी शीघ्रलिपि का व्यवहार नहीं के बराबर था।

समय के रुख से सेठजी भलीभांति परिचित थे।

आगे चलकर जब हमारे गुरुजी ने हिंदी शीघ्रलिपि में हमारी अच्छी गति का परिचय कराया तो सेठजी ने सहज व सरल भाव से कहा, “गति की कोई बात नहीं। काम करते रहो तो गति आज नहीं तो कल अवश्य बढ़ ही जायगी। यह तो गौण बात है। परंतु मुख्य बात तो यह है कि तुम लोगों पर वर्धा की छाप पड़ी और वर्धा छोड़ने के पूर्व, मैं तुम-लोगों से एक बात की भीख मांगना चाहता हूं। क्या तुम लोग दे सकोगे?” यह अप्रत्याशित प्रश्न सुनकर हम अवाक् रह गये। ‘भीख’ शब्द निकला ऐसे महान् पुरुष के मुंह से, जो कि करोड़ों का मालिक हो। सुनकर कौन नहीं चौंकेगा? ‘भीख!’ हम क्षुद्र व्यक्तियों के पास था ही क्या, जो हम सेठजी को दे पाते! जो व्यक्ति अर्थ का ही स्वामी नहीं, वरन् महान् गुणों का भी आगार हो, राजा जनक की भांति एक तपस्वी का जीवन बिताते हुए अतिमानव का स्तर प्राप्त कर चुका हो और जिसके नस-नस में देशप्रेम व शुद्ध आचरण व आदर्शवान् संस्कारों का रक्त प्रवाहित हो रहा हो, ऐसी सुशिक्षित विभूति के मुंह से भिक्षा-याचना और वह भी हम-जैसे अपरिपक्व विद्यार्थियों से? आश्चर्य! जब कोई आधार न पाया तो हमने यही सोचकर संतोष करना चाहा कि कदाचित् सेठजी परिहास कर रहे हैं। परंतु, उनके मुखड़े पर परिहास का कहीं आभास तक नहीं था। तब और कोई उपाय न देखकर हमारे मुंह से अनायास ही निकल पड़ा, “आज्ञा दीजिये।”

गंभीर भाव से जमनालालजी ने आगे कहा, “मैं तुम लोगों से चरित्र की भीख मांगता हूं। यह वचन दो कि तुम आजीवन चरित्रवान् रहोगे!” यह सुनकर हम गद्गद हो गये। सेठजी स्वयं एक महान् साधक व तपस्वी व्यक्ति थे। उन्हें अपनी व्यक्तिगत सच्चरित्रता से ही संतोष न था। उनके दिल की प्यास असीम हो गई थी। वह राष्ट्र के एक-एक नागरिक को चरित्रवान् के रूप में देखने को लालायित थे। यही उनका स्वार्थ था।

आज भी जब कभी मुझे वर्धा की याद आती है तो सेठजी की वह अमर वाणी कानों में गूँजने लगती है, “मैं तुम से चरित्र की भीख मांगता हूं।” परंतु, साथ ही दिल में एक टीस-सी उठती है, काश, उस महापुरुष को “भिक्षा” दे पाने की क्षमता तबसे आज भावी

गंगाप्रसाद 'विमल'

गांधीवाद में अध्यात्म

वर्तमान युग में अध्यात्म का साधारण अर्थ ही आत्मा के उस गहन, गूढ़ दार्शनिक (चित्तन) मंतव्य से लगाया जाता है, जिसकी साधारण जनों के हृदय में सोचने की मान्यता ही नहीं जागती। उस जंजालग्रस्त परमात्मतत्त्ववादी अध्यात्म से तादात्म्य स्थापित करने के लिए जन-साधारण उत्सुकता नहीं दिखाता, अपितु उपेक्षित समझ उसकी उपेक्षा ही करता है। संभवतः मनोविज्ञान के ग्रंथों में इसे 'हीन-ग्रंथि' या हीनत्व की भावना का प्रभाव ही मानेंगे, परंतु मन के चेतन-स्तरपर सोचने के लिए अजागरूक मनुष्य के मन में यह शंका या जिज्ञासा अवश्य ही उत्पन्न होती है कि अन्ततः यह 'अध्यात्म' है क्या बला? अक्सर इसे समझने और जाननेवाले साधु-सज्जनों की कोटि के पीछे ही सामान्य समाज चला करता है, और इन्हीं असामान्य सामाजिकों के विश्वास पर वे भी विश्वास की दीवार खड़ी करते हैं। अध्यात्म या परमात्म-तत्त्व वस्तुतः आत्म-ज्ञान की वह अंतिम पराकाष्ठा है, जहां आत्मा अपने स्वरूप को भूल परमात्म-अनुभूति में लय हो जाती है। वहां वैयक्तिक निष्ठा या चेतना का प्रत्यक्ष प्रश्न नहीं उठता। अतः साधारण शब्दों में आत्माके अहं का परमात्मा में विलीनीकरण अध्यात्म-साधना की वह चरम कोटि है जहां भौतिक-नश्वर जगत् की मायावी दृश्यमान वस्तु-स्थिति के प्रति अध्यात्म-साधक उदासीनता व्यक्त करता है। साधक अपनी अन्तर्मुखी साधना द्वारा उस निराकार के अनिर्वचनीय लय-सुख की अनुभूति कर जग के क्षणिक भौतिक सुखों को कुछ नहीं समझता। साधारणतः हम साधारणजनों के लिए जीवन से इतर अन्तर्मुखी साधना द्वारा परमात्म-तत्त्व में लय होने की बात कहीं कोई शास्त्र या धर्म या व्यक्ति नहीं कहता। हां, जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण की ओर सत्प्रेरणा देकर सदाचार की पृष्ठभूमि में उतरना आज के समन्वयवादी विचार (गांधीवाद) का निष्कर्ष है।

परमात्म या अध्यात्म क्या है, इसका संतोषजनक उत्तर हमारे पास नहीं। परंतु उत्तर के अभाव में ही तार्किक

की तरह यदि हम अदृश्य के प्रति अविश्वास व्यक्त करें तो अपनी मूढ़ता ही प्रदर्शित करेंगे। मन के कोमल, कठोर या अनेक विचार गोपनीय स्थिति में अन्तस्-चेतना के उस लोक में रहते हैं जहां हम दृष्टि नहीं डाल सकते। प्राण-वायु, शरीर-चालक या हमारी चेतना को हम अन्तर्दृष्टि से देख नहीं सकते; किसी विशेष क्षण, किसी विशेष अनुभूति में उनके अस्तित्व का आभास मिल ही जाता है। अतः परमात्म-तत्त्व है, उसका अस्तित्व है, परंतु उसके अस्तित्व की वह विशेष अनुभूति-स्थिति सबको प्राप्त नहीं होती। इसीलिए साधना का नियमन किया गया। अन्तर्दृष्टि को जगाने के लिए बहिर्दृष्टि के प्रति उपेक्षा दिखानी पड़ती है। अन्तःसाधना से व्यक्ति का चेतन परोक्ष रूप से जड़-जगत् के कल्याणार्थ कार्य अवश्य करता है, किन्तु कालान्तर में अंतःसाधना का रूढ़ियों में बंध जाना, सामाजिकों के लिए सहज, ग्राह्य एवं हितकारी नहीं होता। उसमें योग, तंत्र-मंत्रादिकी साधना सामाजिकों के लिए कठिन एवं व्यर्थ की दिखावटी होती है। तथापि रूढ़ि-गत विचार कहीं भी, किसी भी व्यक्ति-समाज को युग के अनुरूप चलने से नहीं रोक सकता। दूसरे साधना-त्मक अध्यात्म, जीवन को मात्र निवृत्ति और त्याग की ओर ले जाता है, स्थूल शब्दों में उसे पलायनवादी कह सकते हैं। आर्य-संस्कृति के धर्म-तत्त्वों में त्याग और भोग की महानता दिखाई गई है, वे जीवन से इतर साधना को ही त्याग नहीं कहते, जीवन के चार पड़ाव या आश्रमों के रूप में उन्होंने भोग और त्याग को परस्पर मिला दिया, अतः आर्य-संस्कृति जहां तक रूढ़िगत साधना को आवश्यक नहीं समझती, वहां तक वह पलायनवादी नहीं।

संसार के विभिन्न धर्मों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वहां किसी न किसी रूप में अन्तर्मुखी साधना, वैयक्तिक चेतना के उत्तरोत्तर विकास की सीढ़ी है अवश्य, परंतु उसका स्वरूप भिन्न है। व्यर्थ के अंध-विश्वासों से उसमें इतनी विकृति आ गई है कि अब वह साधना साधना ही नहीं रही, अपितु वह जीवन में भोगोप्लावित होकर अत्यंत विकार-

ग्रस्त या हीन अवस्था में पड़ी है। उसका भोग भी संतुलित नहीं। कई विचार (धर्म-तत्त्व) निराशावाद की उस चरम सीढ़ी पर पांव रखे हैं, जहां वे मोक्ष को भी निराश और दुःख-भावना से ग्रहण करते हैं। अधिकतर जीवन की वास्तविकता में असफल रहकर ये सभी विचार पलायनवादी हैं।

गांधीवाद के लिए भी पहले-पहल लोगों की यही धारणा थी कि यह जीवन से पलायन है, किंतु यथार्थतः यह सत्य नहीं। गांधीवाद जीवन के उस विशद क्षेत्र में त्यागात्मक भावना लेकर अवतीर्ण होता है। 'कर्म' उसका धर्म है, और निष्कामता उसकी साधना। सेवा उसका मर्म है और सेवाजनित सुख उसका अनिवर्चनीय फल, जिसे न चाहते हुए भी भोग के लिए सुरक्षित रखा जाता है। क्योंकि त्याग के साथ सुख-भोग भी जीवन में अत्यावश्यक है, किंतु वह भौतिक-इंद्रियग्राह्य न लिया जाकर मानसिक या आंतरिक हो सकता है। अर्थात्, भोग की भी अपनी सीमाएं हैं। भोग हो, लिप्त होकर नहीं, निस्संग भाव से, वही भोग सर्वोत्तम है। गांधीवाद, अपने में कोई वैयक्तिक वाद या निष्ठा को लेकर नहीं चलता; वस्तुतः वह एक मध्यम मार्ग है, जो अंतर्मुखी साधना और समाज-सेवा के बीच की एक कड़ी रूप है। गांधीवाद का दर्शन सर्वत्र संसार में व्याप्त शाश्वत धर्मतत्त्वों में निहित, जो व्यवस्था, जो धर्म अपने लिए, राष्ट्र के लिए और विश्व के लिए जिस कर्म को सर्वोत्तम समझता है, वही उसका धर्म है। धर्म के निगूढ़ तत्त्वों में जाने की आवश्यकता नहीं, अपितु धर्म के शाश्वत तत्त्वों को हृदयंगम करने की आवश्यकता है। संक्षेप में इस अध्यात्म के चार मुख्य यम हैं—अपरिग्रह, अस्वाद, अस्तेय और इन्द्रियनिग्रह—ये ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में साधना-पथ के साधन हैं जो अहिंसा और सत्य दोनों साध्यों तक पहुंच व्यक्ति, समाज और विश्व के शाश्वत धर्म पर पदासीन हैं। बौद्ध धर्म, गीता और अन्यान्य पाश्चात्य विचारों की अच्छी और सर्वग्राह्य बातें इसका आकृतिमूलक दर्शन हैं। गीता का निष्काम कर्म प्रारंभिक सीढ़ी है जिससे मानव-जीवन सेवा-क्षेत्र में उतरता है।

अतः यह तो हमें निःसंकोच कह सकते हैं कि गांधीवाद में अंतःसाधना को उतना महत्त्व नहीं दिया गया। व्यक्ति से उसे मान्य नहीं ठहराया गया। पहले व्यक्ति है, उसके

परे आत्मविकास है और तब साधनात्मक अध्यात्म। परंतु व्यक्ति अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से बहिर्मुखी होकर व्यवहारात्मक अध्यात्म में अवतीर्ण होता है। सारे धर्म को सद्-नीति के अन्तर्गत मान लिया गया है। "सच्ची नीति में, बहुत अंशों में, धर्म का समावेश हो जाता है।" अतः व्यक्ति का आत्म-विकास तभी संभव है जब वह नैतिक गुणों की कसौटी पर खरा उतरता हो। नीतिशास्त्र आचरणपर आधारित है और सदाचार उसकी पृष्ठभूमि है। सदाचार की दृष्टि से जो काम व्यक्ति, समाज और विश्व के लिए हितकारी हो, उसीमें संलग्न होना चाहिए। यमान्तर्गत कर्म करना ही धर्म-पालन करना है। इस प्रकार गांधीवाद के मूल तत्त्वों (जो समस्त विश्व के शाश्वत धर्म-तत्त्व हैं) का परस्पर पूरक संबंध है। एक के भी अभाव में वह (व्यक्ति) व्यावहारिकता से नीचे गिर जाता है। किंतु एक के भी विकास में वह विश्व-कल्याणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। सम्यक् रूप से सत्य के लिए अहिंसा—व्यापकत्व और व्यावहारिक सहानुभूत्यात्मक अंश से पूर्ण—आवश्यक है। गांधीवाद का प्रभु व्यक्ति ही है, सर्वोदय के अर्थों में दरिद्र ही नारायण है, परंतु तब जब वह सत्य का साधक हो। किंतु व्यक्ति में पूर्ण सत्य-दृष्टि अत्यंत कठिन है, अतः निराकार सत्य ही इस अध्यात्म का केंद्र है। उसी सत्य केंद्र के चारों ओर व्यक्ति, वैयक्तिक निष्ठा से परिपूर्ण होकर साधना (व्यावहारिक साधना) में लीन उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है।

व्यक्ति के लिए सदाचार आवश्यक है। सदाचार के लिए आत्मशुद्धि और आत्मशुद्धि के लिए अहं-त्याग, अर्थात् व्यक्ति अपने क्षुद्र 'स्व' से विराटत्व की ओर, महत् 'स्व' की ओर दृष्टिपात करे, तब ही आत्मशुद्धि संभव है। अपने स्वार्थ से दृष्टि हटाकर, अपने निज गौरव से दृष्टि हटाकर, जब व्यक्ति छोटे रूप में पड़ौसी, समाज और बड़े रूप में विश्व, अखिल ब्रह्माण्ड को ही अपना रूप मानेगा और तदर्थ कर्म-लग्न होगा, तभी वह विराट् 'स्व' की अनुभूति कर पायेगा। समस्त जीवों के प्रति, अणु-अणु के प्रति जब उसकी समता-दृष्टि जागेगी तभी उसकी आत्मशुद्धि संभव है। और आत्मशुद्धि के व्यावहारिक साधन हैं चार यम, जिनके अंतर्गत शुद्ध-भावना का प्रसार है। आत्मशोधन 'स्व' है, परंतु आत्मशुद्धि के लिए स्व-भाव से कर्म-लग्न होना ही महत्

'स्व' की ओर बढ़ना है। अपने स्वार्थ, वैयक्तिक अहं और अभिमान का जब मन से कोई संबंध नहीं रहता तब ही मनुष्य द्वैत भाव, द्वेष से ऊंचा उठकर पूर्ण मानवत्व की अनुभूति करता है। तब ही सर्व-सुख, सर्वकल्याण की स्मरण-भावना मात्र से संतोष का स्फुरण उसके अंतर में होता है और वह उस सुख का उपयोग करता है।

गांधीवाद का दर्शन व्यावहारिक दर्शन है। वह गूढ़ न होकर सर्वग्राह्य और सहज है। वह व्यक्ति के चेतन को ज्ञानमय करने के लिए रूढ़िग्रस्त अंतःसाधना पर बल न देकर, जीवन के साधारण सत्य-स्तंभों पर आरुढ़ रहने की प्रेरणा देता है। उसमें जीवन के प्रति पलायनवादी दृष्टिकोण न होकर जीवन के प्रति 'सकर्म' प्रेरणा है।

धर्म का लक्ष्य जीवन को पुनीत-पावन बनाकर उस परमपिता का साक्षात्कार करना है; किन्तु अनेक धर्म उस परमपिता को अपनी सीमाओं, परिस्थितियों में बांधकर, अपनी मूढमति का प्रदर्शन कर झगड़ते हैं, जबकि समस्त ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च शक्ति एक है। गांधीवाद की कल्पना उस शक्ति को सत्यमय मानती है। जगत् के असत्य और भ्रमों से इतर वह शक्ति सत्यमय है, अतः यहां सत्य की साधना पर बल दिया जाता है। सत्य ही मोक्ष है, सत्य ही प्रभु है और सत्य का पालन करने से जीवमात्र का हित होता है, व्यक्ति (जीव) का हृदय सत् प्रेरणाओं से परिपूर्ण होता है।

गांधीवाद मध्यम मार्ग है। वह भौतिक जगत् के सत्य को भी ग्रहण करता है। भौतिक जगत् के असत्य का विद्रोह सत्य के 'आग्रह' मात्र से अहिंसात्मक मनोभावना द्वारा कर, सत्य की साधनात्मक पद्धति द्वारा, असत्य को सत्य में परिणत करने का प्रयास करता है।

गांधीवाद मानव-जीवन के महत्त्व को मान मानव और जीवमात्र के प्रति सद्भावना, सम-भावना और सेवा-भावना को अधिक महत्त्व देता है।

अतः यह निर्विवाद है कि गांधीवाद एक व्यावहारिक अध्यात्म है, उसमें जीवन से संबंधित प्रत्येक दर्शन, साहित्य, राजनीति आदि का अपना आध्यात्मिक कलेवर है। वह व्यक्ति के विकास के लिए उन्हें भी आवश्यक मानता है। व्यक्ति के आत्मविकास के बृहत् रूप में समाज और विश्व का विकास ही उसका परम लक्ष्य है। वह अपने को परिस्थितियों और सीमाओं में न बांध मानव-कल्याण के लिए सत्य के शाश्वत पथ से युग-युगों से आ रहा है। भले ही इससे पूर्व उसे किसी नाम से अभिहित न किया गया हो। आज भी वह परम चिंतनवेत्ता, व्यावहारिक युगपुरुष, समन्वय-व्यक्तित्व, गांधीजी का स्मरण हमें कराता है। गांधीवाद अपने में कुछ नहीं, अपितु वह सत्यमय वाद है। अन्य धर्मों, अध्यात्मशास्त्रवादियों में व्यक्ति की सत्ता गौण रखी गई। मानव का कम मूल्य था। साधना और प्रवर्तक का ही मुख्य स्थान था जो कि गौण रूप में आना चाहिए था। मन, विचार और वाणी से राग-द्वेष-रहित होना व्यक्ति के आत्म-विकास की प्रथम सीढ़ी है। यहां व्यक्ति से समाज की ओर बढ़ने की नई प्रवृत्ति है। समाज से पहले व्यक्ति में विश्वास का आरोप करना चाहिए। तभी वह अपना विश्वास समाज को दे सकेगा। किसी एक विचार, धर्म या मत से गांधीवाद संबंधित नहीं। उसमें मानव-मात्र के मंगल की कामना के लिए निष्काम कर्म की भावना विद्यमान है।

अस्तु, गांधीवाद अंतर्मुखी साधना से इतर सामाजिकता की ओर प्रवृत्तिमूलक है। वह जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, रूढ़िमुक्त होकर सहज साधना से समस्त मानव-जाति को सम-भाव से ग्राह्य अध्यात्म है। लोकमंगल के लिए सत्य की साधना में लीन यह सरल अध्यात्म व्यक्ति की आत्म-शुद्धि द्वारा समस्त विश्व को एक चिरनूतन संदेश देता है—वर्तमान के प्रति आस्था, भविष्य के प्रति आशा और विगत के प्रति विश्वास की प्रेरणा देता है।

रामकिशोर 'पाषाण'

हम अपनी सीमाओं को पहचानें

मनुष्य सर्वशक्तिमान् नहीं है। उसकी शक्ति और योग्यता की सीमाएं हैं। अक्सर वह भूल जाता है, इस बात को, और अपने-आपको ईश्वर का समकक्ष समझने लगता है। और फिर जब उसे असफलताओं का सामना करना पड़ता है, तब उसे भान होता है कि उसकी अपनी सीमाएं हैं, जिन्हें उसने समयपर नहीं पहचाना। यदि वह समयपर इन्हें पहचान जाता तो शायद सावधान हो जाता। इसी दृष्टि से यह लेख प्रस्तुत किया जाता है कि समय रहते हम जागरूक हो जायें, अपने को समालोचक की नजर से देखें और अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न करें।

सबसे पहले हम शारीरिक शक्ति को लें। 'धर्मार्थ-काममोक्षाणां स्वास्थ्यं हि खलु साधनम्।' किसी भी दृष्टि से देखें, मनुष्य के जीवन में उसके शारीरिक स्वास्थ्य का बहुत बड़ा स्थान है। जैसा कि अंग्रेजी में कहावत है, *A sound mind dwells in a sound body* — मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी शरीर का चंगा होना जरूरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय, तो शरीर को ईश्वर की देन और ईश्वर का आवास माना है। इसकी ओर लापरवाही करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है। आजकल हम लोग चाय-तंबाखू पीकर, देर-देर तक जागकर, सिनेमा देखकर, शुद्ध हवा का महत्त्व न समझकर, अस्वास्थ्य-कर भोजन करके और ब्रह्मचर्य का पालन न कर अपने स्वास्थ्य को—याने शारीरिक संपत्ति को—खो देते हैं। हम शारीरिक श्रम से बचते हैं और उसे हीन दृष्टि से देखते हैं। इन अनेक कारणों से हमारे राष्ट्र की यह शारीरिक संपत्ति खंडित हो गई है। उसे फिर से स्थिर और विकसित करने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो सैनिक शिक्षा और अनुशासन हमारी शारीरिक संपत्ति के विकास में सहायक हो सकते हैं। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय सरकार का ध्यान भी इस ओर गया है।

बौद्धिक दृष्टि से हमें अपनी विभिन्न faculties (देनों) को जांचते रहना चाहिए। हमारी स्मरण-शक्ति

ठीक है या नहीं; वह हमें समय पर धोखा तो नहीं देती; हम मौके पर साहस के साथ उपयुक्त बात कह पाते हैं या नहीं; हम ठीक समय पर अपना काम करते हैं, या आलस्य करते हैं; देश-विदेश की और स्थानीय खबरों से हम अनभिज्ञ तो नहीं रहते! इन सब बातों का हमारी सफलता-असफलता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। एक और महत्त्वपूर्ण बात है। अधिकांश लोगों को मैंने देखा है कि वे अनुकूल वातावरण और परिस्थिति में ही काम कर सकते हैं, अपना विकास कर सकते हैं। परिस्थिति जरा भी प्रतिकूल हुई कि वे घबड़ा जाते हैं, हिम्मत हार जाते हैं या गलत-सलत काम कर बैठते हैं। आवश्यक यह है कि हमारे मन की एक पकड़ हो, हमारे पैर मजबूत आधारशिला पर हों, हमारी कुछ आस्थाएं हों, जिनका संवल हमें मिलता रहे और हम विपत्तियों का सामना करें तथा फिसलनों से बचते रहें। स्वयं इन पंक्तियों के लेखक को ऐसे मौके आये हैं, जबकि उसकी आस्थाएं डगमगाई हैं। बड़े-बड़े और प्रतिष्ठित लोगों में उसे असत्याचरण मिला है, सभय स्वार्थ मिला है और धन-यश की तीव्र कामना मिली है। आज का जीवन ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसमें असत्याचरण, कपट-धूर्तता और दिखावा करना पड़ता है। तथापि कुछ ऐसे सत्य और सिद्धांत हैं, जिनका अपने-अपने क्षेत्रों में पालन होना ही चाहिए। यदि ऐसा न हो, यदि हर जगह मनुष्य धूर्तता का ही प्रयोग करता रहे, या अपने अहंकार को ही लेकर बैठा रहे, तो चल नहीं सकता। जीवन एक विशाल प्रयोगशाला है, एक समझौता है। हमें कई बार, कई जगह नई-नई बातें सीखने को मिलती हैं। इन सबको ग्रहण करते हुए अपने अनुभव की कसौटीपर कसकर और विद्वान् तथा सफल लोगों से सीखकर जीवन की कोई पकड़, कोई आस्था, कोई सिद्धांत अवश्य ही हमें बना लेने होंगे। अन्यथा हम ऐन मौके पर डांवाडोल हो जाते हैं, फिसल जाते हैं।

सामाजिक दृष्टि से भी अपने-आपको समझने की

जरूरत है कि हम अपने-आपको समझने की जरूरत है कि हमारे सामने लोगों में हमारा क्या स्थान है।

हम अपनी सीमाओं को पहचानें

: १७९ :

रामकिशोर 'पाषाण'

मैं यह नहीं कहता कि हम लोगों को प्रसन्न रखने की कोशिश करें। बल्कि हमारे दिल में सबके लिए प्रेम और आदर हो, किसी का हम अहित या अनादर न करें और यथासंभव उनकी सहायता करने को तैयार रहें, यह काफी है। मैं मानता हूँ कि अपने अहं को संयम में रखना या खो देना कठिन है। बाज मौके ऐसे भी आते हैं कि हमें कड़ी और अरुचिकर बात करनी पड़ती है, लोगों से रार लेनी पड़ती है। इसलिए हम कोई ऐसे नियम नहीं बना सकते कि किस मौके पर किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। किन्तु उपरोक्त सिद्धांत को मानकर समय और परिस्थिति के अनुसार सौहार्दपूर्वक व्यवहार करके हम अपनी सामाजिक शक्ति का विकास कर सकते हैं। इस और अगर ध्यान न दिया जाय, तो मनुष्य एकाकी रह जाता है; वह बहुत-से काम नहीं कर पाता है और कई बार तो इसी कारण वह अपने वैयक्तिक जीवन में भी असफल हो जाता है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि अपनी खामियां उसे दिखाई नहीं देती हैं और दूसरों की छोटी-सी खामी भी उसे बड़ी मालूम होती है।

उसे चाहिए कि दूसरों की गलतियों पर सहानुभूति के साथ विचार करे, स्वयं को उनकी जगह रखकर उस दृष्टि से विचार करे, और इस प्रकार क्षमाभाव और बड़ा दिल लेकर स्थिति को समझने का प्रयत्न करे।

यह मैंने संक्षेप में, अपने अनुभव से, बताया कि हमें स्वयं आत्मनिरीक्षण *introspection* करते रहना चाहिए और अपनी शक्तियों का विकास करते रहना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि हम आत्मविश्वास ही न रखें। इसके उलटे, आत्मविश्वास तो सफल जीवन के लिए एक अत्यंत आवश्यक चीज है। हां, यह आत्मविश्वास गलत न हो कि ऐन मौके पर धोखा दे जाय। वैसे देखा जाय, तो सही आत्मविश्वास भी एक निर्माण करने की चीज है। और कहीं-कहीं झूठा आत्मविश्वास भी हमें सफल बना देता है। किन्तु यह तो अवसर-विशेष की बात हुई। अंततः सत्य पर आधारित आत्मविश्वास, लगन और कठिन श्रम ही हमें सफलता प्रदान करते हैं।

(पृष्ठ १६९ का शेष)

कहते थे। अपनी आवश्यकताएं बढ़ाकर जीवनस्तर ऊंचा करना आजके अर्थशास्त्र का मुख्य सिद्धान्त है। नीति, संयम, सादगी और नैतिकता का कोई मूल्य हमारे जीवन में नहीं रहा। जीवन की प्रधान आवश्यकताएं रोटी, कपड़ा, दूध-दही और साधारण मकान न होकर रेडियो, बिजली, की बत्ती और पंखे, घड़िया रेशमी कपड़े, चमचमाते बूट, बढ़िया फर्नीचर और मोटर आदि हो गई हैं। आज देश के अर्थशास्त्री अधिक-से-अधिक विदेशी मुद्रा अर्जन करने की दिशा में विचार करने लगे हैं और इसके लिए गेहूं की अपेक्षा, तम्बाकू बोनो को प्रश्रय देते हैं। किसान भी अनाज की अपेक्षा गन्ना, कपास और तम्बाकू तथा तिलहन बोनो में अपना लाभ समझता है। देश के शासक मद्यनिषेध को कम महत्त्व देते हैं या देना नहीं चाहते हैं, क्योंकि शराब के प्रचार से सरकार को करोड़ों रुपये की आय हो रही है; भले ही निम्न और मध्यम-वर्ग के वच्चे भूखे, अनपढ़ और अस्वस्थ रह जायं।

आज की पंचवर्षीय योजनाओं में भी मुख्य कसौटी केवल जनता की कय-शक्ति येन-केन प्रकारेण बढ़ाना रह गया है।

प्राचीनकाल में सम्मान, शक्ति और सत्ता का विकेन्द्रीकरण था। आज सर्वाधिक सम्मान पैसेवाले का है। पहले एक साधु ब्राह्मण का सम्मान राजा और लखपति उठकर करते थे। आज भारत साधु-मंडल के अध्यक्ष को मंत्रियों के आगे हाथ जोड़ने पड़ते हैं।

ये कुछ विचार हैं जो मेरे हृदय में बार-बार उठते हैं। मैं स्वयं अपने को अपराधमुक्त नहीं मानता और न इस लेख द्वारा ऊंची पवित्र वेदी से जनता को प्रवचन करना चाहता हूँ। मैं तो अपने नम्र निवेदन के द्वारा देश के नेताओं, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं तथा शासकों से इन पंक्तियों पर कुछ विचार करने का अनुरोध करना चाहता हूँ। यही मेरे इस लेख का उद्देश्य है।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न

शिक्षा पर राज्य सरकार का नियंत्रण किस सीमा तक होना चाहिए, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसपर मतभेद स्वाभाविक है। चाहे शिक्षा-पद्धति हो या कोई दूसरी पद्धति, नियंत्रण के अभाव में उसका नियमित कार्यान्वयन कभी-कभी कठिन हो जाता है। इतना होनेपर भी, यह सच है कि कड़ा नियंत्रण विकास का बाधक होता है। नदी के सम्यक् प्रवाह के लिए दोनों तटों का नियंत्रण स्वाभाविक और उचित है, किन्तु दोनों तटों के बीच कोई नियंत्रण रखना प्रवाह की गति को रोकना है। शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से हमें यह विचार करना है कि स्कूल, कालेज और उनके पाठ्यक्रम तथा प्रशासनिक पद्धतिपर सरकार किस तरह और किस सीमा तक अपना नियंत्रण रखे।

शिक्षा का दायित्व सरकार के ऊपर है और इसका विधिवत् उल्लेख भारत के संविधान में है। जहां दायित्व रहता है वहां अधिकार भी स्वयं आ जाता है, पर संविधान में किसी अधिकार की चर्चा नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के संबंध में अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए या उसके बदले में सरकार अपने लिए पूरा अधिकार ले लेती है। शिक्षा के मद में सरकार को प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं। सरकार यह समझती है कि उसके धन का व्यय उचित रीति से हो, इसलिए शिक्षा-संस्थाओं पर अपना नियंत्रण बनाये रखना उसके लिए आवश्यक है। इसी प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि शिक्षा के प्रचार या विकास में राजकोष से जितना धन खर्च होता है उससे कहीं अधिक धन प्रजा की ओर से खर्च होता है। सरकारी आंकड़े ही इसके प्रमाण में दिये जा सकते हैं। पूरे सरकारी खर्च से चलनेवाले स्कूलों और कालेजों की संख्या नगण्य है। हां, अधिकांश स्कूलों और कालेजों को सरकारी सहायता प्राप्त होती है, पर ऐसी सहायता से उनका पूरा काम नहीं चलता। पूरी सरकारी सहायता से चलनेवाले स्कूलों और कालेजों में भी व्यवस्था का ही खर्च सरकारी रहता है, उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों को प्रवेश-शुल्क, पाठ्य-पुस्तकें, कपड़े, आदि खर्च करना पड़ता है।

शुल्क, परीक्षा-शुल्क आदि के रूप में बहुत खर्च करना पड़ता है। हिसाब लगाकर देखा जाय तो शिक्षा के पूरे मद में खर्च होनेवाली रकम का एक-चौथाई अंश सरकार देती है और तीन-चौथाई अंश जनता को देना पड़ता है। यह औसत का अनुमान है। किसी-किसी राज्य में इसका अनुपात न्यूनाधिक हो सकता है। इससे मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि नागरिकों की संपत्तिपर सरकार का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। अधिकार के बिना कोई सरकार जीवित नहीं रह सकती। इसी अधिकार के कारण सरकार को जनता के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। मुख्य है—कर्तव्य-पालन, अधिकार, उससे प्रसूत होता है। प्रजातंत्र के समुचित विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में सरकार को कम-से-कम अधिकार या नियंत्रण रखना चाहिए।

भारत के तीन विश्वविद्यालय तो केन्द्र-शासित हैं, किन्तु अन्य सब विश्वविद्यालय अप्रत्यक्ष रूप से राज्य-शासित हैं। राज्य-शासित कहने से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि विश्वविद्यालयों को चलाने के लिए राज्य सरकार जो धन देती है उसके आधारपर वह अपना कुछ अंकुश रखती है। यों, सारी अंतरंग व्यवस्था के लिए विश्वविद्यालय को पूरी स्वतंत्रता है, और यह उचित भी है। किन्तु स्कूलों के बारे में ऐसी स्थिति बिल्कुल नहीं है। सरकारी, गैर-सरकारी स्कूल, सब सरकार के भार से दबे हुए हैं। कुछ स्कूलों को पूरा व्यवस्था-खर्च सरकार की ओर से मिलता है और कुछ को सौ-पचास रुपये मासिक सरकारी अनुदान मिलता है। कुछ ऐसे भी हैं जो सरकारी अनुदान नहीं लेते या जिन्हें नहीं मिलता। वे सब सरकारी नियंत्रण में लगभग एक-जैसे ही हैं। उनकी शिक्षा-पद्धति, उनकी प्रबंध-समिति, उनकी पाठ्य-प्रणाली, उनकी पाठ्य-पुस्तकें; सब पर सरकार सवार है। स्वस्थ प्रजातंत्र के लिए यह स्थिति अनुकूल नहीं है। यदि समुचित रीति से भारतीय प्रजातंत्र में हमें शिक्षा के अधिकार अधिक-से-अधिक

शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न

: १८१ :

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

नागरिकों को देना चाहिए और कम-से-कम सरकार को अपने पास रखना चाहिए।

शिक्षा-शास्त्रियों का यह विचार नया नहीं है कि देश की शिक्षा-पद्धति राजकीय नियंत्रण से स्वतंत्र होनी चाहिए। यह एक आदर्श है, इसकी प्राप्ति का प्रयत्न हमें करना चाहिए। विकसित तथा प्रबुद्ध प्रजातंत्र में शिक्षा को स्वतंत्र ही छोड़ा गया है, लेकिन भारत-जैसे नवजात प्रजातंत्र में इसकी आवश्यकता पर विचार किया ही नहीं गया। यों, राष्ट्र के नेताओं तथा अधिकारियों ने समय-समय पर अपने वक्तव्यों में इसकी आवश्यकता को महसूस किया है, पर इस संबंध में वे अबतक कुछ कर नहीं सके हैं।

विगत ३१ मई को भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्री डॉ० कालूलाल श्रीमाली ने अमृतसर में अपने एक भाषण में कहा, "सरकार को शिक्षा-संस्थाओं पर एकाधिकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे देश में प्रजातंत्र के विकास में कमजोरी आ जायगी।... शिक्षा के क्षेत्र में, ढांचे में एकरूपता लाने से, प्राइवेट स्कूलों की स्वयं आगे बढ़ने की प्रेरणा और प्रयोगात्मकता समाप्त हो जायगी और काम का एक ढर्रा बंध जायगा, जो प्रजातंत्र की भावना के विरुद्ध है।"

डॉ० श्रीमाली की उक्ति का हम समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि वह अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा करें। उनके हाथ में अभी शिक्षा का शासन-सूत्र है। वह चाहें तो शिक्षा को भारतीय प्रजातंत्र में उचित स्वतंत्रता मिल सकती है। किंतु, दुःख की बात है कि बहुधा उचित बात से उचित काम का संबंध नहीं रखा जाता।

आचार्य विनोबा भावे शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण के पूरे विरोधी हैं। उनकी तरह देश के अन्यान्य सर्वोदयी नेता भी शिक्षा को सरकारी नियंत्रण से मुक्त रखना चाहते हैं; किन्तु एक सरकार है जो सिद्धांत के रूप में उचित कहती है, पर प्रयोग में ठीक इसका उल्टा करती है। इस चक्र-व्यूह को तोड़ना कठिन हो जाता है। विगत २७ अप्रैल को राजपुर (पंजाब) में अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन के अवसर पर आचार्य भावे ने स्पष्ट रूप से कहा, "सरकार के हाथों में किसी भी प्रकार की शिक्षा-पद्धति नहीं होनी चाहिए। शिक्षा पर सरकारी प्रभाव का मतलब जनता के विचार तथा मस्तिष्क को बांध रखना है। सरकारी

शिक्षा-पद्धति से प्रभावित व्यक्ति मताधिकार को अपने मनोनुकूल व्यवहार करने में विफल रहता है।"

आचार्य विनोबा भावे शिक्षा के ऊपर सरकारी नियंत्रण के विरोधी तो हैं ही, वह वर्तमान शिक्षा-पद्धति—चाहे परंपरागत हो या बुनियादी—के कट्टर आलोचक भी हैं। वह इसके परिणाम को उपस्थित करते हुए कहते हैं, "यह बात ठीक है कि आज विद्यार्थियों में अनुशासन कम है, लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि उनमें इतना भी अनुशासन कैसे बचा है ! क्योंकि आज हिंदुस्तान में जो तालीम दी जा रही है, उसका वास्तविकता के साथ कोई संबंध नहीं है।"

आचार्य विनोबा भावे बुनियादी तालीम के पुरोहित हैं, किन्तु बुनियादी तालीम का जो प्रयोग सरकारी नियंत्रण में किया गया और जो किया जा रहा है वह पूरी तरह विफल हो रहा है। इसमें जिनको संदेह है वे पिछले बीस वर्षों के इतिहास को देखें। बुनियादी तालीम में स्वावलंबन का जो प्रलोभन था, वह दूसरे प्रकार के प्रलोभन में बदलकर रह गया। आज प्रत्येक बुनियादी स्कूल पर सरकार को जितनी रकम खर्च करनी पड़ती है वह परंपरागत की अपेक्षा बहुत अधिक है। परिणाम भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो रहा है। सिद्धांत में जो शिक्षा-पद्धति उपयोगी मालूम पड़ती है, वह प्रयोग में क्यों व्यर्थ हो रही है, इस समस्या पर देश के मनीषियों को तथा सरकार को विचार करना चाहिए।

शिक्षा-पद्धति पर सरकारी नियंत्रण को लेकर केरल में उपद्रव खड़ा हो गया और इसका निराकरण कुछ दिनों के लिए केरल पर राष्ट्रपति के शासन द्वारा किया गया। निराकरण अंतिम नहीं माना जा सकता। यह बात दूसरे रूप में भारत के अन्य राज्यों में भी है। शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण खराब है तो दूसरे राज्यों में सरकारी नियंत्रण अच्छा कैसे माना जा सकता है ! केरल में शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध जब आंदोलन चल रहा था तब सर्वोदयी नेता श्री धीरेंद्र मजूमदार ने कहा था, "शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण लोकतंत्र की हत्या है। जहां तक केरल में शिक्षा का प्रश्न है, केरल की कोई पृथक् समस्या नहीं है, वरन् वह अखिल भारतीय समस्या है। भारत के अन्य राज्यों में यह नियंत्रण अपेक्षाकृत कम हो सकता है और केरल में वही कुछ अधिक करने की चेष्टा की जा रही है,

किन्तु सिद्धांततः दोनों में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं।... कांग्रेस द्वारा शासित भारत के अन्य राज्यों में सरकारी नियंत्रण क्या कम है? लगभग सभी राज्यों में पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभागों द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। कई पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग द्वारा लिखवाई जाती हैं और वही उन्हें प्रकाशित करता है। ये सारी बातें क्या हैं! क्या शिक्षापर यह सरकारी नियंत्रण नहीं है? क्या कांग्रेसी सरकारें कह सकती हैं कि वे अपने ढंग से शिक्षा को नियंत्रित नहीं करती?"

श्री मजूमदार के कथन में स्पष्टवादिता का पुट बहुत अधिक है। देश के सर्वोदयी नेता कांग्रेसी सरकारों का पोषण पाकर भी उनके सभी कार्यों के समर्थक नहीं हैं, यह देश के लिए सौभाग्य की बात ही मानी जा सकती है।

इंग्लैंड एक महान् जनतंत्रीय राष्ट्र है और उसका प्रभाव हमारे भारतीय जीवन तथा शासन पर अत्यधिक है। अंग्रेजों की दी हुई शिक्षा-प्रणाली को अवतक हम किसी-न-किसी प्रकार ढोते चले जा रहे हैं, थोड़ी-बहुत कतर-ब्योंत कर हम उसी प्रणाली को चलाते जा रहे हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इंग्लैंड में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण नहीं है, पर अंग्रेजी सरकार ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भारत में शिक्षा को अपने पूरे नियंत्रण में रखा और जैसा पाठ उन्होंने अपने लिए अच्छा समझा, वैसा ही हमें पढ़ाया। भारतीय इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, सबको दबाकर उन्होंने अपने प्रभुत्व के तेज से हमारी आंखें चौंधियां दीं। भारत की राष्ट्रीय सरकार ने जहां-तहां इसके सुधार के प्रयत्न किये हैं, यह प्रशंसा की बात है। किन्तु, सरकार के लिए जनता का—प्रजातंत्रीय जनता का—पथ-प्रदर्शक मात्र रहना ही श्रेयस्कर है। जनता का हाथ पकड़कर रास्तेपर घसीटना अच्छा नहीं। जीवन में उच्छृंखलता को संयत रखने के लिए नियंत्रण आवश्यक है, किन्तु नियंत्रण का स्वरूप ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसका बोध हमें प्रत्येक क्षण होता रहे। यथासंभव तटस्थ दर्शक की भांति सरकार को शिक्षा-संस्थानों के विकास को देखते रहना चाहिए और जहां कर्तव्य-च्युति मालूम पड़े वहां व्यवस्थापकों को इसके लिए चेतावनी दे देनी चाहिए।

पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण तो राष्ट्रात्मक ही

माना जा सकता है। इससे न तो सरकार का लाभ है और न जनता का। कभी-कभी इसके लिए व्यर्थ ही सरकार को परेशानियां उठानी पड़ती हैं, बदनामियां सहनी पड़ती हैं। यह सब क्यों? सरकार यह दावा नहीं कर सकती कि उसकी स्वीकृत तथा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें बाजार में सबसे अच्छी हैं, सस्ती हैं और राष्ट्रीय विचारों से परिपूर्ण हैं। किसी पाठ्य-पुस्तक में गांधी-जवाहर के नाम आ जाना ही उसकी राष्ट्रीयता की पहचान नहीं हो सकती। शिक्षा पर सरकार यदि नियंत्रण रखना ही चाहती है, और अप्रबुद्ध प्रजातंत्र में कुछ सीमा तक इसकी आवश्यकता भी मानी जा सकती है, तो उसे अपना नियंत्रण पाठ्य-क्रम तक ही सीमित रखना चाहिए। कुछ दिनों के बाद यह भार भी देश के सामान्य शिक्षा-शास्त्रियों तथा मनीषियों के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

पाठ्य-पुस्तकों के लिए टेंडर मांगना तो ऐसा ही मालूम पड़ता है जैसे ठेकेदारों से कम-से-कम कीमत में अच्छी-से-अच्छी चीजें सप्लाई करने के लिए कहा जाता हो। शिक्षा के क्षेत्र में इस बुरी प्रथा को जल्द-से-जल्द छोड़ देना चाहिए। एक दक्षिणी लेखक ने पाठ्य-पुस्तकों की स्वीकृति की वर्तमान पद्धति पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि जैसी-तैसी सस्ती पुस्तकों, कैची-मार्का पाठ्य-पुस्तकों को प्रकाशित कर तथा कंचनी काया के सहारे उनपर स्वीकृति की मुहर लगाकर और उन्हें देश के नौनिहालों पर थोपकर, प्रकाशकों ने देश के भविष्य को छला है और वह छल इनके कोष के साथ पाप-राशि बनकर जमा होता रहा है। इसमें व्यंग्य है, और मार्मिक व्यंग्य है।

मद्रास हाईकोर्ट के जस्टिस श्री पी० बी० बालकृष्ण अय्यर ने पाठ्य पुस्तक-संबंधी एक मुकदमे के निर्णय में कहा, "इस वर्ष की सेकेंडरी स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट के निमित्त मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी की एक पाठ्य-पुस्तक (स्काट लिखित— Ouentin Durwarp का संक्षिप्त संस्करण, जिसका संपादन सरकारी ट्रेनिंग कालेज की महिला प्रिंसिपल ने किया है) उल्लेखनीय सफलता नहीं पा रही है। एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक कैसी नहीं होनी चाहिए, इसका यह एक उदाहरण है। अविस्तृत अध्ययन के लिए सरकार द्वारा

(ये पृष्ठ १८७ पर)

जैम्स एलन

मृत्यु और जीवन

एक व्यक्ति ने मुझे पत्र लिखा था : आपने स्नेहपूर्ण विचारों एवं विचार-क्रिया के संबंध में जो कुछ लिखा है, मैं उसे समझ सकता हूँ और जिन्हें हम प्यार करते हैं और सहायता पहुंचाना चाहते हैं उन तक स्नेह एवं शुभकामना के विचार प्रेषण करना, विचारशक्ति द्वारा उन तक पहुंच जाना और अपने प्रेमपात्र की विद्यमानता का अविच्छिन्न रूप से सुख-भोग करना, अपने स्वयं के आत्मसमर्पण के साथ, संपूर्ण प्रेम और संपूर्ण शुभकामनाएं और इस प्रकार की सीधी भेंट में जो उपहार दिये जाते हैं उन सबका दिया जाना आदि विचारों की गहराई में प्रवेश भी कर सकता हूँ। किन्तु—और यह मेरे जीवन का महत्त्वपूर्ण 'किन्तु' है—मुझे यह बतलाइये कि क्या यह अकथनीय शक्ति, जो वरदान, आरोग्य और आश्वासन प्राप्त करने में भी अकथनीय है, मृत्यु के परे भी जा सकती है ?

यदि इसमें कुछ भी सत्यता और वास्तविकता है तब तो हमारे प्रियजनों की मृत्यु के बाद भी इसमें वही सत्यता और वास्तविकता रहेगी जो उनके जीवनकाल के समय थी। हमें इस सत्य को पूर्णरूपेण समझने की जरूरत है कि हम जिस शरीर को प्यार करते हैं और जिसके अस्तित्व से परिचित हैं, वह न तो वास्तविक पुरुष है और न स्त्री। वह तो आत्मा की जीवन-यात्रा का एक विश्राम-स्थल है; उसे आत्मा का मंदिर भी कहा जा सकता है; किन्तु वह शरीर किसी भी प्रकार आत्मा नहीं है। किन्तु जब आत्मा किसी उच्चतर लोक में प्रवेश कर जाती है तो वहां यह शरीर किसी काम का नहीं; वहां तो नये वातावरण के अनुसार नई आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली देह की आवश्यकता पड़ेगी।

'नया शरीर' इसलिए नया नहीं कि वह आत्मा द्वारा सर्वप्रथम उसके वस्त्र के रूप में प्रयुक्त होता है। यह नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य की आत्मा अक्षय है और जीवन अनन्त है, इसलिए मनुष्य भी आत्मा का स्वरूप होना चाहिए, चाहे वह 'शरीर' में बंदी हो कथें न हो। यह समझ में आ

सकता है कि नई आवश्यकताओं के अनुसार आत्मा नये वस्त्र धारण करती है जिस प्रकार कि पार्थिव जीवन के लिए हड्डी और मांस का शरीर उपयुक्त था। यद्यपि यह सिद्धांत बोधगम्य है, किन्तु इससे हमारा संबंध नहीं है। हमारा अभिप्राय तो यह है कि क्या हमारे प्रियजन जीवित हैं ? और क्या हम उनकी सहायता आज भी उसी प्रकार कर सकते हैं ? उनके लिए क्या उसी प्रकार शुभकामनाएं कर सकते हैं जैसी कि उनके जीवनकाल में किया करते थे ?

इस सत्य में किसी को किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता कि मृत्यु के पश्चात् भी स्त्री और पुरुष देखे गये हैं। इस सिद्धांत की सत्यता में संदेह करना न केवल धर्म-ग्रंथों की शिक्षा में संदेह करना होगा, अपितु सर्वयुगीन विभूतियों की सच्चाई और मर्यादा के प्रति यह हमारा अविश्वास होगा। यदि आपको और मुझे उस सत्य के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला है और यदि हम यह कहते हैं, "मैं इसमें विश्वास नहीं करता", तो यह हमारी क्षुद्रता, अज्ञान और पक्षपात का परिचायक होगा। हम पढ़ते हैं कि टॉमस को यह विश्वास नहीं हुआ कि ईसा के अनुयायियों ने प्रत्यक्ष ब्रह्म को देखा था, तो क्या हम भी इस प्रकार ईसा के इस महान् उपदेश को कि "वे धन्य हैं जिन्होंने देखा नहीं फिर भी विश्वास रखते हैं", भूलने का खतरा नहीं उठा रहे हैं ?

अतएव हमारे दिवंगत प्रियजन आज भी उतने ही वास्तविक और जीवित हैं और यह हर्ष का विषय है कि आज उनमें अपने उस जीवनकाल की अपेक्षा अधिक शक्तियां हैं, जबकि हमने उनके अंतिम शब्दों को सुना था और यदा-कदा उनके बारे में सोचा था। अब पाठको, यह बताइये कि जब आपके प्रिय जन जीवित थे तब आपका कौन-सा अंग उन तक जाता था ? क्या भौतिक शरीर ? नहीं, कदापि नहीं। आप उनके किस अंग के पास जाते थे ? क्या उनके भौतिक शरीर के निकट ? पुनः नहीं। आपकी आत्मा (चाहे इसे मन या मोक्ष कह लीजिये) उसकी

आत्मा के पास जाती थी और आत्मा, आत्मा पर प्रभाव डालती थी; मन, मन से एकात्म होता था; क्योंकि अस्थि और मज्जा की सीमाओं में आत्मा और मन आवद्ध नहीं किये जा सकते, न आत्मा को दूसरी आत्मा से भौतिक तत्त्वों द्वारा विलग ही किया जा सकता है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'समय' और 'स्थान' नश्वर धारणाएं हैं। आत्मा के लिए उनका कोई अस्तित्व नहीं। जब हम शरीर धारण किये होते हैं और जबतक वस्तु-जगत् के ऊपर नहीं उठ जाते, तबतक 'समय' और 'स्थान' में हमारे विचार बंधे होते हैं। हम आसानी से यह समझ सकते हैं कि परमात्मा, 'समय' और 'स्थान' के बंधन से परे है। अनेक धर्मग्रंथ भी हमें यही शिक्षा देते आये हैं, एक दो उदाहरण इसके लिए पर्याप्त होंगे। "तुम यह विश्वास करो कि जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तुम प्रार्थना करते हो, वे तुम्हें मिल चुकी हैं और शेष मिल जायेंगी"; "मैं जानती हूं कि परमात्मा जो कुछ भी करता है, वह सदा कायम रहेगा और न उसमें कुछ जोड़ा जा सकता है और न उसमें से कुछ घटाया ही जा सकता है।" "जो कुछ है पहले हो चुका और जो होनेवाला है वह भी हो चुका है।" "परमात्मा ने जो कुछ किया है वह त्रिकाल-अर्थी है।" क्या सहस्रों नरनारी प्रत्येक रविवार को गिरजाघरों में बार-बार यह प्रार्थना गीत नहीं गाते, "प्रारंभ में जैसा था, आज भी वैसा ही है और सदैव वैसा ही रहेगा।"

न हमको यही भूल जाना है कि धनत्व का अर्थ केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं है। हम इसे जानते हैं कि जब मनुष्य अस्थि-मज्जा के शरीर को छोड़ चुका होता है तो वह जड़ पदार्थ से स्वतंत्र हो जाता है। उसका आत्मा शरीर फिर न तो उन जड़ पदार्थों में आवद्ध होता है और न उनके द्वारा उसका मार्ग ही अवरुद्ध होता है।

क्या हमने अपना नया धर्मग्रंथ (New testament) पढ़ा है? क्या हम भगवान् ईसा मसीह के मरणोत्तर दर्शनों से यह पढ़कर भी नहीं समझ सकते? भौतिक-जगत् ने उनका कभी मार्ग-अवरोधन नहीं किया। 'नये जीवन' की अनुभूति में 'स्थान', 'समय' और 'धनत्व' के कोई तात्त्विक बंधन नहीं हैं।

मेरे कुछ मित्र यहां प्राप्ति उठा सकते हैं। "वह तो

ईसा मसीह थे और हम में से प्रत्येक से पूर्णतः भिन्न थे।" मेरा उत्तर है, "मृत्युपरांत प्रकट होनेवाली विभूतियों में, जिनका वृत्तान्त हम बाइबिल में पढ़ते हैं, क्या ईसा अकेले ही थे। अपनी बाइबिल को पुनः निर्दोष वाल-सुलभ मस्तिष्क और उदार दृष्टि से पढ़ो; पढ़ते समय अपना पूर्व-ज्ञान, अपने धर्म-मन, अपने गिरजाघर और पुरोहित, अपनी देव-वंशावलियों का ज्ञान और पक्षपात-पूर्ण दृष्टिकोण सब भूल जाओ, उसके एक-एक शब्द को पूर्ण सरलता और निष्पक्षता से यह समझकर पढ़ो कि उसमें उस 'पवित्र आत्मा' से तुम्हारा जीवन-व्याख्याता बनने की प्रार्थना की गई और इसी उद्देश्य से लिखी गई है कि जब तुम उसे पढ़ो तो वह तुम्हें प्रकाश व ज्ञान दे।"

यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति ऐसी पुस्तकें पढ़कर कहे "कि हम तो ऐसी घटनाओं की वास्तविकता में विश्वास नहीं करते; ये काल्पनिक कथाएं मात्र हैं।" तब मैं कहती हूं कि तुम्हें अन्य सबसे ऊपर, इन घटनाओं में उस सत्य के दर्शन करने चाहिए, जिसकी ओर संकेत करने का प्रयत्न कर रही हूं। उदाहरणार्थ, मृत्यु के पश्चात् भी जीवन की निरंतरता विद्यमान है। चाहे वे घटनाओं का वर्णन मात्र हो अथवा वे आध्यात्मिक सत्य की शिक्षा देनेवाली कथाएं हों—इससे कुछ अंतर नहीं पड़ता। कथा प्रत्येक दशा में एक माध्यम है और सत्य एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

किन्तु अपने स्वयं के अनुभवों से चीजों को सिद्ध करने की शीघ्रता कभी मत करो। यह शीघ्रता और आतुरता तुम्हारी मानसिक और आत्मिक अवस्था को डाँवाडोल कर देगी—इस प्रकार अशांति का धुंधलापन तुम्हारे चारों ओर छा जायेगा और तुम्हारे प्रियजन और तुम उस धुंध में एक-दूसरे से ओझल हो जाओगे। शांति और अटूट विश्वास के साथ तुम अपना पवित्र प्रेम अपने मृत प्रियजनों तक भेजो, अपने पास पार्थिव जगत् में लाने का प्रयत्न मत करो, अपितु अपनी आत्मा को उन तक ऊँचा उठाओ। तुमने पवित्रता, आत्मशक्ति और सच्चाई से उसकी सहायता की; उसके लिए शुभ कामनाएं कीं; यदि तुम अपने उस प्रियजन के लिए पवित्र शक्तिशाली, सच्चे और आध्यात्मिक बनना चाहते हो तो यही वह समय है।

तो आओ यह सोचो कि हमारे प्रियजन हमारे लिए

जीवित हैं और अतीत की भाँति आज भी हमें उसी रूप में प्यार करते हैं, पूर्ण विश्वास के साथ उनकी प्रतीक्षा करें। यदि हमें कभी वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाय तो हमें संशय-रहित होकर आदर व प्रसन्नता के साथ उसे स्वीकार कर लेना चाहिए और यदि वह दिव्य आलोक हमें न प्राप्त हो तो हमें सदैव याद रखना चाहिए, “वे धन्य हैं जिन्होंने देखा नहीं, किन्तु विश्वास करते हैं।”

ब्रह्माण्ड में अपनी यथार्थ स्थिति और स्थान को अनुभव करना ही मानव-हृदय की महानतम प्रेरणा है। जबतक मनुष्य को अपने आपको एक ‘असहाय पापी’, एक गरीब कीट और गंदे-फटे चिथड़ों का एक गट्ठर मात्र समझना सिखाया जाता है और साथ ही वे भयंकर वर्णन किये जाते हैं जो कि मानव-हृदय को हतोत्साहित करने के लिए ही आविष्कार किये गए हैं तबतक जीवन किसी प्रकार की प्रेरणा प्राप्त नहीं कर सकता और तबतक मानव के नेत्र अपने जीवन के इर्द-गिर्द बिखरे सभी सौंदर्य और एकरसता की ओर से मुँदे रहते हैं और जीवन के वरदान से भी वह अनभिज्ञ रहता है।

मनुष्यों ने युगों तक अपने से बाहर मुक्ति की खोज की है—ऐसे स्थानों में खोज की है, जहाँ उन्हें मुक्ति मिल ही नहीं सकती। इस प्रकार वे सदा अंधकार और अज्ञान में रहे हैं और यह कोई आश्चर्य नहीं कि इस भाँति वे जीवन, प्रकृति और सृष्टि की सभी वस्तुओं से प्रेरणा और नव-जीवन प्राप्त करने में असफल रहे हैं। अपने आपको असफल और लुप्त-प्राय समझने वाले और अंधकार से बचने व नष्ट हो जाने के लिए अपने भाग्य को एक क्रुद्ध ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देने वाले लोगों के होते हुए क्यों आश्चर्य है कि इतने थोड़े लोग जीवन, प्रकृति व उन सब चीजों से प्रेरणा पाने में समर्थ रहे हैं जिनमें यदि वे अपनी सच्ची स्थिति और अधिकार जान पाते तो वे चीजें उनको शाश्वत जीवन और प्रेरणा प्रदान करतीं। उस मनुष्य से, जो सदैव भगवान् के क्रोध की छाया के नीचे रहता है कि वह किसी क्षण हमेशा के लिए नष्ट हो सकता है, यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह अपने चारों ओर जगत् के सौंदर्य और गौरव के दर्शन करेगा। यहीं और केवल यहीं मनुष्य की सारी कठिनाइयाँ और उसकी असफलता, दुःख और विवशता के कारण बिखरे

पड़े हैं।

हम धर्मग्रंथों में पढ़ते हैं, “ईश्वर ने मनुष्य में प्राण फूँके और वह एक जीवित आत्मा बन गया।” ‘आत्मा’ ईश्वर का प्रतिरूप है और है मूलभूत अस्तित्व; वह अमर है और सभी ज्ञान व प्रकाश उसमें समाहित हैं। जो वस्तु परमात्मा ने मनुष्य को दी है, उसे उससे कौन लूट सकता है? ईश्वर ने मनुष्य को जीवन दिया—उसने उसको जीवित आत्मा बनाया—जीवन-श्वास के साथ उसे ‘राज्य’ दिया, क्योंकि हम पढ़ते हैं, “उसे अपना राज्य ले लेने दो” और निश्चित रूप से संसार में अथवा पृथ्वी पर ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसका यह जन्माधिकार छीन ले। यदि मनुष्य यह प्रमाणित कर सके कि उसमें देवत्व की संभावना नहीं है; अथवा दूसरे शब्दों में ईश्वर की ‘प्रतिरूप’ एक शक्ति ने स्रष्टा की इच्छा के विपरीत उसके देवत्व को उससे लूट लिया है, उस शक्ति ने उसे ऐसा प्राणी बना दिया है जो इतना असहाय और कमजोर है कि उसका न अपने ऊपर कोई अधिकार है न किसी अन्य वस्तु पर, तब उसे भी यह स्वीकार करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है; वह न सर्वव्यापक है और न सर्वज्ञाता। यदि मनुष्य का निर्माण ईश्वर की संतान के अलावा किसी अन्य रूप में किया जा सकता है तो अवश्य ही कोई ईश्वर से अधिक शक्तिशाली है, इसलिए ईश्वर इस अर्थ में कि वह ‘सर्वशक्तिमान’ है, ईश्वर नहीं है क्योंकि उससे अधिक शक्तिवाला भी कोई है। यदि बुराई भी एक शक्ति है और वास्तविकता है तो ईश्वर सर्वव्यापक नहीं है और हमारे सामने पुनः वही कठिनाई है। मनुष्य सदैव ईश्वर की संतान था और रहेगा। किन्तु मनुष्य द्वारा अपने “भौतिक व्यक्तित्व को ही अपनी ‘वास्तविक आत्मा’ मान लेने की भूल ने एक उलझन पैदा कर दी है। जीव वास्तविक आत्मा है—वह अपने स्रष्टा के स्वभाव के अनुसार ही है—उसे भौतिक समझना अज्ञान है। यह ईश्वर का प्रतिरूप है और उसके समान ही है। इस प्रकार वह अनन्त है और उसकी अनन्तता और दिव्यता भगवान् का ही अंश है। यह वास्तविक ‘स्वत्व’ कई नामों से पुकारा जाता है: अहं, जीव, आत्मा, बुद्धि और लौकिक चेतना आदि; और सच्चे अर्थों में अनुभूति द्वारा उसका ज्ञान करने का तात्पर्य है, उस चैतन्य में प्रवेश करना जिसकी अभिव्यक्ति ईसा ने इस

जीवन-साहित्य

: १८६ :

मई, १९६०

प्रकार की है, “मैं और मेरे पिता एक हैं।” यदि मनुष्य, वास्तविक मनुष्य मर सकता है तो वह जीवन-श्वास कहाँ है जिसने उसे सजीव प्राणी बनाया है ?

क्या कोई ऐसी शक्ति है जो मनुष्य से उसकी आत्मा को अथवा स्वयं मनुष्य को परमात्मा से छीन सके, अथवा जो शक्ति परमात्मा की इच्छाओं और नियमों की पूर्ति में बाधा डाल सके ? इतना कहने का साहस कौन कर सकता है ? तब मनुष्य ही जीवन है और मृत्यु कहाँ है ही नहीं। मृत्यु क्यों नहीं है ? इसलिए कि ईश्वर मर नहीं सकता और मनुष्य उसका प्रतिरूप है—उसकी समानता लिये हुए है। मनुष्य का यह भ्रम कि वह पार्थिव शरीर है—बिल्कुल मिथ्या है। यह ‘भ्रम अथवा स्वप्न’ शब्द जो मेरी लेखनी से अनायास आया है, सारी समस्या का सर्वोत्कृष्ट स्पष्टीकरण है। मनुष्य की यह भ्रान्ति है कि वह हाड़-मांस का है, वह पार्थिव शरीर है, वह कल्पना करता है कि आधिभौतिक रीति से उसके मस्तिष्क में यह विचार भी नहीं उठता कि उसके भौतिक शरीर में ‘जीव’ जैसी भी कोई वस्तु है, और भौतिक मनुष्य के रूप में उसे ‘चिरंतन मृत्यु’ से अपनी आत्मा को वचाना है। इसके अनंतर आत्म-रक्षा के सारे साधन उससे विलग पूर्णतः उसकी आत्मा से बाहर निवास करते हैं। यथार्थ में वह इतना असहाय और इतनी निराशा-जनक अवस्था में है कि वह सोचने लगता है कि वह एक नष्ट-भ्रष्ट पापी के सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिए वह भटका हुआ-सा है, अर्थात् उसे अपनी वास्तविक प्रकृति और दिव्य जन्माधिकार की अनुभूति नहीं है।

मनुष्य की वास्तविक स्थिति, जो वह सोचता है, उससे नितान्त विपरीत है। जब वह इस सत्य को समझेगा तो उसके लिए प्रेरणा का सच्चा जीवन प्रारम्भ होगा। मनुष्य अमर जीव है किन्तु भौतिक और पार्थिव शरीर उसने धारण कर रखा है। इस शरीर से वह धरतीपर अनुभव एकत्र करता है। भौतिक मस्तिष्क सोच नहीं सकता; यह मन नहीं है, इसे मन समझना मनुष्य का अज्ञान है, यह ‘मन’ द्वारा प्रयुक्त केवल एक यन्त्र है और इसके माध्यम द्वारा मन (क्रियाशील जीव) अपनी अभिव्यक्ति के रूप में भौतिक शरीर का निर्माण करता है। यह अधिक स्पष्ट और उत्तम होगा यदि हम इसे त्रिवेद कहें—प्रथम वास्तविक मनुष्य भगवान की मूर्ति और

एकरूपता; द्वितीय, मन अथवा वास्तविक मनुष्य की विचार-क्रिया, तृतीय, भौतिक शरीर—एक पार्थिव यंत्र जो वास्तविक मनुष्य द्वारा कार्य करने के लिए है। यह भौतिक-शरीर मन द्वारा अंकित चित्रों और चिह्नों को बाहर प्रकट करता है। अतएव इसे हम त्रिमूर्ति का रूपक देते हैं—जीव, मन और शरीर।

“जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा वह बन जाता है।” तात्पर्य यह कि जितनी और जहांतक कल्पना से जीव की जागृति हुई है और विश्व में जितनी उसने अपनी सच्ची प्रकृति और स्थिति की अनुभूति की है, वह प्रतिक्रिया उसके भौतिक मस्तिष्क पर उसके विचारों की होगी और इस प्रकार बदले में मस्तिष्क भी, व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करते हुए शरीर (दृश्य-व्यक्ति) पर ऐसी ही प्रतिक्रिया करेगा। और जैसे कि चरित्र एक भवितव्यता है, इसी प्रकार जीवन और वस्तु-जगत् की परिस्थितियाँ भी हृदय के विचारों से निर्मित होती हैं।

जब धर्म-गुरुओं द्वारा शिशुओं के दूध-पीते ओठों में यह वाक्य भर दिये जाते हैं कि मैं “क्रोध के बालक के रूप में पैदा हुआ हूँ”—उस समय जब उसमें स्मरण-शक्ति का पूर्णरूपेण अभाव था, तब आपही सोचिये कि क्यों नहीं वे बालक बड़े होकर ‘क्रोध की संतान’ के रूप में व्यवहार करेंगे, सोचेंगे और जीवित रहेंगे। उसका यह ध्रुव विश्वास हो जाता है कि इसके अलावा वह कुछ नहीं है और वह कुछ नहीं कर सकता। वह इस ‘असत्य’ में विश्वास करता हुआ, ऐसा ही ‘असत्य’ आचरण करता है। आप एक बार एक अबोध बच्चे के हृदय में यह जमा दें कि ‘वह एक पापी है’, तो वह अपनी आंखों पर अंधविश्वास का झूठा पर्दा रखे एक युवक बनेगा। तदनंतर एक प्रौढ़ बनेगा और उसकी ‘चेतना के संसार’ से स्वर्गीय दृश्य सदैव के लिए मिट जायेंगे। वह एक पापी के अलावा कुछ नहीं बन सकता। हाय यह संसार गहरी नींद से कब जागेगा और कब जानेगा कि ‘पाप चक्र’ भौतिक मस्तिष्क का एक कुरूप स्वप्न रहा है—यह वह स्वप्न है जिसकी कोई वास्तविकता नहीं, जो असत्य है और चंचल है। जब जीव अपनी वास्तविक स्थिति तक जागृत हो जाता है, जब आत्मा को यह परिज्ञान हो जाता है कि वह प्रारंभ में थी, वर्तमान में भी वैसी ही है और सदैव

वैसी ही रहेगी; जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके सभी भय और पाप संघर्षरत चेतना के अंश रहे हैं, जिनमें उसने मिथ्या धारणाओं के स्वप्न-जगत् से जागने का प्रयत्न किया है, तभी वह ईश्वर की वास्तविक संतान के रूप में स्थिति प्राप्त करेगा और उसे ज्ञान होगा कि 'वह' योग्य है, पवित्र है और उसने जो अज्ञान और अंधकार में अपने ऊपर 'एक साम्राज्य' का भ्रम किया था—वह साम्राज्य उसका स्वयं का, सृष्टि की सभी वस्तुओं पर है और तब वह 'प्रकाश' जो सदैव उसके अंतर में रहा है, उसके पथ पर बाहर चमकेगा और वह कभी अंधकार में नहीं चलेगा। तब वह अपना पार्थिव शरीर 'परमात्मा के मंदिर' के रूप में काम में लायेगा और अपने भौतिक मस्तिष्क को जो एक विस्मयकारी यंत्र है और जिसका प्रयोग उसने अबतक गलतियों में ही किया है,

'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' में करेगा। अतएव न केवल शरीर आत्मा की साम्यता व एकरसता ग्रहण करेगा; अपितु उसका संपूर्ण जीवन, परिस्थितियां, वातावरण आदि उस ब्रह्मांड की समन्वयता में आ जायेगा, जिससे इसका संबंध है। "जैसा भीतर वैसा बाहर।"

तब उसके लिए जीवन की वास्तविक प्रेरणा का प्रारंभ होगा। जहां उसने पहले 'दोष' और 'कुरूपता' देखी थी वहां अब वह सत्यम् और सुन्दरम् के दर्शन करेगा। जहां उसने अंधकार के साम्राज्य को देखा था वहां अब प्रकाश के दर्शन करेगा। प्रत्येक घटना में अब वह शान्ति देखेगा और उसका प्रत्येक मार्ग आत्मा के मंदिर की ऊंचाइयों की ओर ले जानेवाला सत्य और शाश्वत मार्ग होगा।

और उसके लिए जीवन की प्रेरणाओं का कभी अंत नहीं होगा।

(पृष्ठ १८२ का शेष)

अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तक प्रकाशित करने का वर्तमान प्रयास पूर्णतः असफल रहा है। संकुचित मनोवृत्ति के कारण यह विचार आज सहसा अनुमोदित नहीं किया जा सकेगा कि इस तरह का काम वैयक्तिक उद्योगों के अधीन ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा। शिक्षा-धारा के अंतर्गत एकाधिकार की स्थापना का प्रयास, विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में ऐसे प्रयोग से कहीं अधिक विपत्तिजनक है।"

बैंक, मिल, फैक्टरी आदि के राष्ट्रीयकरण की बात समझ में आती है, पर शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बड़ा असंगत मालूम पड़ता है। स्वाधीन राष्ट्र में जो शिक्षा दी जायेगी वह निश्चय ही राष्ट्रीय शिक्षा होगी और राष्ट्र की आवश्यकता तथा महत्वाकांक्षा के अनुकूल होगी। आर्थिक क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण बहुत हद तक उचित माना जा सकता है, पर शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण को प्रश्रय देना कुछ ऐसा ही मालूम पड़ेगा, जैसे किसी तंग और खड़े गमले में वृक्ष रोपकर उसे बढ़ने दिया जाय। परिणाम यही होगा कि उस वृक्ष का फैलाव गमले की परिधि तक ही सीमित रहेगा। गमला टूटने के बाद भी उसका जो विकास होगा, उसमें उसका विकास स्वाभाविक रूप से रहेगा।

अभी हाल में केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के निमंत्रण पर यूनेस्को की ओर से डा० हेनरी पाठ्य-पुस्तकों के संबंध में अनुसंधान करने तथा अपनी सलाह देने भारत आये थे।

पूरे सालभर यहां रहकर और भारत के अनेक राज्यों के स्कूलों का निरीक्षण कर उन्होंने अपना जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है, वह कई दृष्टियों से हमारे लिए मार्गदर्शक है। पाठ्य-पुस्तक के संबंध में उनका विचार है कि उसमें विषय के बारे में मौलिक सूचनाएं रहनी चाहिए, विषय की गंभीरता से उसे बोझिल नहीं बनाना चाहिए। पाठ्य-पुस्तक अपने विषय की अंतिम पुस्तक नहीं होती, जानाजान के लिए उस विषय का समस्त साहित्य सदैव खुला रहना चाहिए। अंगरेजी पाठ्य-पुस्तकों के बारे में उन्होंने बड़ी कड़ी टिप्पणी की है। उनका कहना है कि जहां-जहां वे गये, उन्होंने प्रायः पाया कि अंगरेजी पाठ्य-पुस्तकों में अंगरेजी रहन-सहन का ही जिक्र है। भारतीय छात्रों के लिए, जो केवल अंगरेजी भाषा सीखना चाहते हैं, ब्रिटेन की विदेशी जीवन-प्रणाली का वर्णन एक दुर्वह भार है। एक प्रकार से डा० हेनरी ने हमें सावधान किया है कि विदेशी भाषा सीखने के लिए विदेशी संस्कार अपनाना जरूरी नहीं है, शायद विघातक ही है।

भारतीय प्रजातंत्र के स्वस्थ विकास के लिए यह परम आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी नियंत्रण की मात्रा कम-से-कम की जाय। यह कैसे किया जाय, इसपर शिक्षा-शास्त्रियों, मनीषियों तथा सरकार को मिलकर विचार-विमर्श करना चाहिए।

'पुस्तक-जगत्' से।

समालोचनाएं

कसौटी पर

जब रोम जल रहा था : लेखक : हेनरिक सीन्कीविवज;
अनुवादक : श्रीकान्त व्यास; प्रकाशक : किताब महल,
इलाहाबाद; पृष्ठ-संख्या : २८०, डिमाई साइज;
मूल्य : ६) ८०।

विश्व-प्रसिद्ध उपन्यास 'क्वो वाडिस' का यह हिंदी-अनुवाद बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। रोम के सम्राट् नीरो की कहानी कौन नहीं जानता। शैतान के साक्षात् अवतार उसी तानाशाह के उत्थान और पतन की कहानी इस उपन्यास में बड़ी गहराई और रोचकता के साथ कही गई है। तत्कालीन रोम के वैभव और विलास, उत्थान और पतन, प्रेम और अत्याचार का इसमें बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। ईसाइयत उस समय धीरे-धीरे अपने पैर जमा रही थी और तत्कालीन उदार से उदार व्यक्ति की उसके प्रति क्या धारणा थी, यह इस उपन्यास में बड़ी सरलता से चित्रित हो गया है। पेट्रोनियस और यूनिस् की निश्चल प्रेम-कहानी उन दोनों की उदारता और महानता, इस उपन्यास का एक गहरा उज्ज्वल पक्ष है जो पाठक को धर्म-कथा की तरह पवित्र करता है। इनके आत्मबलिदान के साथ-साथ ही रोम का सौन्दर्य, उसकी कविता और उसकी महानता जैसे सो गई। यही नहीं, अत्याचारी नीरो को भी जैसे उनके श्राप से ही आत्महत्या करनी पड़ी। लेकिन कुछ भी हो, नीरो का चरित्र-चित्रण करने में लेखक ने कमाल किया है। वह एक आंधी और तूफान, महामारी और युद्ध के समान था जो विनाश करने के लिए आते हैं लेकिन पूर्ण विनाश का अर्थ है नवनिर्माण। यह पुस्तक हर दृष्टि से पढ़ने योग्य है।

बौद्ध भारत : लेखक : टी० डब्ल्यू० ह्राइस डेविड्स; अनुवादक : ध्रुवनाथ चतुर्वेदी; प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद; पृष्ठ-संख्या : २८०; मूल्य : ५) ८०।
प्रस्तुत पुस्तक लेखक की 'बुद्धिस्ट इंडिया' का अनुवाद है। भगवान् बुद्ध से लेकर कृष्ण के काल तक भारत जिन

परिस्थितियों में से गुजरा, उसीका लेखक ने अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से इस पुस्तक में बौद्ध भारत के उत्थान और पतन के श्रीगणेश की पूरी कहानी आ जाती है। बुद्ध धर्म ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक और व्यक्तिगत जीवनपर क्या प्रभाव डाला, उस प्रभाव में आकर भारत क्या बन गया; इस सबका ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस पुस्तक का अध्ययन आवश्यक है। इतिहास के विद्यार्थी के लिए और भी आवश्यक है। चित्र देकर तथा दूसरे संकेतों द्वारा उसकी उपयोगिता बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। बेशक आज कुछ मान्यताएं बदल गई हैं लेकिन इनसे इस पुस्तक का मूल्य कम नहीं होता। क्या ही अच्छा होता, यदि प्रकाशक इस पुस्तक की छपाई, सफाई की ओर अधिक ध्यान देता। लेकिन शायद इसका मूल्य कम रखने के लिए ही यह उपेक्षा हो गई है।

आज की लोक-कथाएं : लेखक : मनमोहन मदारिया;
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : ४०, डिमाई; मूल्य : १) ८०।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की ५ ऐसी कहानियां संगृहीत की गई हैं जिन्हें चिरप्रचलित लोककथा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। लेकिन कल्पना की उड़ान और विचित्र घटनाओं के कारण उन्हें लेखक ने लोककथा कहा है। इसपर बहस हो सकती है। और हम मानते हैं कि इन कहानियों को यह संज्ञा देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनके बिना भी इनका मूल्य है। कहानियां रोचक हैं और मनुष्य को नई दृष्टि देती हैं। अर्थात् उसकी निराशा को आशा में और उसके आलस्य को स्फूर्ति में परिवर्तित करने की प्रेरणा देती हैं।

भारत सरकार के प्रकाशन विभाग की २ पुस्तकें :

हमारे पक्षी : लेखक : राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह;
पृष्ठ-संख्या : १०२; रायल ; मूल्य : २) ८०।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की 'भारत के पक्षी' नामक पुस्तक

का एक तरह से संक्षेप है, अर्थात् बालोपयोगी संस्करण। पक्षियों का हमारे जीवन में जो स्थान है उसको हम आसानी से तभी समझ सकेंगे, जब हमें कुछ दिन के लिए इनसे दूर कर दिया जाय। मात्र सौंदर्य की दृष्टि से नहीं, बल्कि उपयोगिता की दृष्टि से भी वह हमारे लिए अनिवार्य हैं। वे हमारे चिरदिन के सुख-दुःख के संगी हैं। लेखक ने बड़ी सुन्दरता से और बड़े सहज भाव से कुछ पक्षियों के जीवन की रोचक कहानी इस पुस्तक में चित्रित की है। चित्र सादे ही नहीं हैं, बल्कि रंगीन भी हैं और इनसे पुस्तक की उपयोगिता हर दृष्टि से बढ़ गई है। इस पुस्तक में केवल वैज्ञानिक के ही दर्शन नहीं होते, साहित्यकार के भी दर्शन होते हैं। और जहां उन दोनों का संगम है वहां रोचकता अनिवार्य है।

आदिवासी : पृष्ठ-संख्या : १४०; मूल्य : १॥)।

प्रस्तुत पुस्तक में आदिवासियों की समस्या पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गये १६ लेख संकलित किये गए हैं। इन लेखों में आदिवासियों की विशेषताओं पर, उनके सामाजिक संगठन, उनकी भाषा, उनके रहन-सहन और उनकी प्रगति पर अधिकारी विद्वानों ने विचार किया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत में न कोई छोटा है न कोई बड़ा है, सबको समान रूप से स्वतंत्रता का उपभोग करना है। और अपनी विशेषताओं को कायम रखना है। आदिवासी संग्रहालय में रखने योग्य वस्तु नहीं है। बल्कि उन्हें हमें अपने समान मानव मानकर उनकी प्रगति में योग देना है। लेकिन ऐसा करते हुए उनपर अपना सामाजिक संगठन नहीं लादना है। उनकी प्रगति के लिए उनके ही संगठन का अध्ययन आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक एक ऐसा ही अध्ययन है जो हमारे आदर्शों को चुनौती देता है। हमें खुशी है कि अधिकारियों ने उस चुनौती को स्वीकार कर लिया है।

सम्मेलन पत्रिका (कला-अंक) : पृष्ठ-संख्या ५२२, डिमाई; मूल्य : ८) २०।

हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की यह पत्रिका समय-समयपर उपयोगी विशेषांक निकालती रहती है और इसका प्रत्येक विशेषांक प्रगति के नये मानदंड स्थापित करता है। प्रस्तुत विशेषांक हर दृष्टि से बहुत ही उपयोगी बन गया है। इतनी सामग्री इस अंक में संकलित की गई है कि उसका अध्ययन करने के लिए भी बहुत अधिक समय की आवश्यकता

होगी। प्राचीनकाल से लेकर अति आधुनिक काल तक कला का जो रूप रहा है उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने का यह प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् और स्वस्तिक; इन चार भागों में बंटा हुआ यह अंक अपनी कहानी आप ही कहता है। और इसीलिए इसका प्रत्येक घर में रहना आवश्यक है।

त्रिपथगा : सम्पादक : काशीनाथ उपाध्याय (भ्रमर);

प्रकाशक-संचालक : सूचना विभाग, लखनऊ; वार्षिक

मूल्य : ७) २०।

उत्तर प्रदेश सरकार की यह पत्रिका समय-समय पर उपयोगी विशेषांक प्रकाशित करती रहती है। इसका 'अंतरिक्ष अंक' परिशिष्टांक सहित हमारे सामने है। 'हिमालय अंक' के समान ये दोनों अंक बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इसलिए और भी महत्वपूर्ण हैं कि ये आगे आनेवाले 'अंतरिक्ष-अभियान-अंक' की भूमिका मात्र हैं। इन अंकों में अंतरिक्ष के विषय में न केवल उपयोगी सामग्री संकलित की गई है बल्कि ऐसी सामग्री भी है जो शायद अबतक साधारण पाठक के सामने नहीं आई थी। आज के विज्ञान के युग में मानव के सामने कुछ भी अगम्य नहीं रह गया है, इसलिए इन अंकों का प्रकाशन संपादक की सूझ-बूझ का परिणाम है। अंतरिक्ष का अध्ययन इतना व्यापक है कि एक नहीं, अनेक जीवन खपानेपर भी उसका रहस्य स्पष्ट नहीं होता। लेकिन अगर ऐसी सामग्री एक स्थानपर मिल जाय, तो समस्या बहुत-कुछ हल हो सकती है।

'मुशील'

हिन्दु पाकेट बुक्स प्रा० लि०, शाहदरा, दिल्ली, की पाँच पुस्तकें।

१. मुक्ता : लेखक : सत्यकाम विद्यालंकार; २. ज्वारभाटा : लेखक : मन्मथनाथ गुप्त; ३. प्यार की जिंदगी : लेखक : टाल्सटाय; ४. उमर खैयाम की रुबाइयां : लेखक : बच्चन; ५. आपका शरीर : लेखक : आनन्दकुमार।

हिंदु पाकेट बुक्स की इन पुस्तकों में प्रत्येक का मूल्य १) २० है। पहली ३ पुस्तकें उपन्यास हैं। और उनके बारे में काफी चर्चा हो चुकी है। 'मुक्ता' एक आधुनिक लड़की की कहानी है और उसके स्पन्दित हृदय तथा उसकी महत्वा-

कांक्षाओं का चित्रण करने में लेखक काफी सफल हुआ है। 'ज्वारभाटा' एक क्रांतिकारी युवक की कहानी है जो नारियों के चक्रव्यूह में फँसकर कुछ देर के लिए पथभ्रष्ट होजाता है। लेखक बड़ी खूबी से उसे राहपर ले आया है, बल्कि कहना होगा, राह ने उसे खोज लिया है। 'प्यार की जिंदगी' में विश्व के महान् लेखक टाल्सटाय ने प्रेम का मार्मिक चित्रण किया है। ऐसा प्यार जो रोमांस की भूलभुलैया से निकलकर ऊँची मंजिल को पा लेता है। 'उमर खैयाम की रुबाइयों' का अनुवाद वचन ने किया है। रुबाइयों के बारे में कुछ कहना व्यर्थ है। अनुवाद के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि वचन की सफलता और प्रसिद्धि का आधार यही अनुवाद है। 'आपका शरीर' जैसा कि नाम से प्रगट है, यह पुस्तक मनुष्य के शरीर-रूपी यंत्र की पूरी जानकारी देती है। यह जानकारी बड़ी सरल और सुलझी हुई भाषा में दी गई है।

राजपाल एंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली की ७ पुस्तकें :

१. नजीर अकबराबादी, २. जज्बी, ३. अहमद नदीम कासिमी, ४. कतील सिफाई।

इन चारों पुस्तकों के लेखक प्रकाश पंडित हैं और इनमें से प्रत्येक का मूल्य डेढ़ रुपया है।

'उर्दू के लोकप्रिय शायर माला' की ये चार पुस्तकें पहली पुस्तकों के समान ही उपयोगी हैं। विभिन्न भाषाओं के साहित्य के आदान-प्रदान की दृष्टि से ही इनका मूल्य आंकना चाहिए। लेखक ने प्रत्येक शायर के जीवन और उसके साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। और प्रत्येक का कलाम भी उसी दृष्टि से संकलित किया है। नजीर को छोड़कर शेष तीन शायर बिल्कुल आधुनिक हैं। और नजीर उन लोगों में से हैं जिनकी कद बहुत बाद में की गई। भाषा के क्षेत्र में वह मीर और सौदा के पास हैं। यानी बड़ी आसानी से समझ में आ जाते हैं। हम इन पुस्तकों का स्वागत करते हैं।

५. बर्फ की रानी : लेखक : हांस क्रिश्चियन एण्डरसन।

रूपान्तरकार : श्रीकान्त व्यास।

६. जादू का दीपक : रूपान्तरकार : वही; मूल्य : १.५० नये पैसे प्रति पुस्तक।

पहली पुस्तक में एण्डरसन की ८ कहानियां संगृहीत हैं। प्रत्येक कहानी बहुत ही रोचक और सरल भाषा में लिखी गई है। ये कहानियां संसार की लगभग सभी भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। ये परियों की कहानियां हैं लेकिन मनुष्य के लिए उनकी उपयोगिता और भी अधिक है। राजकुमार, राजकुमारियां, हंस, सद्क, गेंद, बुलबुल आदि-आदि इनके पात्र हैं। लेकिन प्रत्येक कहानी मनुष्य को मनुष्य बनने की प्रेरणा देती है, अच्छा बनने की प्रेरणा।

जादू का दीपक, इस पुस्तक में अलिफ़लैला की ७ कहानियां संक्षेप में दी गई हैं। अलीबाबा और चालीस चोर, अलादीन और जादू का चिराग, सौदागर और जिन, ये ऐसी कहानियां हैं जिनका परिचय व्यर्थ है। इतना ही कहा जा सकता है कि रूपान्तरकार ने सरल सुगम भाषा में मूल की रोचकता को बनाये रखा है।

७. तुलसीदास (चिन्तन और कला) : संपादक : डा० इंद्रनाथ मदान, पृष्ठसंख्या : २५४; मूल्य : ५) २०।

इस पुस्तक में विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गये तुलसी-साहित्य के विभिन्न पक्षों पर १० लेख संकलित किये गये हैं। लेखकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास जैसे पुराने और प्रतिष्ठित विद्वान्, तो प्रोफेसर वारान्निकोव जैसे विदेशी विशेषज्ञ भी हैं। प्रोफेसर वारान्निकोव का लेख कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। केवल इसीलिए नहीं कि वह उस देश के निवासी हैं, जहां दर्शन को नये साँचे में ढाला गया है बल्कि इसलिए भी कि एक विदेशी ने तुलसीदास को समझने के लिए ईमादनारी के साथ प्रयत्न किया है। उनकी यथार्थता, उच्च आदर्श, सर्वाङ्गीणता और मानवीयता को ठीक उसी तरह समझने की कोशिश की है जिस तरह भारतीय विद्वानों ने। तुलसी पर आजतक बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। उस भीड़ में इस पुस्तक की अपनी विशेषता है और वह विशेषता यह है कि इसमें उलझन कम है। साधारण स्थिति के पाठक के लिए तुलसीदास सहज बोधगम्य हो सकते हैं।

(प्रोफ. पृष्ठ १९६ पर)

हमारी राय

फिर क्या व कैरे ?

अमानुषिक दमन-चक्र

दक्षिण अफ्रीका में आज जो दमन, अत्याचार और नरमेध हो रहा है, उससे सारे संसार में वेचैनी की लहर दौड़ गई है। वैसे तो वहांपर गोरे शासकों की वर्ण-भेद की नीति के विरुद्ध बहुत समय से संघर्ष चल रहा है; लेकिन हाल ही में पासों (पहचान-पत्रों) को निमित्त बनाकर अफ्रीकियों पर जो जुल्म ढाया गया है, उसकी मिसाल शायद ही मिले। पाठकों को संभवतः पता होगा कि पासों का कानून सबसे पहले सन् १७६० में वहां जारी हुआ था। उसके अनुसार दासों को अपने स्वामियों से पास लेकर घूमने-फिरने में साथ रखना आवश्यक होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में वह कानून दूसरे स्वतंत्र अफ्रीकियों पर भी लागू कर दिया गया। चूंकि अधिकांश अफ्रीकावासी उस समय अशिक्षित थे, इसलिए इन पासों का एक उद्देश्य यह भी था कि जब वे यूरोपियनों की बस्ती में जायें तो पहचाने जा सकें। आगे चलकर यह पास-प्रणाली अफ्रीकियों के नियंत्रण का साधन बन गई। कुछ लोग, जैसे अध्यापक, पादरी, भूमि के मालिक आदि इससे मुक्त हैं; लेकिन उन्हें भी अपने साथ इस आशय का एक पास रखना पड़ता है कि उनके लिए पास आवश्यक नहीं है।

आज स्थिति यह है कि वहां के निवासियों को अपने साथ एक 'संदर्भ-पुस्तिका' रखनी पड़ती है, जिसमें सारे कागजात एक लिफाफे में रहते हैं। सन् १९५२ में इस कानून को महिलाओं पर भी लागू कर दिया गया।

कहा जाता है कि पास-कानून के विरुद्ध अपराध करने में प्रतिवर्ष अफ्रीकियों की आबादी में से ७ अफ्रीकियों के पीछे एक आदमी अवश्य जेल काटता है। जिनपर जुर्माना होता है, वे भी उसे चुका न पाने के कारण जेल की हवा खाते हैं। बिना पास के न कोई अफ्रीकावासी काम खोज सकता है, न शहर में रह सकता है और न सड़कों पर चल सकता है।

यदि कोई व्यक्ति संयोग से अपना पास घर पर भूल जाता

है और पुलिस के मांग करने पर दिखा नहीं सकता तो उसे ५ हफ्ते की जेल या ५ पौंड का जुर्माने का दण्ड मिलता है। यदि किसी व्यक्ति की कहीं ठुकाई होती है और उसके कपड़े तथा पास छीन लिये जाते हैं तो पास न होने के कारण उसे आठ सप्ताह की सजा या ८ पौंड का जुर्माना भुगतना पड़ता है। यदि किसी का मालिक नौकर के पास को इस आशंका से अपने पास रख लेता है कि कहीं वह भाग न जाय, तो पकड़े जानेपर पास न होने के कारण नौकर को एक सप्ताह की सजा या १ पौंड का जुर्माना भरना पड़ता है।

रात या दिन में कभी भी पुलिस अफ्रीकावासियों के घर में घुसकर परिवार के लोगों को पास दिखाने के लिए पंक्ति में खड़ा कर सकती है और प्रायः करती है।

पास का इस हद तक आतंक है कि हाल ही में दो व्यक्ति किसी कारखाने की इमारत में आग लग जाने पर बाहर आकर भी अपने पासों को बचाने के लिए फिर भीतर गये और जलकर स्वाहा हो गये।

ये तो जुल्म की बहुत थोड़ी-सी मिसालें हैं। सच बात यह है कि गोरी चमड़ी के शासक वहां के निवासियों को पशुओं से भी बदतर मानकर उनके साथ व्यवहार करते हैं।

जो हो, हाल ही में पास-पद्धति के विरुद्ध प्रदर्शन करने में शार्पेविले, लांगा तथा अन्य स्थानों पर गोरे अधिकारियों ने निहत्थे अफ्रीकियों को मशीनगनों से उड़ाकर अपने जुल्मों को चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। नेहरूजी ने ठीक ही उस कुकृत्य को 'अफ्रीका के जलियांवाला बाग' की संज्ञा दी है। अस्सी से अधिक व्यक्ति जरा-सी बातपर मौत के घाट उतार दिये गये और दो-ढाई सौ व्यक्ति घायल कर दिये गये।

गोरे प्रशासकों की इस अमानुषिकता की चारों ओर से भर्त्सना हुई है और शायद इसी कारण वहां के शासकों ने पुलिस को आदेश दिया है कि पास न होनेपर किसी भी अफ्रीकी को गिरफ्तार न किया जाय। लेकिन साथ ही

सरकार ने यह भी घोषित कर दिया है कि शान्ति-स्थापना के लिए यह एक अस्थायी कदम है।

अफ्रीकी लोग इस पास-प्रणाली से इतने दुखी हो गये हैं कि उसका अंत करने के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा दी है। २५ मार्च को सारे दक्षिण अफ्रीका में शोक-दिवस मनाया गया और पासों की होली जलाई। अफ्रीकियों ने हड़ताल करके सारे काम-काज को ठप्प कर दिया। सरकार का दमन-चक्र भी उसी तेजी से बढ़ रहा है। उसने दक्षिण अफ्रीका के अधिकांश भाग में आपात-स्थिति घोषित कर दी है और उनके नेताओं को बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तार कर लिया है। चारों ओर निपराध व्यक्ति धड़ाधड़ पकड़े जा रहे हैं। वहां की गोरी सरकार इस बात को भूल गई है कि दमन द्वारा जनता की भावना को कुचलने का जितना प्रयास किया जाता है, उतनी ही वह और प्राणवान बनती है।

यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद में उठा है और विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने मानव-अधिकारों के हनन का तीव्र विरोध किया है और चिन्ता व्यक्त की है। परिषद् ने एक प्रस्ताव पास किया है कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार जातीय पृथक्करण की नीति का त्याग करे।

दक्षिण अफ्रीका के साथ भारत का लगाव स्वाभाविक है। मानव-अधिकारों की सबसे पहली लड़ाई गांधीजी ने वहीं लड़ी थी। ऐसा प्रतीत होता है, मानों वहां के शासक आज भी सृष्टि के उस आरंभिक युग में रह रहे हैं, जबकि मानव जंगली था और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कोई भी अमानवीय कार्य कर डालता था।

गोरे शासकों के अत्याचार और हत्याकाण्ड की हम तीव्रतम शब्दों में निन्दा करते हुए अफ्रीकियों के कदम की हृदय से सराहना करते हैं। हमें विश्वास है कि उनका शांतिपूर्ण जन-आंदोलन यदि दृढ़तापूर्वक चलता गया तो शासकों को एक-न-एक दिन अवश्य झुकना पड़ेगा। भारत की आजादी की लड़ाई में ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों को कुचलने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी; लेकिन उसका परिणाम क्या हुआ? उन्हें विस्तर-बोरीवा बंधकर यहां से जाना पड़ा। अफ्रीकियों का धीरज, उनका साहस, उनकी आजादी के लिए उत्कट भावना और अत्याचारों के आगे न

झुकने की अदम्य लालसा और उनके त्याग-बलिदान अंतो-गत्वा अवश्य फलीभूत होंगे।

गांधी स्मारक निधि के लिए सुझाव

गांधीजी के उत्सर्ग के बाद उनके आदर्शों के प्रसार तथा उनकी प्रवृत्तियों के संवर्द्धन के लिए देशवासियों ने एक निधि एकत्र की थी, जो 'गांधी स्मारक निधि' के नाम से विख्यात है। उसमें १० करोड़ रुपये से अधिक राशि इकट्ठी हुई थी। पिछले दस-ग्यारह वर्षों में इस निधि द्वारा अनेक रचनात्मक संस्थाओं एवं भूदान यज्ञ को आर्थिक सहायता दी गई है; लेकिन उससे देशवासियों ने जो अपेक्षा रखी थी, उसकी पूर्ति अभी तक नहीं हो पाई। सिवा इसके कि इस संस्था द्वारा अंग्रेजी और हिंदी में 'गांधी-मार्ग' पत्र का प्रकाशन हो रहा है, और कोई भी ठोस तथा नियमित प्रवृत्ति स्मृति-उसके द्वारा संचालित नहीं हो रही। योजनाएं बनती हैं, पर वे कार्यान्वित नहीं हो पातीं। उसके मंत्री बार-बार बदलते हैं। हमें आश्चर्य होता है कि इतने साधन होते हुए भी दृढ़तापूर्वक कोई काम क्यों नहीं होता? देश में अनेक स्थानों पर गांधी-घर स्थापित करने का विचार निश्चित होकर भी उस दिशा में कोई खास प्रगति नहीं हो सकी। प्रकाशन की योजना बनी, पर उसका कोई परिणाम अभी तक सामने नहीं आया। गांधी-स्मारक की योजना वर्षों से कार्यान्वित होने की राह देख रही है। इस प्रकार अभी तक कोई भी ऐसा कार्य नहीं हो सका, जिसे गांधी स्मारक निधि की देन कहा जा सके।

भूदान यज्ञ को निधि से जो सहायता मिलती थी, उसे विनोबाजी ने लेना अस्वीकार कर दिया। हम उसके कारणों में नहीं जाना चाहते; लेकिन इतना अवश्य कहेंगे कि निधि के साधनों का जो सर्वोत्तम विनियोग हो रहा था, वह बंद हो गया।

लोग आलोचना करते हैं कि निधि पर व्यवस्था-खर्च तो काफी आता है, यहां तक कि अवैतनिक रूप में कार्य करनेवाले अधिकारियों का भी भत्ते आदि के रूप में निधि पर पर्याप्त भार पड़ जाता है, लेकिन उससे कोई विशेष काम संपन्न नहीं हो रहा है। वे यह भी कहते हैं कि आज जब कि साधनों के अभाव में गांधीजी द्वारा स्थापित तथा संचालित संस्थाएं सुख रही हैं, इस निधि के विमुल साधनों के निष्क्रिय पड़े रहने

क्या व कैसे ?

: १९३ :

सम्पादकीय

से क्या लाभ है ?

निधि के अधिकारियों की भावी योजनाएं क्या हैं, हम नहीं जानते; लेकिन इतना स्पष्ट है कि अधिकांश व्यक्ति इस पक्ष में हैं कि इस निधि की राशि का पूरा-पूरा उपयोग होना चाहिए और जल्दी-से-जल्दी।

इस संबंध में हमारे सुझाव ये हैं :

१. दिल्ली में एक गांधी रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की जाय। उसमें गांधीजी का समूचा साहित्य रहे, विभिन्न भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में प्रकाशित अनुवाद रहें तथा गांधीजी और उनकी विचार-धारा-विषयक दूसरों का लिखा संपूर्ण साहित्य रहे। इस इन्स्टीट्यूट में अन्वेषण कार्य करने के लिए कुछ छात्रों को छात्र-वृत्तियां दी जायं।

२. विदेशों में गांधीजी और उनके विचारों के बारे में बहुत-से लोग बड़े जिज्ञासु हैं। यदि उनमेंसे कोई उपरोक्त इन्स्टीट्यूट में अध्ययन के लिए आना चाहें तो निधि उन्हें अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान करे।

३. सारे देश को मंडलों में बांटकर प्रत्येक मंडल में एक-एक गांधी-केन्द्र स्थापित किया जाय। उस केन्द्र में गांधीजी की रचनात्मक प्रवृत्तियां रहें। स्वाध्याय के लिए कुछ साहित्य भी रहे। इस प्रकार इन केन्द्रों को गांधी-विचार के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक शिक्षण का माध्यम बनाया जाय।

४. राजघाट पर गांधी-स्मारक की स्थूल योजना जब पूरी हो तब हो, लेकिन वहांपर गांधीजीकी रचनात्मक प्रवृत्तियों का, जोकि गांधीजी की आत्मा थी, एक केन्द्र चालू किया जाय और उसका संचालन इस प्रकार किया जाय कि वह देश-विदेश के लिए प्रेरणादायक हो।

५. अपने प्रांतीय संगठनों को निधि प्रोत्साहित करे कि वे गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुसार देश के नवनिर्माण के लिए कार्य करनेवाली संस्थाओं तथा भूदान जैसे आंदोलनों में सक्रिय रूप से हाथ बंटावें।

६. गांधी-विचार-प्रचार के लिए जिन सार्वजनिक संस्थाओं ने गांधी-साहित्य प्रकाशित किया है, उन्हें आर्थिक सहायता देकर उनसे आग्रह करें कि वे गांधीजी की कुछ चुनी हुई पुस्तकों को बहुत सस्ते मूल्य में प्रकाशित करें। पुस्तकों का चुनाव करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की जा

सकती है।

७. गांधीजी का कुछ साहित्य विदेशियों की दृष्टि से तैयार कराने और उसका प्रकाशन करने की जिम्मेदारी सीधी निधि को उठानी चाहिए। इस साहित्य का चुनाव और प्रकाशन बहुत सावधानी से किया जाय और सुन्दर ढंग से।

८. आज की ज्वलंत समस्याओं पर गांधीजी के दृष्टिकोण से प्रकाश डालने के लिए 'हरिजन' जैसा एक पाक्षिक पत्र निकालना चाहिए, जिसके अंग्रेजी-संस्करण के संपादक श्री जी० रामचन्द्रन् तथा हिंदी-संस्करण के संपादक श्री श्रीमन्नारायण जी रहें। 'गांधी-मार्ग' में केवल शोध-प्रबंध दिये जायं। 'गांधी-मार्ग' मासिक किया जा सके तो बड़ा अच्छा हो।

९. अन्य देशों में गांधी-केन्द्र स्थापित कराने के लिए निधि योजनाबद्ध रूप में प्रयत्न करे। अपने यूरोप-प्रवास में हमें मास्को, पेरिस तथा अन्य नगरों में अनेक व्यक्ति इस बात के लिए लालायित दिखाई दिये थे कि वहां गांधी-केन्द्र स्थापित हों।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें सोची जा सकती हैं। फिर यह भी है कि काम चलने पर बहुत-सी प्रवृत्तियां अपने-आप निकल आवेंगी।

कहा जा सकता है कि इन सबके लिए आदमी चाहिए। यह भी कहा जा सकता है कि उनके लिए निधि के वर्तमान साधन काफी नहीं होंगे।

इन दोनों ही बातों में अधिक बल नहीं है। हमारे देश में ऐसे लोग हैं, जो गांधीजी के कार्य को आगे बढ़ाने की क्षमता रखते हैं; लेकिन उनमें से कुछ से तो काम ही नहीं लिया जा रहा है, कुछसे ऐसा काम लिया जा रहा है, जो उनकी क्षमता के अनुरूप नहीं है। रही साधनों की बात, उसके लिए विशेष चिंता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सद्दुद्देश्य तथा सत्कार्यों के लिए लोग सदैव उदार रहते हैं।

साहित्य अकादमी और नेशनल ट्रस्ट

भारतीय साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए दो संस्थाओं का नाम प्रायः सामने आ जाता है। उनमें एक है 'साहित्य-अकादमी', दूसरी 'नेशनल बुक ट्रस्ट'। इन दोनों संस्थाओं से हमारे देश के अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के नाम जुड़े हुए हैं।

अकादमी के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू हैं और ट्रस्ट के श्री सी०डी० देशमुख। ये दोनों संस्थाएं कई वर्ष से कार्य कर रही हैं। साहित्य-अकादमी ने विभिन्न प्रकाशकों की सहायता से हिंदी तथा अन्य भाषाओं में कई पुस्तकें प्रकाशित कराई हैं और आगे कराने की योजना है। ट्रस्ट की भी उस संबंध में बड़ी महत्वाकांक्षी योजना है, हालांकि उसका कोई प्रत्यक्ष परिणाम अभी तक नहीं निकला है।

बहुत समय पहले हमने अकादमी और ट्रस्ट के कार्य के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये थे और कुछ सुझाव दिये थे। अकादमी के अवतक के कार्य और ट्रस्ट की योजना को देखते हुए फिर कुछ कहने को जी होता है।

अकादमी ने अवतक जितने प्रकाशन कराये हैं, उनमें से अधिकांश उपन्यास हैं। वह पुस्तकों का अनुवाद कराकर दे देती है और कोई भी निजी या सार्वजनिक प्रकाशक उन्हें अपने यहां से अकादमी के लिए प्रकाशित कर देता है। मानना होगा कि अवतक अकादमी के प्रयत्न से जितनी पुस्तकें निकली हैं, उनमें कई बड़ी अच्छी हैं, लेकिन उनमें एक भी कृति ऐसी नहीं है, जिसे कोई भी सामान्य प्रकाशक न निकाल सके। हम यह मानते हैं कि साहित्य अकादमी का अस्तित्व सामान्य प्रकाशकों की पूरक संस्था के रूप में सिद्ध होना चाहिए, अर्थात् उसके द्वारा उन ग्रंथों के प्रकाशन की व्यवस्था होनी चाहिए, जिन्हें अपने अल्प या सीमित साधनों के कारण आम प्रकाशक निकालने में असमर्थ हों, और जिनका प्रकाशन हमारे साहित्य की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक हो। उदाहरण के लिए, अकादमी विधिवत् योजना बनाकर हमारे साहित्य के उन अंगों की पूर्ति करावे, जिनका अभाव आज सारा देश अनुभव कर रहा है, लेकिन जिनके प्रकाशनपर इतना खर्च आता है कि कोई भी सामान्य प्रकाशक उनके निकालने का साहस नहीं कर सकता। अच्छे बाल-साहित्य के अभाव की बात किससे छिपी है? वैज्ञानिक, तकनीकी, आर्थिक, ऐतिहासिक आदि-आदि विषयों पर मौलिक साहित्य की कमी किसे नहीं खटकती? हिन्दी के बढ़िया प्रामाणिक कोश की आवश्यकता कौन अनुभव नहीं करता और अंग्रेजी से हिन्दी और हिन्दी से अंग्रेजी के अच्छे कोश के बिना अनुवादकों तथा पाठकों का कितनी लाचारी का सामना करना पड़ता है! ऐसी और भी बहुत-सी चीजें हैं, जो आज की

तात्कालिक आवश्यकता की ओर निर्देश करती हैं। अकादमी और ट्रस्ट की सार्थकता ऐसे ही कार्यों से सिद्ध होगी।

एक ही चीज की पुनरावृत्ति न हो, इसलिए दोनों संस्थाओं को कार्य-विभाजन कर लेना जरूरी होगा। दोनों में से एक मौलिक साहित्य के सृजन की व्यवस्था करावे, दूसरी भारतीय भाषाओं में उनके अनुवाद की। अनुवाद में विदेशी भाषाओं के चुने हुए क्लासिक भी लिये जा सकते हैं।

इन दोनों संस्थाओं से सारे देश की बड़ी अपेक्षाएं हैं। हमें विश्वास है कि यदि इनके द्वारा कोई ठोस और दिशा-दर्शक कार्य हो सका तो निश्चय ही वह एक महान् राष्ट्रीय सेवा होगी।

जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्रों में पंचवर्षीय योजनाएं बनाकर कार्य हो रहा है, उसी प्रकार ये दोनों संस्थाएं भी अपने कार्य की योजना बनाकर उसे पांच या दस वर्षों पर फैलाकर उसकी पूर्ति कर सकती हैं।

मंत्र और तंत्र

विनोबाजी महान् चिंतक हैं। अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी उनका चिंतन बराबर चलता रहता है, जिसके फलस्वरूप हमारे देश को मौलिक विचार मिलते रहते हैं। हाल ही में पंजाब के नारायण नामक गांव में प्रार्थना-सभा में प्रवचन करते हुए उन्होंने एक नवीन सूत्र दिया है। उन्होंने कहा, "हमारा मंत्र 'जय जगत्' और तंत्र 'जय ग्रामदान' है।"

इस सूत्र का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने आगे कहा, "मंत्र वह उद्देश्य है, जिसपर हमारी सामाजिक-आर्थिक क्रांति की समूची योजना आधारित है और उस योजना को जिस ढंग से अमल में लाया जाय, उसका नाम 'तंत्र' है। हम सारे समाज को एक परिवार समझकर उसकी अधिक सेवा कर सकेंगे। जैसे कि परिवार में हम एक होकर काम करते हैं और दूसरे का हिस्सा मारने की कोशिश नहीं करते, उसी प्रकार समाज में भी करना चाहिए।"

विनोबाजी ने जो सूत्र दिया है, वह वास्तव में बड़ा ही सारगर्भित है। 'जय जगत्' का अर्थ है समष्टि का हित और 'जय ग्रामराज्य' का अर्थ है उस हित की पूर्ति का साधन। गांधीजी की भांति विनोबाजी की दृष्टि भी अत्यंत विशाल है और वह समस्त मानव-जाति के सुख-दुःख के संबन्ध में सोचते हैं। अपने उद्देश्य के फलीभूत करने के लिए वह ग्रामों

१९६०

क्या व कैसे ?

: १९५ :

हमारी राय

का इस प्रकार संगठन करना चाहते हैं, जिससे किसी भी केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता न रहे, सब लोग प्रेमपूर्वक रहें और मिल-जुलकर, पारस्परिक सहयोग से काम करें।

हम आज विज्ञान के युग में रह रहे हैं और दिन-प्रतिदिन एक-से-एक बढ़कर आविष्कार हो रहे हैं। लेकिन इनकी सार्थकता तभी हो सकती है जबकि ये मानव के अधीन रहें, नकि मानव इनका गुलाम बने।

विनोबाजी की सारी योजना का मध्य-बिन्दु मानव है, मानवता है। इसलिए वह सबके लिए कल्याणकारी है।

हम सबके लिए आवश्यक है कि हम विनोबाजी के हाथ मजबूत करें और ऐसा हम तभी कर सकते हैं जबकि हम उनके बताये रास्ते पर चलें। —य०

नवीनजी गये क्या, जीवन में से नवीनता चली गई !

नवीनजी के निधन के दुःखद समाचार सुनते ही ऐसा लगा मानो जीवन में से नवीनता चली गई हो। नवीनजी कलियुग में भी उस सतयुग की देन थे जिसमें त्याग, बलिदान, सेवा, कष्टसहन, सरलता का मूल्य अधिक था। आज के दिनों में कौन ऐसा युवक मिलेगा जो प्रतिज्ञा करेगा कि जब-तक—‘यह न होगा तबतक मैं शादी न करूंगा।’ नवीनजी ने प्रतिज्ञा की थी कि जबतक देश स्वतंत्र न होगा मैं शादी नहीं करूंगा—भारत को गुलाम संतान की भेंट नहीं दूंगा। उन्होंने अपनी सारी तरुणाई देश की स्वाधीनता को अर्पण कर दी और देश के स्वतंत्र होने के बाद उनकी प्रतिज्ञा-पूर्ति पर उन्होंने ५१ वर्ष की उम्र में शादी की और स्वतंत्र देश को एक स्वतंत्र बालिका प्रदान की। देशसेवा की धुन में संभवतः

१९१६-१७ से कालेज-जीवन बीच से ही समाप्त करके जीवन के अंत तक देश की सेवा और साहित्य-साधना में वे रत रहे। निर्भीक और स्पष्ट वक्ता, रसिक-कवि, दार्शनिकता की झलक लिये हुए लेखक, स्नेहशील मित्र व साथी, निर्भय व स्वतंत्र व्यक्ति और दबंग पत्रकार के रूप में नवीनजी सदैव अमर रहेंगे और याद आते रहेंगे। मालवे के एक गांव में जन्म लेकर यह कमल उत्तर प्रदेश के कानपुर में खिला और वहीं उनके शरीर को अंतिम समाधि मिली। अरसे से वे पक्षाघात से पीड़ित थे परंतु आश्चर्य है कि वे उसके बार-बार के आघातों को सहनकर किस प्रकार बचते रहे। जब-जब इस बीमारी के दिनों में मैं उनसे घर पर या अस्पताल में मिला हूं, तब-तब वही स्नेह की ताजगी और आत्मीयता देखी है जो भूली नहीं जाती। उनकी कई कविताएं उनके वियोगी जीवन की कसक की पहिचान कराती हैं; ये कहती हैं कि उन्हें अपनी तरुणाई को सुरक्षित रखने के लिए अपने आपसे कितना संघर्ष करना पड़ा। एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष दूसरी ओर अपने मन से संघर्ष। इन दोनों संघर्षों में यह वीर विजयी हुआ और विजय का सेहरा सर पर बांधे हुए आज वह संसार से बिदा हुआ। नवीन गया पर अपनी नवीनता पीछे छोड़ गया। हम उसको सम्हाल कर रखें और उनके गौरव को बढ़ायें।

आज सरलाबहन से बढ़कर दुखी कौन होगा ? निश्चय ही इस प्रश्न का जवाब देनेवाले हजारों लोग भारत में होंगे। सरलाबहन को इस दारुण दुःख में भी यह समाधान होना चाहिए कि उनकी तरह आज हजारों की आंखों से आंसू बह रहे होंगे। —ह० उ०

‘जीवन-साहित्य’ के पिछले विशेषांक थोड़े ही बचे हैं जिन्हें चाहिए शीघ्र मंगालें।

जमनालाल स्मृति अंक

॥)

विश्व-शांति अंक

१॥)

प्राकृतिक चिकित्सा अंक

२)

खादी ग्रामोद्योग अंक

१)

बुद्ध-जयंती अंक

१)

सर्वोदय-संदेश अंक

१)

—व्यवस्थापक

‘मंडल’ की ओर से

उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा मण्डल की पुस्तकें पुरस्कृत

पाठकों को यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि इस वर्ष उत्तर प्रदेश की सरकार ने ‘मंडल’ की निम्नलिखित पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान किये हैं :

१. युगधर्म (हरिभाऊ उपाध्याय);
२. तमिल साहित्य और संस्कृति (अवधनंदन);
३. प्रभु पधारे (स्व० झवेरचंद्र मेधाणी के उपन्यास पर अनुवादक श्यामू संन्यासी को);
४. रामायण कालीन समाज (डा० शान्तिकुमार नानुराम व्यास);
५. समुद्र के जीव-जन्तु (सुरेशसिंह)।

पिछले वर्षों में भी ‘मंडल’ की अनेक पुस्तकें केन्द्रीय तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। हमारी पुस्तक-मालाओं में नई वृद्धि

हमारी समाज-विकास-माला में पाठकों को ११० पुस्तकें अवतक प्राप्त हो चुकी हैं। हाल ही में इस माला में ये बीस पुस्तकें और प्रकाशित हुई हैं। मूल्य प्रत्येक का सैंतीस नये पैसे।

१११. नामदेव (श्रीपाद जोशी); ११२. सेवामूर्ति ठक्कर बापा (बाबूराव जोशी); ११३. वनसम्पदा (राम-

चंद्र तिवारी); ११४. ईश्वरचंद्र विद्यासागर (राजाराम जैन); ११५. जगन्नाथ पुरी (यशपाल जैन); ११६. गुरुवा-यूर (श्रीपाद जोशी); ११७. झलकारी (शंकर वाम); ११८. पशु-पक्षी (सुरेश सिंह); ११९. लल्लेश्वरी (शंभुनाथ भट्ट); १२०. समय का मोल (जगन्नाथ प्रभाकर); १२१. देवता (अनु० श्रीकृष्ण); १२२. बंगाल का बीरवल (स्नेह-लता); १२३. शंकरदेव (रजनीकांत); १२४. विनोबा के पावन प्रसंग (सुरेश राम); १२५. सती अनसूया (देवराज ‘दिनेश’); १२६. वेताल पच्चीसी भाग १ (यशपाल जैन); १२७. वेताल पच्चीसी, भाग २ (यशपाल जैन); १२८. रामानुजाचार्य (विष्णुदत्त ‘विकल’); १२९. यमुना की कहानी (विष्णु प्रभाकर); १३०. भरत (देवराज ‘क्लेश’)

इनके अतिरिक्त ६ पुस्तकें बाल-साहित्य-माला में नई निकली हैं : ७. जब दीदी भूत बनी (विष्णु प्रभाकर); ८. मूरखों की दुनिया (नारायणदत्त पांडे); ९. भालू बोला (राधेश्याम झींगन); १०. दुनिया के अचरज (मुरारिलाल शर्मा); ११. सेवा करे सो मेवा पावे (यशपाल जैन); १२. वहादुरी का भूत (अनु० विश्वनाथ गुप्त)।

इन तथा अन्य पुस्तकों की मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेता से कीजिये, न मिलें तो आग्रह कीजिये कि वे मंगावें। विस्तृत जानकारी के लिए हमें लिखिये।

—मंत्री

(पृष्ठ १९० का शेष)

साहस के धनी : लेखक : सिनेटर जॉन एफ० केन्नेडी; अनुवादक : नारायणदत्त; प्रकाशक : वोरा एंड कंपनी पब्लिशर्स प्रा० लि०, बम्बई; पृष्ठसंख्या : २१०; मूल्य : २।।) रु०।

प्रस्तुत पुस्तक सिनेटर केन्नेडी की प्रसिद्ध पुस्तक ‘प्रोफाइल्स इन करेज’ का अनुवाद है। इस पुस्तक पर सन् १९५७ का ‘पुलिट्जर पारितोषिक’ प्राप्त हो चुका है। जैसा कि इसके नाम से प्रगट है, इसमें साहस के धनी ८ अमेरिकन सिनेटरों की कथाएं हैं। इन लोगों ने प्रकृति के विरुद्ध अभिरक्षण नहीं किया और न युद्ध-भूमि में वीरता का प्रदर्शन किया। लेकिन बीसवीं सदी में जिस क्षेत्र में सबसे

अधिक साहस की आवश्यकता हो सकती थी, वहीं उन्होंने अपने जौहर दिखाये। अपने सिद्धांतों की उन्होंने फिर से प्रतिष्ठा की और इसीलिए यश-लाम किया। प्रारंभ में लेखक ने, राजनीति में साहस का क्या स्थान है इसका विशद और सुन्दर विवेचन किया है। आज के युग में राजनीति के प्रत्येक विद्यार्थी को इस पुस्तक का दर्शनशास्त्र की तरह अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि यह सीखना बहुत आवश्यक है कि अपनी ईमानदारी कायम रखने के लिए कलेजे पर किस प्रकार पत्थर रखा जाता है। समाज के सामने व्यक्ति की आशाओं, आकांक्षाओं का, नाम और मान का कोई मूल्य नहीं।

—‘सुधील’

गांधी विचार-दर्शन पर प्रकाश
डालने वाली गांधी स्मारक
निधि द्वारा प्रकाशित
त्रैमासिक पत्रिका

✓ गांधी मार्ग

सम्पादक—श्रीमन्नारायण
संयुक्त सम्पादक—राजबहादुर सिंह
मूल्य वार्षिक—३), प्रति अंक १)

गांधी मार्ग
गांधी स्मारक निधि
राजघाट, नई दिल्ली—१

मंगवाइये : ग्राहक बनिये !

बालकथाओं का नवीन पत्र —

हिन्दी ज्ञानदूत

प्रतिमास पहली तारीख को प्रकाशित

सम्पादक—भानुकुमार जैन
सहायक सम्पादक—बलवंतसिंह गौर

वार्षिक ४ रु० ८० न. पै.
एक प्रति का ००-८० न. पै.

पता —

११ होमजी स्ट्रीट,
बम्बई—१

सम्पदा

उद्योग • व्यापार • कृषि और खाद्य
बैंक व बीमा • श्रम-कल्याण • पंच-
वर्षीय योजनाएं

देश की अर्थनीति को प्रभावित करनेवाली
स्वतंत्र विचारों की हिन्दी मासिक पत्रिका।

छात्रों और शिक्षण-संस्थाओं के लिए
अनिवार्य !

वार्षिक ८) ; शिक्षण संस्थाओं से ७)

आशा है, आपने 'सम्पदा' देखी होगी। यदि
नहीं, तो नमूना मंगाने के लिए ७५ न. पै. के
डाक टिकट भेजना आवश्यक है; किन्तु इस
विज्ञापन का कटिंग नमूने के आवेदन के साथ
भेजने पर एक प्रति निःशुल्क भेजी जायगी।

अशोक प्रकाशन मन्दिर

२८/११ शक्तिनगर, दिल्ली—१

'आर्थिक-समीक्षा'

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनीतिक
अनुसंधान विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान सम्पादक :

श्री सादिक अली

सम्पादक :

सुनील गुहा

१६ जनवरी १९६० को बृहदाकार

प्रकाशित

'बंगलौर कांग्रेस अधिवेशन
विशेषांक'

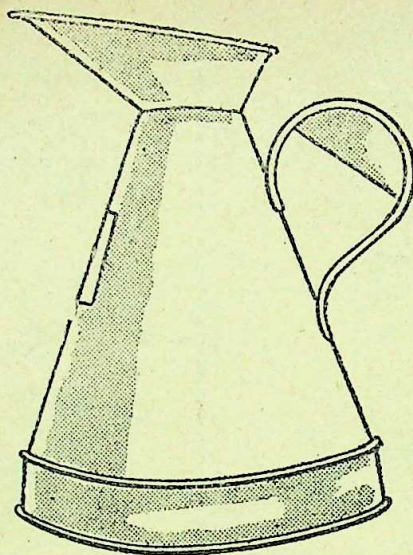
नेताओं एवं विशेषज्ञों के विद्वत्पूर्ण लेखों
से ओत-प्रोत

वार्षिक चंदा ७) रु० एक प्रति का ३० नये पैसे

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,

७ जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली



और अब तरल पदार्थ मापने के मैट्रिक पैमाने

तरल पदार्थ मापने के मैट्रिक पैमाने—लिटर—का प्रयोग अप्रैल, १९६० से शुरू हो गया है।

रंग-रोगन और पेट्रोल उद्योग ने मैट्रिक प्रणाली अपना ली है।

अब रंग-रोगन लिटरों के हिसाब से बिका करेगा और पेट्रोल का वितरण भी लिटरों के हिसाब से होगा।

परिवर्तन
तालिका

१ गैलन = लगभग ४ $\frac{1}{2}$ लिटर

१ लिटर = १,००० मिलिलिटर

तरल औंस	मिलिलिटर (मिलि०) (निकटतम मिलि० तक)	गैलन	लिटर	मिलिलिटर (निकटतम १० मिलि० तक)
१	२८	१	४	५५०
२	५७	२	८	६०
३	८५	३	१३	६४०
४	११४	४	१८	१८०
५ (= १ मिल)	१४२	५	२२	७३०
६		६	२७	२८०
७		७	३१	८२०
८		८	३६	३७०
९		९	४०	६१०
१०		१०	४५	४६०

गैलन	लिटर	मिलिलिटर (निकटतम १०० मिलि० तक)
२०	८०	६००
३०	१३६	४००
४०	१८१	८००
५०	२२७	३००
६०	२७२	८००
७०	३१८	२००
८०	३६३	७००
९०	४०९	१००
१००	४५४	६००

पिण्ड	लिटर (लि)	मिलिलिटर (निकटतम मिलि० तक)
१	...	५६८
२ (= १ क्वार्ट)	१	१३६

क्वार्ट	लिटर	मिलिलिटर (निकटतम मिलि० तक)
१	१	१३६
२	२	२७२
३	३	४०९
४ (= १ गैलन)	४	५४६

मिलिलिटर	तरल औंस (निकटतम १/४ तरल औंस तक)
१०	१/४
२०	१/२
३०	३/४
४०	१
५०	१ १/४
६०	१ १/२
७०	१ ३/४
८०	२
९०	२ १/४
१००	२ १/२

मिलिलिटर	पिण्ड	गिल	तरल औंस (निकटतम ३/४ तरल औंस तक)
२००	—	१	२
३००	—	२	४
४००	—	३	६
५००	—	४	८
६००	१	०	१०
७००	१	१	१२
८००	१	२	१४
९००	१	३	१६
१००० (= १ लिटर)	१	३	—

लिटर	गैलन	क्वार्ट	पिण्ड	गिल (निकटतम गिल तक)
१	—	—	१	३
२	—	१	१	२
३	—	२	१	१
४	—	३	१	—
५	१	—	—	३
६	१	१	—	२
७	१	२	—	१
८	१	३	—	—
९	१	३	१	३

लिटर	गैलन	क्वार्ट	पिण्ड	गिल (निकटतम गिल तक)
१०	२	१	—	—
२०	४	१	—	—
३०	६	२	—	—
४०	८	३	—	—
५०	१०	—	—	—
६०	१२	१	—	—
७०	१४	१	—	—
८०	१६	२	—	—
९०	१८	—	—	—
१००	२२	—	—	—

अपनाइये मेट्रिक प्रणाली
सरलता व एकरूपता के लिए

• हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

पुस्तक जगत

(मासिक)

- * 'प्रकाशन कला', 'भारत भारती', 'विश्व भारती', 'कसौटी' और 'वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण' आदि सुगठित स्तम्भों में विशिष्ट साहित्यकारों की विवेचना।
- * विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन।
- * प्रकाशक, लेखक, पाठक और विक्रेता का सम्मिलित मंच।

मूल्य : वार्षिक—३) अंक २५ न० पं०

'पुस्तक जगत', ज्ञानपीठ, पटना—४

साहित्यिक सांस्कृतिक कलात्मक मासिक

राष्ट्रवाणी

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे द्वारा प्रकाशित यह मासिक पत्रिका हिन्दी की सम्मानित मासिक पत्रिकाओं में अपना एक विशेष स्थान रखती है। हिन्दी, मराठी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों का सहयोग इसके लिए प्राप्त है। भारतीय भाषाओं के साहित्य के नवीनतम अंतः-प्रवाहों का प्रतिविव इसमें पाया जाता है। ग्रंथालयों, विद्यालयों, कॉलेजों और साहित्यिक संस्थाओं के लिए अत्यंत उपयुक्त।

किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं। हर महीने की पहली तारीख को अंक प्रकाशित होता है।

[सालाना चंदा चार रुपये]

'राष्ट्रवाणी' में विज्ञापन देना लाभप्रद है।

राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ

पो. बाँ. ५६०, पुणे २.

सबसे सस्ता और सुन्दर सचित्र मासिक

जागृति

संस्थापित १९४८

चौरंगा आवरण अनेकों इकरंगे चित्र
५६ पृष्ठ की सम्पूर्ण छपाई आर्ट पेपर पर
इसपर भी मूल्य केवल २५ नये पैसे
अप्रैल अंक के मुख्य आकर्षण.

हरकू हौल्दार (आंचलिक कथा) 'शैलेश' मटियानी।
चमत्कुमारी (हास्य कथा) — परशुराम। खंडहर
(समस्या-एकांकी) — सत्येन्द्र शर्मा। सुख का स्रोत
(ऐतिहासिक एकांकी) — रामचन्द्र महेन्द्र। तुम्हारी
आंखों में तब और अब (मुक्त छन्द) — वच्चन। बच्चा
मर जायगा। (व्यंग्य) श्री चिरंजीत शर्मा। आदि।

एजंटों को ५ से १०० प्रतिशत पर २५ प्रतिशत
और इससे ज्यादा पर ३३ १/३ प्रतिशत कमीशन दिया
जाता है। डाक-खर्च प्रकाशकों के जिम्मे। नमूने की
प्रति के लिए आज ही लिखें।

सम्पादक हिन्दी

लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब, चंडीगढ़

युगप्रभात

केरल का हिन्दी पाक्षिक

भावात्मक एकता भौगोलिक एकता की गारंटी
है और 'युगप्रभात' पिछले ३ सालों से भारत की
भावात्मक एकता को बढ़ावा देनेवाली विविध रच-
नाओं को, जिनमें दक्षिण की चार मुख्य भाषाओं से
अनूदित सामग्री की प्रधानता है, प्रकाशित कर हिन्दी
को भारतीय प्रतिनिधि भाषा बनाने की निरंतर चेष्टा
कर रहा है। नवम्बर से 'युगप्रभात' का चौथा साल
शुरू हो रहा है। एक प्रति का दाम २५ नये पैसे।
वार्षिक चन्दा ६ रुपये छमाही तीन रुपये

एजेन्सी के लिए लिखें—

मैनेजर—

युगप्रभात

कारिगृह (केरल)

‘मंडल’ के प्रकाशन : दूसरों की दृष्टि में

गांधी जी ने कहा था :

अगर मैं डिक्टेटर होता, पृष्ठ-संख्या ४८;
शरावबन्दी करें : पृष्ठ-संख्या ४०; स्वराज में
अछूत कोई नहीं : पृष्ठ-संख्या ४८; खादी पहनी :
पृष्ठ-संख्या ४८; शिक्षा ऐसी हो : पृष्ठ-संख्या : ४८;
कंगाली ऐसे दूर होगी : पृष्ठ-संख्या ४०; कताई
यज्ञ है : पृष्ठ-संख्या ४६; ग्राम सेवा यों करें : पृष्ठ-
संख्या ४०; स्त्रियाँ यह करें : पृष्ठ-संख्या ४८;
मूल्य : प्रत्येक का ३० न० पैसे ।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली ने उपर्युक्त पुस्तिकाएँ ‘गांधीजी ने कहा था’ पुस्तक-माला के अंतर्गत प्रकाशित की है। जैसाकि पुस्तिकाओं के नामों से स्पष्ट है, इनमें विभिन्न समस्याओं पर गांधीजी के विचारों का संग्रह किया गया है। इनसे गांधीजी की विचार-धारा को समझने में सहायता मिलती है। छपाई साफ़-सुथरी और मोटे टाइप में है।

—कुरुक्षेत्र दिल्ली ।

अठारहसौ सत्तावन : लेखक : श्री श्रीनिवास बालाजी हर्डेकर; पृष्ठसंख्या १९२; मूल्य : १.२५ ।

सस्ता-साहित्य-मंडल ने अल्पमोली संस्करण निकालकर पाकेट बुक साइज की परम्परा को एक सुन्दर और अधिक परिष्कृत रूप दिया। सरल और सुन्दर भाषा में सचित्र वर्णन पाठकों के ज्ञानार्जन का सुन्दर साधन है। इस पुस्तक में जहाँ इतिहास के तत्वों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गई है, वहाँ रसात्मकता की सुरक्षा का भी प्रयत्न है।

—‘साहित्य संदेश’ आगरा ।

विराट : मूल लेखक : स्टीफन ज्विग; अनुवादक : यशपाल जैन; पृष्ठ-संख्या : १०६; मूल्य : एक रुपया ५० नए पैसे ।

ज्विग के आत्म-चरित से पुस्तक की रोचकता बढ़ गई है। भारतीय पृष्ठभूमि पर लिखा गया उक्त लघु उपन्यास एक उत्कृष्ट कलाकृति है। छपाई-सफाई सुन्दर एवं आकर्षक ।

—‘ज्वाला’ जयपुर ।

खाद और उसके उपयोग : लेखक : श्री शंकरराव

जोशी; पृष्ठ संख्या : ३६४; मूल्य : ३.०० ।

खेती के साधन : लेखक : नारायण दुलीचन्द व्यास, पृष्ठ-संख्या ९६; मूल्य १.२५ ।

भारतीय योजनाओं में कृषि की उन्नति पर विशेष बल दिया जा रहा है। नवीन और सम्पन्न भारत के निर्माण में सबसे बड़ी सहायता कृषि के विकास से मिलेगी। यदि भारत की कृषि-भूमि में उपज की मात्रा दुगुनी या उससे भी अधिक की जा सके, तो उससे भारत की अधिकांश समस्याएँ हल हो जाती हैं। इस दृष्टि से उपज बढ़ाने के वैज्ञानिक क्रियात्मक साधन बतानेवाली सरल शैली में लिखी गई पुस्तकों का महत्व बहुत अधिक है। सस्ताहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित उक्त दोनों पुस्तकें बहुत अच्छी शैली में लिखी गई हैं। पहली पुस्तक खादों के सम्बन्ध में है और दूसरी कृषि के साधनों के सम्बन्ध में।

—‘आजकल’ दिल्ली ।

पक्षियों की दुनिया : लेखक श्री सुरेशसिंह; पृष्ठसंख्या : ४८; मूल्य : १.५० ।

इस पुस्तक में पक्षी-विज्ञान के विभिन्न अंगों का बाल-सुलभ-विवेचन है। विषय का प्रतिपादन बच्चों के लिए उपयुक्त भाषा-शैली में किया है।

—‘विशाल भारत’, कलकत्ता ।

कथा सरित्सागर : (संक्षिप्त रूपान्तर) गोपाल कृष्ण कौल; पृष्ठसंख्या : ५४४; मूल्य : ६.०० ।

रूपान्तर बहुत अच्छी कोटि का और कथाएँ पढ़ने में आनन्द आता है।

—‘आजकल’ दिल्ली ।

गरमी की कहानी : सम्पादक : डा० सत्यप्रकाश;

पृष्ठ-संख्या : ४८; मूल्य : १.५०

गरमी किस प्रकार पैदा होती है, उसके क्या-क्या कार्य हैं आदि सारी बातों पर थोड़े में विचार किया गया है। पुस्तक सचित्र है। —योजना, दिल्ली ।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मानव अधिकार

विष्णु प्रभाकर
राजदेव त्रिपाठी

संस्था साहित्य मण्डल प्रकाशन

हमारी
नवीन
कृति

पठनीय
तथा
ज्ञानवर्द्धक

इस पुस्तक में बताया गया है कि मानव के लिए सबसे महत्व की चीज उसके अधिकार हैं और उनकी सुरक्षा के लिए संसार में कितने प्रयत्न हुए हैं। पुस्तक बड़ी ही उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक है। सुन्दर छपाई, आकर्षक आवरण, अनेक चित्र, पृष्ठ १००, फिर भी मूल्य केवल १) ५०

संस्था साहित्य मंडल, नई दिल्ली

सत्साहित्य
प्रकाशन

जून १९६०

जीवन

साहित्य

सम्पादक

हरिभाऊ उपाध्याय

यशपाल जैन



कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय ।
आप ठगे सुख ऊपजे, और ठगे दुख होय ॥

—कबीर

अहिंसक

वर्ष : इक्कीस

अंक : छः

नवरचना का मासिक

वार्षिक मूल्य : चार रुपये

एक प्रतिका : चालीस नये पैसे

विषय-सूची

१. एक क्षेत्र में सम्मिलित शक्ति लगाइये
—विनोबा २०१
२. दूसरा कोई मार्ग नहीं —वियोगीहरि २०३
३. राष्ट्रीय चरित्र का ज्वलंत प्रश्न
—नेमिशरण मित्तल २०५
५. पं० सूर्य-नारायण व्यास से एक भेंट
—राजेन्द्रनाथ तिवारी 'तृषित' २०८
६. श्राविका कोशा गणिका —राजाराम जैन २११
७. मानव-धर्म और समाज—जगलाल चौधरी २१३
८. जीवन रवि की स्वर्णिम उड़ान
—परमेश्वर 'द्विरेफ' २१५
९. संपूर्ण जीवन-शुद्धि —केदारनाथ २१६
१०. गीत —त्रिलोकीनाथ ब्रजवाल २१८
११. स्त्री के भाग्य की लक्ष्मी
—चन्द्रशेखर दुबे २१९
१२. हिन्दी व्याकरण में क्रांति—माईदयाल जैन २२०
१३. मानव-धर्म और राष्ट्रीय एकता
—महावीरप्रसाद प्रेमी २२२
१४. गीत —हरीश २२५
१५. गांधी-दर्शन —राम मेहता २२६
१६. सुनो, हिरोशिमा क्या कहता है ?
—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि' २२७
१७. अमेरिका के राष्ट्रकवि फ्रीस्ट
—संकलित २२८
१८. परवाना —नेमचन्द्र 'शील' २२९
१९. भारत की उन्नति में परम बाधक-ईष्या
—अगरचंद नाहटी २३०
२०. कसौटी पर —समालोचनाएं २३२
२१. क्या व कैसे —संपादकीय २३३
२१. 'मंडल' की ओर से —मंत्री २३७

ग्राहकों से निवेदन

जो सज्जन जुलाई १९५६ से ग्राहक बने थे, उनका वार्षिक शुल्क इस अंक से समाप्त हो रहा है। उनसे हमारा अनुरोध है कि वे कृपया ४) मनीआर्डर द्वारा भेजकर हमें अपनी सेवा करने का अवसर प्रदान करें। वी० पी० भेजने में व्यर्थ ही दस आने खर्च हो जाते हैं। विलम्ब भी होता है। यदि मनीआर्डर ३० जून तक प्राप्त न हुआ या उस संबंध में कोई सूचना न मिली तो जुलाई का अंक वी० पी० द्वारा भेज दिया जायगा। आशा है, ग्राहक बन्धु वी० पी० छुड़ाकर अनुगृहीत करेंगे।

ग्राहकों की सुविधा के लिए चन्दा समाप्त होनेवाले ग्राहकों की संख्या नीचे दी जा रही है।

१४६५, १४६८ से १४७०, १४७२ से १४७४, १४७६, १४८१ से १४८७, १४८९ से १४९२, १४९४ से १४९७, १४९८ से १५०१, १५०३, १५०६, १५०८ से १५१२, १५१६, १५२१ से १५२२, १५२४ से १५२५, १५२८, १५३१ से १५३२, १५३४ से १५३७, १५३९ से १५४६, १५४८, १५५१ से १५५६, १५५८, १५६०, १५६३, १५६५, १५६७, १५६८, १५७१, १५७३ से १५७४, १५७६ से १५७८, १५८२ से १५८४, १५८६, १५८८ से १५९०, १५९५, १५९७ से १५९८, १६०३ से १६०४, १६०६ से १६०७, १६०८ से १६१३, १६१७ से १६१८, १६२० से १६२५, १६३१ से १६३३, १६३७, १६३८, १६४१, १६४३, १६४६, १६४८ से १६५०, १६५५ से १६५७, १६६०, १६६२, १६७६, १६८३, १६८५, १७०३, १७०५, १७०८, १७११, १७१३ से १७१४, १७१७, १७२३, १७२६, १७४६, २०१४, २१२१, २१४७, २१५० से २१५१, २१५३ से २१५५, २१५८, २१६०, २१६३ से २१६४, २१६६, २१६८ से २१७६, २१७८ से २१८४, २१८८ से २१८९, २१९७ से २२०३, २२०७ से २२०८, २२१५, २२४३, २२७७, २२८२, २३८८ से २३९०, २३९४ से २३९८, २४०० से, २४०३, २४०५ से २४११, २४१४, २४१६ से २४२६, २४३५, २४४०।

—अध्यक्ष

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवनसाहित्य

वर्ष २१]

जून, १९६०

[अंक ६

एक क्षेत्र में सम्मिलित शक्ति लगाइये

विनोबा

मैं चाहता हूँ कि हर प्रदेश में हो सके तो एकाध क्षेत्र सर्वोदय का क्षेत्र बनाने की कोशिश होनी चाहिए। जहाँ पर शोषण-मुक्ति और शासन-मुक्ति की कोशिश हो, सरकार के मुख्य-मुख्य कर्तव्य वहाँ पर न रहें; झगड़े, शराब, नशा न रहे; पुलिस, अदालत आदि की जरूरत न रहे; चुनाव में संघर्ष न होता हो; इस प्रकार का क्षेत्र हर प्रदेश में बनाने की जरूरत है। और उसमें अनेकों के एकत्र होने की जरूरत है। मैंने यह जो आखिरी बात बताई, वह हम लोगों को मुश्किल मालूम पड़ती है। अब जब इस तरह एकत्र आने की बात करते हैं, तो अक्सर लोग अपने-अपने क्षेत्र का आग्रह रखते हैं। अपना स्थान छोड़कर जहाँ कहीं तय हो, वहाँ जाने के लिए राजी नहीं होते। दो-चार रोज के लिए जाने के लिए नहीं, अपना जीवन-कार्य समझकर जाने की बात मैं कर रहा हूँ। जैसे आगरे के बाबूलालजी मित्तल कोरापुट गये। उस तरह जाना और अपनी सारी शक्ति लगाना यह हम लोगों से कम बनता है। इसके कई अच्छे कारण भी हैं। जिन क्षेत्रों में हम काम कर चुके हैं, उसे एकदम छोड़कर जाना कभी-कभी मुसीबतवाला मालूम होता है और कभी-कभी वह धर्म भी नहीं मालूम होता है ?

मैं कहना चाहता हूँ कि जबतक किसी एक प्वाइंट पर, बिन्दु पर, जगह पर, बहुविध दिमाग से, लेकिन एक हृदय से सम्मिलित शक्ति लगाने की ताकत अहिंसा नहीं दिखायेगी, जबतक वह नहीं पनपेगी। बुद्धि अनेकविध हो, बुद्धियों का

सहयोग हो, जिससे कि पूर्ण बुद्धि बनने में मदद मिलती हो, लेकिन किसी एक की बात आखिरी मानकर चलने की शक्ति हो। अभी यह ताकत अहिंसा नहीं दिखा रही है। हिंसा दिखा रही है। इसीलिए यद्यपि आज दुनिया में बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं, जिनका हिंसा में बुनियादी विश्वास रहा होगा। सामाजिक क्षेत्रों में हिंसा कारगर होगी, उससे मसले हल होंगे, ऐसा विश्वास बहुतों को नहीं रहा है; क्योंकि हिंसा के बहुत प्रयोग हो चुके हैं और हिंसा ने जो आज रूप धारण किया है, उसमें हिंसा में जो देवी अंश था, शक्ति का अंश था, वह अब नहीं रहा है; और उसका आसुरी ही रूप बन गया है। इसलिए हिंसा के लिए दुनिया को बहुत ज्यादा स्वतंत्र आकर्षण नहीं रहा है। तिसपर भी आज हिंसा कुछ काम करने में समर्थ साबित होती है, इसीलिए लोगों में कुछ श्रद्धा रही है। बावजूद इसके कि हिंसा पर से बुनियादी विश्वास उठ गया है, तो भी कुछ श्रद्धा बनी है, इसका मात्र यही कारण है कि विशिष्ट स्थान पर, विशिष्ट नुस्ते पर अनेकों को वह एकत्र करती है। गीता की भाषा में लोक-संग्रह करती है।

अहिंसा वह शक्ति इसलिए नहीं दिखाती है कि अहिंसा में अपनी कुछ पाबंदियाँ, लिमिटेशन्स, हैं। वे ही उसकी खूबियाँ हैं। एक खूबी यह कि अहिंसा हुक्म लाद नहीं सकती है। वह विचार समझा सकती है और सामनेवाले को विचार मानने की या न मानने की पूरी आजादी देती है।

जीवन-साहित्य

मान लीजिये कि कल अहिंसक सरकार बने और वह जाहिर करे कि हम ऐसा वजट बनाते हैं कि हमें इस साल इतना खर्चा करना पड़ेगा तो लोग उतना दान दें। फिर दान का पैमाना भी मुझाया जाता है, जिससे कि किसी को तकलीफ न हो। हजार रुपया आमदनीवाला कितना दान दे, दस हजार वाला कितना दान दे, लाखवाला कितना दे, इस प्रकार बताया जाता है और कहा जाता है कि लोग उससे अधिक भी दे सकते हैं, लेकिन उतना दें तो वजट पूरा होगा। फिर हम जो सेवा करना चाहते हैं, वह हमसे हो सकेगी। इस तरह वजट क्यों ठीक है, यह बताया जाता है और लोगों से दान मांगा जाता है; तो क्या आपको आशा है कि आपके टैक्स से आधी भी रकम मिलेगी? अगर सरकार दरअसल लोगों की चुनी हुई सरकार है और वह लोगों के सामने वजट पेश करती है, लोगों की टीका सुनकर सुधार करती है और फिर दान मांगती है तो दान क्यों नहीं मिलना चाहिए? मेरे विचार में तो यही बात बैठती है। सरकार दान मांगेगी और उसे टैक्स से भी ज्यादा मिलेगा इस तरह जब होगा, तब अहिंसक स्टेट बनेगी, तबतक अहिंसा नहीं पनपेगी।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अहिंसा किसी को दवा नहीं सकती, वह पूरी आजादी देती है। अहिंसा में कोई भी व्यक्ति दी हुई आज्ञा का पालन करने के लिए और उसे छोड़ने के लिए आजाद रहता है, फिर भी पूरी आजादी के साथ वह आज्ञा-पालन करता है। यह जब होगा, तब अहिंसा का राज्य आयगा। इसलिए अहिंसा की कसौटी इस बात में है कि लोगों को अहिंसक समाज के नेताओं का शब्द अत्यंत बंधनकारक मालूम होना चाहिए। जैसे कि भगवान् ने गीता में कहा कि “यथेच्छसि तथा कुरु”—जैसा चाहो वैसा करो और फिर उसके बाद कहा कि “मामेकं शरणं ब्रज”—तू मेरी शरण में आ जा, याने स्वेच्छा से मेरी शरण में आ जा। पहले वाक्य को दूसरा वाक्य काटता नहीं है; बल्कि पहले वाक्य के आधार पर ही दूसरा वाक्य कहा कि ‘तू स्वतंत्र इच्छा से काम कर, पर तेरी इच्छा ही ऐसी हो कि मेरी इच्छा न चले, भगवान् की चले।’ स्वेच्छापूर्वक स्वेच्छा-त्याग ही।

मैं चाहता हूँ कि उत्तर प्रदेश में ऐसा क्षेत्र लिया जाय कि जिसमें अच्छे-से-अच्छे लोग अपनी ताकत लगायें। परन्तु

अपना क्षेत्र छोड़कर जाने में स्वाभाविकतया कुछ धर्मसंकट मालूम होता है। इसके अलावा आज्ञा मान्य करने का विचार भी हम अभी तक नहीं समझे हैं। इन कारणों के अलावा और एक कारण यह भी है कि सात्त्विक पुरुष में जो अहंकार होता है, उससे अधिक बंधनकारक चीज दूसरी कोई नहीं होती है। वैसे अहंकार राजस और तामस पुरुषों में भी होता है। लेकिन उनके अहंकार में ताकत नहीं होती, उसे छोड़ा जा सकता है। वे लाचारी से उसे पकड़े होते हैं। लेकिन सात्त्विक पुरुषों के अहंकार में तत्त्व का बल होता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे समाज में सात्त्विक अंश अधिक दाखिल होता है। उन सात्त्विक व्यक्तियों के अपने-अपने विचार रहते हैं, जिनमें दृढ़ता होती है, जो एक अच्छा लक्षण है। सात्त्विक पुरुष के अपने विचारों में जो दृढ़ता है, उसका छाया-रूप दोष भी होता है। यह मेरा अपना एक दर्शन है कि मनुष्य के कुछ दोष तो ऐसे होते हैं, जो बुराई कहे जा सकते हैं, लेकिन कुछ दोष तो गुण-छाया दोष होते हैं। सात्त्विक और दृढ़-निश्चयी मनुष्य में थोड़ा अहंकार का दोष भी गुण-छाया के रूप में आ जाता है। सात्त्विक मनुष्य नम्र हो, तो नम्रता के साथ कुछ डीलेपन का दोष भी आजाता है, जो उस गुण की छाया है। बिना छाया के केवल गुण ही गुण प्रकट हो, यह शक्ति माया में, मैटर में नहीं है। “ज्योतिरिवाधूमकः” धूम के बिना ज्योति, दोष के बिना गुण, छाया के बिना प्रकाश संभव नहीं है। चित्र हो, लेकिन अंकन न हो, यह संभव नहीं है। वैसे अंकित चित्र से काल्पनिक चित्र कभी-कभी ज्यादा सुन्दर और आकर्षक होते हैं। एक भाई ने मेरे पास एक कविता की किताब भेजी, जिसमें एक पन्ने पर थोड़ी लाइनें थीं और बाकी हिस्सा खाली था। मैंने कहा कि आपकी कविता सुन्दर है, लेकिन काले अंश से सफेद अंश मुझे ज्यादा सुन्दर मालूम हुआ। सफेद अंश में जो काव्य भरा हुआ था, वह अद्भुत था। उसमें मनुष्य जितनी कल्पनाएं करना चाहता है, कर सकता है। लेकिन आप चित्र को अंकित करना चाहते हैं तो काली लकीरें आती ही हैं। केवल सफेद अंश का चित्र नहीं बन सकता। वैसे ही बिना दोष के गुण संभव नहीं है। गुण के साथ दोष-रूपी छाया होती ही है। इसलिए वह चित्र प्रकट होता है।

(शेष पृष्ठ २०४ पर)

वियोगी हरि

दूसरा कोई मार्ग नहीं

कभी-कभी यह सुनने में आता है, कुछ तो आश्चर्य के स्वर में और कुछ शिकायत के स्वरों में, कि विनोबाजी इस तेजी से सर्वोदय के कार्यक्रम में नये-नये हेरफेर करते हुए आगे और आगे कदम बढ़ाते जा रहे हैं कि उनके साथ या पीछे-पीछे चलना और उनको समझना भी मुश्किल हो गया है। जो आश्चर्य होता है और जो शिकायत की जाती है, उसमें कुछ तथ्य तो है। आगे बढ़ने या ऊंचे चढ़ने के मूल में जब सम्यक्-ज्ञान का अभाव होता है, और साथ-साथ ऊपर-ऊपर से उस प्रवृत्ति को नापने-तोलने का और अधीरता-पूर्वक उसके परिणाम देखने का हमारा स्वभाव बन जाता है, तब आश्चर्य और शिकायत ही नहीं, बल्कि अश्रद्धा भी उस प्रवृत्ति के प्रति पैदा होनी लगती है। सत्यमूलक सम्यक्-ज्ञान तक पहुंचने में एक के बाद दूसरे प्रयोग को पार करना ही पड़ता है। ऐसी यात्रा में आश्चर्य, शिकायत, अधीरता और अश्रद्धा के लिए वस्तुतः स्थान कभी हो नहीं सकता।

अस्पृश्यता-निवारण अर्थात् समता-संस्थापना की प्रवृत्ति पर भी ऊपर का यह सिद्धान्त लागू होता है, क्योंकि सर्वोदय का वह एक मूलभूत अंग है। सबका उदय देखना है तो समाज में से विषमता का विष निकालना ही होगा। यह एक महान् सत्य है। इस सत्य का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किये बिना हमारी गति ही नहीं। ज्ञानरहित क्रिया कोरे कर्मकांड में परिणत हो जाती है, जो जड़ होता है। सर्वत्र सभी कालों में यही हुआ है। तब और भी अधिक खराबी आ जाती है, जबकि कर्मकांड आर्थिक साधनों के सहारे पर खड़ा हो जाता है। पुराकाल के यज्ञ इस सत्य के साक्षी हैं। यज्ञ का वह रूप समाज के हित में टिक नहीं सकता था। इसलिए उसके स्थान पर ज्ञान-यज्ञ को प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता दी गई। ऐसा लगता है कि विनोबाजी का सारा ही प्रयत्न सर्वोदय की विभिन्न प्रवृत्तियों को ज्ञान-यज्ञ में परिणत कर देने के लिए ही है।

अस्पृश्यता-निवारण एक निषेधात्मक प्रवृत्ति है। साथ तो समता की संस्थापना ही है, जिसतक अहिंसा

अर्थात् व्यापक प्रेम के द्वारा ही हम पहुंच सकते हैं। इस लक्ष्य तक पहुंचने और इसे वेधने के लिए तपःसाधना को प्रथम स्थान देना होगा, तभी उस मानस तथा हृदय का स्पर्श हम कर सकेंगे, जिसने भूल और कुछ हठ से अधर्म को धर्म अथवा असत्य को सत्य मान रखा है। देखना होगा कि पिछले वर्षों से जिस कार्यक्रम को और जिन साधनों को हम अपनाये हुए हैं, उनमें प्रयोगों का प्रवाह रुक जाने से, कहीं जड़ता या निर्जीवता तो नहीं आ गई है, और वे कहीं कोरे कर्मकांड तो नहीं बनते जा रहे हैं। उस कार्यक्रम को तब कसौटी पर कसना होगा। रोग का जोर यदि कम नहीं हुआ या बहुत थोड़ा असर दवा का हुआ है तो इलाज में हेर-फेर करना ही होगा। देखा गया है कि कभी-कभी कीमती-से-कीमती दवा और उपचार का असर रोग पर बहुत ही कम या बिल्कुल ही नहीं होता है, जबकि पथ्य या परहेज रखकर निसर्गोपचार से रोगी स्वस्थ हो जाता है। कीमती दवाइयां रोग को कभी-कभी, अनजान में ही सही, लम्बा भी कर देती हैं और ऐसी दवाइयों में, लगातार लेते-लेते, रोगी को रस भी आने लगता है। उनमें हल्की-सी जो नादकता रहती है, उसमें कुछ क्षणों के लिए वह भूल जाता है कि उसे कोई रोग है।

ऊपर का यह रूपक हर एक रचनात्मक प्रवृत्ति पर घटाया जा सकता है। समाज के शरीर में पैठी हुई बुराई का चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक हो; धार्मिक अंततः भी किया जा सकता है, जबकि उसके उपायों और साधनों के पीछे सही-सही ज्ञान से निदान किया गया हो और उसे दूर करने के लिए समय-समय पर नये-नये प्रयोग उत्साहपूर्वक किये जायें। यह न माना जाय कि जिस प्रयोग और जिस उपाय को अबतक काम में लाया गया, वह बिल्कुल निष्फल गया। नहीं, उसने भी अपना काम किया, पर उतना ही, जितना कि स्थान और काल के अनुरूप उसके अन्दर बल था। पर उसीको पकड़े रहना अब ठीक नहीं, इस बात का ध्यान रखना होगा। उसके बिल्कुल विफल होजाने का एक

कारण यह भी हो सकता है कि उसपर श्रद्धा कम रही हो और ऊपर-ऊपर से ही उसे अपनाया गया हो। कुछ भी हो, उस प्रयोग और उस उपाय में परिवर्तन न करना रचनात्मक कार्यक्रम के हित में अच्छा नहीं होगा। कार्यक्रम में जड़ता और सड़न न आ जाय, इसका पहले से ध्यान रखना होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि किसी भी रचनात्मक कार्यक्रम में तभी हाथ लगाया जाय, जबकि उस प्रवृत्ति का सही-सही ज्ञान हो अथवा उसे हासिल करने की पूरी तैयारी हो, समय-समय पर उसका सिंहावलोकन किया जाये और विफलताओं पर पैर रखते हुए उत्साहपूर्वक आगे बढ़ने का साहस हो।

हमेशा इस बात का ध्यान रखा जाय कि अमुक विधि से निर्जीव कर्मकांड की तरह यदि कोई कार्यक्रम श्रद्धा या अश्रद्धापूर्वक पूरा कर लिया या उसका अनुष्ठान दूसरों के हाथ करा लिया तो उससे फल-लाभ होने का नहीं। यह साफ है कि लुभावनी फलश्रुतियों से कभी काम नहीं चलने-वाला। सही ज्ञान से, सही दृष्टि से, सही श्रद्धा से, सही निष्ठा से और सही क्रिया से ही असत्य का निवारण और सत्य का दर्शन होता है। अस्पृश्यता या विषमता का उन्मूलन और समता अर्थात् सर्वोदय की संस्थापना इसी मार्ग पर चलने से होगी, दूसरा कोई मार्ग नहीं।

(पृष्ठ २०२ का शेष)

इसीलिए हम उसे दोष नहीं मानते हैं। जैसे मेरे मन में आलस्य भरा हुआ है, जिसे लोग नहीं जानते हैं। वैसे मैं घूमा करता हूँ, फिर भी आध्यात्मिक जीवन के कारण जो निवृत्ति की प्रेरणा है, उसमें आलस्य भी भरा हुआ है। अगर किसी ने गलत सवाल पूछा तो स्वाभाविक ही इच्छा होती है कि उसका तीव्र उत्तर दिया जाय, लेकिन आलस्य के कारण मैं उत्तर भी नहीं देता हूँ। उत्तर देता तो तीव्र देता और नुकसान होता। लेकिन आलस्य के कारण मैं बच जाता हूँ। मुझे अहिंसा का, निवृत्ति का, सत्य का विचार पसन्द आता है, क्योंकि मुझमें आलस्य है। मुझे लगता है कि झूठ बोलूँ, तो उस झूठ की रक्षा के लिए कितना आडंबर खड़ा करना होगा, षड्यंत्र रचना होगा। लेकिन सीधा, सरल, सच बोल दूँ तो आसान होगा, कुछ भी नहीं करना होगा। गुस्सा करना हो तो आँखें फाड़नी होंगी; हाथ उठाना होगा, कुछ बोलना होगा, लेकिन गुस्सा न करने में कुछ भी नहीं करना होगा। अल्पतम श्रम होगा। मैं इस तरह सोचता हूँ, क्योंकि मुझमें आलस्य भरा पड़ा है। सत्त्वगुणी, दृढ़-

निश्चयी मनुष्यों के साथ-साथ कुछ अहंकार जुड़े हुए रहते हैं, जिन्हें वे नहीं छोड़ सकते हैं। मुझे अक्सर लोग पूछते हैं कि सात्त्विक लोगों का आपस-आपस में क्यों नहीं बनता है। रजोगुणी लोग इकट्ठा होते हैं, उनका 'एसोसिएशन' बनता है; लेकिन सात्त्विक लोगों का 'एसोसिएशन' क्यों नहीं बनता है? इसका कारण यह है कि सात्त्विक लोगों में जो अहंकार होता है, उसका छोड़ना बहुत कठिन होता है। यह बहुत ऊँची, ब्रह्मविद्या की बात है। अहंकारगुक्त सत्त्वगुण हो, इसके लिए आत्मविद्या की जरूरत है और किसी चीज से अहंकार को तोड़ा नहीं जा सकता है। इसलिए सात्त्विक लोगों को इकट्ठा करने में मुसीबत आती है।

मैं चाहता हूँ कि उत्तर प्रदेश में आप एक क्षेत्र चुनें और आप लोग उसमें ताकत लगायें, तो एक दर्शन होगा कि हम भी इकट्ठा हो सकते हैं। सिर्फ हिंसा पर श्रद्धारहने वाले ही नहीं, बल्कि हम अहिंसावाले भी; रजोगुणी ही नहीं, बल्कि सत्त्वगुणी भी इकट्ठा हो सकते हैं, यह हम दिखायें।

नेमिशरण मित्तल

राष्ट्रीय चरित्र का ज्वलंत प्रश्न

वर्तमान युग में संसार में परोक्ष लोकतंत्र को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। आज से लगभग ढाई हजार साल पहले यूनान में प्रत्यक्ष लोकतंत्र वहां के कुछ नगर-राज्यों में प्रचलित था। उस युग के प्रसिद्ध दार्शनिक और राजनीति-शास्त्री प्लेटो और अरस्तू (अरिस्टोटिल) ने अपने ग्रंथों में बहुत परिश्रम के साथ यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि नगर-राज्य सर्वोत्तम राज्य होता है। उसके भीतर जनता अपनी स्वतंत्रता को वास्तविक बना सकती है तथा राज्य के कार्यों में प्रत्यक्ष भाग लेकर अपना चरम विकास कर सकती है। यह चाहे कितना ही सत्य हो कि नगर-राज्य के भीतर जनता को शासन-कार्य के प्रत्यक्ष संचालन का अवसर मिलता है और इस प्रकार लोकतंत्र की मूल भावना की बहुत अधिक सीमा तक रक्षा होती है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि स्वयं अरस्तू के शिष्य सिकन्दर महान् ने यह सिद्ध कर दिया कि नगर-राज्य एक अत्यंत अपूर्ण राजनैतिक इकाई है तथा आज के इस वैज्ञानिक युग में तो एक प्रभुता-संपन्न नगर-राज्य का अस्तित्व नितांत असंभव है; क्योंकि संसार सिकुड़कर इतना छोटा हो गया है कि कोई भी राजनैतिक इकाई, यहां तक कि विशाल राष्ट्रीय राज्य भी आत्म-निर्भरता का दावा नहीं कर सकते, तथा उनके लिए यह असंभव है कि वे अकेले और असंगठित रहकर संसार में टिक सकेंगे। अतः अनिवार्यतः हमें यह स्वीकार करना होता है कि राष्ट्रीय राज्य एक सत्य है।

विशाल राष्ट्रीय राज्यों में यह संभव नहीं है कि जनता का प्रत्येक सदस्य सीधे तौर पर राज्य के कार्यों में भाग ले सके; अतः यह अनिवार्य हो गया है कि परोक्ष जनतंत्र को स्वीकार किया जाये। परोक्ष जनतंत्र के संचालन के लिए लोकतंत्रात्मक देशों ने कुछ चिंतन और प्रयोग करके कुछ संस्थाओं अथवा रीतियों की खोज की है। उनमें सबसे महत्वपूर्ण निर्वाचन और प्रतिनिधित्व है। लोकतंत्र का अर्थ वर्तमान काल में होता है प्रतिनिधितंत्र। हमारा

शासन हमारे वे प्रतिनिधि चलाते हैं जो हमारे बहुमत द्वारा निर्वाचित किये गये हैं। आज की परिस्थिति में हम यहां से पीछे नहीं लौट सकते। प्रतिनिधियों के निर्वाचन की पद्धति के बारे में प्रयोग किये जा सकते हैं, परन्तु प्रतिनिधित्व की प्रथा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संयुक्त-राज्य अमेरिका जब संयुक्त राज्य नहीं था और जब उसके स्वातंत्र्य का आन्दोलन चल रहा था, तब उन्होंने एक नारा निकाला था कि बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं लगाया जा सकता, और यदि लगाया गया तो हम उसे नहीं देंगे। यह नारा यह बात स्पष्ट कर देता है कि आज राष्ट्र के नागरिक राज्य-संचालन में प्रत्यक्ष भाग लेने का अधिकार भले ही न चाहें, उनके मन में यह आकांक्षा बहुत प्रबल है कि जो लोग शासन करेंगे उनको चुनने की शक्ति उनके हाथों में हो,; अर्थात् कौन शासन करेगा, यह जनता तय करेगी।

जनता ज्यों ही अपने शासकों और प्रशासकों को निर्वाचित करने का दायित्व अपने ऊपर ले लेती है त्यों ही उसके ऊपर एक अकल्पित और महान् दायित्व आ जाता है। जनता शासित पद से उठकर राजनीति-विज्ञान की परिभाषा में स्वामिनी बन जाती है, और उसपर यह जिम्मेदारी आ जाती है कि वह उन लोगों को चुनकर जिम्मेदार पदों पर भेजे जो उसके हितों की ठीक प्रकार से रक्षा कर सकें। यहां यह जान लेना आवश्यक होगा कि जो लोग चुने जाने वाले होंगे वे कोई बाहर से आनेवाले नहीं होंगे, वे लोग भी जनता के सदस्य होंगे तथा जनता जैसे ही होंगे।

इस विवेचना से यह बात सिद्ध करना बहुत ही सरल हो गया है कि लोकतंत्रीय शासन की नीतियों और उन नीतियों के अनुसार देश के प्रशासन में जनता का स्वयं का चरित्र ही अन्तिम रूप से निर्णयकारी तत्त्व होता है। जनता का जो स्वरूप होता है वही स्वरूप उसके शासन-प्रशासन का भी होता है।

जनता एक विशाल महासागर है, एक विशाल कुआं है। सागर के पेट में एक बाल्टी लटकाकर उसे भरकर बाहर

निकाला जाय तो उसमें आने वाला पानी खारी होता है, उसी प्रकार एक मीठे जल-स्रोत वाले कुएं में से जो वाल्टी भरी जायगी, वह मीठे पानीवाली होगी। जल जैसा कुएं में होगा; वैसा ही वाल्टी में आनेवाला है; या यों कह सकते हैं कि वाल्टी का जल कुएं के जल का नमूना है। वह उसका प्रतिनिधि होता है। लोकतंत्र के भीतर प्रतिनिधि की वही स्थिति और गति होती है, जो वाल्टी के जल की होती है। विशाल जनसमूह के बीच में से हम अपने प्रतिनिधि चुनते हैं जो हर प्रकार से हमारे प्रतिबिम्ब होते हैं, यानी उनके भीतर हमारा स्वत्व प्रतिबिम्बित होता है। जो जनता है वही उसके प्रतिनिधि हैं। यहां यह भी कहा जा सकता है कि प्रतिनिधि उस गुण या अवगुण में विशिष्ट और निपुण होंगे, जिसमें जनता निपुण हो। उदाहरण के लिए, कहा जा सकता है कि यदि चोरों को कहा जाय कि वे अपना प्रतिनिधि चुनें, तो वे एक कुशल चोर को अपना प्रतिनिधि चुनेंगे और सज्जन लोग किसी सज्जन को, जो चुननेवालों में सबसे अधिक या सामान्यतया औसत दर्जे का सज्जन होगा।

आजकल हमारे अपने देश में संसद् के भीतर और बाहर चारों ओर यह चर्चा जोरों से फैल रही है कि हमारी सरकार के भीतर भ्रष्टाचार बहुत घुस गया है और उसकी जांच सार्वजनिक ढंग से तथा एक ऐसे न्यायाधिकरण द्वारा की जानी चाहिए जो सरकार की ओर से उच्च सत्ता-प्राप्त हो। यह प्रश्न बहुत गंभीर प्रश्न है और देश की जनता तथा राजनैतिक दलों को काफी गंभीरता के साथ इस पर विचार करना चाहिए। इस मामले में अनुत्तरदायी चर्चाएं हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को क्षणभर में धूल में मिला सकती हैं तथा हमारे लोकतंत्र को समाप्त कर सकती हैं।

प्रश्न यह है कि भ्रष्ट है कौन ! आज सरकार के भीतर तीन प्रकार के लोग हैं, (१) जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि; (२) जनता में से आनेवाले और निश्चित नीतियों के अनुसार मुक्त योग्यता-प्रतिस्पर्धा में विजयी होनेवाले व्यक्ति जो स्थायी लोकसेवाओं के सदस्य हैं; और (३) जनता जो विभिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से शासन के संपर्क में आती है और उसमें परोक्ष रूप से भाग लेती है। एक कहावत है कि खरबूजा छुरी पर गिरे या छुरी खरबूजे पर गिरे, दोनों परिस्थितियों में कटता खरबूजा ही है। प्रतिनिधि

खराब हों, चाहें लोकसेवक खराब हों, आखिरकार यह सब खराबी जनता के ही जिम्मे आनेवाली है।

यह किस प्रकार ? इस प्रश्न का एक उत्तर तो हम दे चुके हैं, हम यह बता चुके हैं। कि वाल्टी का पानी यदि खराब है तो कुएं के जल का ही दोष है, उसमें वाल्टी के पानी को दोष देने से कोई लाभ नहीं है। इसके अलावा हमें यह भी देखना होगा कि बहुमत द्वारा निर्वाचित होनेवाले प्रतिनिधि यदि खोटे निकलते हैं, तो फिर यह मानना होगा कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही डूब गया है, भले ही हम अहंकारवश वैसा कहने को तैयार न हों। दूसरे यदि हमारे लोकसेवक (civil servants) भी निकम्मे हों, तो हमारे लिए कोई आशा बची ही नहीं, क्योंकि वे तो हमारे समाज की मलाई हैं। यदि मलाई ही चिकनाई खो देगी, तो फिर उसे हम किस चीज से चिकना कर सकेंगे। तो सरकार के भ्रष्ट होने का अर्थ यह होता है, इतना हम झमझ कर चलेंगे तो हमें इस प्रश्न पर चर्चा करने में सुविधा होगी।

मान लीजिए कि हम एक उच्च-सत्ता प्राप्त न्यायाधिकरण भ्रष्टाचार की जांच के लिए बना देते हैं तो यह हम कैसे तय करेंगे कि उसके भीतर जो लोग होंगे, वे भ्रष्ट नहीं होंगे। उनके लिए तो भ्रष्ट होने को और भी अधिक गुंजायश होगी; क्योंकि वे होंगे हममें से ही, एक ओर तो हम उन्हें भ्रष्ट करेंगे और दूसरी ओर कानून उनकी रक्षा करेगा। क्या वे हममें से छांटे गये चन्द देवता होंगे ! मान लीजिये ऐसा होगा, तब हमारे पास कौन-सा ऐसा विक्रमादित्य का सिंहासन होगा जिसपर बिठा-बिठाकर हम उनकी कसौटी करेंगे और उनसे न्याय करायेंगे ? फिर उन्होंने भ्रष्टाचार किया तो उनकी जांच कौन करेगा, और फिर उनकी जांच करनेवाले की जांच कौन करेगा ? यह क्रम तो अनादि-अनन्त बनकर हमारे चारों ओर घूमता रहेगा और हम भ्रष्टाचार-निवारण के नाम पर सरकार में एक के बाद दूसरा विभाग खोलते जायेंगे तथा अपने देश की निर्धन जनता की छाती पर मूंग दलते रहेंगे।

अंग्रेज जब यहां थे, तब हमसे कहा गया था कि वे यहां से चले जायें तो भारत की जनता विकास का मुंह देख सकेगी। वे यहां से गये, हमने एक संविधान बनाया और यह मानकर बनाया कि भारत के नामी लोग अपने प्रति

ईमानदार रहकर अपना काम-काज चला सकेंगे। आज हमसे कहा जाता है कि हम भ्रष्ट होगये हैं। ऐसी स्थिति में यदि राष्ट्रीय चरित्र में से हमारा विश्वास समाप्त हो गया है, तो अविश्वास की बुनियाद पर हम कितने भी नये न्यायाधिकरण बनायें, उनसे हमारे देश को कोई लाभ होने वाला नहीं है। उल्टे वे हमें हमारे नैतिक पतन तथा सामाजिक व राजनैतिक पराधीनता की दिशा में तेजी के साथ ले जायेंगे।

हमारे संविधान ने हर प्रकार के अपराध को दंडित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की है। संवैधानिक दृष्टि से इस प्रकार का न्यायाधिकरण बनाना सर्वथा संविधान का अतिक्रमण और सर्वोच्च-न्यायालय का अपमान होगा। जिन्हें शिकायत है वे अपनी शिकायत लेकर न्यायालय में आयें और अपना पक्ष उसके सामने रखें। हमारे संविधान ने न्याय के क्षेत्र में नागरिक को स्वतंत्रता प्रदान की है कि न्याय खुला होगा और सार्वजनिक होगा, किन्हीं विशेष अपराधों के लिए अलग न्यायालय स्थापित करने की आड़ में इस देश के भीतर यदि राजनैतिक तानाशाही को जमाने की चेष्टा की गई तो भयंकर विप्लव हो सकता है।

हां, सरकार चाहे तो अपने पुलिस-विभाग में एक जांच विभाग बना सकती है, जो गुप्तचर विभाग की तरह से अपने सामने आनेवाली शिकायतों के बारे में वैधानिक जांच कर सके तथा उस जांच के परिणामस्वरूप जो सामग्री प्राप्त हो उसे वह अनिवार्य रूप से न्यायालय के सामने रखे जिससे कि सत्यान्वेषण हो सके। यहां यह सावधानी तो रखनी ही होगी कि जनता, सार्वजनिक कार्यकर्ता और लोकसेवक सब की प्रतिष्ठा का पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही ऐसी जांच की जाय तथा इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाये कि संबंधित पक्ष को किसी प्रकार से तंग न किया जाय। साथ ही इस प्रकार के जांच-मंडल की जांच के परिणाम सामान्य न्याय की प्रक्रिया के द्वारा न्यायालय के सामने सिद्ध होने पर ही संबंधित व्यक्ति को दंड दिया जाय; और यदि वैसा सिद्ध न हो सके तो आरोप लगाने वालों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई का प्रबंध रहना चाहिए।

भारत का राजनैतिक वातावरण पहले से ही काफी

दूषित है, उसे सत्ता की अविवेकपूर्ण होड़ ने और भी अधिक गंदा कर दिया है। यदि उस सबके साथ हम भ्रष्टाचार-निवारण के नाम पर एक नई बीमारी और जोड़ देते हैं, तो हमारा सार्वजनिक जीवन नरक बन जायगा। विरोधी दलों के लोग राजनैतिक निराशा के वश में होकर आज भले ही राजनैतिक अदूरदर्शिता के कारण ऐसी किसी योजना का समर्थन करें, परन्तु यदि वे अपने आशापूर्ण भविष्य की ओर आंख उठाकर देखें तो उन्हें ज्ञात होगा कि वे ऐसा विष-वृक्ष बोने की चेष्टा कर रहे हैं जिसका फल यदि उन्हें नहीं तो उनके दल के उन भावी सदस्यों को निश्चित ही उठाना होगा, जो आनेवाले समय में देश के शासन की वागडोर अपने हाथ में संभालेंगे।

हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि देश में भ्रष्टाचार को सहन कर लिया जाये; हर्गिज नहीं, हमें उसके विरुद्ध जिहाद बोलना ही होगा; परन्तु केवल कानूनी जिहाद से काम नहीं चलेगा, हमें सबको सारे राष्ट्र को ईमानदार होने की प्रतिज्ञा लेनी होगी। राजनैतिक दलों को अपने आचरण से चुनाव के समय यह सिद्ध करना होगा कि वे भ्रष्ट पद्धतियों का अनुसरण सत्ता लेने के लिए नहीं करते हैं, चुनाव के रिटर्न में गलत रकम नहीं भरते हैं तथा निर्वाचन-आयोग द्वारा ईमानदार निर्वाचन की किसी भी शर्त को अपनी ओर से नहीं तोड़ते हैं। चुनाव लड़ने के लिए वे पैसे की खोज में पूंजीपतियों से वायदे नहीं करेंगे। इसी प्रकार की सैंकड़ों बातें हैं, जिनपर हमें विचार करना होगा। संसद् में बैठकर भ्रष्टाचार-निरोध का अभियान चलाना एक बात है और दैनिक जीवन में जनता के सामने ईमानदार जीवन का उदाहरण रखना दूसरी बात है। और यही बात है जिसके द्वारा देश के नैतिक चरित्र में क्रान्ति हो सकती है।

जनतंत्र के भीतर प्रत्येक नागरिक देश के भले-बुरे के लिए उत्तरदायी है। हममें से हरेक को अपना अपना दामन संभालना होगा। हम सब आत्म-निरीक्षण करें और बजाय अपने देश को इस प्रकार खुले-आम बदनाम करने के हम चरित्र-निर्माण की दिशा में आगे बढ़ें, तभी हम सुराज्य की स्थापना इस देश में कर सकेंगे।

राजेन्द्रनाथ तिवारी 'तृषित'

पं० सूर्यनारायण व्यास से एक भेंट

कई वर्ष हुए —

उन दिनों मैं एक परीक्षोपयोगी मासिक-पत्र के लिए धारावाहिक लेखमाला लिख रहा था। तभी मुझे कालिदास-साहित्य के विशेष-अध्ययन का अवसर मिला। कालिदास की मूल कृतियों के अतिरिक्त भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचकों की टीकाएं भी मैंने उसी समय पढ़ी थीं। और उन्हींमें कालिदास की कृतियों पर व्यापक रूप से श्री व्यासजी द्वारा लिखे गये साहित्य को पढ़कर मुझे लगा था, कि महाकवि की कृतियों एवं उनके जीवन का जो भी यथातथ्य मर्म-उद्घाटनकारी अध्ययन व्यासजी दे सके हैं, वह विशेष महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य विद्वानों में गेटे और मैथ्यू आर्नोल्ड ने भी महाकवि की भावना की उस सतह तक पहुंचने की चेष्टा की थी, किन्तु वे भी उतने निकट पहुंचते हुए मुझे न लगे थे, जितने सन्निकट व्यासजी को मैंने पाया था। श्री व्यासजी से भेंट की लालसा उसी समय से मेरे मन के किसी कोने में पल रही थी।

फिर ७ अप्रैल १९५६ की प्रातः मध्यभारत हिन्दी-साहित्य-समिति के इन्दौर-कार्यालय में अप्रत्याशित रूप से 'वीणा' के सम्पादक श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र' से हुई भेंट में व्यासजी के सम्बन्ध में जो वार्ता हुई, उसने मुझे व्यासजी का और भी निकटता से परिचय दिया।

और जब ९ अप्रैल '५६ की मध्याह्न में इन्दौर से, कालिदास की क्रीडास्थली उज्जयिनी के लिए प्रस्थित हुआ, तब मन में आह्लाद का एक नशा छाया हुआ था। तपती दोपहरी में इन्दौर से उज्जैन जानेवाले राज-मार्ग पर चल रहा था, तभी एक ट्रक-ड्राइवर ने मुझे अपने साथ लेकर मेरी यात्रा सरल कर दी। ट्रक जिस समय उज्जैन में प्रविष्ट हुआ, मेरी आंखें अपने चारों ओर महाकवि की कल्पनाओं के साकार रूप को ढूँढ़ने लगीं। तभी कालांतर का स्मरण आते ही मुझे अपना यह प्रयास हास्यास्पद लगी, और मुझे अपने पर हँसी आई। तदनन्तर मैं उस नगरी के तुलनात्मक अध्ययन में लग गया। आश्रम के बिल्कुल विपरीत

उस नगरी को देखकर मुझे लगा, काश ! कालिदास इस युग में पैदा हुए होते।

सर्वप्रथम ठहरने की समस्या थी, और वहाँ मैं देख रहा था, ऐसी कोई सुविधा नहीं; किन्तु तभी मुझे पूर्व-ग्वालियर राज्य द्वारा संचालित धर्मशाला के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ, और मैं वहाँ ठहर गया। यात्रा की थकान के कारण उस दिवस कहीं आना-जाना न हो सका।

और जब दूसरे दिवस प्रातः धर्मशाला-से निकला, तो सर्वप्रथम मेरे कदम व्यासजी के निवास-स्थान की ओर ही बढ़ चले। पहुंचकर अपने आने की सूचना भेजने के बाद जिस समय मैं जीने की सीढ़ियां पार कर रहा था, मेरे मन में भावनाओं के वेग के साथ कल्पना की एक मूर्ति जन्म ले रही थी। कमरे में प्रवेश करने के साथ—श्याम वर्ण, सामान्य कद, उन्नत ललाट, मोटे फ्रेम के चश्मे से झांकती हुई अनुभवी आंखें, मुख पर अनुभव-शृंखला की सिलवटें तथा समय के साथ श्वेत हो रहे केश उनके गहन व्यक्तित्व का परिचय दे रहे थे। उस समय उनके पास कई अन्य सज्जन बैठे हुए थे। किसी विषय पर वार्त्ता चल रही थी और मेरे पहुंच जाने से उसमें व्यवधान उपस्थित हो गया था। अभिवादन के साथ पढ़ी कोचेज में से एक में मैंने स्थान ग्रहण किया ही था कि व्यासजी ने पूछा, "कहिये कैसे कष्ट किया?" "यों ही, अर्से से आपसे भेंट करने की अभिलाषा थी, और यहां पहुंचने पर अब और उसे रोक न सका।" फिर अपने विशेष परिचय में जब मैंने अपनी विश्व-यात्रा की बात बताई तो वे प्रसन्न-चित्त बोले, "यह तो बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं आप। हमारे यहां भारतवर्ष में ऐसे साहसिक कार्यों का बड़ा अभाव है। विश्व-बन्धुत्व की भावना का क्रियात्मक रूप वास्तव में पर्यटन ही है।" फिर उन्होंने पूछा, "उज्जैन कब पहुंचे?" मैंने कहा, "कल सायंकाल ही इन्दौर से यहां पहुंचा हूँ।" "ठहरे कहां हो?" उन्होंने पूछा। "स्टेशन के निकटवाली धर्मशाला में ठहर गया हूँ", मेरा उत्तर था।

इतनी ही अल्प वार्ता में मैंने देखा, व्यासजी की वार्ता ने 'आप' से 'तुम' का आत्मीय नैकट्य रूप ले लिया था। मैं बराबर यह अनुभव कर रहा था, कि मैं असमय ही यहां आ पहुंचा, और यहां पहले से बैठे हुए सज्जनों की वार्ता में स्कावट उत्पन्न हुई। अतः वार्ता शीघ्र ही समाप्त कर चलने का विचार करते हुए नगर-सम्बन्धी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक जानकारी के लिए मैंने उनसे प्रश्न किया ही था, कि उन्होंने स्वलिखित पुस्तक 'सचित्र उज्जयिनी' अन्दर से मंगाकर देते हुए कहा, "इससे तुम्हें यहां के भ्रमण में पर्याप्त सुविधा होगी।" फिर कुछ स्थानों के नाम बताते हुए बोले, "अभी तुम इन स्थानों को देख डालो, अन्यथा फिर धूप असहनीय हो जायगी। और हां, सायंकाल पुनः अवश्य आना। तब विशेष वार्ता होगी बैठकर!" मैं स्वयं ही शीघ्र चलने का विचार कर रहा था। फिर उनकी ओर से सायंकाल पुनः भेंट के लिए समय पाकर मैंने उस समय उनसे विदा ली।

सायंकाल स्थानीय दैनिक 'भास्कर' के सम्पादक डा० शिवप्रतापसिंह के पास से चलने में कुछ विलम्ब हो गया और जिस समय मैं व्यासजी के निवास-स्थान पर पहुंचा, सायंकाल के ६ बज रहे थे। नीचे के बरामदे में प्रवेश करते हुए मैंने देखा, व्यासजी ऊपर के बरामदे में बैठे हुए किसी पुस्तक के अध्ययन में व्यस्त थे। किन्तु पास पहुंचते ही पग-ध्वनि से उनका ध्यान भंग हो गया और "आओ भाई, आओ!" के साथ अभिवादन के लिए परस्पर हाथ उठे और गिरे।

ऊपर पहुंचकर मैंने कमरे में प्रवेश किया तो सामने पड़ी कुर्सी की ओर संकेत करते हुए बोले, "प्रातः तुमसे कुछ वार्ता न हो सकी, मुझे यह बात बराबर खटकती रही। इस समय मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था।"

"उस समय तो मेरा चला जाना मेरे लिए ही अच्छा रहा। पर्याप्त शीघ्रता बरतने के बाद भी पूरे ६ घंटे कुछ-एक स्थानों में ही लग गये। प्रत्येक स्थान पर एक ऐसी विशेषता देखता हूँ, यदि अधिक सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहूँ, तो प्रत्येक स्थान के लिए तीन-चार घंटे भी पर्याप्त न होंगे", मैंने कहा। वे बोले, "अध्ययन दो शताब्दियों से चला आ रहा है, और चलता रहेगा। फिर किसी पर्यटक के पास इतना समय कहां होता है!"

अपने इस कथन के बाद व्यासजी कुछ क्षण रुके, फिर बोले, "लिखते भी जा रहे हो न साथ-साथ?"

"जितना जो कुछ लिख पाता हूँ, लिखता जा रहा हूँ। शायद किसी सुविधाजनक स्थान में ठहरकर लिखने का विचार है।" मेरी बात सुनकर वे बोले, "अधिक-से-अधिक जितना लिख सको, तत्काल लिखते जाओ, यही उत्तम होगा।"

फिर अपनी पेरिस-यात्रा के सम्बन्ध में बताते हुए वे बोले, "अर्सा हुआ मैंने यूरोप के कुछ देशों का भ्रमण किया था, तो प्रतिदिन रात्रि में सोने से पूर्व जो लिखकर दूसरे दिवस पत्रों में भेज दिया करता था, वही साथ रहा। उन्हीं फुटकर लेखों का एक संकलन उस समय शिवपूजनजी ने विहार से प्रकाशित किया था। फिर कभी कुछ लिखने का अवकाश न मिला। बक्सों में भरे हुए कितने ही नोट्स और चित्र अब भी मेरे पास सुरक्षित हैं, किन्तु अब तो एक कायाकल्प हो चुका है। अब न वह पेरिस रहा, न अन्य देशों में ही वह वातावरण। परिस्थितियां इतनी बदल गई हैं कि अब उस समय का वर्णन करना हास्यास्पद ही लगता है मुझे।" "यह ठीक है कि परिस्थितियां बदल गई हैं। वातावरण अब वह नहीं रहा है, किन्तु यदि उस वातावरण को सुधियों का रूप देकर आप सामने लायें, तो वह एक ऐतिहासिक सामग्री हो बनेगी ही, तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी बड़ी ही प्रेरणादायक और महत्वपूर्ण चीज होगी," मैंने कहा। तो बोले, "अब अवकाश भी कहां मिलता है!"

वार्ता चल रही थी तभी अन्दर से पान आ गये। पान लेकर मैंने एक कागज निकालने के लिए अपना बैग खोला ही था कि व्यासजी ने बड़े तपाक से उठकर मेरे बैग में कुछ नोट डाल दिये।

मैंने कहा, "यह... क्या... य... ह...!"

"ठीक है... बन्द कर लो उसे। यह मेरी तुच्छ भेंट है। हमारा भी तो कुछ कर्तव्य होता है।"

मैं कुछ कह न सका। उनकी उस प्रेम-भेंट को अस्वीकार करने का मेरा साहस भी न हुआ। फिर कुछ अन्य वार्ता के बाद कालिदास की काव्यगत विशेषताओं पर वार्ता चली तो मैंने कहा, "मैं देखता हूँ, कि हमारे भारतीय विद्वान् कालिदास की तुलना शेक्सपियर के साथ अधिकांश करते रहते हैं, किन्तु मुझे तो यह तुलना संगत नहीं लगती। पश्चात्त्य

साहित्यकारों तथा कलाकारों के साथ किसी की तुलना करने का कार्य मुझे तो एक फैशन-सा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?” तो सहज ही बोले, “हम इसे फैशन भी कह सकते हैं और अपनी-अपनी दृष्टि भी”।

“जहांतक दृष्टि का प्रश्न है कसौटी तो यह कहती है कि वे कालिदास हों अथवा शेक्सपीयर। वह कोई भारतीय हो अथवा पाश्चात्य विद्वान्, कलाकार, कवि कोई भी हो, तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता है। किसी भी कवि, कलाकार अथवा साहित्यकार की भावनाएं और उसके विचार-क्षेत्र की शाखाएं असीम होती हैं। उसकी किसी एक के साथ तुलना कर उसे सीमाबद्ध करना तो उसका अनुचित मूल्यांकन ही मैं मानता हूं। यह तो बहुत साधारण सी बात हुई। प्रत्येक साहित्यकार, कलाकार अथवा कवि का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। उसका साम्य रूप तो कभी हो ही नहीं सकता।” अपने इस कथन पर श्री व्यासजी के विचार जानने के लिए मैं रुका, और मैंने उनसे प्रश्न कर दिया, “आपका क्या मत है ?” तो वे बोले, “यह ठीक है कि कालिदास तथा शेक्सपीयर दोनों ही कवि और नाटककार थे। उनकी रचनाओं में मास-अपील है। जनता उन्हें पूजती है, किन्तु जहांतक तुलना का प्रश्न है, भावों की अतिरंजना ही ऐसा करने के लिए हमें बाध्य करती है। वैसे कालिदास, कालिदास रहेंगे और शेक्सपीयर, शेक्सपीयर। कोई परिवर्तन तो सम्भव है नहीं।”

मैंने कहा, “इसी प्रकार ईश्वर की आस्था का प्रश्न उठता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो ईश्वर की सत्ता स्थापित करने के मूल में भी एक कलाकार की कल्पना ही होती है। कलाकार अपनी कल्पना को मूर्तरूप देता है और

कवि उसकी व्याख्या कर उस आकृति के रहस्यों का उद्घाटन करता है। इस प्रकार सगुण उपासना की आस्था का जन्मदाता कलाकार ही सिद्ध होगा, किन्तु उसकी तो कोई ईश्वर से तुलना नहीं करता और यही आस्था ही प्रकारान्तर से कलाकार को प्रकृति का प्रतिरूप मानने पर विवश कर देती है।” “यद्यपि तुम ठीक कहते हो, किन्तु प्रश्न यह उठता है, कि भिन्न-भिन्न रूपों के प्रश्न पर हमारे पास क्या तर्क है ? कलाकार की कल्पना के रूप भी तो हम भिन्न-भिन्न आस्थाओं में पाते हैं।”

मैं उनके इस कथन पर विचार करने लगा, समाधान यही मिला कि ये तो अपनी-अपनी धारणाएं हैं। मैं यही सोच रहा था, तभी व्यासजी ने प्रश्न कर दिया, “अब आगे का किस ओर का कार्यक्रम है ?” मैंने कहा, “यहां से कल मध्याह्न तक बड़नगर की ओर प्रस्थान करूंगा और बदनावर, धार, माण्डू, वाघ होता हुआ सौराष्ट्र की ओर बढ़ने का विचार है।”

वार्ता का विषय फिर अन्य व्यक्तिगत बातों पर आ गया और काफी देर तक वार्ता चलती रही। फिर समय पर्याप्त होता देख, वार्ता का प्रवाह समाप्त न होनेवाला अनुभव कर मैंने वार्ता यहीं समाप्त कर चलने की आज्ञा मांगी तो बोले, “आज सायंकाल का समय बड़ा अच्छा बीता। चलोगे, अच्छा।” मैं चलने के लिए उठ खड़ा हुआ तो बोले, “फिर अभी उज्जैन आना तो मिलना अवश्य।”

“तब तो भेंट होगी ही, किन्तु उस समय तक जब-तब पत्रों द्वारा भी भेंट होती रहेगी।” मैंने कहा, तो व्यासजी बोले, “हां, पत्र अवश्य लिखना।”

“अवश्य”। अपने इस अन्तिम कथन के साथ मैंने उनसे विदा ली।

राजाराम जैन

श्राविका कोशा गणिका

कोशा गणिका की यह धारणा पक्की बन चुकी थी कि उसने स्थूलिभद्र के मन पर अपना पूर्ण स्वत्व कर लिया है। इसीलिए वह अपने भावी जीवन को ऐश्वर्य-मय बनाने की तरह-तरह से कल्पनाएं करने लगी थी। उसके मन में यह बात भी कभी न आ सकी थी स्थूलिभद्र के पिता शकटाल की मृत्यु स्थूलिभद्र की जीवन-धारा ही बदल देगी। अन्ततः पितृशोक उनके वैराग्य का कारण बन गया और शीघ्र ही उन्होंने दीक्षा लेकर मुनित्व धारण कर लिया। कोशा ने जब यह सब सुना तो शोकाभिभूत होकर उसने अपना माथा ठोक लिया !

वर्षावास के समीप आनेपर शिष्यों की इच्छानुसार आचार्यश्री ने एक शिष्य को सिंह की गुफा के द्वार पर, दूसरे को दृष्टिविष सर्प के बिल के पास तथा तीसरे को कुएं की एरण पर कायोत्सर्ग मुद्रा में चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा दे दी ! जब स्थूलिभद्र का अवसर आया तो उन्होंने नाना कामोद्दीपक चित्रों से चित्रित अपनी पूर्व परिचिता सुन्दरी गणिका कोशा की चित्रशाला में षट्स व्यंजनों का आस्वाद करते हुए वर्षावास व्यतीत करने की आज्ञा मांगी। आचार्यश्री ने उन्हें भी आज्ञा प्रदान कर दी।

सभी शिष्यों ने अपने-अपने वर्षावास के स्थानों की ओर विहार किया। स्थूलिभद्र भी कोशा के यहां पहुंचे। उन्हें अकस्मात् आया देखकर प्रेमान्ध कोशा अपने नेत्रों को बार-बार मलते हुए देखकर भी विश्वास न कर सकी। स्थूलिभद्र कोशा की आज्ञा लेकर उसकी चित्रशाला में वृहर गये।

प्रियतम के आगमन से कोशा को काफी आशाएं बंध गई, उसका यौवन पुनः कुलार्चं मारने लगा। साज-शृंगार करके जब वह उनके सामने रति का रूप बनाकर आई तो उन्होंने उसे प्रतिबोधित करते हुए कहा, “कोशा ! विषय-सुख चाहे कितने ही दीर्घकाल तक भोगने को मिल जायें, किन्तु एक-न-एक दिन उनका अन्त अवश्य होता है। ऐसे नाशवान विषयों को मनुष्य स्वयं क्यों नहीं छोड़ता, यही आश्चर्य की

बात है। विषय जब अपने आप छूटते हैं, तब मन को अत्यन्त परिताप होता है, किन्तु यदि उन्हें स्वयं ही प्रसन्नता-पूर्वक त्याग दिया जाता है तो उससे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।” कोशा का हृदय उस उपदेश से निखर उठा। उसे अपने भोगासक्त जीवन से घृणा हो उठी। उसने क्षमा-याचना करते हुए अपने जीवन को संयम से विताने की इच्छा व्यक्त की तथा प्रतिज्ञा की कि “आज से राजा के आदेश से आये हुए पुरुष के सिवाय मैं अन्य किसी पुरुष से शरीर-सम्बन्ध न करूंगी।” आगे उसकी जीवन-धारा इसी प्रकार चलने लगी।

कुछ ही समय बाद राजा ने एक रथिक को कोशा के पास भेजा। वह माना हुआ धनुर्धर था। उसने अपना कौशल दिखाने के लिए गवाक्ष में बैठे-बैठे ही बाण छोड़ना प्रारम्भ किया और उनका एक ऐसा सिलसिला बिठा दिया कि जिसके सहारे उसने दूरस्थित आम सहित उसकी शाखाओं को तोड़कर उसे कोशा के घर तक खींच लिया। कोशा ने भी अपना कौशल दिखाने के लिए आंगन में सरसों के ढेर पर रखी हुई सूई की नोंक पर फूल टिकाकर सुन्दर नृत्य किया, जिसे देख रथिक की आंखें आश्चर्य से विस्तृत हो गईं और वह भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। यह सुनकर गणिका ने कहा, “न तो धनुर्विद्या से दूर बैठकर आमों के गुच्छे तोड़ लेना ही अनोखा कार्य है, और न सरसों के ढेर पर सूई रखकर और उसपर फूल रोपकर नाच लेना ही। अनोखा काम तो वह है जो महाश्रमण स्थूलिभद्र ने किया है। वह प्रमदारूपी जंगल में निःशंक होकर विहार करते रहे, फिर भी मोह को प्राप्त होकर उसमें भटके नहीं।”

“विलास के सभी अनुकूल साधन उन्हें प्राप्त थे। अनु-कूल चलनेवाली पूर्व परिचिता प्रेमिका, सुस्वादु भोजन, सुन्दर महल, सुकोमल शय्या, उदाम यौवन, तेजस्वी शरीर तथा मदमाती वर्षा ऋतु। सभी संयोग होने पर भी जिन्होंने अडिग व्रत का परिचय देते हुए वासना को जीत लिया था विलासिता के पंक में फंसी हुई मुझ जैसी पतिता गणिका को

अपने सात्त्विक उपदेशों से सत्पथ पर ला दिया।”

“पर्वत, गुफा, वन या अन्य निर्जन एकान्त स्थान में रहकर इन्द्रियों को वश में करनेवाले हजारों हैं, लेकिन अत्यन्त विलासपूर्ण भवन में लावण्यवती युवती के सान्निध्य में रहकर समस्त इन्द्रियों को वश में रखनेवाले तो शकटाल-नन्दन स्थूलिभद्र ही एक हुए हैं।”

गणिका से इस प्रकार प्रतिबोधित होकर रथिक को बड़ी ही आत्मग्लानि हुई और उसने स्थूलिभद्र की सेवा में जाकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया।

वर्षावास के समाप्त होते ही जब सभी साधक-शिष्य वापस अपने आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए तो उन्होंने सभी साधकों को यथोचित शब्दों में आशीर्वाचन दिया, किन्तु जब स्थूलिभद्र पहुंचे तो आचार्यश्री उनके स्वागत के लिए खड़े होगये और ‘दुरुह कार्य करनेवाले’, ‘काम-विजेता’, ‘महात्मा’ आदि प्रशंसात्मक शब्दों के साथ उनका अभिवादन किया।

जब दूसरे वर्षावास का समय आया तो सिंह के गुहा-द्वार पर चातुर्मास व्यतीत करनेवाले शिष्य ने कोशा के घर पर चातुर्मास करने का आदेश आचार्यश्री से मांगा। विषम भविष्य की कल्पना करके प्रथम तो आचार्यश्री ने अस्वीकार कर दिया, लेकिन साधक की बलवती इच्छा देखकर बाद में आज्ञा दे दी। साधक विहार कर स्थूलिभद्र के समान ही पाटलिपुत्र में जाकर कोशा की चित्र-विचित्र चित्रशाला में ठहर गये।

साधक को अपने ब्रह्मचर्य पर पूर्ण विश्वास था। अपने को वह काम-विजेता समझ चुके थे। लेकिन अगले दिन जैसे ही कोशा अपने अप्सरा-जैसे रूप को सजाकर उनके सामने आई तो वे हक्के-बक्के रह गये। उनका व्रत शिथिल पड़ गया। वे रति-सुन्दरी नारी के पास आगये। प्रबुद्धचेता साधक की इस प्रवृत्ति से वह अवाक् रह गई, किन्तु उसने अपने को सम्हालते हुए कहा, “यदि नेपाल के राजा से रत्न-कम्वल लाकर मुझे दे सकें तो मैं आपके साथ विषय-भोग कर सकती हूँ।”

विषयान्ध साधक चातुर्मासिक धर्म को भूलकर, नाना विपत्तियों को झेलता हुआ नेपाल पहुंचा और जिस किसी तरह रत्नकम्वल लाकर बड़े प्रेम के साथ उसने कोशा को दिया।

रत्नकम्वल लेकर कोशा ने साधक के साहस तथा रत्न-कम्वल की बड़ी प्रशंसा की, फिर उससे अपने गंदे पैर पोंछकर उसे पास ही की गंदी नाली में फेंक दिया।

साधक यह देख विस्मय में पड़ गया। वह बोला, “दुर्दम विपत्तियों को झेलकर प्राप्त की हुई इस बहुमूल्य वस्तु को इस प्रकार फेंकने में क्या तुम्हें अल्पमात्र भी संकोच न हुआ?”

कोशा ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया, “साधक, एक भौतिक तुच्छ चीज के फेंकने में तो तुम्हें इतनी वेदना हुई, लेकिन अपनी अनवरत साधना से प्राप्त व्रत-धर्म को गंवाकर क्या तुमने स्वयं की अयोगति पर दुःख का जरा भी अनुभव नहीं किया? मेरे विचार से तुमने जितनी बड़ी गलती की है, उतनी बड़ी मैंने नहीं!”

“चाहे कोई कायोत्सर्गधारी हो, चाहे कोई मौनी हो, या मुण्डित मस्तकवाला, चाहे कोई बल्कलधारी हो, या धोर तपस्वी, यदि वह मैथुन की कामना करनेवाला हो, तो चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मेरी घृणा का पात्र है।

“जो अक्रुलीन के संसर्ग रूप आपदा में पड़ने पर भी तथा स्त्री के आमन्त्रित करने पर भी अकार्य कुकृत्य की ओर नहीं बढ़ता, उसीका पढ़ना, गुनना, जानना और आत्मस्वरूप का चिन्तन करना प्रमाण समझना चाहिए।

“वही पुरुष धन्य है, वही पुरुष साधु है, वही पुरुष नमस्कार-योग्य है, जो कि अकार्य से निवृत्त है और असि-धार-सदृश कठिन ब्रह्मचर्य व्रत का स्थूलिभद्र मुनि की तरह धीरता-पूर्वक पालन करता है।”

गणिका कोशा के सारयुक्त प्रतिबोध को सुनकर साधक की आंखें खुल गईं। कोशा के सामने उसके हाथ जुड़ गये, और अपने कुकृत्यों के लिए क्षमायाचना करने लगा। कोशा ने उत्तर दिया, “साधक, मैंने तो तुम्हें अपने संयम में स्थिर रहने के लिए ही कहा है। मैं तो मात्र श्राविका हूँ, अतः समा-प्रदान करने के योग्य नहीं। अपने आचार्य के पास जाकर प्रायश्चित्त करो तथा भविष्य में किसी उत्कृष्ट साधक के प्रति कभी असूया न रखने की प्रतिज्ञा करो।” साधक ने ऐसा ही किया। उसने अब स्पष्ट समझ लिया था कि आचार्यश्री ने स्थूलिभद्र का सम्मान उचित ही किया था। आचार्यश्री के पास आकर उसने अपनी प्रवृत्तियों की आलोचना कर प्रायश्चित्त किया और पुनः अपनी साधना में लग गया। कोशा गणिका होने पर भी सात्त्विक दृढ़व्रतावती रही।

मानव धर्म और समाज

समाज का अर्थ है, जो साथ-साथ चले, अर्थात् जिन-जिन लोगों का स्वार्थ एक हो, जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए एक उपाय का अवलम्बन करें। जिनका हित एक हो, ऐसे सभी लोग एक समाज के होंगे। उपरोक्त दृष्टि से देखने पर हम जिस मानव-समाज की चर्चा करते हैं, वह वास्तव में एक मानव-समाज नहीं। इस समाज में सबके हित एक-से नहीं दीख पड़ते, सबकी अपनी-अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकती है। आज एक राष्ट्र दूसरे से लड़ता है, दोनों के हितों में विरोध प्रायः रहता ही है। पुनः एक ही राष्ट्र के अन्दर पूँजीपति तथा मजदूर, किसान तथा जमींदार, महाजन तथा खदुक आदि के स्वार्थों में विरोध होने के कारण इन सब के अलग-अलग समाज हैं। हम फिर भी मानव-समाज की दुहाई देते हैं। क्यों? शायद इसलिए कि इन विरोधी हितों का सामंजस्य कर हम एकसाथ चल सकें। किन्तु मनुष्य ने आज तक इस सामंजस्य-स्थापना का प्रयास भर किया, सफलता तो अभी तक नहीं मिली। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की!' इसका कारण? हमने आज तक इसका कारण खोजने का प्रयास नहीं किया। लक्षण देखकर रोग की दवा की। फल भी वैसा ही मिलता गया।

आखिर मनुष्य है क्या? वही साधारण प्राणी—सृष्टि का प्रथम जीव 'एमीबा' (Amoeba) जिन मूल प्रवृत्तियों के साथ पैदा हुआ, आज इस २०वीं सदी के मानव में भी वे ही मूल प्रवृत्तियाँ हैं—प्राण-रक्षा करने की, स्वजाति-वृद्धि करने की, स्वार्थ-साधना की, शक्ति-प्राप्ति की। यह ठीक है कि मनुष्य ने इन मूल प्रवृत्तियों का विकास एक विशिष्ट तरीके से किया है, मस्तिष्क ने उसकी सहायता की है इस विकास-पद्धति में। मूल में मनुष्य भी अन्य प्राणियों की तरह ही केवल स्वार्थी है, और सबसे बढ़कर विकास पाने के कारण सृष्टि प्राणियों से बढ़कर स्वार्थी। इस दृष्टि से देखने पर मनुष्य और पशु में कोई खास अन्तर नहीं दीख पड़ता। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि अन्य पशुओं की

अपेक्षा मनुष्य की स्वार्थ-साधन की वृत्ति कहीं प्रबल और पद्धति कहीं अधिक धूर्ततापूर्ण है।

किन्तु, मनुष्य में एक ऐसी भी शक्ति है जो औरों को नसीब नहीं—यह है आत्म-दर्शन की, अध्यात्म-साधन की। "हम क्या हैं और दूसरों के साथ हमारा क्या संबंध है"—इसकी कल्पना करनेवाले मनीषी इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। जिनके हृदय-मुकुर विशाल और निर्मल हैं, वे अपनी आत्मा के अन्दर ही सारे विश्व को देख सकते हैं। वे अपने और पराये के भेदाभेद की संकीर्णता से उठे रहते हैं, दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव करना उनका सहज गुण हो जाता है।

जबतक मनुष्य की यह आध्यात्मिक शक्ति विकसित नहीं होती, जबतक मनुष्य इस शक्ति की उपासना उसी तन्मयता से नहीं करता, जिस तन्मयता से वह पार्थिव शक्तियों की उपासना करता आया है, तबतक मनुष्य अपने को अन्य प्राणियों से विशेष ऊँचा नहीं उठा सकता। वह अपने मस्तिष्क की सहायता से प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों का पता भले ही प्राप्त कर ले, पर वह अपने पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। वह इन शक्तियों का उपयोग कर विशाल विश्व की दूरी भले ही घटा दे, पर वह मनुष्य और मनुष्य के बीच की दूरी बढ़ाता ही जायगा। सारी दुनिया को देखने की दिव्य दृष्टि उसे भले ही प्राप्त हो जाय, पर अपने हृदय तक उसकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती। वह विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक की आवाज घर बैठे भले ही सुन ले, पर अपने हृदय की आवाज उसे सुनाई नहीं पड़ सकती।

पर दुःख तो इस बात का है कि दुनिया पार्थिव सुख और साधन की प्राप्ति के लिए उतावली दीख पड़ती है और उसके सारे प्रयास भयंकर पार्थिवता के लिए ही हो रहे हैं। फलतः दुनिया का एक गिरोह, आज भी, इस परमाणु-युग में भी, दाने-दाने को तरसता और चिथड़ों में अपनी लज्जा छिपाने का विफल प्रयास करता है; और दूसरा गिरोह उन्हींकी कमाई पर गुलछरें उड़ाता है। लहू को पसीना

बनाकर समाज के लिए भोजन, वस्त्र तथा अन्य सभी सुख के साधन जुटानेवाला आज जीवन की परम आवश्यक सामग्री के लिए भी मौहताज है। साथ ही, निठल्ले बैठे लोगों की धनराशि विन्ध्याचल के समान और उनकी धन-लिप्सा मुरसा के मुँह की तरह बढ़ती चली जा रही है। यह परिस्थिति आई कैसे? यह तो एक लम्बा इतिहास है, पर एक शब्द में यह 'निर्वलों पर कुछ ताकतवरों के, सीधे-सादे लोगों पर कुछ धूर्तों के आधिपत्य का फल मात्र है।' इन लोगों ने इस तमन स्वार्थ पर आवरण डालने के लिए बहुत-से कुत्सित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनके सिद्धान्तों की जड़, समाज के हृदय में इतनी गहराई तक पहुँच चुकी है कि आज हम अन्याय को न्याय, असमानता को समानता और डाकेजनी को मेहनत की कमाई समझते हैं। हम आज सभी मनुष्यों को बराबर नहीं मानते। हम जमींदारों तथा पूँजीपतियों को विना मुआवजा दिये उनके धन का समाज-सेवा के लिए उपयोग करने की बात को अनुचित समझते हैं। अपने लुटे माल को वापस लेने में उसका मूल्य देना आवश्यक समझते हैं! इन दुष्ट सिद्धान्तों की आड़ में हम मनुष्य को अछूत मानते हैं तथा उन्हें मानव के मूल अधिकारों से वंचित रखते हैं। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कैसे होता है? जैसा कि मैंने कहा, अपनी पशुवृत्ति को, स्वार्थ को, छिपाने के लिए मानव-मस्तिष्क की यह उपज मात्र है। इन सिद्धान्तों से मानव-समाज का उपकार क्या हुआ, यह तो हमें पता नहीं; पर भारत का इतिहास इसका साक्षी है कि भारत के पतन का यह एकमात्र कारण हुआ है।

फिर भी मानव की उदात्त वृत्तियाँ कभी बिल्कुल लुप्त नहीं हो सकीं। इस जघन्य विषमता के विरुद्ध आवाज उठती रही। विश्व-विभूतियों ने, साधकों और तपस्वियों ने, सुधारकों और समाज-सेवियों ने, समय-समय पर, अपने आचरण द्वारा, इसका विरोध किया है। समाज की विशिष्ट चेतना इन महापुरुषों की वाणी में मुखरित हो उठी। पतन की ओर तीव्र गति से बढ़ता समाज कुछ देर के लिए ठिठक-सा गया—पतनवेन्मुखी गति में कुछ धीमापन आ गया। सुदियों के गुलाम भारत को स्वतंत्र करने का अन्तिम प्रयास करनेवाले महापुरुष, विश्व की अमर विभूति, बापू ने भारतीय समाज के कोढ़ को देखा, इसकी भीषणता समझी।

मानव के अमानुषिक आचरण के प्रति विद्रोह किया उन्होंने—अपने प्राणों की आहुति देकर। बाह्य रूप से भारत स्वतंत्र भी हो गया, पर इसके हृदय की कालिमा अभी भी धुली नहीं, हरिजनों की हालत आज भी सुधरी नहीं, वे आज भी अछूत हैं, पददलित हैं, लांछित, अपमानित हैं।

इस कलंक को धोने का प्रयास हो रहा है, विभिन्न संगठनों द्वारा और सरकार तथा व्यक्तियों द्वारा। पर इस प्रयास के पीछे जो भावनाएं काम कर रही हैं, वे प्रायः सदोष हैं। इस प्रकार के प्रयास के दो रूप हो सकते हैं। एक सेवा द्वारा उन यातनाओं को कम करने का और दूसरा क्रांति द्वारा समाज की पद्धति और विचारधारा ही पलट देने का। इनमें से कौन-सी पद्धति ग्राह्य तथा उपयुक्त है; यह विचारणीय विषय है।

जब हम किसी समाज या व्यक्ति की सेवा की बात करते हैं, तो साधारणतः सेवक में अहं-भावना का उदय होता है तथा सेव्य में हीन-भावना का। यही बात दानी और भिक्षुक के हृदय में उठा करती है। यही कारण है कि बापू ने हरिजन-सेवा को प्रायश्चित्त का रूप दिया था, जिससे सवर्णों के हृदय में यह भाव उत्पन्न हो कि वे अपने भाई के प्रति सदियों से किये गये अन्याय का उचित परिमार्जन कर रहे हैं, किसी दूसरे का उपकार नहीं। इस प्रकार उनकी आत्म-शुद्धि होती है और अहं-भावना का नाश, साथ ही हरिजनों के बीच दीनता की भावना नहीं पनपने पाती। हरिजन तथा अन्य पिछड़े समाज के कल्याण का कार्य इसी भावना से होना चाहिए, अन्यथा इसका परिणाम समाज के लिए मंगलकारी न होकर हानिकर होगा, दोनों वर्ग के लोगों की मनोदशा की वर्तमान विकृति इतनी बढ़ जायगी कि पुनः इस दोष को हटाना एक ऐसा भीषण प्रश्न बन जायगा, जिसे हल करने में महान् बलिदान की आवश्यकता पड़ेगी।

अगर ऐसी सेवा सम्भव न हो तो मैं उस क्रांति को ही ज्यादा पसंद करूँगा, उस विप्लव को ही अधिक उपयुक्त मानूँगा, जो बुराई के साथ-साथ समाज की संचित भलाई का भी समूल नाश कर देता है और कर देता है प्राचीन समाज के भस्म पर नवीन समाज की रचना। अरु पश्चात्ताप के आसुओं से हमने दलितों के अन्तःस्तल में जलती भीषण ज्वाला का शमन नहीं किया, तो हमें भस्म होना ही है, और हम

उसकी कामना भी करेंगे।

उन अभागों की समस्याएं चाहे जो हों, पर उनका हल किस भावना से हो, यह एक बहुत महत्वपूर्ण विषय है। इस प्रयास में उदात्त वृत्ति न होकर अगर संकीर्ण वृत्ति की ही प्रधानता रही, तो हम मानव-समाज के सृजन में सहायक नहीं हो सकते। बापू ने इस दिशा में सही कदम उठाया था, पर आज वे नहीं हैं। हमारे 'बापा' भी हमसे छिन गये। इन्होंने विशुद्ध और पवित्र सेवा का दीप जलाया। जो विशुद्ध सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है, वह सचमुच उत्कृष्ट मानव-धर्म का सच्चा पुजारी है। अपने तथा अपने स्वार्थ के लिए ही जीना मानव-धर्म नहीं। मनुष्य

इसलिए मनुष्य है कि वह अपने साथ अपने समाज, अपने पड़ोसी के हित-अहित की चिन्ता करता है और समय पड़ने पर समाज-सेवा की वेदी पर अपने स्वार्थों की आहुति दे डालता है, समाज-स्वार्थ के सामने व्यक्ति-स्वार्थ की अवहेलना करता है, समीपस्थ तथा नग्न स्वार्थों को त्याग कर सुदूर और विशिष्ट स्वार्थ की चिन्ता करता है। यही विवेक-शीलता मनुष्य को और प्राणियों से अलग करती तथा उनसे ऊंचा बनाये रखती है। मानव की उत्कृष्टता, उसके त्याग और विशुद्ध सेवा-वृत्ति में ही निखरती है। हमें इसी मानव-धर्म की उपासना करनी है, और सुन्दर समाज का सृजन करना है।

जीवन, रवि की स्वर्णिम उड़ान

परमेश्वर द्विरेफ

उगते ऊषा में अंशुमान
कमलों की कारा से विमुक्त
हो जाते तत्क्षण मधुप म्लान
जीवन वह ही जिसमें उज्ज्वल
दिनकर-किरणों का-सा प्रकाश

ईषत् स्मिति के ही इंगित पर
होता बन्दी-बन्धन-विनाश
अपने ही बन्धन में सीमित
जो जीवन, वह है नारकीय

वे नहीं उच्च, वे तुच्छ, हीन
जिनके डर में परकीय स्वीय
जीवन रवि की स्वर्णिम उड़ान
उगते ऊषा में अंशुमान

जीवन रवि की स्वर्णिम उड़ान

केदारनाथ

संपूर्ण जीवन-शुद्धि

मेरे मन में चलनेवाले विचार मैं आप लोगों के सम्मुख हर रविवार को प्रकट करता हूँ। इन प्रवचनों की शुरुआत लगभग दस साल पहले हुई थी। उस समय जीवनोपयोगी वस्तुओं की कमी थी। शक्कर, अनाज, कपड़ा आदि वस्तुओं पर नियंत्रण था। आम जनता को वे चीजें निर्धारित मूल्य में प्राप्त नहीं होती थीं। इसलिए उस समय व्याख्यानों में मुख्यतया व्यवहार-शुद्धिपर ही कहा जाता था। काले बाजार में माल लेने या बेचने से समाज में अव्यवस्था फैलती है, इसलिए 'व्यवहार शुद्धि-मंडल' की हलचल काले बाजार के विरोध में शुरू की गई थी।

भले ही हमने काले बाजार से होनेवाली बुराई को दूर करने के लिए हलचल शुरू की थी, पर वह वहां तक ही सीमित नहीं थी। यह व्यवहार-शुद्धि जीवन-शुद्धि की प्रथम सीढ़ी थी। जीवन के हर एक क्षेत्र में—प्रत्येक कार्य में शुद्धि आये, संपूर्ण जीवन शुद्ध हो, यही हमारा अन्तिम ध्येय था, और है। चीजों की कमी और परिणामस्वरूप निर्माण होनेवाले काले बाजार स्थायी नहीं होनेपर भी मानव-जीवन स्थायी है। उसे शुद्ध किये बिना जीवन की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। हमारी जीवन-संबंधी दृष्टि साफ किये बिना, उसमें आये हुए दोष दूर किये बिना, जीवन शुद्ध नहीं हो सकता और जीवन-शुद्धि के बिना जीवन-सिद्धि असंभव है।

हमारे जीवन में कई बार, कई बातें हम पूर्व-परंपरा या संस्कारों के कारण करते रहते हैं। वैसे क्यों करते हैं, उसके पीछे क्या तत्त्व है, वह समझे बिना बाह्य-कर्म करते रहने से जीवन शुष्क और नीरस बन जाता है। जैन और हिंदू परंपरा से अहिंसा पालते आये हैं, वे संस्कारवश चींटी को भी नहीं मारेंगे; पर उनके द्वारा शोषण हो सकता है, उनके जैसे मानव को कष्ट भी दिया जा सकता है। जंतु को न मारना यह बात उनमें पूर्व परंपरा के कारण, पाप-पुण्य के खयाल से चली आ रही है। लेकिन उस सिद्धांत के पीछे प्राणी-मात्र के प्रति करुणा या दया-वृत्ति का जो महान् तत्त्व था, वह उनके जीवन में प्रवेश नहीं कर पाया; जिससे अहिंसा

का सिद्धांत उनके जीवन के सब क्षेत्रों में दिखाई नहीं देता। अहिंसा, जीवन की दृष्टि है। यह समझकर उसका पालन हो तो हमारे हर कार्य और व्यवहार में वह तत्त्व प्रकट होगा। फिर उस व्यक्ति द्वारा दूसरे किसी को कष्ट नहीं पहुंचाया जावेगा। किसी भी शुद्ध और सात्त्विक बात के गूढ़ तत्त्व को समझे बिना, उसके सार-तत्त्व को जाने बिना किया हुआ बाह्याचार मिथ्याचार बनता है। गांधीजी ने देश के सम्मुख खादी की बात रखी। उसके पीछे अपने पास-पड़ोसवालों को काम देने का, उनकी बेकारी दूर करने का, पड़ोसी को सहायता पहुंचाने का महान् और अमूल्य सिद्धांत था। उस खादी को, इस तत्त्व को समझे बिना कोई इस्तेमाल करे तो खादी पहनकर भी विदेशी चीजों का उपयोग कर सकता है। खादी की, ग्रामोद्योग या स्वदेशी की भावना खादी पहनकर भी निरर्थक की जा सकती है। इसलिए खादी की सही दृष्टि आना जरूरी है। वह आनेपर हम खादी के साथ स्वदेशी को, ग्रामोद्योग को अपनावेंगे। इसलिए मैं कहता हूँ किसी भी काम को करने के पहले विवेक से यह जान लीजिये कि उसके पीछे सार-तत्त्व क्या है?

यदि जीवन की शुद्धि करनी हो तो हमें अपनी जरूरतें कम करनी पड़ेंगी। हमें यह सोचना ही पड़ेगा कि असल में जीवन की सही जरूरतें क्या हैं? और हमें दिखाई देनेवाली जरूरतें कितनी हैं। सही जरूरत वह है कि जिसके बिना हमारी जीवन-चर्या ठीकसे चलना संभव न हो। कुछ जरूरतें ऐसी होती हैं और कुछ हम दूसरों की ओर देखकर उन्हें समझने लगते हैं। जीवन में तीन तरह की चीजें होती हैं: (१) आवश्यक, (२) सुख-सुविधा की, और (३) शौक की। आवश्यक चीजों के बिना जीवन चल नहीं सकता इसलिए वे चाहिए। उसी तरह जीवन सुविधापूर्वक चले, इसलिए भी कुछ चीजें आवश्यक होती हैं। पानी कुएं से खींचकर निकालने के एक्ज में पंप बैठाकर नल से घर में लाना, सुविधा है। पर शौक या विलास की चीजों की बात दूसरी है। उसके पीछे लगनेपर पूरी जिन्दगी भी बिता दें, तो भी संतोष नहीं

मिल सकता। उसका अंत ही नहीं है। जैसे शौक की चीजों के पीछे पड़ना अयोग्य है वैसे ही जिन चीजों की हमें आज जरूरत नहीं है, पर आगे उनकी जरूरत पड़ेगी, इसलिए संग्रह करके रखना और इस स्थिति में कि उन चीजों के बिना दूसरे की जीवन-यात्रा चलना अशक्य हो, यह संग्रह भी महान् दोष है।

वास्तव में हम जिसे अपना कहते हैं, वह हमारा नहीं, किंतु समाज का ही है; क्योंकि वह हमने समाज से और समाज के सहयोग से ही प्राप्त किया है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के तत्त्व-ज्ञान का सही अर्थ भी यही है कि जीवन के लिए आवश्यक चीजों की मेरी तरह दूसरों को भी जरूरत है। इस बात को ध्यान में रखकर हम अपना जीवन-व्यवहार उचित रीति से करें। जिसके पास धन है उसे चाहिए कि वह अपने सगे-संबंधी और पड़ोसियों को धनाभाव के कारण होनेवाले कष्टों का खयाल कर अपने धन का उनके लिए उपयोग करे। जिनमें सही अहिंसक दृष्टि होगी वे अपने आस-पास दारिद्र्य, कंगालियत और विषमता देखकर भी बड़प्पन, दिखावा या सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए धन का व्यय नहीं करेंगे। वे यही समझेंगे कि मेरे पास जो कुछ धन, विद्या, ज्ञान और कला है वह मेरी अकेले की नहीं है। वह समाज और समाज के सहयोग के कारण ही प्राप्त हुई है, इसलिए उसका मैं केवल अपने लिए कैसे उपयोग कर सकता हूँ। वह तो समाज का द्रोह है।

हम सोचें कि हमें वास्तव में किस चीज की जरूरत है, किस चीज के बिना हमारा काम नहीं चलता। इस चीज का निर्णय हमें अपनी विवेक-बुद्धि से करना चाहिए, पास-पड़ोसियों को देखकर नहीं। दूसरों के यहां अमुक तरह का फर्नीचर है इसलिए मुझे लेना चाहिए, या मेरे पड़ोसी के यहां रिफ्रिजरेटर है, इसलिए मुझे खरीदना चाहिए; यह गलत है। बाजार में जाते समय भी ऐसा निर्णय करके ही जाना चाहिए कि मुझे अमुक चीज की जरूरत है और वह खरीदनी है। पर बाजार में मोहक या आकर्षक चीजें देखकर बिना जरूरत की चीजें खरीदना अविवेक है। ऐसी विवेकशून्यता अधिकांश में दिखाई देती है। जीवन में किस वस्तु को कितना महत्त्व दिया जाय, इसका विवेक होना चाहिए। उसके अभाव में प्रवाह-पतित की तरह हम जीवन बिता रहे हैं। आवश्यक

और जीवन को सुविधा और आराम पहुंचानेवाली चीजों के एवज में शौक और विलास की चीजों के ही पीछे अधिकांश लोग लगे हुए हैं। उससे उनको संतोष नहीं मिलता। भोग और विलास का तो अंत ही नहीं है। आज अधिकांश लोग भोग, विलास, दिखावा और सामाजिक प्रतिष्ठा के पीछे पड़कर कोल्हू के बैल की तरह चक्कर काट रहे हैं; उनमें न तो जीवन-संबंधी विचार है और न जीवन में प्रगति ही कर पाते हैं। निरर्थक बातों के पीछे अमूल्य जीवन खो रहे हैं।

कई बार कई लोग यह महसूस करते हैं कि सामाजिक प्रतिष्ठा और दिखावे के पीछे धन का व्यय करना बुरा है। पर वे इस सही बात को सामाजिक अप्रतिष्ठा के भय से कर नहीं पाते। उन्हें भय उन लोगों का होता है जो गलत काम करते हैं। वास्तव में जो विचारक हैं, सज्जन हैं, उनका मार्गदर्शन लेना चाहिए; भय मानना भी हो तो उनका मानना चाहिए। लेकिन जो गलत काम करते हैं, जिनका जीवन अशुद्ध और दोषयुक्त है ऐसे लोगों के डर से उचित काम, सही काम न करना, यह कायरता है। शादी, विवाह या ऐसे कामों में निरर्थक और दिखावे में इसलिए खर्च करे कि उस तरह खर्च करनेवाले हमें क्या कहेंगे, यह मानसिक दीर्घत्व है। जिन्हें जीवनशुद्धि की ओर बढ़ना हो, उन्हें दुर्बलता दूर करनी ही पड़ेगी। यदि डर ही रखना हो तो हम संत, सज्जन का रखें, ईश्वर का रखें। संतों, सज्जनों और ईश्वर से डरकर ही हमें जीवन-संबंधी निर्णय करना चाहिए।

हम समाज के बहुसंख्यक लोग जो प्रवाह में बह रहे हैं, उनके भय के कारण अपने जीवन को अशुद्ध और दोषयुक्त बना रहे हैं। हम मुंह से कहते हैं कि ईश्वर सर्व-शक्ति-संपन्न तथा सर्वत्र है। पर किसी अयोग्य काम करते समय उसका स्मरण नहीं रखते। किसी एक लड़के के सम्मुख हम कोई अयोग्य काम करने में भय खाते हैं; पर कोई न हो तो भी ईश्वर तो है, ऐसा समझकर अपने को अयोग्य कामों से नहीं बचाते। इसमें हमने ईश्वर को सर्व-शक्तिमान् माना या एक लड़के को? यदि हमारी यह श्रद्धा या निष्ठा दृढ़ हो कि ईश्वर सर्वत्र है, फिर हमसे कदापि अयोग्य कार्य नहीं होगा। हम ईश्वर के एवज में दुर्जनों, अयोग्य-काम करनेवालों से डरकर अयोग्य कार्य करते रहते हैं। इसलिए संत तुकाराम ने

कहा था, "हे लज्जा अब तुम मेरे पास न आओ, तुम्हारे ही कारण मैं दुर्जनों से डरकर चलता था। पर अब सच्चे जीवन का ज्ञान होगया है, किस प्रकार जीना, यह जान गया हूँ; क्योंकि ईश्वर मेरा सखा है। अब मैं क्यों डरूँ?"

यदि हम समाज का नहीं, पर ईश्वर का डर रखकर सादा और संयमी जीवन बनावें तो जो जीवन-शुद्धि बहुत कठिन लगती है, वह सहज बन जावेगी और हम अपना जीवन सार्थक कर सकेंगे।

गीत

त्रिलोकीनाथ ब्रजबाल

प्राण डालने होते हैं पाषाण में,
तब मिलते हैं रत्न नये निर्माण में।

सहज पूर्ण क्या होती कोई साधना,
घोर विपद बाधाएं आतीं पंथ में;
मनुज लगा देते जो जीवन दाँव पर,
उनको विजय मिला करती है अन्त में;

मृत्यु उन्हींकी बन जाती है सेविका,
जिनकी शय्या बनी फूल-सी बाण में ॥ १ ॥

महक रहे हैं पुष्प उसी नव बगिया में,
जिसमें मिटे अनेकों अंकुर धूल में;
आज बना पाये वे ही सुरभित माला,
जिनके हाथ बड़े हैं तीखे शूल में;

बूँद-बूँद से बनता सिन्धु अथाह है,
मत मापो श्रम कभी अरे परिमाण में ॥ २ ॥

सजल नयन से देखो विश्व विराट् को,
मिले निराशा और उदासी छायेगी;
हृदय सबल कर उठो जरा हर्षित होकर,
सारी काली बदली खुद छट जायेगी;

वही देख पाते अपना भग रात में,
जिनके दीप जला करता है प्राण में ॥ ३ ॥

प्राण डालने होते हैं पाषाण में,
तब मिलते हैं रत्न नये निर्माण में ॥

चन्द्रशेखर दुबे

स्त्री के भाग्य की लक्ष्मी

राजा व रानी झरोखे में बैठे हुए थे। उनके सामने से एक सब्जी बेचनेवाला निकला। दिनभर की मेहनत के बाद वह थका-मादा चला जा रहा था। रानी को उस वृद्ध पर दया आ गई। वे राजा से बोली, "देखा, बेचारा कितनी मेहनत करता है, मगर इसे सुख नहीं मिलता। यह क्या करे, इसकी स्त्री के भाग्य में लक्ष्मी है ही नहीं।"

राजा कुछ समझे नहीं। उन्होंने रानी से पूछा, "क्या मतलब?"

रानी बोली, मतलब यही कि स्त्री के भाग्य की लक्ष्मी होती है, संतान पुरुष के भाग्य की होती है।"

राजा को रानी की इस बात में गर्व की गंध आई। उन्होंने रानी को रुष्ट होकर निकाल दिया।

रानी स्वाभिमानिनी थी। वह भी भाग्य के भरोसे चल पड़ी। जिस सब्जीवाले के कारण राजा नाराज हुए थे, उसीके पास वह पहुंची। उसकी धर्म की बेटी बनकर वह रहने लगी।

सब्जीवाला रोज सब्जी बेचकर चार आने की चार रोटी भटियारखाने से ले आता था। पति-पत्नी दो-दो रोटी खाकर जीवन काट रहे थे। रानी ने सब्जीवाले से कहा, "पिताजी, तुम चार आने की रोटियां लाने के बजाय, मुझे दे दिया करो। मैं तुम्हें भरपेट खिलाने की जवाबदारी लेती हूँ।"

सब्जीवाले को इस बात से भला क्या एतराज हो सकता था। उसने चार आने रानी को सौंप दिये। रानी उन चार आनों को लेकर बाजार गई। दो आने का उसने अनाज लिया। एक आने में नमक-मिर्च, मसाला, दाल, लकड़ी वगैरा वह ले आई। एक आना बचाकर उसने अपने पास रख लिया। तीन आने में सबने भरपेट खाया।

इसी तरह रानी रोज आना बचाने लगी। एकदिन

उसने सब्जीवाले से कहा, "बाबा, सब्जी तो अम्मा बैठे-बैठे बेच लेंगी। तुम डूंगर से लकड़ी काट लाया करो। कुल्हाड़े के लिए पैसे मैंने जोड़ लिये हैं।"

बुढ़ा अपनी धर्म की बेटी की चतुराई से प्रसन्न था ही। उसके आने के बाद से इस घर के दिन फिर गये थे। इसीलिए बुढ़े ने यह बात मान ली। वह कुल्हाड़ा खरीदकर डूंगर पर पहुंचा। रोज लकड़ी काट-काट कर वह ढेर करने लगा। थोड़े ही दिनों में सारा डूंगर काट कर उसने ढेर कर दिया। दूसरे दिन उसने लकड़ी ले जाने का निश्चय किया।

मगर भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। उसी रात को राजा शिकार के लिए आये। राह भूल जाने के कारण वे अपने साथियों से बिछुड़ गये। भटकते-भटकते वे उसी डूंगर पर आ पहुंचे। ठंड से वे ठिठुरे जा रहे थे। लकड़ी का ढेर देखकर वे तापने बैठ गये। तापते-तापते चिनगारी बुढ़े द्वारा काटे लकड़ी के ढेर में उड़ गई। सारा ढेर जल उठा।

इस प्रकाश में राजा को उनके नौकर-चाकरों ने ढूँढ लिया। वे सब महल में लौट आये।

इधर इस आग ने यहां कमाल ही कर दिया। वहां पर सोने की खदान थी। आंच के कारण सोना पिघल-पिघल कर बाहर आ गया। सुबह सब्जीवाला बुढ़ा लकड़ी ले जाने के लिए आया तो उसे वहां लकड़ी के बजाय सोने के ढेले मिले। वह इतना सोना पाकर निहाल हो गया। अपनी धर्म की बेटी की प्रशंसा करते वह अघाता नहीं था।

रानी ने राजा के महल के सामने ही एक नौखंडा महल बनवाया। चौरासी जातों को उन्होंने भोजन का निमंत्रण दिया। राजा भी आये। रानी का ऐश्वर्य देखकर उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। वे जान गये कि स्त्री के भाग्य की ही लक्ष्मी होती है।

आदरपूर्वक रानी को वे वापस अपने महल में ले गये। आनन्द से रहने लगे।

माईदयालु जैन

हिन्दी व्याकरण में क्रांति

अभी पिछले दिनों समाचार-पत्रों में यह समाचार आया था कि चीनी सरकार हिन्दी-व्याकरण को संशोधित करा रही है। उस समाचार में न तो यह बताया गया था कि हिन्दी-व्याकरण की किन-किन बातों में संशोधन अभीष्ट है और न यह कि संशोधन की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई। हिन्दी-भाषियों को यह आवश्यकता क्यों नहीं मालूम हुई? हमारे यहां केवल नागरी लिपि में तो कुछ संशोधन इस विचार से किये गये हैं कि मुद्रण तथा लिखने में सुविधा हो और स्वर-अक्षरों की संख्या कम हो। इससे अधिक सुधार या संशोधन की बात हिन्दी-भाषियों के सामने कभी नहीं आई। आये भी कैसे, जब हम यह मान लेते हैं कि हिन्दी व्याकरण पूर्ण है और उसमें हेरफेर की बात सोचना या कहना हिन्दीद्रोह है। पर यदि हम हिन्दी की प्रगतिशीलता, उसके विकास तथा उसमें धीरे-धीरे या तीव्रता से होनेवाले परिवर्तनों पर विचार करें, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि हिन्दी में अब वह स्थिति पैदा हो गई है जिसे क्रांति कहा जा सकता है और उसके प्रभाव से हिन्दी-व्याकरण में भी क्रांति आ रही है। हिन्दी एक जीती-जागती तथा तीव्र गति से विकासमान भाषा है। पिछले सामाजिक, राजनैतिक सुधारों, संविधान से हुए लोकतांत्रिक परिवर्तनों और संस्कृत, अरबी, फारसी और अंगरेजी आदि भाषाओं के सम्पर्क तथा प्रभाव से उसमें क्रांति आ गई है। भाषा को उसके व्याकरण से गहरा सम्बन्ध है। व्याकरण भाषा को बांधता है, उसे अनुशासन में रखता है और उसके लिए नियम बनाकर उसके बोलनेवालों के लिए मार्ग या पगडण्डी बनाता है, पर है वह भाषा का अनुगामी या पीछे-पीछे चलने वाला। पर व्याकरण स्थितिपल्लक तथा कठोर कट्टरपंथी है और भाषा का आकस्मिक या इक्के-दुक्के परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करता। पर भाषा तो प्रगतिशील तथा उच्छृंखल है। वह व्याकरण के नियमों तथा अनुशासन को भी तोड़ कर, बढ़ती है। नदी में जब बाढ़ें आने लगें या उसके पानी की मात्रा बढ़ जाय, तो पुराने तटों के बंधन टूट जाते हैं,

नये तट बनते हैं और नदी को फिर नियंत्रित किया जाता है। बढ़ते हुए बच्चे के कपड़े बड़े नहीं बनायेंगे, तो या तो बच्चे का विकास रुक जायगा या कपड़े फट जायेंगे। आज ऐसी ही स्थिति हिन्दी-व्याकरण की हो रही है। वह तूफानी हिन्दी के लिए छोटा, तंग और अपर्याप्त मालूम हो रहा है। यहां संकेत रूप से संक्षेप में नीचे कुछ बातें दी जाती हैं, जिससे हिन्दी के कर्णधारों, हिन्दी तथा राष्ट्रभाषा-प्रचार-संस्थाओं और भारत सरकार तथा प्रादेशिक सरकारों के शिक्षा मंत्रालयों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो और वे भी हिन्दी-व्याकरण के संशोधन की आवश्यकता को अनुभव करके समय पर कदम उठावें।

(१) लिंगभेद : हिन्दी में शब्दों का लिंगभेद संज्ञाओं से बढ़कर विशेषणों तथा क्रियाओं तक पहुंचता है। अहिन्दी-भाषियों के लिए यह एक पहेली है। क्रियाओं के लिंगभेद ने तो एक हास्यास्पद स्थिति पैदा कर दी है। हिन्दीवालों ने भी संस्कृत तथा विदेशी भाषाओं के शब्दों को पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग में सुविधानुसार बांटकर प्रयोग करना शुरू कर दिया और फलस्वरूप हिन्दी-व्याकरण में न तो संस्कृत का नपुंसकलिंग आने पाया और न अंगरेजी का उभयलिंग (कॉमन जेंडर) ही आ सका। और यदि कहीं आया भी, तो वह बोलचाल में रहा, पर उसको व्याकरण में स्थान नहीं दिया गया। उदाहरण के तौर पर, मैं आया, मैं आई तथा हम आई आदि में मैं और इसी प्रकार हम, तुम, वह आदि उभयलिंग हैं, पर क्रियाओं में उन्हें पुल्लिंग या स्त्रीलिंग में लिखा या बोला जाता है। पर अब विधान से प्राप्त राजनैतिक समानता के कारण स्त्रियों को पुरुषों के समान सरकारी पद, राजनैतिक पद तथा समाज में समान स्थान मिल रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह समस्या दूसरी भाषाओं के शब्दों के आने से ही पैदा नहीं हुई है, वरन् जो नये हिन्दी-शब्द बनाये जा रहे हैं, उनसे भी पैदा हुई है। हमारे मंत्रियों, राजदूतों, राज्यपालों, अध्यापकों, सुपरिण्टेंडेंटों, यहां तक कि टिकट-चैकरों, वकीलों, अधिवक्ताओं (एडवोकेटों)

डाक्टरों, पुलिसमैनों, कंडक्टरों तथा सेना में पदों पर पुरुष तथा स्त्रियां नियुक्त हैं। आज हमारे राष्ट्रपति पुरुष हैं, कल स्त्री भी हो सकती है। क्या कोई बता सकता है कि इन शब्दों के लिंग क्या हों और इनके साथ क्रियाओं का प्रयोग कैसे किया जाय ? 'राजदूत आ रहा है', और 'राजदूत आ रही है' में कौन शुद्ध है ? 'राज्यपाल भाषण दे रहे हैं' या 'राज्यपाल भाषण दे रही हैं' में कौन-सा वाक्य कहेंगे ?

यदि हिन्दी का कोई विद्यार्थी अपने अध्यापक से ऐसे शब्दों के लिंग पूछेगा, तो अध्यापक क्या उत्तर देगा ? फिर इन पदों पर आसीन पुरुषों की पत्नियों को बोलचाल में क्या कहा जाय, और पदों पर आसीन स्त्रियों के पतियों को क्या कहा जाय ? यह एक समस्या ही नहीं, बल्कि कठिनाई है, जिसको सुलझाना आवश्यक है। क्रिया तथा विशेषणों के लिंगभेद उड़ाने और अंगरेजी के समान हिन्दी में चारों लिंगों को स्थान देने से यह समस्या सुलझ सकती है। इसके लिए प्राचीन हिन्दी के ग्रंथों की छानबीन करनी होगी, और साथ-साथ जनपदीय भाषाओं में क्रियाओं के रूपों का अध्ययन करना होगा। पर क्या अब हिन्दी-वाक्यों की रचना को एकदम बदलकर, वर्तमान हिन्दी-साहित्य को भी भूतकाल की वस्तु बनाना व्यवहार्य होगा ? वास्तव में हिन्दी के लिए वह दिन अशुभ था जब विशेषणों तथा क्रियाओं में लेखकों ने लिंग-भेद करना, बोलना तथा लिखना आरम्भ किया।

(२) विराम-चिह्न : अंगरेजी के विराम-चिह्न हिन्दी में प्रयुक्त किये जाते हैं। उनको व्याकरण में यथोचित स्थान मिलना चाहिए। इसके साथ उद्धरण-चिह्न या उल्टे कौमों (" ") से पैदा होनेवाली डायरेक्ट तथा इनडायरेक्ट शैली के नियमों का हिन्दी-व्याकरण में स्पष्टीकरण होना चाहिए। हिन्दी-व्याकरण की पुस्तकों में इन दोनों परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए परिच्छेद तथा अभ्यास दिये जाने चाहिए।

(४) नागरी वर्णमाला तथा ध्वनि : नागरी वर्णमाला

में भी ध्वनि की दृष्टि से पिछले पचास वर्षों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। अरबी, फारसी तथा अंगरेजी आदि भाषाओं के सहस्रों शब्द हिन्दी-शब्द-भंडार में स्थायी स्थान पा गये हैं। कुछ का उच्चारण नागरी लिपि के ढांचे में ढल गया है, कुछ शब्द अपने मूल रूप में प्रयुक्त होते हैं और उनके लिए हिन्दी में क, ग, ज, ड, ढ आदि बना कर नई ध्वनियां पैदा की गई हैं, पर इनको वर्णमाला में स्थान नहीं दिया गया और न इनके लिखने पर जोर दिया जाता है। यहाँतक कि 'ड' जो शुद्ध रूप से भारतीय ध्वनि है और जिसका प्रयोग आठ-नौ सौ शब्दों में होता है, हिन्दी में 'ड' से लिखा जाता है, जैसे घोड़ा, किवाड़, अलमोड़ा आदि। हिन्दी के विद्यार्थियों का उच्चारण इस दृष्टि से बड़ा अशुद्ध तथा हास्यास्पद होता है। व्याकरण में इस दृष्टि से भी नया विचार होना चाहिए और हिन्दी-शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को शुद्ध ध्वनि-उच्चारण में काफी प्रशिक्षण देना चाहिए।

(३) पारिभाषिक शब्दों का विकास : व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों में भी परिवर्तन हो रहा है तथा नये पारिभाषिक शब्द बनाने की आवश्यकता है। क्या 'तत्सम' तथा 'तद्भव' शब्द की पुरानी व्याख्या रहनी चाहिए, या वे सभी शब्द तत्सम माने जाय, जो चाहे किसी भी भाषा के हों, पर जो अपने मूल रूप में हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार मीडो, नेफा आदि शब्दों को अंगरेजी में एक्रो-सूस्टिक शब्द कहते हैं, पर हिन्दी में उनके लिए कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है। क्या इसके लिए 'सांकेतिक शब्द' कहना उपयुक्त होगा।

इस प्रकार ऊपर कुछ महत्त्वपूर्ण बातें दी गई हैं। इनके अतिरिक्त विदेशी उपसर्ग तथा प्रत्ययसंकर शब्द तथा नानार्थक शब्दों पर विचार होना चाहिए। समस्त विषय पर गहरा विचार करने से इनके अतिरिक्त और कई समस्याएं सामने आयें। यदि इन पर विचार किया जाय, तो हिन्दी का हित होगा।

महावीरप्रसाद प्रेमी

मानव-धर्म और राष्ट्रीय एकता

मानव-जाति के लिए यह मंगल-भविष्य का द्योतक है कि मानव-हितैषी या मानवता-प्रेमी प्रमुख राष्ट्रों के महान् राजनेता, वैज्ञानिक और सार्वभौम या शाश्वत-धर्म के आचार्यगण विश्व-शान्ति, विश्व-प्रेम, सद्भावना एवं एक मानव-धर्म की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। अतीत-युगीन इतिहास के परम-उत्कर्ष-काल अर्थात् 'अशोक-युग' के आधार पर तथा आधुनिक या वर्तमान-युगीन गांधी-विचार-धारा एवं प्रधान मंत्री श्री नेहरू द्वारा निर्दिष्ट और प्रसारित 'पंचशील और सह-अस्तित्व सिद्धांत' को देखकर यह अनुभव कर रहे हैं कि भारतवर्ष ही विश्व-शान्ति तथा विश्व-धर्म या अनेकान्तवाद का सफल नेतृत्व करेगा। वस्तुतः, (१) सत्य, (२) अहिंसा, (३) प्रेम, (४) सह-अस्तित्व और (५) आध्यात्मिक वृत्ति—जो विशुद्ध मानवता का प्रतीक है—को यदि प्रत्येक मानव अपन आदर्श सिद्धान्त मान ले, तो समझ लिया जाय कि मानो वह विज्ञान-सम्मत मानव-धर्म के गुणों से विभूषित होगया, अर्थात् मानवता क्या है, इसका परिचय उसने पा लिया।

बुद्धिवादी विद्वानों का कहना है कि देश या राष्ट्र, मानव और मानवेतर प्राणियों के प्रति स्वाभाविक प्रेम, न्यायोचित एवं उदार वर्तवि याने 'दया धर्म का मूल है', और आत्मोन्नति तथा जिससे आत्मा अपने निर्विकारी रूप में आ जाता है और जिससे सामाजिक, राष्ट्रीय और आर्थिक प्रगति, तथा व्यवस्था का संतुलन ठीक रहे; एकता, विकास, नैतिक एवं आध्यात्मिक-शक्ति प्राप्त हो, उसे शाश्वत धर्म और मानव-कर्तव्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है और जल का शीतल, और आत्मा का ज्ञान-विज्ञान का नियमन करना; सत्य, अहिंसा, प्रेम, संयम, तप, त्याग, शौच, क्षमा, मंगल, धैर्य, अक्रोध, आर्जव, सेवा और दान आदि स्वभाव सद्गुण रूप धर्म हैं; जिनका मंत्ररूपी लगाम पर नियन्त्रण रख कर पालन करने से मनुष्य का वास्तविक मनुष्यत्व निखर उठता है और मानव को अभ्युदय और आध्यात्मिक आनन्द तथा

परमपद (मोक्ष या निर्वाण) प्राप्त होता है। यह निर्विवाद है कि सत्य से परे कोई धर्म नहीं है, एवं सत्य और प्रेम ही ईश्वर है। इस ज्ञान-विज्ञान-स्वरूप दैवी-सम्पत्ति की प्राप्ति का सर्वोच्च साधन अहिंसा तथा परमार्थ को कहा गया है, याने—

'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई'

मनुष्य मूलतः भला है, किन्तु क्रूरता, वैमनस्य, अन्याय, अत्याचार या दुराचार तथा आक्रमण आदि मानव-प्रकृति के साधारण अंग देखे जाते हैं। दैनिक जीवन में इसका साधारण रूप और ऐतिहासिक घटनाओं में इसका विशेष रूप देखा जाता है। अहिंसा महात्माओं की दृष्टि में आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन है। परन्तु अत्याचारियों के व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह दुर्बलता और कायरता ही समझी जाती है। हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त अहिंसावाद का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं जीता-जागता प्रमाण है और विश्व में सुख, शान्ति, ऐश्वर्य, मंगल या आनन्द-प्राप्ति का मुख्य साधन है। जैसे—सब प्राणियों के प्रति प्रेम और दया-भाव दिल में रखना, किसी को कष्ट या हानि नहीं पहुंचाना, और हिंसा नहीं करना। भारतवर्ष में सदा से समय-समय पर अनेकों महानुभाव इस बात का उपदेश करते आ रहे हैं। सारांश यह कि सदाचार या पवित्र आचार-विचार या नैतिकता का नित्य व्यवहार ही सच्चा मानव-धर्म और आध्यात्मिक ज्ञान का निदान है।

पुरोहित-वर्ग की स्वार्थपरता के कारण, काम के विभाजन को लेकर क्रमानुगत जन्म के आधार पर समाज का वर्गीकरण हुआ; यद्यपि वर्तमान अवस्था में काम के विभाजन का ठीक-ठीक अनुसरण नहीं हो रहा है, शायद हो भी नहीं सकता। जातियां रूढ़ि और क्रमानुगत परम्परा के फंदे में जकड़ी हुई हैं। पर, मनुष्य-मनुष्य में जो भेद करता है, वह मनुष्य नहीं, पशु है। पूज्य बापू का कहना था कि मनुष्य मनुष्य पर शासन नहीं कर सकता। क्रमानुगत सामाजिक पृथक्त्व या वर्ण-विषमता के सिद्धान्तों को कायम रखकर स्वार्थान्ध

वने रहना, शोषण-प्रणाली चालू रखना, कूटनीति द्वारा या छल-बलपूर्वक या बपौती सम्पत्ति की तरह अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझकर राष्ट्रीय सम्पत्ति और सत्ता का दुरुपयोग करना, दानवी शक्ति या उत्पत्ति या वंश-परम्परा के काल्पनिक तथा अलौकिक रूप का प्रयोग करते रहना, इस ढंग से व्याख्या करना अथवा शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित करना—जिसमें केवल अपने वर्ग और अपने गुट की क्रमानुगत मर्यादा तथा आधिपत्य स्थायी रूप से कायम रहे, इसके लिए अन्याय, अनीति, अनुचित हठवाद पर अड़े रहना और इसमें बुद्धिवाद, स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं नैतिकता के आधार पर संशोधन, सुधार, परिवर्तन या क्रान्ति नहीं करने और असमा-यिक और जाली पुस्तकों और कुरीतियों को नष्ट न करने के अतिरिक्त हठवादी और पुराने ढर्रे के पण्डित-पुरोहितों, मौलवी-मुल्लाओं और पादरियों आदि प्रतिगामी-संगठनों के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन तथा इनका बहिष्कार नहीं करने का बहुत बुरा परिणाम होगा। अतः 'तुम डाल-डाल, हम पात-पात' की गति से धार्मिक क्रान्ति के विचारों का प्रचार-प्रसार करना अत्यावश्यक है। धर्म की आड़ लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले धूर्तों के खिलाफ सबसे पहले फ्रांस के महापुरुष वाल्टेयर ने अपने देश के लोगों को इस मजहबी और सामाजिक गुलामी से छुड़ाने का अदम्य प्रयत्न किया और जनसाधारण की भाषा में ऐसी पुस्तकें लिखीं कि जिसके पढ़ने से पुराने ढर्रे के दुराग्रही पादरियों का प्रभाव जनता पर से उठने लगा और जनता के हृदय दूसरे महापुरुष रूसो की राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति का सन्देश सुनने के लिए तैयार हो गये।

धर्मान्धता या धर्म के नाम पर सामाजिक रूढ़ियों के बन्धन में बंधी हुई क्रौंमें कभी भी सार्वभौम या मानव-धर्म, सामाजिक प्रगति, न्यायोचित कर्तव्य, आर्थिक संतुलन, राजनीतिक स्वतन्त्रता, जन-तन्त्र एवं राष्ट्रीय एकता के धर्म को नहीं समझ सकतीं, जबतक कि कोई शक्ति उनकी रूढ़ि और क्रमानुगत या परम्परा पर आधारित जर्जरित बन्धन को न काट डाले।

धर्म और समाज की विषम-विपरीत प्रवृत्ति देखकर लेनिन ने जनता के लिए धर्म को जहर प्रकट किया था। उन्होंने कहा कि 'इसकी ओट में लोगों की दासता बढ़ती है,

वे गड्ढे में पड़े रहते हैं और अपना विकास नहीं कर पाते। हमने देखा कि जिन-जिन देशों में धर्मान्धता या साम्प्रदायिक उन्माद का प्राधान्य रहा, वे समय के प्रवाह में मिछड़े रह गये और निर्दोष मानव-समुदाय के प्रति लुटेरे और हत्यारे साबित हुए। उनका अन्धविश्वास एवं दकियानूसीपन उन्हें ले डूबा। लोगों ने धर्म को आन्तरिक उत्थान और राष्ट्रीय एकता, मानव-बन्धुत्व और 'सब नर करहि परस्पर प्रीति' का साधन के विपरीत दैनिक जीवन का अंगीभूत मान लिया। उसके दकियानूसी कायदे-कानून समाज के हर काम में चलने लगे। अतीत युग में धर्म के नाम पर प्रचलित वैदिक कर्म-कांड की जड़ता और आडम्बर के विरुद्ध गीता ने जो-कुछ कहा, उसका परिणाम यह हुआ कि महावीर और बुद्ध ने उसकी नितान्त उपेक्षा तथा अवहेलना कर दी। आज फिर हमारे राष्ट्र ने सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होने के बाद 'धर्म-निरपेक्ष या सम्प्रदायातीत आदर्श को स्वीकार करके 'सर्व धर्म परित्याग' के सिद्धान्त को अपनाया है और 'सत्यमेव जयते' को आदर्श सिद्धान्त माना है। अधिकांश भारतीय जनता अर्जुन की तरह 'धर्मसमूढचेताः' अथवा 'धर्मभीरु', रूढ़ि-चुस्त एवं जाति-पांति-भेद के कारण छिन्न-भिन्न बनी हुई होने के अतिरिक्त मुख्यतः आर्थिक-साम्प्रदायिक विकटतम विषमता के कारण अमीर और गरीब के रूप में दो भागों में बंटी हुई है। इस मूढ़ता, भीरुता, और असमानता को त्यागे बिना विज्ञानसम्मत मानव धर्म की स्थापना, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक-संगठन, आर्थिक-समानता, पवित्र चरित्र और विश्व सुख-शान्ति का राज्य कायम करने या 'लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु' को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। सच पूछा जाय, तो विज्ञान-स्वरूप मौलिक धर्म, राजनैतिक स्वाधीनता और गणतन्त्र कोई अर्थ नहीं रखता जबतक कि धर्मान्धता, रूढ़ तथा बाह्य कर्मकांड या साम्प्रदायिकता का प्राधान्य, प्रान्तीयता या भाषा-भेद, आर्थिक विषमता या भेद हमारे सामने विद्यमान हैं। यद्यपि हमारे देश में कहने के लिए लोकशाही चल रही है, फिर भी वस्तुतः सामन्तवादी मनोभावना के साथ नौकरशाही चल रही है। देश के ऊँचे कार्यकर्ता से लेकर छोटे कर्मचारी तक अपने को जनता का सेवक न समझकर, हाकिम समझते हैं। नैतिक कर्तव्य का अभाव और यत्र-तत्र-सर्वत्र भ्रष्टाचार एवं स्वेच्छाचारिता

का वातावरण गर्म है।

जन्मपरक अथवा जीविका पर आधारित जाति-भेद के खोखलेपन से भी लोग अभिन्न होते जा रहे हैं। बाह्य भेद या विषमता मुख्यतः परिस्थिति की देन है, जिसे समान अवसर, समान सुविधा या आर्थिक साधन मिलने पर और प्रतिभा-शक्ति, परिश्रम-पुरुषार्थ द्वारा परिवर्तित, उन्नत किये जाने पर सामाजिक प्रतिष्ठा बदल जाती है और व्यक्ति-विशेष 'चलती का नाम गाड़ी है' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर एक वर्ग में आ जाता है। अतः अब धार्मिक या सामाजिक, साम्प्रतिक और राजनैतिक विषयक धांधली नहीं चल सकती।

निस्सन्देह प्रत्येक मत के बाह्य धार्मिक रूप, उनके आचार-विचार, पाठ-पूजा विधियाँ आदि की पद्धति में न्यूनाधिक अन्तर है। हाँ, नैतिक-आचरण के नियम—जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ व्यवहार का प्रश्न आता है, वहाँ सब मत प्रायः एक ही बात कहते हैं कि 'अहिंसा, प्रेम, सत्य, न्याय, सभ्यता, दया और संयम का व्यवहार करो।' सामान्य बुद्धि से यह हमारी, यह तुम्हारी के भेद के आधार पर प्रतिद्वन्द्विता, झगड़े, मर्यादा-भंग और अत्याचार, अन्याय आदि बुराइयाँ, धर्म एवं समाज, राजनैतिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र और किसी भी राष्ट्र या देश के बीच-बीच नहीं होना चाहिए। कारण कि न्याय का पलड़ा तथा धर्म प्रत्येक व्यक्ति के लिए अभिन्न हैं। धर्म 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा परमात्मा-सा एक, सर्वव्यापक और सार्वभौम है। परन्तु इतना सब होते हुए भी एक बात की ओर से हम आखें नहीं मूँद सकते, वह यह कि विश्व के भिन्न-भिन्न धर्म लोगों में परस्पर वैमनस्य तथा फूट के कारण हैं—और वे आज तक भी समाप्त नहीं हो रहे हैं। अतः प्रश्न उठता है कि आखिर धर्म की आवश्यकता क्यों है? विचार करने पर हम तो इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि ऐसी हृदयगत अनुभूति ही, जो हमारा शेष प्राणियों तथा सृष्टि के साथ तादात्म्य अथवा सामं-जस्य स्थापित कर दे और 'सर्वभूतहिते रताः' की ओर प्रेरित करे, वही सम्प्रदायातीत शाश्वत धर्म है। इस हृदयगत अनुभूति के सामने धर्म का कोई भी बाह्य रूप या धर्मों का कोई भी विभिन्नता एवं हठवाद नहीं टिक सकती। मानव शेष सृष्टि के साथ एकता की अनुभूति कर ले, तो मानो उसने

अपने रूप को पा लिया। यह एक व्यक्तिगत अनुभूति होती है। ऐसी अनुभूति की, ऐसे वैज्ञानिक धर्म की आवश्यकता है। इस बात को छोड़कर बाकी जो बातें धर्म के नाम पर प्रचलित हैं, वे सारहीन हैं और वे एकात्मता और मेल-मिलाप की अपेक्षा विभिन्नता या दुराव की ओर ले जाते हैं। जहाँ तक हमारे बाह्याचरण का, सामाजिक आचरण का और राष्ट्र अथवा समग्र संसार के साथ व्यवहार, सभ्यता और विश्व-मैत्री का प्रश्न है, उसका आधार निश्चल नैतिकता, अनाक्रमण, सहजीवन, सद्भावना और सामंजस्य का होना चाहिए। युगों का हमारा सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय अनुभव यदि यह बतलाता है कि विश्व का सुचारु और समवेत रूप से चलन 'वसुधैव कुटुम्बकम्'; या वन्धुत्व, प्रेम, सत्य एवं न्याय के आधार पर ही हो सकता है, तो हमें अवश्य अपने आचरण या व्यवहार में सबके साथ सत्य तथा न्याय आदि का आश्रय लेना ही चाहिए। कारण कि धर्म या राष्ट्र के बाह्य रूप की आवश्यकता नहीं रहते हुए भी धर्म और मानवता की जो आत्मा है, उसका जो वैज्ञानिक या सच्चा आन्तरिक स्वरूप एवं अस्तित्व है, उसकी तो सदा जरूरत रहेगी ही। क्योंकि उस प्रेममय एकात्मता और मिलने के भाव पर ही, तो सृष्टि कायम है—अतः धर्म और मानवता, सदाचार, विज्ञान और पारस्परिक कल्याण के जो नैतिक, आध्यात्मिक, सार्वभौमिक रूप तथा आदर्श हैं, उनके योग-क्षेम के लिए धर्म-निरपेक्षता, एवं तटस्थता का भाव या नीति त्याग कर सरकार और सभी विवेकशील महानुभावों को समस्त जनता और सभी शिक्षा-संस्थाओं के छात्र-छात्राओं के पठन-पाठन या अध्यापन, पुस्तकालयों, वाचनालयों तथा सार्वजनिक-संस्थाओं और जन-सेवकों एवं जनपदों आदि के मार्ग-दर्शन स्वरूप एक मानव-धर्म या मानवता, युग-धर्म, राष्ट्र-धर्म, धर्म-विज्ञान और सद्धर्म की व्यवस्था, शिक्षा और उपदेश या स्वाध्यायार्थ विभिन्न मतों और राष्ट्रों के सुधार-वादी तथा क्रान्तिकारी धर्माचार्यों या पारदर्शी विद्वानों या प्रमुख वैज्ञानिकों आदि का सक्रिय-सहयोग तथा सम्मति से मानवता, मानव धर्म-संगम, राष्ट्रीय एकता और विश्व-रक्षा के संवलस्वरूप एक प्रामाणिक ग्रन्थ-स्तन और पाठ्य-क्रम का निर्माण यथासम्भव शीघ्र ही विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र और राज्य-भाषा में करने के अतिरिक्त धर्मों के नामपर

गीत

: २२५ :

हरीश

प्रचलित विभिन्न मतों या सम्प्रदायों की व्यवस्था, शिक्षा या उपदेशों को यथासम्भव शीघ्र ही बन्द करने के लिए जोरदार आन्दोलन एवं धार्मिक-क्रान्ति का मार्ग अपनाना चाहिए।

जिसमें शीघ्र-से शीघ्र स्थायी सुख, शान्ति, प्रेम, सद्भावना मानव-धर्म, राष्ट्रों की एकता और मैत्री का मार्ग प्रशस्त होकर विश्व स्वर्गोपम ही नहीं, साक्षात् स्वर्ग ही बन जाय।

गीत

हरीश

जानकर भी तो मुझे इतना

नहीं तुम जान पाये हो !

पहचान पाये हो ?

मैं वही हूँ

वही

जिसको तुम्हीं तो

दूर हो या नर,

प्रातः, भीगे नेह से

शाम की तनहाइयों डूबे—

अ-देही गेह से

हो रोज लेते डेर !

मैं वही हूँ—

एक,

निस्संगी क्षणों का मीत

विपथ में, पथ में—

रहे इति में कि अथ में

हार में भी, जीत से ले होड़

जब कभी तुमने लगाई एक भी आवाज

मेरी ओर को मुख मोड़

मैं मिला हूँ

ले सुपथ, पाथेय—

अथ—इति प्रेय,

हार को भी जीत कर दे श्रेय

तुमने कहा—मेरे मीत !

मेरे गीत !!

राम मेहता

गांधी-दर्शन

गांंधीजी का तर्क और युक्तियुक्त चिंतन 'गांधी-दर्शन' की संज्ञा पाता है। गांधी-दर्शन में भारतीय संस्कृति पूर्ण-रूपेण प्रतिबिम्बित होती है। संस्कृति शब्द का अर्थ मन की, हृदय की, व्यक्ति की, जाति की वृत्तियों-प्रवृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना है। गांधी-दर्शन में परिलक्षित भारतीय संस्कृति की यह छाप व्यावहारिक जीवन में मुखर हो उठती है।

भारतीय संस्कृति स्वार्थ की पक्षपाती नहीं, वह पर-सेवा, समाज-सेवा और परमार्थ पर ही जोर देती है। गांधीजी स्वार्थ की सत्ता को निर्मूल कर समाज-सेवा और परसेवा में ही रमते रहे। इसी तत्त्व को जन-जन तक सफल रूप में पहुंचाया। समाज-सेवा और पर-सेवा में ही उन्हें सत्य, परमतत्त्व, ईश्वर के दर्शन होते थे। इसी सेवा-कर्म में उन्हें 'आनन्द', या 'सुख' की उपलब्धि होती थी। वे तो अपने शरीर को 'परोपकाराय इदं शरीरम्' ही मानते थे। किसी भी मनुष्य को शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक पीड़ा पहुंचाना उनको मान्य नहीं था। दूसरों की भलाई और परोपकार के लिए अपने शरीर को निमित्त माननेवाले दूसरे की भावनाओं और इच्छाओं को किंचित् पीड़ा भी कैसे दे सकते थे?

'गांधी-दर्शन' सत्य की साधना का विज्ञान है। यह सत्य, परमेश्वर और ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यटाकाश के सदृश सम्पूर्ण चराचर-जगत् में वह विद्यमान है। सम्पूर्ण जगत् में उसी का प्रकाश है। उस सत्य की प्राप्ति के लिए, हिंसा का सहारा गांधीजी ने लिया। यह अहिंसा व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है; इसका प्रयोग अपनी निजी आध्यात्मिक साधना तक ही सीमित नहीं है, जीवन और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रयोग और उपयोग सम्भव और उचित है। गांधी-दर्शन का यह विश्वास है कि विश्व की निर्लिप्त या निस्वार्थ सेवा ही परमेश्वर की श्रेष्ठ उपासना है, इसलिए वह अहिंसा का व्यापक संगठन करके समाज की सेवा का प्रयत्न करता है।

गांधी-दर्शन अहिंसा को संगठित कर, और व्यापक रूप में बड़ी-बड़ी राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए उसका सामूहिक प्रयोग करता है। समाज की हिंसा-शक्ति को अहिंसा-शर से दूर कर समाज की सर्वतोमुखी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। उनके अनुसार अहिंसा स्वयं अपने में एक अपरिणत सत्य है और जब अहिंसा हमारे मन, वचन और कर्म में व्याप्त हो जाती है तो स्वयं सत्य का रूप धारण कर लेती है।

गांधी-दर्शन कर्म की महत्ता पर अधिक जोर देता है। भारतीय संस्कृति की आधार-शिला कर्मवाद है। 'कर्म में वसते हैं भगवान्' को माननेवाले गांधी कभी 'फल' की चिन्ता नहीं करते थे। वे तो गीता के—

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन”

कथन को मानकर जीवन-यापन करते थे। आत्मनिर्भर रहने के लिए वे स्वयं कर्म करते थे। वे स्वयं चरखा चलाते थे। चरखा उनके 'कर्म-यज्ञ' का प्रतीक था।

गांधी-दर्शन मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने का उचित मार्ग प्रदर्शन करता है। जब मनुष्य अपने मन में उद्भूत समस्त इच्छाओं और कामनाओं का त्याग कर देता है, तब वह आत्म-संतुष्ट कहलाता है। 'आत्म-संतोष' में सुख अनुभव करना गांधी-दर्शन का आदेश था। मनुष्य को 'स्थिर-बुद्धि' बनना आवश्यक है। मनुष्य पर भयंकर से भयंकर कठिनाइयों का भार आ पड़े अथवा अत्यन्त आनन्द या सुख का अवसर आये, वह उनसे प्रभावित न हो। वह न तो सुख में सुखी हो और दुःख में अधिक दुःखी। मनुष्य सुख में अधिक सुखी और दुःख में अधिक दुःखी केवल उसी अवस्था में हो सकता है, जब इच्छाओं और वासनाओं पर उसका पूर्ण अधिकार न हो। उसको इनके वश में नहीं होना है, उन्हें इसके (मनुष्य के) वश में होना है। कछुए के अंगों के सदृश उसे उनको—इच्छाओं और वासनाओं को—अपने-आप में समेटना पड़ेगा। मनुष्य कामना व इच्छा करता है। इसका चिंतन और ध्यान करने से उसकी विषयों और

भौतिक पदार्थों में आसक्ति होती है। इनकी पूर्ति न होने से अज्ञात रूप से ही क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध आते ही सत्-असत् का ज्ञान नाश होता है। विवेक के नष्ट होते ही स्मृति-नाश के साथ उसकी बुद्धि भ्रमित होती है। मनुष्य अपने साधना-पथ से गिर जाता है। अतः अपने-आपको इच्छाओं और भौतिक कामनाओं से दूर रखना यही गांधी-दर्शन का सही माना अर्थ है।

गांधी-दर्शन आत्म-शुद्धि की भित्ति पर स्थित है। गांधीजी स्वयं कहते थे—

“शुद्ध थं वु ओटले मन थी, वचन थी, काया थी निर्विकार थवुं, रागद्वेषादिरहित थवुं”—

यही आत्म-शुद्धि का अर्थ है। मन, वचन और काया—‘मनसा वाचा कर्मणा’—से निर्विकार अर्थात् राग-द्वेष से रहित होना है। स्वार्थ से मनुष्य को ऊपर उठना है। आत्मशुद्धि के हेतु गांधी-दर्शन में अपरिग्रह, अस्वाद, अस्तेय और इन्द्रिय-निग्रह इन चार यमों पर बड़ा महत्त्व दिया है। लोभ, स्वार्थ और तृष्णा का पूर्णतः परित्याग बताया है। यदि इन वस्तुओं में मनुष्य अपने को संलग्न रखता है तब उसका नैतिक पतन होता है और विश्व में संघर्ष की स्थिति

उत्पन्न होती है। ‘अहिंसा पहरदार’ को अपनाने से इन नियमों और यमों का पालन ही सकता है। हम संघर्ष से छुटकारा पा सकते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण गांधी-दर्शन आध्यात्मिक आधार-शिला पर आधारित है। अपने साधन, आचार-विचार और प्रणाली में वह एक नैतिक साधना है। कर्म और आचरण पर बार-बार ध्यान आकर्षित करता है।

गांधी-दर्शन की महत् विशेषता यह है कि वह अपने आप में एक ‘व्यावहारिक दर्शन’ है। वह पुस्तकों का ज्ञान, बुद्धि-जीवियों का गम्य, पंडितों का पठित दर्शन नहीं है। वह पहाड़-जैसा कठोर भी है, व रुई के जैसा कौमल भी है। साधारण से साधारण जनता की समझ में आने वाला दर्शन है। अभय, अहिंसा, आत्मनिर्भरता, सत्य, कर्मतत्परता गांधी-दर्शन की व्यावहारिक भूमि है। गांधीजी की ‘विश्व-दर्शन’ को सम्भवतः यही सबसे बड़ी देन कही जा सकती है कि उन्होंने आध्यात्मिकता को कठोर व्यावहारिकता के उपयुक्त न सिर्फ माना, बल्कि उस पर स्वयं आचरण कर उसकी सिद्धि और उपयोगिता का दृढ़ प्रमाण भी प्रस्तुत किया।

सुनो, हिरोशिमा क्या कहता है ?

मारक-संहारक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की होड़ लगी है।

अणु-उद्‌जन बमों और प्रक्षेपण-निक्षेपण आयुधों की धूम मची है।

पल में प्रलय मचा देंगे !... विश्व-विध्वंस कर के रख देंगे ! !... दावे पर दावे किये जा रहे हैं।

कोई पूछे इन शक्ति-मदांशों से।

प्रलय मच जायगी, विश्व का विध्वंस हो जायगा तो तुम ही कहां वचोगे ? आखिर हो तो विश्व में ही न !

तब, कुछ भी बुद्धि बची है, हृदय शेष है, तो हे बुद्धि-दिग्गजो, हृदय-पाषाणो, सुनो ! आप ही की सुनहरी (कौन कहता है—काली) कर्तूतों वश भस्मीभूत हुआ... भस्म की ढेरी बना गरीब हिरोशिमा आपके ही हित में क्या कह रहा है... अपने लड़खड़ाते स्वर में समूचे विश्व की चिन्ता-फिक एवं व्यथा-वेदना उँडेल-उँडेल कर—

‘मुझपर रहम न खाया, न सही; अपने पर तो रहम खाओ !’

—हरिकृष्णदास गुप्त ‘हरि’

संकलित

अमेरिका के राष्ट्रकवि राबर्ट फ्रॉस्ट

लोकतन्त्र की भांति ही एक सच्चे कवि का जीवन भी जनता के लिए, जनता का और जनता द्वारा निर्दिष्ट होता है। राबर्ट ली फ्रॉस्ट, जिन्होंने २६ मार्च, १९६० को अपने जीवन के ८६ वर्ष पूर्ण किये, ऐसे ही कवि हैं। औपचारिक घोषणा के अभाव में भी उन्हें अमेरिका का 'राष्ट्रकवि' होने का सम्मान प्राप्त है।

कहावत है कि कवि की प्रतिभा नैसर्गिक होती है, मानव-निर्मित नहीं। किन्तु, इसके बावजूद, राबर्ट फ्रॉस्ट के कवि को उनके प्रारम्भिक जीवन में मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी थी। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को प्रकाशित करने के बजाय, प्रकाशकों ने वापिस लौटा दिया था। सच तो यह है कि उन की ४० वर्ष की अवस्था के बाद ही लोगों ने उनकी रचनाओं को पढ़ना, जानना और उनकी प्रशंसा करना प्रारम्भ किया।

राबर्ट फ्रॉस्ट को प्राप्त अनेक प्रशस्ति-पत्र उनकी लोक-प्रियता का उद्घोष करते हैं। उनके ७१वें जन्म-दिवस पर अमेरिकी सेनेट ने अपनी राजनीतिक कार्यवाहियों के बीच राबर्ट फ्रॉस्ट के सम्मान में सर्वसम्मति से एक प्रशस्ति-प्रस्ताव स्वीकार कर अपने इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। उसमें कहा गया था, "उनकी कविता ने अमेरिकी लोगों को कथाओं और गीतों का एक ऐसा लम्बा क्रम प्रदान किया है, जो सभी अवस्थाओं और वृत्तियों के लोगों के लिए आनन्द-दायक सिद्ध हुआ है, जिसका उन्होंने मनन किया है और जिसे उन्होंने बार-बार दुहराया है।... उनकी कविताओं ने विवेक एवं विनोद के साथ अमेरिकी विचारधारा का मार्ग-प्रदर्शन करने में योग प्रदान किया है, और हमारे मस्तिष्क के समक्ष हमारे और सभी मनुष्यों के अविश्वसनीय स्वरूप का चित्रण प्रस्तुत किया है।"

कविता के लिए पुलित्जर पुरस्कार, जो अमेरिका के सबसे बड़े साहित्यिक सम्मानों में से एक है, राबर्ट फ्रॉस्ट को चार बार प्राप्त हो चुका है। एक समीक्षक के शब्दों में, "किसी भी अन्य जीवित कवि ने जन-साधारण के विषय में इतना अच्छा नहीं लिखा है। उनके अद्भुत नाटकीय

स्वगत-कथन और दृश्य जनता के विषय में उनकी ऐसी गहन जानकारी की उपज हैं, जैसी अब तक बहुत ही कम कवियों में पाई गई है; उन्हें ऐसी कविता में लिखा गया है, जिसमें वास्तविक संभाषण की लयों को पूर्ण कौशल के साथ प्रयुक्त किया गया है।"

राबर्ट फ्रॉस्ट के ८०वें जन्म-दिवस पर न्यूयार्क टाइम्स ने अपने सम्पादकीय लेख में, उनका उल्लेख करते हुए, उन्हें 'एक गहन अमेरिकी कवि' कहा था, जिसने अमेरिकी जीवन के उन तत्त्वों को स्पर्श किया है, जो एक शताब्दी के शहरीकरण के बावजूद, अभी भी हमारी भावनात्मक आधारशिला का निर्माण करते हैं। मानवीय सम्बन्ध-विषयक हमारी विचारधारा, दुःख-विषयक हमारी जानकारी और आशा-विषयक हमारा ज्ञान अभी भी फार्मों और नये-नये जोते गये खेतों से दृढ़ता से सम्बद्ध है। फ्रॉस्ट वास्तविक मनुष्यों के वास्तविक संसार के विषय में लिखते हैं; उन्हें पाठक को इस संसार में खींच लाने, तथा उसे अनुभव की भावना और दैवी ज्ञान के क्षणों से पुरस्कृत करने में भी, पूर्ण सफलता मिली है।

राबर्ट ली फ्रॉस्ट का जन्म २६ मार्च, १८७४ को सान-फ्रांसिस्को में हुआ था। उनके पिता एक समाचारपत्र के सम्पादक थे। जब राबर्ट ११ वर्ष के थे, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। बाद में, उनकी मां मैसाचूसेट्स में बस गई और एक अध्यापिका का कार्य करने लगीं। फ्रॉस्ट को अपनी आजीविका उपाजित करने के लिए कारखाने के मजदूर, स्कूल के शिक्षक, ग्रामीण समाचारपत्र के सम्पादक और मुख्यतः एक किसान के रूप में कार्य करना पड़ा। इस प्रकार के विविध अनुभवों के फलस्वरूप, सजनसाधारण के जीवन में उनकी गहरी पैठ हो गई।

२० वर्ष की अवस्था में राबर्ट फ्रॉस्ट ने इलिनौर मिरियम ह्वाइट से विवाह किया। ४३ वर्ष बाद, १९१५ में, उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई। उनके ५ बच्चे हुए। आजीविका उपाजित करने के लिए फ्रॉस्ट को तरह-तरह के बेदंगे कार्य करने पड़े,

अमेरिका के राष्ट्रकवि राबर्ट फ्रॉस्ट

: २२९ :

जिससे उनकी शिक्षा का क्रम टूटता रहा। विवाह के बाद वह हार्वर्ड विश्वविद्यालय में भर्ती होने के लिए कैम्ब्रिज, मैसासूसेट्स में चले गये। उन्होंने दो वर्ष तक शास्त्रीय विषयों का अध्ययन किया, किन्तु स्नातक की उपाधि प्राप्त किये बिना ही उन्होंने विश्वविद्यालय छोड़ दिया। एक कवि के रूप में स्वयं अपने देश में ख्याति न मिलने पर फ्रॉस्ट १९१२ में इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गये। वहां उन्होंने अन्य कवियों से भेंट की और कविता-पाठों तथा वाद-विवादों में भाग लिया। उनकी कविताओं का पहला संग्रह, 'ए वेबीज विल', लंदन से १९१३ में प्रकाशित हुआ। उनकी अन्य रचनाओं में प्रमुख हैं: 'नार्थ औव वोस्टन', 'वेस्ट रनिंग ब्रुक', 'दि लोन स्ट्राइक', 'ए फर्थर रेंज', 'ए विटनेस ट्री', 'स्टोपल बुश', और 'कम्प्लीट पोयेम्स'। उनका एक एकांकी नाटक भी 'ए वे आउट' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

अमरीकी तथा विदेशी विश्वविद्यालयों ने राबर्ट फ्रॉस्ट को लगभग ४० सम्माननीय उपाधियों से विभूषित किया है। १९५८ में फ्रॉस्ट को अमेरिकी कांग्रेस के पुस्तकालय ने काव्य-परामर्शदाता के पद पर नियुक्त किया। यह अमेरिका में राष्ट्रकवि के पद तक पहुंचनेवाली निकटतम निसेनी है।

फ्रॉस्ट के अनुसार, एक पूर्ण कविता वह है, जिसमें "भावना को उसका विचार और विचार को शब्द मिल गये हों।" वह एक उपदेशक कवि हैं। कभी-कभी वह चरागाह-युग के कवि प्रतीत होते हैं, हालांकि वे सचमुच हैं नहीं। कभी-कभी तो राबर्ट फ्रॉस्ट की कविता में पाठक को फिट्स-जिराल्ड की लय के दर्शन होते हैं। ऐसे अवसरों पर, उमर-

खैयाम की भांति, फ्रॉस्ट ऐसी बातों का उल्लेख करते हैं, जो सामान्यतः अवसादपूर्ण प्रतीत होती हैं, किन्तु इसके बावजूद, मनोरंजक उल्लास की छाप छोड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित पंक्तियों को लीजिये:

एक बार मैं एक ऐसे व्यक्ति के बाद घास उलटने गया,
जिसने धूप निकलने से पहले ही, ओस में, उसे काट लिया था;

भूषायी घास का दृश्य देखने के लिए जब मैं आया,
उससे पहले ही ओस-कण मिट चले थे, जिन्होंने उसके हंसिये को उतना तीक्ष्ण बना दिया था;

सारी घास कट चुकी थी, लेकिन वह जा चुका था;
और मैं भी, उसी की तरह, एकाकी हो जाऊंगा;

मैंने मन में कहा, 'सभी, हां, सभी, चाहे वे साथ-साथ काम करें, या अकेले, निश्चय ही एकाकी हो कर रहेंगे।'

राबर्ट फ्रॉस्ट की कविताएं उनके देशवासियों के लिए प्रेरणा और मनोरंजन का स्रोत बनी हुई हैं। उनमें उनकी महान् आशावादिता और यथार्थवादी भावना का प्रतिबिम्ब मिलता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों को ही ले लीजिये:

"लोगों के कहने की चिन्ता कौन करे ?

जीवन का यह बहुत अच्छा ढंग है कि प्रकृति जो कुछ देना चाहती है, उसे ही पाकर सन्तुष्ट रहा जाये।"

और

"दाम्पत्य को भार-स्वरूप न मानो, और जीवन से कुछ रंगीनी और संगीत प्राप्त करो।"

परवाना

एक दिन मैंने परवाने से पूछा—"भाई ! मैं रास्ते से भटक गया हूं, मुझे राह दिखाओ।

मैं उदास और खिन्न था।

वह फड़फड़ा कर उड़ा और मेरे कान की फुंगो पर बैठ

कर बोला, "तेरा रास्ता मेरे से भिन्न नहीं है", इतना कहकर वह पुनः उड़ा और सामने जलती हुई शमा के प्रकाश-पुञ्ज में विलीन हो गया।

अब मैं न उदास था, न खिन्न ! —नेमचन्द्र 'शील'

अगरचन्द नाहटा

भारत की उन्नति में परम बाधक—ईर्ष्या

मानव की यह एक सहज कमजोरी है कि वह दूसरों के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकता। यदि अन्यो के उत्कर्ष से वह प्रेरणा व शिक्षा ग्रहण करे तो स्वयं भी उन्नत हो सकता है, पर वह उल्टी दिशा में वह जाता है। वह अपने से अधिक सम्पन्न व्यक्ति के प्रति ईर्ष्यालु बन उसको नीचे गिराने का असत् प्रयत्न करने लगता है। इससे उसे वास्तव में कोई लाभ नहीं होता पर घर फूँककर तमाशा देखने की कहावत चरितार्थ करता है। उसे यह सन्तोष होता है कि दूसरों को उसने गिरा दिया, पछाड़ दिया। इसके महत्व को कम कर दिया। विचारपूर्वक देखने से विदित होगा कि यह मनुष्य की बहुत ही कुत्सित भावना है। स्वयं को कुछ लाभ न हो, पर दूसरे का नुकसान करके प्रसन्न होना, नुकसान न भी कर सके तो हैरान तो किया ही, एक बार तो उसके काम में बाधा पड़ी ही, बढ़ता हुआ उत्कर्ष रुका ही, लोगों का उसके प्रति सद्भाव बढ़ रहा था, वह कुछ कम किया ही, इसीमें बहुत प्रसन्न होता है।

अन्य देशों की तुलना में भारत में ईर्ष्यालु मनोवृत्ति अधिक नजर आ रही है, इसलिए अन्य देशों की अपेक्षा भारत की उन्नति कम हो रही है। पदे-पदे बाधाएं उपस्थित हो रही हैं। हम एक-दूसरे को ऊँचा उठाने में सहयोग तो कम ही देते हैं, पर कोई अपनी योग्यता व सत्कार्यो—गुणों के बलपर आगे बढ़ रहा है तो उसके प्रति ईर्ष्यालु बन उसके आगे बढ़ने देने में रोड़े अटकाने का प्रयत्न किया जा रहा है। लोगों की दृष्टि में उनको नीचे गिराने के लिए नानाविध उपायों का अवलम्बन किया जा रहा है। विरोधी गन्दा प्रचार किया जा रहा है। उसके गुणों को भी दोषों के रूप में प्रकट व उपस्थित किया जाने लगता है। परोपकार के कार्यों में भी स्वार्थ को ढूँढा या बतलाया जाता है। इससे दूसरे का स्वाभाविक विकास व उत्कर्ष रुक जाता है। थोड़े समय में जो सफलता उसे मिलनी चाहिए थी, उसके लिए संघर्षों के कारण बहुत देर हो जाती है, यावत् कभी-कभी तो सफलता मिल भी नहीं पाती और उससे देश का बहुत

नुकसान होता है। दूसरों को आगे बढ़ानेवाली बातों को हम भी अपनाकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करे तो उसका भी मार्ग अवरुद्ध न होगा, अपनी भी उन्नति हो और इससे देश की चतुर्मुखी उन्नति में चार चांद लग जायेंगे। हम चाहते हैं कि भले काम हों, पर यह भी चाहते हैं कि वे हमारे द्वारा ही हों। दूसरों को उसका श्रेय न मिले। इसीसे दूसरों के द्वारा यदि कोई उसका काम होकर उसका नाम होता है तो हमें उस व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या होने लगती है। यदि उस ईर्ष्या से सत्प्रेरणा लेकर हम भी तदनुरूप अच्छे कामों में लगे तो हमारा व देश का बड़ा कल्याण हो सकता है, पर होता इससे उल्टा है। हम भले काम में प्रयत्नशील न होकर जिसके द्वारा हो रहा है, उसे यश न मिले, लाभ न मिले, उसका महत्व बढ़ न जाय। इसलिए उसमें दुर्गुण ढूँढने लगते हैं उसे नीचे गिराने व बदनाम करने का प्रयत्न करने लगते हैं।

भारत में ईर्ष्या का साम्राज्य-सा नजर आता है। बच्चों से लेकर वृद्ध, धनी, पंडित, यावत् साधु-संन्यासियों का भी इस दुर्गुण ने पिंड नहीं छोड़ा। एक व्यापारी दूसरे की उन्नति नहीं देख सकता। एक पंडित दूसरे पंडित का बढ़ता हुआ आदर सहन नहीं कर पाता। एक बच्चा दूसरे बच्चों को चाहे वे भाई ही हैं, अधिक प्यार व सुविधा पाते देख कुढ़ने लगता है। एक स्त्री दूसरी के अच्छे खाते-पीते, गहने-कपड़ा पहनती देख जलने लगती है कि इसको इतनी सुविधा मिली मुझे क्यों नहीं मिली।

ईर्ष्या एक मानसिक विकार है। इसकी ज्वाला से व्यक्ति का विवेक जलने लगता है। उसे हिताहित का भान नहीं रहता। व्यक्ति का अहं चाहता है कि मैं ही सबसे ऊँचा रहूँ, अच्छे सब काम मेरे द्वारा ही हों। काम न करने पर भी उसका यश मुझे ही मिले। व्यर्थ ही ईर्ष्या से वह कुढ़ता रहता है, जलता रहता है। जहांतक आगे बढ़े हुए व्यक्ति का कुछ बिगाड़ न कर सके, उसे चैन नहीं पड़ती। संतोष नहीं होता। ईर्ष्या के दुर्गुणों को हटाने के लिए गुण-ग्रहण

वृत्ति को बढ़ाने रहना आवश्यक है तथा प्रमोद भावना को खूब बलवती करना होगा। हर व्यक्ति के गुणों से ही हमारा ममत्व हो, उसके गुणों को ही अपनायें एवं गुणों की प्रशंसा करें। अवगुण सबमें थोड़े-बहुत रहते ही हैं। हम भी अनेक हैं। अतः अवगुण-दृष्टि छोड़ें और किसी का उत्कर्ष देख हमारा चित्त प्रसन्न होना चाहिए। मैं भी ऐसा वनूं मेरे में भी गुणों का ऐसा ही उत्कर्ष हो, यह भावना रहे। पर दूसरों के उत्कर्ष से हमारे में जलन, कुढ़न और ईर्ष्या न हो। किसी के उत्कर्ष में हम सहायक हो सकें तो अच्छा, पर कम-से-कम हमारे किसी भी व्यवहार से दूसरों की अवनति व नुकसान न हो, उसका पूर्ण ध्यान रखें।

विदेशों में भारत की अपेक्षा ईर्ष्या की कमी है। वे होड़ जरूर लगाते हैं, पर एक-दूसरे से आगे बढ़ने की, पर ईर्ष्या-जलन से जलते नहीं वास्तव में आगे बढ़ने की होड़ तो अच्छी बात है—अभ्युदय का लक्षण है व उपाय है। सूक्ष्म व्यक्ति दूसरे को गिराने का प्रयत्न कर स्वयं आगे बढ़ने का पुरुषार्थ ही करता है। कमजोर व्यक्ति जो स्वयं आगे बढ़ने की शक्ति नहीं रखते वे ही उल्टी दिशा दूसरों को नीचा गिराने में प्रवृत्त होते हैं।

अप्रगट रोष या क्रोध का नाम ईर्ष्या है। क्रोध प्रगट होने से उसका गुब्बारा निकल जाता है। जबकि ईर्ष्या भीतर-ही-भीतर घुटती रहती है। उसकी जलन बड़ी ही हानिप्रद है। दूसरों को सम्पन्न, सुखी, अपने से अधिक सफल व आगे व ऊंचा बढ़ा हुआ देखकर, इसको ऐसी स्थिति प्राप्त है, मुझे क्यों नहीं? एक जलन-सी भीतर-ही-भीतर अनुभव होती है। किसी को सुखी व महत्व पाते देख अपना जी घुटने लगता है, यह मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है। इस कमजोरी को प्रयत्नपूर्वक दूर कर दूसरों की उन्नति में खुशी होना चाहिए।

ईर्ष्या का स्वास्थ्य पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। सुप्रसिद्ध चितक काका कालेलकर ने लिखा है कि काम, क्रोध और भय के मारे, शरीर में जो विकृति पैदा होती है, और कभी-कभी रोग भी पैदा होते हैं, उसका तो सबूत हर जगह मिलता ही है। लेकिन ईर्ष्या, द्वेष और मत्सर आदि के कारण भी शरीर में विकृति होती है। ईर्ष्या, मत्सर या अदेखाई की मात्रा बढ़ने पर मनुष्य के पेट में दर्द शुरू होता है। पेट के दर्द का यही एक कारण नहीं, लेकिन अनेक कारणों में यह एक जबरदस्त कारण तो है ही। ईर्ष्या और मत्सर के कारण पेट में व्रण (छेद) पैदा होते हैं और उनके कारण दूसरे भी रोग होते हैं। अब जब काम, क्रोध, भय, मत्सर, ईर्ष्या आदि के कारण शरीर में विकृति हो सकती है, तो लोभ, मोह, मद, अभिमान आदि विकारों का भी शरीर पर असर होता ही होगा।

संत तिरुवल्लुवर ने ईर्ष्या के संबंध में क्या ही सुन्दर कहा है। “ईर्ष्या करनेवालों के लिए ईर्ष्या की बला ही काफी है; क्योंकि उसके दुश्मन उसे छोड़ भी दें तो भी उसकी ईर्ष्या ही उसका सर्वनाश कर देगी।” दुष्टा ईर्ष्या दरिद्रता दानवी की बुलाती है और आदमी को नरक के द्वार तक ले जाती है। अब एक अज्ञात व्यक्ति ने भी कहा है, ‘अगर हम तुलनाएं न करें तो हमें अपनी ही वस्तुएं खुश रखती हैं; वह कभी सुखी नहीं हो सकता, जो अपने से अधिक सुखी को देखकर क्लेश पाता है।’

हमारे में राष्ट्रीय भावना व सहकारिता की भावना की भी बड़ी कमी है। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए राष्ट्र का अहित कर बैठते हैं। वह न होकर हम मिल-जुलकर सहयोग से काम करे, कंधे-से-कंधा भिड़ाकर राष्ट्रोन्नति का प्रयत्न किया जाना वांछनीय है। अच्छे काम करनेवालों से ईर्ष्या न कर उनके कामों की प्रशंसा करें।



समालोचनाएं

कसौटी पर

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरयागंज,
दिल्ली की २ पुस्तकें :

१. सीगफ्रिड : लेखक : विराज । २. गुंजाल :
लेखक : कमल शुक्ल । मूल्य डेढ़ रुपया प्रति पुस्तक ।

सीगफ्रिड जर्मन महाकाव्य 'निबेलुंगनलीड' का कथासार है। युद्ध के समय में 'सीगफ्रिड लाइन' की चर्चा सभी ने सुनी है। इस पुस्तक के नायक के नाम के आधार पर ही उस लाइन का नामकरण हुआ था। इसी से इस पुस्तक का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। कथा परियों की कहानी के समान है। बहुत रोचक, कौतूहल पैदा करनेवाली और वीरता के कारनामों से परिपूर्ण। इस मनोहर वीरगाथा का लेखक कौन था, यह कोई नहीं जानता। लेकिन यह महाकाव्य अमर है। वीरता, प्रेम, धूर्तता और कुचक्र इन सब के द्वन्द्व का बड़ा ही मर्मग्राही चित्रण इस पुस्तक में हुआ है। लेखक ने मूल पुस्तक के प्रत्येक गुण को सुरक्षित रखने की सफल चेष्टा की है।

गुंजाल : एक उपन्यास है जो किशोर वय के पाठकों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। वह दृष्टि काफी सुलझी हुई है, लेकिन उपन्यास-कला की दृष्टि से बहुत ऊंचा नहीं बन पाया। आदर्श बहुत उभरकर ऊपर आ गया है। व्यापकता भी कम है। फिर भी यह प्रयत्न कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। किशोरों के लिए बहुत कम साहित्य लिखा जा रहा है। कह सकते हैं लगभग नहीं के बराबर लिखा जा रहा है। लिखना बहुत कठिन जो है। लेखक ने उस कठिनाई पर जय पाने की कोशिश की है। यह कम सफलता नहीं है। -सु०

नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद की
दो पुस्तकें

शरीरश्रम—लेखक गांधीजी, संग्राहक, रवीन्द्र केळेकर,
पृष्ठ संख्या ४० मूल्य २५ नये पैसे ।

प्रस्तुत पुस्तक में गांधीजी के उन लेखों का संग्रह है जो उन्होंने समय-समय पर 'यंग इंडिया', 'हरिजन' आदि पत्रों में लिखे थे। गांधीजी बौद्धिक श्रम से शरीर श्रम की जखुरत पर अधिक जोर देते थे। दिमागी काम करनेवालों

और अंग-मेहनत करनेवालों की तुलना में उन्होंने लिखा है, "दिमागी काम भी अपना महत्व रखता है और जीवन में उसका निश्चित स्थान है। लेकिन मैं तो शरीर-श्रम की जखुरत पर जोर देता हूँ। मेरा यह दावा है कि उस फर्ज से किसी भी मनुष्य को छुटकारा नहीं मिलना चाहिए। इससे मनुष्य के दिमागी काम की उन्नति ही होगी।" गांधीजी शरीर-श्रम को स्वेच्छा से करने पर ही जोर देते थे। उनका कहना था कि "शरीर-श्रम के नियम का जोर-जबरदस्ती से पालन किया जायगा तो उससे दरिद्रता, रोग और असंतोष की ही सृष्टि होगी। जब स्वेच्छा से उस नियम का पालन किया जायगा तब उससे अवश्य ही संतोष और आरोग्य का लाभ होगा।"

इस तरह इस छोटी-सी पुस्तिका में शरीर-श्रम के संबंध में काफी उपयोगी सामग्री दी है। पुस्तक पठनीय है।

ईसा—मेरी नजर में—लेखक-गांधीजी, संग्राहक-आर०
के० प्रभु, पृष्ठ संख्या ५५, मूल्य ३५ नये पैसे ।

गांधीजी ने ईसा को मानव-जाति का एक महान गुरु माना है। ईश्वर का एकमात्र पुत्र नहीं। उनका विश्वास था कि ईसा ने नये धर्म का उपदेश नहीं किया बल्कि नये जीवन का उपदेश किया। उन्होंने एक स्थान पर ईसा का ही वाक्य लिखा है, "हर ऐसा आदमी, जो मुझे प्रभु, प्रभु कहता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पायगा। प्रवेश केवल उसीको मिलेगा, जो मेरे स्वर्ग के पिता की ह्छा का पालन करता है।" उन्होंने ईसा को सत्याग्रहियों का सिर-ताज माना है। उन्होंने कहा है, "ईसा एक सम्पूर्ण साम्राज्य का विरोध करते-करते कांटों का ताज पहनकर सूली पर चढ़े और उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी। अगर मैं विदेशी सरकार का अहिंसक विरोध करता हूँ, तो मैं नम्रता से केवल इन महान गुरुओं के कदमों पर चलता हूँ।" उन्होंने ईसाई धर्म प्रचारकों, ईसाई मित्रों को ईसा और ईसाई धर्म के बारे में अनेक प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। अन्त में ईसा के कुछ उपदेश हैं जो किशोरलाल मशरूवाला की पुस्तक 'ईशु ख्रिस्त' से लिये हैं। ईसा के बारे में गांधीजी के क्या विचार थे, उसे जानने के लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी और पठनीय है।

—म०

हमारी राय

करना व कैसे ?

असाधारण विनोबा

विनोबा उन असाधारण व्यक्तियों में से हैं जिनके न केवल विचार ही तर्कशुद्ध होते हैं बल्कि आचार भी नीति-शुद्ध होते हैं। बापू ने अहिंसक समाज अर्थात् सर्वोदय को जहाँ से छोड़ा था वे उसे वहाँ से अपनी मौलिकता और स्वतन्त्रता के साथ आगे ले जाने की प्राण-पग से कोशिश कर रहे हैं। उनके विचार, सुझाव या योजनाओं के बारे में कोई यह आलोचना भले ही करे कि यह अव्याहारिक है; परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि वे मूलतः दोषपूर्ण हैं या दूषित हैं। दुनिया : नॉथिंग सक्मीड्स लाइक सक्मैस : के आधार को ले कर चलती है जबकि विनोबा तर्क-शुद्ध विचार के अनुसार नीति शुद्ध आचरण या कर्म करने में विश्वास रखते हैं। फल तो कई कारणों या सिद्धान्तों के सम्मेलन से निकलता है। चाहे कर्म का फल निकलता हुआ नहीं दिखाई दे, परन्तु कर्म मूलतः अच्छे हैं तो आज नहीं तो कल उसके अच्छे फल व्यक्ति को या समाज को अवश्य मिलेंगे—यह विनोबा की निष्ठा है। इसीके आधार पर वे अपनी भूदान की पद-यात्रा अथक चला रहे हैं और इसीके बीच नये-नये प्रयोग भी करते जाते हैं। अभी उन्होंने उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के डाकुओं की समस्या को हाथ में लेकर जो-कुछ कार्य किया उसे सबने सराहा है। अबतक २० डाकू आत्मसमर्पण कर चुके हैं। डाकुओं से आत्मसमर्पण कराने की कल्पना नई नहीं है। अजमेर राज्य और राजस्थान राज्य की ओर से भी ऐसी कल्पना को प्रोत्साहन मिला; परन्तु फल निकलना था विनोबाजी के हाथों। उनके जैसे महान् साधु की आवश्यकता थी इसे चरितार्थ करने के लिए। मेजर जनरल यदुनाथसिंह का सहयोग मिला। और भी अनुकूल साधन एकत्र हुए। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सरकारों ने भी अनुकूलता निर्माण की। ये सब इस श्रेय के पात्र हैं। पुलिस का काम केवल धर-पकड़ और सजा दिलाना ही नहीं है, बल्कि शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना है।

चोरी, डाका तथा बलवा आदि इस बात के सबूत हैं कि पुलिस शान्ति और सुरक्षा के कार्य में सफल नहीं हो पा रही है। क्योंकि उसकी ओर उसका इतना ध्यान नहीं है जितना कि वारदात हो जाने के बाद पकड़-धकड़ की ओर है। विनोबा के इस कार्य ने डाकू और पुलिस दोनों को सही दिशा दिखाई है, इसमें कोई शक नहीं।

अब रहा प्रश्न यह कि डाकुओं का आगे क्या होगा जबकि उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया है और सज्जन नागरिक के तौर पर जीवन-यापन करने का निश्चय किया है? तो, साफ है कि हर पक्ष की ओर से उनका मार्ग सरल होना चाहिए। और उनके साथ ऐसा ही व्यवहार होना चाहिए जिससे कि दूसरे डाकुओं को आत्मसमर्पण करने का प्रोत्साहन मिले। कानून के अनुसार डाकुओं के खिलाफ कार्यवाही भले ही हो, परन्तु सारी कार्यवाही का फल ऐसा निकलना चाहिए, जिससे कि डाकुओं को सज्जन नागरिक बनने की ही प्रेरणा मिले। हमारा ख्याल है कि भिन्न-भिन्न राज्यों के सर्वोच्च पुलिस अधिकारी और नेता यदि प्रयत्न करें तो उनके राज्यों या क्षेत्रों के डाकू भी आत्मसमर्पण कर सकेंगे और इससे पुलिस के एक महान् कार्य की सिद्धि होगी।—ह० उ०

मुसीबत से सबक

चीन के साथ भारत के सीमा-संबंधी विवाद को हमारा देश ही नहीं, सारा संसार बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देख रहा है। नेहरूजी ने उस बारे में विस्तृत चर्चा करने के लिए चीन के प्रधान मंत्री श्री चाऊ एन-लाई को भारत आने का निमंत्रण दिया था। वह आये, चर्चाएं हुईं; पर कोई परिणाम नहीं निकला। नेहरूजी ने शुरू से ही स्पष्ट कह दिया था कि लद्दाख में चीन ने जो भाग अपने कब्जे में कर लिया है, उसे छोड़ दे, तब बात आगे बढ़ाई जा सकती है। श्री चाऊ एन-लाई उसके लिए तैयार नहीं हुए। इतना ही नहीं, बल्कि हड़पी हुई भूमि को वह आग्रहपूर्वक अपनी ही बताते रहे। नतीजा जो होना था, वही हुआ। करोड़ों लोगों

की आशाओं पर पानी फिर गया।

इसमें अब कोई सन्देह नहीं रह गया है कि सीमा को लेकर चीम की नीयत साफ नहीं है। वह वहां अपने पैर जमा रहा है और आक्रांता बनकर भारत की अधिक-से-अधिक भूमि को अपने हाथ में लेने का सतत प्रयत्न कर रहा है। हाल ही में प्राप्त समाचारों से मालूम हुआ है कि विवाद के उठ खड़े होने के बाद उसने लगभग २०० मील की सड़क और बना ली है। इसका तात्पर्य यही है कि वह अपनी नीति पर कायम है और अपने विस्तार के लिए बड़ी मुस्तैदी से कदम उठा रहा है।

आगे चलकर यह विवाद क्या रूप धारण करेगा, यह कहना कठिन है, लेकिन मानना होगा कि चीन ने अपनी अदूरदर्शिता से अपने पड़ोसी राष्ट्र के हितों पर गहरी चोट करके हजारों वर्षों के सांस्कृतिक संबंधों को बिगाड़ने का निन्दनीय प्रयास किया है। वह यह भूल गया कि राजनीति के तूफान पानी के क्षणभंगुर वगुले की भांति होते हैं, जबकि सांस्कृतिक संबंधों की जड़ें बड़ी मजबूत होती हैं। करोड़ों भारतवासियों की आत्मीयता खोकर यदि उसने हमारे देश का कुछ हिस्सा दबा भी लिया तो अंततोगत्वा वह फली-भूत होनेवाला नहीं है।

हम पहले भी लिख चुके हैं, चीन का यह कदम हमारे देश के लिए एक भारी चेतावनी और चुनौती है। इस मसले ने देश की चेतना को असामान्य रूप से उभार दिया है और सारे त्रायमंडल को विक्षुब्ध बना दिया है; लेकिन यह उवाल तब सार्थक होगा, जबकि सारा देश आगे के लिए अपने आंतरिक तथा बाहरी मामलों में सुसंगठित हो जायगा। हमारे देश में आज विभिन्न दल अपनी-अपनी ढपली बजाकर अपना-अपना राग अलाप रहे हैं; कांग्रेस, सरकार की अनु-गामिनी बनकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व और उपयोगिता खो बैठी है; भ्रष्टाचार जोरों से बढ़ रहा है; लोगों में पदों के लिए मोह पैदा होगया है—ये तथा ऐसी ही अन्य बुराइयां, हमारी आवाज को कमजोर कर रही हैं और हमारे आंतरिक अंगड़े हमारे देश की बुनियाद को हिला रहे हैं। आजादी की लड़ाई में जो कुल कंधे-से-कंधा भिड़ाकर लड़े थे, वे आज अपनी शक्ति का एक-दूसरे को गिराने में अपव्यय कर रहे हैं।

किसी भी देश की सीमाओं की रक्षा फौजें नहीं कर सकतीं, उसके लिए आवश्यकता है सुसंगठित, नीतिनिष्ठ नागरिकों की—ऐसे तेजस्वी व्यक्तियों की, जिनकी ओर कोई निगाह उठाकर भी देखने का साहस न कर सके।

यह संतोष की बात है कि चीन और भारत, दोनों देशों के प्रधान मंत्रियों ने समझौते के मार्ग को एकदम बंद नहीं कर दिया है। दोनों देशों के अफसर एक-दूसरे के दावों की जांच करेंगे और आवश्यकता हुई तो दोनों प्रधानमंत्री पुनः मिलेंगे। सीमा का यह विवाद आज नहीं तो कल अवश्य समाप्त होगा, लेकिन आगे के लिए ऐसी अप्रिय और अशोभनीय घटनाओं की संभावना को समाप्त करने के लिए देश की आंतरिक स्थिति का सुदृढ़ होना बहुत ही जरूरी है।

बहुत-से लोग आवेश में कहते हैं कि चीन से लड़कर हमें अपनी भूमि को वापस ले लेना चाहिए। हमारी दृष्टि में ऐसा करना उचित नहीं है। लड़ाई का फल दोनों में से किसी भी देश के लिए शुभ नहीं होगा और उससे विष के ऐसे बीज जम जायंगे, जिन्हें भविष्य में निर्मूल करना बड़ा कठिन होगा। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि लड़ाई अब दो देशों के बीच सीमित नहीं रह सकती। वह विश्व-युद्ध के रूप में परिणत हो जायगी और महायुद्ध की विभीषिका को हम सब अच्छी तरह से जानते हैं।

ऐसी दशा में शान्तिपूर्वक इस समस्या का हल निकालना श्रेयस्कर होगा। भारत ने सदा से अहिंसात्मक नीति का अवलम्बन किया है। आगे भी वही नीति कल्याणकारी सिद्ध होगी।

राजभाषा और हमारा दायित्व

राज-भाषा-संबंधी संसदीय समिति की रिपोर्ट को, जो ८ फरवरी १९५६ को राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद को प्रस्तुत की गई थी, राष्ट्रपति ने स्वीकृति प्रदान करके उसे कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों को आवश्यक आदेश जारी किये हैं। समिति की सिफारिशों के अनुसार सन् १९६५ तक अंग्रेजी केंद्र की मुख्य भाषा रहेगी और हिन्दी का व्यवहार गौण भाषा के रूप में किया जायगा, लेकिन १९६५ के बाद हिन्दी प्रधान राजभाषा हो जायगी और अंग्रेजी का प्रयोग गौण अथवा सहयोगी भाषा के रूप में अनिश्चित समय तक होता रहेगा।

क्या व कैसे ?

: २३५ :

सम्पादकीय

राष्ट्रपति ने अपने आदेश में इस बात को स्वीकार किया है कि अंततोगत्वा शासन के सभी क्षेत्रों में हिन्दी को स्थान देना होगा, सर्वोच्च न्यायालय को अपना काम हिन्दी में करना होगा, संसद को विधि-विधान हिन्दी में बनाने होंगे, प्रतिरक्षा मंत्रालय की शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी को अपनाना होगा, पुराने विधि-विधानों के हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करने होंगे, आदि-आदि। साथ ही उन्होंने विभिन्न विषयों की शब्दावली तैयार करने के लिए शिक्षा-मंत्रालय को आदेश दिया है।

पाठक जानते हैं कि अंग्रेजों के शासन-काल में अंग्रेजी को केन्द्र और प्रांतों में राजभाषा बना दिया गया था और उसकी जड़ जमाने के लिए अंग्रेजी शासन ने भारी उद्योग किया, लेकिन राजभार के गौरवशाली पद पर आसीन होने पर भी अंग्रेजी विदेशी भाषा ही रही, जन-सामान्य द्वारा ग्रहण न की जा सकी। पर मानना होगा कि शासन में उसकी जड़ें इतनी गहरी चली गई कि आज उसे हटाकर भारत की लोक-भाषा हिन्दी को उस स्थान पर प्रतिष्ठित करने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है।

देश के स्वतंत्र होने के बाद देशी भाषाओं की इस मांग को कि उनके क्षेत्रों में शिक्षा तथा शासन का कार्य उन्हींके माध्यम से होना चाहिए, विशेष बल मिला। लेकिन जब देश के लिए एक सामान्य राजभाषा का प्रश्न उठा तो भारतीय संविधान ने यह निश्चित कर दिया कि केन्द्रीय सरकार हिन्दी को राजभाषा स्वीकार करे; लेकिन सुविधा की दृष्टि से यह भी तय कर दिया कि १५ वर्ष तक अंग्रेजी अपने स्थान पर बनी रहे और हिन्दी का प्रयोग उसके बाद हो।

चाहिए तो यह था कि इन पंद्रह वर्षों में तत्परतापूर्वक हिन्दी को उसका दर्जा दिलाने का प्रयत्न किया जाता, लेकिन वैसा हुआ नहीं। शासन में अंग्रेजी जाननेवालों का प्राधान्य होने के कारण हिन्दी को गति नहीं मिली। इतना ही नहीं, कुछ अहिन्दी-भाषी प्रदेशों से, जहाँ हिन्दी सीखने का कार्य बड़ी लगन से हो रहा था, आज भी हो रहा है। कुछ निहित स्वार्थों ने हिन्दी के विरुद्ध स्वर ऊंचा किया। परिणाम यह हुआ कि संविधान को बने दस वर्ष हो जाने पर भी अंग्रेजी अपनी जगह पर ज्यों-की-त्यों बैठी है और हिन्दी की उपेक्षा हो रही है।

राष्ट्रपति के इस आदेश के बावजूद कि गृह-मंत्रालय योजना बनाकर इस प्रकार कार्य करे कि राजभाषा के रूप

में हिन्दी का अधिकाधिक उपयोग हो सके, हमें नहीं लगता कि काम तेजी से होगा; कारण कि सन् १९६५ तक अंग्रेजी के उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। नतीजा यह होगा कि पांच वर्ष और निकल जाने पर पुराना राग अलापा जायगा कि हिन्दी पर अमल कैसे हो, उसमें इतनी क्षमता ही नहीं है।

हमें यह देखकर आश्चर्य-मिश्रित खेद होता है कि दस वर्ष में हम लोग विभिन्न विषयों की सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली तक तैयार नहीं कर पाये और वैज्ञानिक, प्राविधिक तथा अन्य विषयों पर आज भी हिन्दी में प्रामाणिक साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया गया। साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट आदि संस्थाओं पर सरकार लाखों रुपया खर्च कर रही है, लेकिन ये तथा ऐसी ही अन्य संस्थाएं अबतक कोई ठोस कार्य करके नहीं दिखा सकीं।

हमें यह कहने में भी संकोच नहीं कि हिन्दी की अखिल भारतीय सार्वजनिक संस्थाएं भी इस दिशा में कोई विशेष कार्य नहीं कर सकीं। आपसी झगड़ों में हिन्दी के ध्येय को बराबर क्षति पहुँचती रही।

जो हो, अब फिर अवसर आया है। सरकार तथा हिन्दी-सेवियों के लिए अगले पांच वर्ष अग्नि-परीक्षा के हैं। सरकार को चाहिए कि विगत वर्षों में जाने-अनजाने उससे जो प्रमाद बन पड़ा है, उसका परिमार्जन करे। हिन्दी-सेवियों को चाहिए कि वे संगठित होकर हिन्दी के साहित्य को इतना समृद्ध कर दें कि किसी को यह कहने का मौका न रहे कि हिन्दी में राजभाषा बनने की पात्रता नहीं है। हिन्दी के प्रस्तुत साहित्य का सिंहावलोकन करके वे देख लें कि उसके कौन-कौन-से अंग दुर्बल हैं और उन्हें परिपुष्ट करने में जी-जान से जुट जायें।

भाषा के प्रश्न का राष्ट्र के जीवन के साथ गहरा संबंध है। बिना अपनी राजभाषा के देश की जड़ मजबूत नहीं हो सकती। हिन्दी को अपने व्यवहार द्वारा हम जितनी जल्दी राजभाषा के पद पर आसीन करेंगे, उतना ही देश का लाभ होगा। हिन्दी लोकभाषा है और लोकमत को अब उसकी उपेक्षा सहन नहीं करनी चाहिए।

नवोदित राज्यों का अभिनंदन

एक लम्बे और अप्रिय विवाद का अंत हो गया और

अखिर १ मई से गुजरात तथा महाराष्ट्र के पृथक् राज्य बन गये। गुजरात और महाराष्ट्र के लिए तो यह हर्ष का अवसर है ही, सारे देश के लिए भी यह अभिनंदनीय है; क्योंकि द्विभाषी बम्बई राज्य के विघटन तथा बंबई नगर के प्रश्न पर जो विक्षोभ उत्पन्न हो गया था, उसने सारे देश को चिन्ता में डाल दिया था।

गृहमंत्री श्री पंतजी ने दोनों राज्यों की सफलता की कामना करते हुए आशा व्यक्त की है कि "ये भारत-संघ के दो रत्न होंगे", वस्तुतः दोनों ही राज्यों को अपने को रत्न बनाकर दिखाने का अवसर आ गया है। गुजरात और महाराष्ट्र दोनों की ही महान परम्पराएं हैं। गुजरात गांधीजी और सरदार पटेल की जन्मभूमि है और महाराष्ट्र लोकमान्य तिलक जैसे महान नेता की। अब जब कि दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व हो गया है, उनपर यह दायित्व आ गया है कि वे अपने को आदर्श राज्य का नमूना बनाकर दिखावें।

आज हमारा देश बड़ी नाजुक स्थिति से गुजर रहा है। उसके सामने बहुत-सी आंतरिक तथा बाह्य समस्याएं हैं। उनको सुलझाये बिना देश की बुनियाद पक्की नहीं हो सकती। देश के सामने एक सबसे बड़ा सवाल यह भी है कि वह संगठित हो। महाराष्ट्र राज्य का बंबई में उद्घाटन करते हुए पं० नेहरू ने ठीक ही कहा है, "संयुक्त महाराष्ट्र संयुक्त भारत में ही सुदृढ़ रह सकता है।"

आज भारत के प्रत्येक राज्य में झगड़े चल रहे हैं।

सत्तात्मक राजनीति, पद-लोलुपता तथा वैयक्तिक महत्वाकांक्षा के भंवर में राज्यों की नाव डंवाडोल हो रही है। आयेदिन कभी कहीं तो कभी कहीं, उखाड़-पछाड़ होती रहती हैं और उसकी प्रतिक्रिया समूचे देश पर होती है।

इन नवोदित राज्यों का अभिनंदन करते हुए हम आशा करते हैं कि वे अपने संगठन, अपनी शासन-व्यवस्था तथा कार्य-प्रणाली से अन्य राज्यों का मार्ग-दर्शन करेंगे। गुजरात को गांधीजी की महानता और सरदार पटेल की संगठन-शक्ति की विरासत मिली है तो महाराष्ट्र को लोकमान्य तिलक की संकल्प-निष्ठा तथा दृढ़ता। अपनी-अपनी मूल्यवान विरासत को सामने रखकर यदि कार्य किया गया तो निस्संदेह वे छोटी-बड़ी बहुत-सी प्रचलित बुराइयों से बच जायेंगे और सारे देश के सामने एक ऊंचा आदर्श उपस्थित कर सकेंगे।

बंबई के निकल जाने से गुजरात को कुछ अधिक परिश्रम करना पड़ेगा, पर श्रम और व्यवहार-बुद्धि के लिए-उनकी क्षमता विख्यात है। हमें विश्वास है कि थोड़े ही समय में वे अपने राज्य को स्वावलम्बी बना लेंगे।

दोनों राज्यों की वागडोर जिन हाथों में आई है, वे बड़े ही समर्थ हैं। श्री चव्हाण और श्री जीवराज मेहता की योग्यता, कार्यक्षमता तथा विवेकशीलता को सारा देश जानता है। उनके नेतृत्व में दोनों राज्य तेजी से प्रगति करें, ऐसी हमारी कामना है।

—प्र०

‘जीवन-साहित्य’ के पिछले विशेषांक थोड़े ही बचे हैं जिन्हें चाहिए शीघ्र मंगालें।

जमनालाल स्मृति अंक ॥)

प्राकृतिक चिकित्सा अंक २)

बुद्ध-जयंती अंक १)

विश्व-शांति अंक १॥)

खादी-ग्रामोद्योग अंक १)

सर्वोदय-संदेश अंक १)

—व्यवस्थापक

‘मंडल’ की ओर से

अच्छे साहित्य को प्रोत्साहन

हिन्दी में आज बड़ी तेजी से साहित्य निकल रहा है। विभिन्न विषयों की नई-नई पुस्तकें बराबर प्रकाशित होती रहती हैं। उनमें बहुतों के पीछे आर्थिक लाभ की दृष्टि रहती है तो कुछ पुस्तकें ऐसी भी होती हैं, जो ऊंचे उद्देश्य को सामने रखकर निकाली जाती हैं। ‘मंडल’ एक सार्वजनिक संस्था है। उसकी स्थापना साहित्य के प्रकाशन के लिए हुई है। मुनाफा कमाना उसका ध्येय नहीं है। विगत ३५ वर्षों में उसने सैकड़ों पुस्तकें पाठकों को सुलभ की हैं और उसका निरंतर प्रयत्न रहा है कि अच्छी-से-अच्छी पुस्तकें सस्ते-से-सस्ते मूल्य में पाठकों को प्राप्त हों।

लेकिन अच्छे साहित्य के प्रकाशन का प्रयास सफल तब हो सकता है, जबकि वह साहित्य व्यापक रूप से प्रसारित हो। हमें खेदपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दी में अभी तक अच्छी पुस्तकों को खरीदकर पढ़ने की वृत्ति उत्पन्न नहीं हुई है। हम उसके कारणों में नहीं जाना चाहते; लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि अब तो पाठकों की संख्या ही बड़ी सीमित है; दूसरे जो पढ़ते हैं वे प्रायः पुस्तकें खरीद कर नहीं पढ़ते। नतीजा यह होता है कि अच्छी-से-अच्छी पुस्तकों की थोड़ी ही प्रतियां निकल कर रह जाती हैं।

पाठकों से हम कई बार अनुरोध कर चुके हैं और अब फिर करते हैं कि वे अच्छी पुस्तकों को पूरा प्रोत्साहन दें। समय-समय पर वे अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं की दुकानों पर जाकर नई पुस्तकों की जानकारी रखें और जो पुस्तकें उन्हें पसंद आवें, उनकी चर्चा अपने मित्रों में करें। इतना

ही नहीं, अपने यहां की शिक्षा-संस्थाओं तथा पुस्तकालयों से आग्रह करें कि वे उन पुस्तकों को खरीदें। हिन्दी-भाषियों की संख्या बीस-बाईस करोड़ है। यदि अच्छे साहित्य के पढ़ने की रुचि पैदा हो जाय तो कोई कारण नहीं कि पुस्तक के निकलते ही उसकी हजारों प्रतियां न खप जायं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पुस्तकों की जितनी अधिक प्रतियां निकलेंगी, उतना ही उनका मूल्य भी कम हो जायगा।

‘मंडल’ पाठकों की सेवा के लिए सदा प्रस्तुत है। आप उसकी सेवाओं का लाभ अवश्य लेने की कृपा करें। उसका सूचीपत्र मंगाकर आप देखते रहें कि उसने नई-नई कौन-सी पुस्तकें निकाली हैं और अपने यहां के पुस्तक-विक्रेताओं से मांग करें कि वे उन पुस्तकों को अपने यहां मंगाकर रखें। अपने साथियों तथा संबंधियों को प्रेरणा दें कि वे उन पुस्तकों को पढ़ें।

हाल ही में ‘मंडल’ ने कई नई पुस्तकें निकाली हैं। उनकी सूची कवर ३ पर दी गई है। ये सभी पुस्तकें ज्ञानवर्द्धक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हैं और उन्हें परिवार का प्रत्येक सदस्य—बालक, स्त्री, पुरुष—सब निस्संकोच पढ़ सकते हैं और उनके पठन-पाठन से लाभ उठा सकते हैं।

एक बात और। मंगल-अवसरों पर हम अपने प्रियजनों को कुछ-न-कुछ भेंट देते हैं। यदि हम पुस्तकें भेंट देने की परिपाटी आरंभ कर दें तो वह बड़ी लाभदायक होगी। घर में पुस्तकें आवेंगी तो पढ़ने का चाव पैदा होगा। रुचि जाग्रत होने पर हो नहीं सकता कि उस घर में एक छोटा-मोटा पुस्तकालय स्थापित न हो जाय।

—मंत्री

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

पुस्तक जगत

(मासिक)

* 'प्रकाशन कला', 'भारत भारती', 'विश्व भारती', 'कसौटी' और 'वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण' आदि सुगठित स्तम्भों में विशिष्ट साहित्यकारों की विवेचना ।

* विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन ।

* प्रकाशक, लेखक, पाठक और विक्रेता का सम्मिलित मंच ।

मूल्य : वार्षिक—३) एक अंक २५ न० पं०

'पुस्तक जगत', ज्ञानपीठ, पटना—४

साहित्यिक सांस्कृतिक कलात्मक मासिक

राष्ट्रवाणी

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे द्वारा प्रकाशित यह मासिक पत्रिका हिंदी की सम्मानित मासिक पत्रिकाओं में अपना एक विशेष स्थान रखती है। हिंदी, मराठी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों का सहयोग इसके लिए प्राप्त है। भारतीय भाषाओं के साहित्य के नवीनतम अंतः-प्रवाहों का प्रतिबिम्ब इसमें पाया जाता है। ग्रंथालयों, विद्यालयों, कॉलेजों और साहित्यिक संस्थाओं के लिए अत्यंत उपयुक्त ।

किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं। हर महीने की पहली तारीख को अंक प्रकाशित होता है ।

[सालाना चंदा चार रुपये]

'राष्ट्रवाणी' में विज्ञापन देना लाभप्रद है ।

राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ

पो. बाँ. ५६०, पुणे २.

सबसे सस्ता और सुन्दर सचित्र मासिक

जागृति

संस्थापित १९४८

जिसे राष्ट्रभाषा के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों, कवियों और कहानीकारों का सहयोग प्राप्त है ।

चार कहानियाँ, चार कविताएँ, एक एकांकी ६ लेख,

तिरंगा आवरण अनेकों इकरंगे चित्र

५२ से ६४ पृष्ठ की सम्पूर्ण छपाई आर्ट पेपर पर

इसपर भी मूल्य केवल २५ नये पैसे

एजंटों को ५ से १०० प्रतिशतों पर २५ प्रतिशत और इससे ज्यादा पर ३३^१/_३ प्रतिशत कमीशन दिया जाता है । डाक-खर्च प्रकाशकों के जिम्मे । नमूने की प्रति के लिए आज ही लिखें ।

वेद प्रकाश

व्यवस्थापक, 'जागृति' कार्यालय,

लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब, चंडीगढ़

युगप्रभात

केरल का हिन्दी पाक्षिक

भावात्मक एकता भौगोलिक एकता की गारंटी है और 'युगप्रभात' पिछले ३ सालों से भारत की भावात्मक एकता को बढ़ावा देनेवाली विविध रचनाओं को, जिनमें दक्षिण की चार मुख्य भाषाओं से अनूदित सामग्री की प्रधानता है, प्रकाशित कर हिन्दी को भारतीय प्रतिनिधि भाषा बनाने की निरंतर चेष्टा कर रहा है। नवम्बर से 'युगप्रभात' का चौथा साल शुरू हो रहा है। एक प्रति का दाम २५ नये पैसे।

वार्षिक चन्दा ६ रुपये

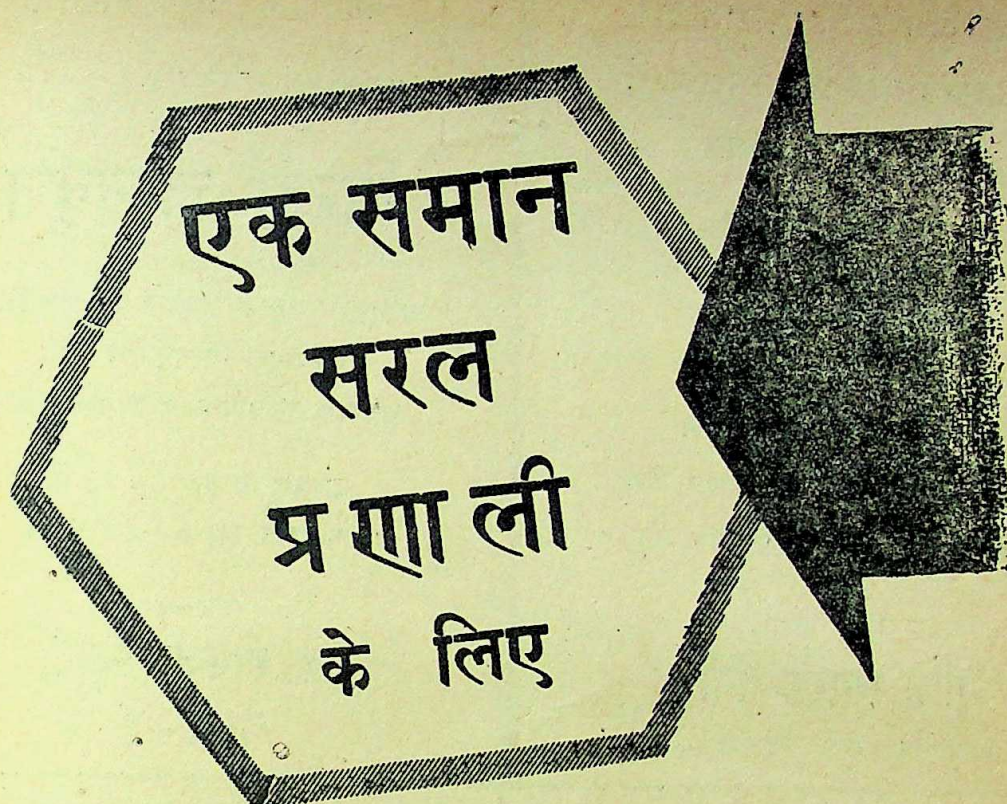
छमाही तीन रुपये

एजेन्सी के लिए लिखें—

मैनेजर—

युगप्रभात

कालिकट (केरल)

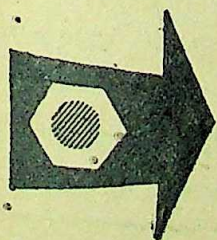


देश भर में नाप-तौल की एक समान, सरल प्रणाली लागू करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक और महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है।

१ अक्टूबर, १९५८ को राज्यों और केन्द्र शासित क्षेत्रों के कुछ चुने हुए इलाकों में मेट्रिक बाटों का प्रयोग चालू किया गया था। अब इस वर्ष, अक्टूबर मास से इन इलाकों में केवल मेट्रिक बाट ही कानूनी रूप से मान्य होंगे।

अप्रैल, १९६० से जम्मू-कश्मीर के अतिरिक्त बाकी सारे देश में भी मेट्रिक बाटों का प्रयोग चालू कर दिया गया है।

अप्रैल, १९६२ से देश भर में मेट्रिक बाटों का प्रयोग अनिवार्य कर दिया जायेगा।



मेट्रिक प्रणाली

सरलता व एकरूपता के लिए

भारत सरकार द्वारा प्रचारित

गांधी विचार-दर्शन पर प्रकाश

• डालनेवाली गांधी स्मारक

निधि द्वारा प्रकाशित

त्रैमासिक पत्रिका

गांधी मार्ग

सम्पादक—श्रीमन्नारायण

संयुक्त सम्पादक—राजबहादुर सिंह

मूल्य वार्षिक—३), प्रति अंक १)

गांधी मार्ग

गांधी स्मारक निधि

राजघाट, नई दिल्ली—१

मगवाइय : ग्राहक बनिये !

बालकथाओं का नवीन पत्र —

हिन्दी ज्ञानदूत

प्रतिमास पहली तारीख को प्रकाशित

सम्पादक—भानुकुमार जैन

सहायक सम्पादक—बलवंतसिंह गौर

वार्षिक ४ रु० ८० न. पै.

एक प्रति का ००-८० न. पै.

पता —

११ होमजी स्ट्रीट,

बम्बई—१

सम्पदा

उद्योग • व्यापार • कृषि और खाद्य
बैंक व बीमा • श्रम-कल्याण • पंच-
वर्षीय योजनाएं

देश की अर्थनीति को प्रभावित करनेवाली
स्वतंत्र विचारों की हिन्दी मासिक पत्रिका।

छात्रों और शिक्षण-संस्थाओं के लिए
अनिवार्य !

वार्षिक ८) ; शिक्षण संस्थाओं से ७)

आशा है, आपने 'सम्पदा' देखी होगी। यदि
नहीं, तो नमूना मंगाने के लिए ७५ न. पै. के
डाक टिकट भेजना आवश्यक है; किन्तु इस
विज्ञापन का कटिंग नमूने के आवेदन के साथ
भेजने पर एक प्रति निःशुल्क भेजी जायगी।

अशोक प्रकाशन मन्दिर

२८/११ वाशिंगटननगर, दिल्ली—६

‘आर्थिक-समीक्षा’

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनीतिक
अनुसंधान विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान सम्पादक :

श्री सादिक अली

सम्पादक :

सुनील गुहा

१६ जनवरी १९६० को बृहदाकार

प्रकाशित

‘बंगलौर कांग्रेस अधिवेशन
विशेषांक’

नेताओं एवं विशेषज्ञों के विद्वत्तापूर्ण लेखों
से ओत-प्रोत

वार्षिक चंदा ७) रु० एक प्रति का ३० नये पैसे

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,

७, जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली

हमारे नवीन प्रकाशन

इतिहास के महापुरुष (इतिहास)	मैं इनका ऋणी हूँ (संस्मरण)
जवाहरलाल नेहरू २.००	इंद्र विद्यावाचस्पति २.००
राजाजी की लघु कथाएँ (कहानियाँ)	सुभाषित-सप्तशती
राजगोपालाचार्य १.५०	मंगलदेव शास्त्री २.५०
रूस में छियालीस दिन (यात्रा) यशपाल जैन ३.००	कोई शिकायत नहीं (संस्मरण)
मनुष्य का बचपन (मानव की कहानी)	कृष्णा हठीसिंग २.५०
देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय १.००	मानव-अधिकार (इतिहास)
	विष्णु प्रभाकर : राजदेव त्रिपाठी १.००
	शारदीया (नाटक)
	जगदीशचंद्र माथर १.५०

बाल-साहित्य

जब दीदी भूत बनी (विष्णु प्रभाकर) १.००	भालू बोला (राघेश्याम झिंगन) १.००
बुनिया के अचरज (मुरारिलाल शर्मा) १.००	सेवा करे सो मेवा पावे (यशपाल जैन) १.००
मूरखों की बुनिया (नारायणदत्त पांडे) १.००	बहादुरी का भूत (अनु० विश्वनाथ गुप्त) १.५०

समाज-विकास-माला

मूल्य प्रत्येक का ३७ न० पै०

संत नामदेव (श्रीपाद जोशी)	देवता (श्रीकृष्ण)
सेवामूर्ति ठक्करबापा (बाबूराव जोशी)	बंगाल का बीरबल (स्नेहलता)
वन-संपदा (रामचंद्र तिवारी)	शंकर देव (रजनीकांत)
ईश्वरचंद्र विद्यासागर (राजाराम जैन)	विन्नोवा के पावन प्रसंग (सुरेश राम)
जगन्नाथपुरी (यशपाल जैन)	सती अनसूया (देवराज 'दिनेश')
गुरुवायूर (श्रीपाद जोशी)	बेताल-पच्चीसी, भाग १ (यशपाल जैन)
झलकारी (शंकर वाम)	बेताल-पच्चीसी, भाग २ "
पशु-पक्षी (सुरेशसिंह)	रामानुजाचार्य (विष्णुदत्त 'विकल')
लल्लेश्वरी (शंभुनाथ भट्ट)	यमुना की कहानी (विष्णु प्रभाकर)
समय का मोल (जगन्नाथ प्रभाकर)	भरत (देवराज 'दिनेश')

पुनर्मुद्रण

हिन्दुस्तान की कहानी (जवाहरलाल नेहरू) ८.००	बापू की कारावास-कहानी (सुशीला नैयर) ६.००
--	--

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

कृष्णा हठीसिंग

हमारा
नवीन
प्रकाश

कोई शिकायत नहीं



कोई शिकायत नहीं

सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

पठनीय
तथा
ज्ञानव

नेहरू-परिवार के छोटे-बड़े अनेक, व्यक्तियों के जीवन के सजीव तथा रोचक संस्मरण।
सुन्दर छपाई: बढ़िया आवरण: पृष्ठ संख्या २००, अनेक चित्र : मूल्य सजिले केवल ढाई रुपये।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

अहि

मार्तण्ड उपाध्याय, संत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।
मार्तण्ड उपाध्याय, संत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

वर्ष
अं

रजिस्ट्रार
बो-२२४

अहिंसा
प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सितम्बर १९६०

जीवन

साहित्य

सम्पादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन



यह अवसर

अहिंसा को सिद्ध करके दुनिया को प्रेम का संदेश देने और प्रेम के रास्ते से मसले हल करने को राह दिखाने का एक मौका भारत को मिला है। ऐसा मौका पहले कभी नहीं मिला था। अतः स्वराज्य का उपयोग करना चाहिए, न कि उसकी सत्ता के टुकड़े हमें बांट लेने चाहिए। अपना-अपना स्वार्थ साधने का यह अवसर मिला है, ऐसा हमें नहीं सोचना चाहिए।

—विनोबा

अहिंसक

नवरचना का मासिक

वर्ष : इक्कीस
अंक : नौ

वार्षिक मूल्य : चार रुपये
एक प्रति का चालीस नये पैसे

विषय-सूची

- | | | | |
|---|-----------------------------|--|-------------------------------|
| १. शान्त क्रान्ति | --विनोबा ३२१ | ११. मालवी विवाह | --चन्द्रशेखर दुवे ३३९ |
| २. विद्रोह | --अनन्तकुमार 'पाषाण' ३२३ | १२. रात | --खलील जिब्रान ३४२ |
| ३. दो श्रेष्ठ पादरी | --विष्णुदयाल ३२४ | १३. धूल का फूल | --सुमेरसिंह दइया ३४४ |
| ४. पहाड़ों का पितामह अरावली | --काका कालेलकर ३२५ | १४. योग्यतार्जन और कार्य संलग्नता | --हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि' ३४७ |
| ५. श्री धीरेन्द्र मजूमदार : एक स्वतन्त्र विचारक | --बनारसीदास चतुर्वेदी ३२७ | १५. मालवी के संत-गीत | --तेजकुमार बंब 'निर्मोही' ३४८ |
| ६. आगमन | --दीनदयाल ओझा ३३० | १६. विकेन्द्रीकरण से ही समस्याओं का हल | --बनारसीप्रसाद शर्मा ३४९ |
| ७. बौद्ध प्रतिमाओं की पृष्ठभूमि में | --प्रशान्तकुमार जायसवाल ३३१ | १७. हम और विनोबा | --भवानीप्रसाद मिश्र ३५१ |
| ८. युगपुरुष विनोबा और उनका संदेश | --विनय अवस्थी ३३३ | १८. कसौटी पर | --समालोचनाएं ३५२ |
| ९. एक शुद्ध दान | --गोपालकृष्ण मल्लिक ३३६ | १९. क्या व कैसे ? | --हमारी राय ३५३ |
| १०. अहिंसा की आठ उपमाएं | --नरेन्द्रकुमार भनावत ३३७ | २०. 'मंडल' की ओर से | --मंत्री ३५७ |

हमारा आगामी विशेषांक

टात्सटाथ-अंक

अनेक भारतीय तथा विदेशी साहित्यकारों तथा विद्वानों की मूल्यवान रचनाओं से परिपूर्ण होगा। उन्हें पढ़कर पाठकों का ज्ञान तो बढ़ेगा ही, जीवन में प्रेरणा भी मिलेगी।

विशेषांक में

सौ पृष्ठ होंगे, और उसका मूल्य केवल १।।) होगा, पर 'जीवन-साहित्य' के ग्राहकों को उसके लिए अतिरिक्त कुछ नहीं देना पड़ेगा।

सत्साहित्य के प्रेमियों को पत्र का ग्राहक बनाइये, वार्षिक शुल्क केवल चार रुपये है। ग्राहकों को 'सस्ता साहित्य मण्डल' की पुस्तकों पर कमीशन की भी सुविधा हो जाती है।

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, बिहार तथा पंजाब राज्य-सरकारों द्वारा कालेजों, लाइब्रेरियों तथा उत्तरप्रदेश की ग्राम-पंचायतों के लिए स्वीकृत

जीवन साहित्य

वर्ष २१]

सितम्बर, १९६०

[अंक ९]

शान्त क्रान्ति

विनोबा

अपना देश अधिकतर अशिक्षितों का देश है। यहां कुछ थोड़े ही लोग शिक्षित हैं। इसलिए शिक्षितों पर भारी जिम्मेदारी आती है। अपने अशिक्षित भाइयों को सब प्रकार की मदद पहुंचाना उनका कर्तव्य है। हमारा अशिक्षित समाज ही अधिक काम करनेवाला समाज है। जीवन की लगभग सभी आवश्यक वस्तुएं वही पैदा करता है। उसे शिक्षा का लाभ नहीं मिल रहा है, पर उसकी सेवा से हम सब लाभ उठा रहे हैं। आज शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच एक दीवार-सी खड़ी हो गई है। शिक्षा के ढंग में परिवर्तन करने की बात सरकार और समाज ने मान ली है, पर अभी-तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अंग्रेजों को अपना राज्य चलाने के लिए नौकरवर्ग की जरूरत थी। उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धति के उद्देश्यों में यह बात साफ-साफ लिखकर भी रखी थी। आज ५५ लाख नौकर ऐसे हैं, जिन्हें सरकार ने देश की सेवा के लिए लगा रखा है। पचपन लाख नौकर यानी पचपन लाख परिवार। हिन्दुस्तान में कुल ७ करोड़ परिवार रहते हैं। इनकी सेवा के लिए पचपन लाख नौकर नियुक्त हैं। मतलब यह हुआ कि इस देश में १३ परिवारों पर एक सरकारी सेवक रखा गया है। इतना बड़ा सेवक-समाज शायद ही कहीं और हो! लेकिन असल सेवा करने-वाले तो दूसरे ही हैं। जो अशिक्षित हैं, वे ही सेवा करते हैं। पर वे समझते हैं कि हम तो अपना पेट पालने के लिए मजदूरी कर रहे हैं। वे सेवक बनने का दावा नहीं करते।

इधर सरकारी नौकर तो अपनेको लोक-सेवक (पब्लिक सर्वेंट) कहते भी हैं। इस तरह हमारे देश में सेवक कहलानेवाला एक वर्ग है और सेवा करनेवाला दूसरा। इन पचपन लाख सिविल सेवकों के अलावा पांच लाख मिलिटरी सेवक और हैं। इनमें से ज्यादातर लोग उत्पादन का नहीं, विभाजन का काम करते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में वे 'मल्टिप्लिकेशन' नहीं, 'डिविजन' करते हैं। इनके रहन-सहन का दरजा मजदूरी करनेवालों के दरजे से ऊंचा होता है।

इस तरह हमारे यहां जिनके पास विद्या है, उनके पास उत्पादन की शक्ति नहीं है और जिनके पास उत्पादन की शक्ति है, उनके पास विद्या नहीं है। नतीजा यह है कि आज राहु और केतु की तरह समाज के दो टुकड़े हो गये हैं। ये दोनों ही जीवनहीन हैं। इनमें एक अंधा है और दूसरा लंगड़ा। जहां कर्मशक्ति है, वहां ज्ञान नहीं है; जहां ज्ञान है, वहां कर्मशक्ति नहीं है। गांवों के ज्यादातर लोग अंधे हैं और शहरों के ज्यादातर लोग लंगड़े हैं। यों अंध-पंगु-न्याय से शहरों के बहुत-से लंगड़े गांवों के बहुत से अंधों के कंधों पर बैठे हुए हैं। अंधे लंगड़ों का बोझ ढोते हैं। दोनों अक्षम हैं। दोनों अक्षमों के सहयोग से समाज सक्षम बनेगा, इसकी कोई आशा नहीं है। जरूरत इस बात की है कि दोनों के आंखें हों और दोनों के पैर हों। दोनों एक-दूसरे के गुणों की पूर्ति करें, अक्षम होकर नहीं, सक्षम और समर्थ बनकर।

आज तो हालत यह है कि आपस में सहयोग के बदले दोनों के बीच संघर्ष बना रहता है। लंगड़ा अपना हक समझ-कर अंधे के कंधे पर बैठा है और उतरने का नाम ही नहीं लेता। यहां मुझे एक कहानी याद आ रही है। जब घोड़े से आदमी की पहली मुलाकात हुई, तो आदमी ने घोड़े से कहा, "तू अपनी पीठ कुछ देरके लिए मुझे किराए पर दे दे।" घोड़ा राजी हो गया। आदमी ने घोड़े को लगाम लगा दी, उसपर जीन कस दी और सवार हो गया। तबसे आज तक काफी समय बीत चुका है, पर आदमी है कि घोड़े की पीठ छोड़ता ही नहीं। वह कहता है, "तुझे खाना खिलाऊंगा, पानी पिलाऊंगा, पर तेरी पीठ नहीं छोड़ूंगा।" अगर देश के शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच भी यही हाल रहा, तो कशमकश जारी रहेगी।

भारत में शांति के रास्ते क्रांति आनी चाहिए। 'धृतराष्ट्र' अक्सर अंधे होते हैं। वे शांति चाहते हैं। उनकी इच्छा रहती है कि डाकू-समस्या हल हो, कम्युनिस्ट उपद्रव न करें, विद्यार्थियों में असंतोष न बढ़े, मजदूर शिकायत न करें। लेकिन वे समाज में क्रांति नहीं चाहते। उधर क्रांतिवादी चाहता है कि जैसे भी बने, समाज में क्रांति की जाय। यह श्मशान की-सी शांति किस काम की? मेरे-जैसा एक तीसरा व्यक्ति भी है, जो शांतिमय क्रांति चाहता है। ऐसे व्यक्ति को दोनों ओर की मार सहनी पड़ती है। शांतिवादी कहता है, "हमें ऐसी क्रांति-मिश्रित शांति नहीं चाहिए।" उसके विचार में डाकू नीच हैं। उसके लिए शरण या मरण दो ही रास्ते हो सकते हैं। शांति में क्रांति का भाव आ जाने से इन शांतिवादियों का दबदबा या रीढ़ घटता है। इसलिए ये उसे नापसन्द करते हैं। दूसरी तरफ से क्रांतिवादियों की मार भी हमपर पड़ती है। वे कहते हैं, "आप तो थोड़ा-थोड़ा दान मांगते हैं। इससे क्रांति की धारा क्षीण होती है। उसमें जोश लाने के बजाय आप उसे कमजोर करते हैं।" इस तरह दोनों तरफ की मार खानी पड़ती है।

कश्मीर से कन्याकुमारी तक करोड़ों लोगों ने जितने प्यार से और जिस शांति के साथ हमारी बात सुनी है, उसकी इस देश में कोई मिसाल नहीं है। इसका कारण यह है कि लोग शांतिवादियों को ढोंगी और क्रांतिवादियों को खूब समझते हैं। मैं साढ़े चार महीने केरल में घूमा।

कम्युनिस्टों से मेरी बातें हुई। चुनाव से पहले वे कहते थे कि बीस एकड़ का 'सीलिंग' करेंगे। मैंने पूछा, "इससे मिल्कियत कैसे मिटेगी? कम्युनिज्म या साम्यवाद कैसे कायम होगा? मैं तो व्यक्तिगत मिल्कियत मिटा देने की बात करता हूं।" वे कहते थे, "बात तो आप ठीक ही कहते हैं। पर आप सारा काम प्रेम के जरिए करना चाहते हैं। इसमें बहुत देर लगेगी।" मैंने पूछा, "आप कानून के जरिए जमीन की समस्या को कैसे हल करेंगे? उससे तो जमीन की निजी मिल्कियत और भी मजबूत होगी। मैं निजी मिल्कियत मिटा देने के पक्ष में हूं।" इस तरह आप देखेंगे कि आज का कानूनवादी करूणावादी से बहुत पिछड़ा हुआ है।

उधर शांतिवादियों की यह हालत है कि वे वादे-पर-वादे करते चले जाते हैं! पहले उन्होंने कहा कि दो साल में हिंदुस्तान अन्न की दृष्टि से अपने पांवों पर खड़ा हो जायगा। इस बात को आज दस साल हो चुके हैं। अन्न के मामले में हिंदुस्तान जहां-का-तहां पंहा है। अब वे कहते हैं कि छह साल बाद देश जरूर स्वावलम्बी हो जायगा। किसी ज्योतिषी से पूछना चाहिए कि छह साल के बाद ग्रहों की स्थिति कैसी क्या रहेगी?

जब गांधीजी के जमाने में यह सवाल उठा था, तो उन्होंने कहा था कि गमलों में तरकारी बोइये। उनका इशारा यह था कि इस सामूहिक काम में हरेक की इच्छा-शक्ति लगनी चाहिए। समूचे मानव-समाज में इस काम के लिए प्रबल भावना पैदा करना उनका उद्देश्य था। वेदों में भगवान् को 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' कहा गया है। जहां हजारों हाथ जुड़ जाते हैं, वहां भगवान् ही काम करता है। गोवर्धन पर्वत उठाने समय भगवान् ने सबसे सहारा देने के लिए कहा और खुद ने सिर्फ एक अंगुली लगाई। वेद में कहा गया है, "नहि श्रान्तस्य ऋते सध्याय देवाः।" मतलब यह कि जब आदमी खुद मेहनत करके थक जाता है, तभी भगवान् उसकी मदद के लिए आता है।

उपनिषद् में कहा है, "अन्न खूब पैदा करो। इसे अपना व्रत समझो।" वैसे, उपनिषद् ब्रह्मविद्या के ग्रंथ हैं, पंचवर्षीय योजना के नहीं। पर हमारे ऋषि जानते थे कि यदि अन्न पैदा न हुआ, तो समाज में द्वेष बढ़ेगा और ब्रह्मविद्या के लिए वह घातक होगा, क्योंकि मत्सररहित या द्वेष-रहित

समाज ही ब्रह्मविद्या का आधार बन सकता है।

इस दृष्टि से अन्न पैदा करने के बारे में बापू ने राष्ट्रीय पैमाने पर एक व्रत-भावना जगाने की कोशिश की थी। ये शान्तिवादी भाई यह नहीं कहते कि हम सब मिलकर इस काम को कर लेंगे। उलटे, वे तो यह कहते हैं कि हम आपके लिए इसे कर देंगे। छह साल में राष्ट्र आत्मनिर्भर हो जायगा। इसके विपरीत, गांधीजी के जमाने में लोक-भावना कुछ ऐसी बन गई थी कि सरकारी अफसर भी कहते थे कि इन मिनिस्ट्रों के बंगलों के अहातों में इतनी जमीन जो पड़ी है, उसमें ये लोग साग-तरकारी क्यों नहीं बोते?

ये वादा करनेवाले लोग आजकल 'डिस्टरबन्स' नहीं चाहते। गड़बड़ी से ये घबराते हैं। चाहते हैं कि जैसा चल रहा है, चलता चले! उधर क्रांतिवादी हैं, जो जिस किसी

भी तरीके से क्रांति करना चाहते हैं। लेकिन जब शांति की रीति से क्रांति आयेगी, तभी सच्ची क्रांति हो सकेगी। अशांति से क्रांति आई, तो वह झूठी क्रांति होगी।

इस विचार के चलते शिक्षित और अशिक्षित के बीच का भेद मिटेगा। आज जरूरत इस बात की है कि भारत का हर नागरिक शिक्षित और परिश्रमी बने। भगवान् ने हर आदमी को भूख दी है, तो हरेक को दो हाथ भी दिये हैं। दिमाग भी दिया है और दिल भी दिया है। सब अपनी-अपनी बुद्धि का विकास करें, सब शरीर-श्रम करें। इससे भारत में एकवर्ण समाज बनेगा। उसका नाम होगा—हंसो वर्णः—हंसवर्ण-समाज, नीरक्षीर-विवेक करनेवाला संतुलित समाज! ज्ञान और कर्म की निष्ठा के दो पंखों द्वारा वह पक्षी की तरह ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए उड़ेगा।

विद्रोह

अनन्तकुमार 'पाषाण'

आज मैं

कंठ के द्वार पर गरल का तोरण बांधूंगा।

अपनी ही चिता से

उठकर चिता को बुझाऊंगा,

अपने शरीर पर अपनी ही भस्म लगा

घर लौट जाऊंगा।

सागर की हर तरंग अनुपम है,

सागर में खो जाना अपने व्यक्तित्व से पलायन है।

मिट-मिटकर बनूंगा—

कीड़ा बन पृथ्वी पर रेंगूंगा,

चिड़िया बन उस छोटे कीड़े को चुगूंगा।

लेकिन हगिज नहीं,

हगिज हगिज नहीं

सागर को मुक्ति-दान देने का यश दूंगा।

विष्णुदयाल

दो श्रेष्ठ पादरी

श्रेष्ठ पादरियों के नाम लेनेवाले भारतीय और प्रवासी भारतीय पुण्यश्लोक साधु एण्डूज को कभी नहीं भूलते। ज्योंही ये श्रेष्ठ आत्मा भारतीयों के बीच में आये, त्योंही इन्हें लगा कि भारतीयता अपनानी चाहिए। वह चल बसे, पर यूरोप में अभी इन्हींकी भांति दो श्रेष्ठ पादरी हैं, जिनकी तूती बोल रही है।

एक के बारे में पाठकों को समय-समय पर कुछ पढ़ने को मिल रहा है। वह हैं पादरी पीटर, जिन्हें फ्रांस के विनोबा नाम से पुकारा जाता है। वैसे ही सिसिली के प्रसिद्ध सुधारक श्री दानिलो दलसी उस देश के विनोबा बताये जाते हैं।

दूसरे हैं पादरी लांजा देल वास्तो जिनका फ्रांस में एक आश्रम है। इनके नाम से विदित होगा कि इनके पूर्वज फ्रांसीसी न थे। ये इस युग में फ्रेंच के प्रथम पंक्ति के लेखकों में से एक हैं। ये लेखक एवं सुधारक हैं। आश्रमवासियों का चरित्र विमल होना चाहिए, यह इनका मत है।

कट्टरपंथी इनसे क्रुद्ध होकर कहने लगे कि ये श्रेष्ठ ईसाई नहीं हैं। इन्होंने कहा, "क्या मेरे आश्रम में निवास करनेवाला एक भी ईसाई कभी भी ईसाइयत से विमुख हुआ है?" कट्टरपंथी निरुत्तर हो गये।

यह शुद्धता को पसंद करते हैं और जब कभी इन्हें मालूम हुआ कि शुद्धीकरण करने के महान् कार्य में किसी खास आत्मा से प्रेरणा मिल सकेगी इन्होंने उनके पास पहुंचकर शक्ति संचित की। बापूजी के यहां ये कुछ दिन ठहरे और जन्म-भूमि में लौटते-ही महात्मा गांधी की सुन्दर जीवनी लिखी।

महात्माजी चल बसे और संसार को विदित हुआ कि उनका स्थान लेनेवाले एक और संत प्रकट हुए हैं। तब श्रीदेव वास्तो ने तत्काल भारत की दूसरी बार यात्रा की। संत विनोबा के साथ रहकर उन्होंने "नवीन तीर्थ-यात्रा" के नाम से उनका जीवन-चरित्र लिखा जिसका अंग्रेजी में रूपान्तर हुआ।

लोग फ्रेंच और अंग्रेजी में प्रकाशित की गई पुस्तक पढ़ रहे थे कि समस्त संसार का ध्यान संत विनोबा की ओर

पुनः आकृष्ट हुआ। लोग कहने लगे कि प्राचीन भारत में रत्नाकर वाल्मीकि मुनि में परिवर्तित हुए थे तो आधुनिक भारत में एक संत के स्पर्श से जो कल डाका मारते थे वे पश्चात्ताप करने लगे हैं और उत्तम नागरिक बनने लगे हैं। पादरी पीटर उन महाभागों में से हैं जो इस घटना से प्रसन्न हुए हैं। उनको स्मरण हुआ कि भौतिकवाद की जिस दुनिया में लोग बसे हुए हैं उसमें कहीं-कहीं अध्यात्मवाद का स्वागत किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के पाक्षिक पत्र में मारीशस की राजधानी पोर लुई के बारे में एक लघु लेख छपा था। लेख ने उन्हें आनन्द से पूरित किया। उसे उन्होंने अपनी मासिक पत्रिका "भूख और प्यास" में उद्धृत किया।

लेख में बताया गया है कि कोई यात्री पोर लुई में चलने लग जाय तो ईसाई भाइयों के भव्य गिरजे को देखकर जो यूरोप के गिरजों के समकक्ष हैं, जान जायगा कि वहां ईसाई रहते हैं। वह दो ही तीन कदम आगे बढ़ेगा कि किसी मस्जिद से निकलती हुई आवाज सुनेगा और यह कहे बिना न रहेगा कि मुस्लिम भाई, ईसाइयों के पड़ोसी हैं। इसी नगर में से शिवरात्रि के अवसर पर यात्रियों का जुलूस गुजरता है जिसे ईसाई और मुस्लिम देखकर खुश होते हैं।

पादरी पीटर को लगा कि यद्यपि मारीशस एक लघु द्वीप है तथापि उसकी कहानी पढ़वानी चाहिए। उनकी पत्रिका में न केवल समस्त लेख उद्धृत किया गया, अपितु उसके साथ चीनी बौद्धों के मन्दिर का चित्र तथा हिन्दू यात्रियों के जुलूस का चित्र दिया गया।

मारीशस में फ्रेंचभाषियों की अच्छी संख्या है। इस लेख को एक पादरी की पत्रिका में देखकर कुछ लोग खिन्न हुए। यह बात उनकी समझ में न आई कि कैसे एक पादरी ने गैर-ईसाइयों के मन्दिरों के चित्र खुशी से छापे हैं। ये उन फ्रांसीसियों की याद दिलाते हैं जो अकारण श्री लांजा देल वास्तो से नाराज हुए थे।

(शेष पृष्ठ ३३५ पर)

काका कालेलकर

पहाड़ों का पितामह अरावली

हमारे देश में बड़े-बड़े मकानों के और शहरों के भग्नावशेष अनेक जगह पाये जाते हैं। अच्छे और नये मकानों की अपेक्षा इन अवशेषों का काव्य कुछ अधिक होता है। कर्ण के जैसा कोई दानी पुरुष जब दारिद्र्य से क्षीण होता है, कोई बड़ा पहलवान या योद्धा जब जरा-जर्जरित होकर लकड़ी के सहारे चलता दीख पड़ता है, तब उसके प्रति हमारा आदर कृपा के साथ मिश्रित होकर भक्तिभाव पैदा करता है। इसी तरह प्राचीन किले के या नगर के अवशेष हमारे चित्त को अन्तर्मुख करके उनके प्राचीन गौरव का विषादमय स्मरण कराते हैं।

हमारे मन की यही हालत थी जब हमने सिंध लरकाना जाकर इतिहास-पूर्वकालीन मोहन-जो-दड़ो का उत्खनन देखा था। बिहार में पटना के पास जब हमने सम्राट् अशोक के राजप्रासाद के अवशेष देखे तब भी चित्त की ग्लानि ने दो आंसू गिराकर 'कालाय सस्मै नमः' का उद्बोध किया था। बनारस के पास सारनाथ और बिहार में नालन्दा जाकर जब वहां के अवशेष देखे तब भी इतिहास-प्रेमी चित्त ऐसा ही अस्वस्थ हुआ था। पंजाब से कश्मीर जाते समय अवटार-वाद तक पहुंचा था, लेकिन तक्षशिला के अवशेष नहीं देख पाया, इसलिए उसके बारे में चित्त में कोई संस्मरण अंकित नहीं है। जब जूरसंध की राजधानी बिहार में देखी तब प्राचीन मल्लयुद्ध का चित्र नजर के सामने खड़ा हुआ सही, लेकिन उसके साथ कोई विषाद जुड़ा हुआ नहीं था। भग्नावशेष मानवी जीवन की एक विशेष विरासत है।

लेकिन क्या प्रकृति के घर में भी भग्नावशेष नहीं हैं? भारत की आज की भू-रचना स्थायी नहीं बनी थी, उन दिनों जो प्राचीन नदियां बहती थीं, वे आज कहां हैं? आज तो हम राजस्थान में बहनेवाली प्राचीन नदी सरस्वती के अवशेष का ही स्मरण कर सकते हैं जिसे भूस्तर-शास्त्री हकरा के नाम से पहचानते हैं। इसे हम नामशेष भी नहीं कह सकते। क्योंकि लोगों में उस नदी का नाम तक नहीं रहा है।

ऐसे ही एक अवशिष्ट पर्वत का आज हम स्मरण करना चाहते हैं जो भूस्तरशास्त्र के अनुसार भारत का सबसे प्राचीन पर्वत है। लोगों को आश्चर्य होता है जब हम कहते हैं कि पहाड़ों की जमात में सबसे युवा है हिमालय। दुनिया में यह कितना ही ऊंचा क्यों न हो, उसकी उम्र थोड़े ही लाख वर्षों की है। सह्याद्रि, विंध्य और पारियात्र जैसे बुढ़ों के सामने वह कल का बच्चा ही है। भारत के कुल पर्वतों की सूचि में उसे स्थान तक नहीं है। महेन्द्रो (उत्कल) मलयः (केरल), सह्यः (कोंकण), शुक्तिमान्, ऋक्षपर्वतः (सौराष्ट्र), विन्ध्यश्च (मध्य भारत), पारियात्रश्च (राजस्थान) सप्तैते कुलपर्वताः। यह प्राचीन पारियात्र ही आज का अरावली पर्वत है ऐसा माना गया है। भूचाल होकर, लाखों बरस की गरमी और बारिश के कारण और केवल काल-बल से यह प्राचीन पहाड़ छिन्न-भिन्न हो गया है। अब उसके अवशेष ही पाये जाते हैं। राजस्थान में यह पहाड़ नैऋत्य दिशा से चलता हुआ ईशान्य दिशा में करीब दिल्ली तक पहुंचा है। अगर गुजरात के किनारे अर्बुद या आबू का पहाड़ उसका एक सिरा है तो दिल्ली के पास की छोटी-छोटी पहाड़ियां, जिन्हें अंग्रेजों ने दी रिज (The Ridge) नाम दिया और हमारी भोली जनता ने जिसका धीरज रूप बना दिया, वह है इस पारियात्र का दूसरा सिरा। आबू के पहाड़ का सबसे ऊंचा शिखर गुरुशिखर पांच हजार फुट से भी अधिक ऊंचा है और हमारी धीरज टेकड़ियों की ऊंचाई पचास फुट की भी नहीं होगी!

अरावली नाम कहां से आया? शायद उसका असली नाम आडावली है। सिन्धु को लांघकर मध्यप्रदेश की ओर जाते यह पहाड़ और उसकी अनेक शाखाएं आडी आती हैं, इसलिए इसका आडावली नाम पड़ा होगा। लेकिन चन्द लोग कहते हैं कि चमार लोग चमड़े को काटने के लिए जिस आर या आडी का उपयोग करते हैं उसीके जैसा इस पहाड़ का आकार है, इसलिए उसे आरावली या अरवल्ली कहते हैं।

जो हो, यह प्राचीनतम पहाड़ आज के आश्रमणकारी

शत्रुओं को तो रोक नहीं सकता, किन्तु पश्चिम की ओर से आनेवाली रेती की बाढ़ को भी पूरी तरह से रोक नहीं पाता। इसका दक्षिण का सिरा, जिसे आबू या अबूद कहते हैं वह दो पश्चिम समुद्र से आनेवाले बादलों को रोककर उनके पास से वारिश का करभार आज भी लेता है। आबू का विशाल नखी तालाव देखते समय यही खयाल आता है कि बादलों से पाया हुआ करभार संभालकर रखने का यह उसका खजाना या कोश है।

अरावली के पहाड़ बड़े हों या छोटे, वनस्पति सृष्टि को आज भी प्रश्रय देते हैं। और उन जंगलों में शेर, चीता आदि वन्य पशुओं को भी प्रश्रय मिलता है और यहां कई पहाड़ी वन्य जातियां भी उसके आश्रय से कृतार्थ होकर लोकगीतों में अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हैं।

अरावली के परिसर में जन्म लेनेवाली नदियों की संख्या भी कम नहीं है। केन, बेतवा, धसान, सिन्ध, पार्वती, काली सिन्धु, बनास और सबसे अधिक पुरानी और अधिक महत्त्व की चर्मण्वती ये सब नदियां, एक ओर अरावली और दूसरी ओर विन्ध्य पर्वतमाला के काटकोन में जन्म लेकर अपना जीवन-कार्य सकल करती हैं और इन सब नदियों का करभार एकत्र करने का काम यमुना ईमानदारी से करती है। कोटा, टोंक और सांभर ये सब प्रदेश इन्हीं नदियों की कृपा से फलदरूप होते हैं। लावण्यवती लूनी, सुकी और बनास आदि नदियां भी अरावली की ही लड़कियां हैं, लेकिन

वे अपना पानी पश्चिम की ओर ले जाती हैं। साबरमती और मही हैं दो गुजराती नदियां आबू के पहाड़ का दक्षिणी पानी अपनी अनेक सखियों की मदद से इकट्ठा करके स्तम्भ तीर्थ—खम्भात की ओर ले जाती हैं।

आबू के पहाड़ों में मैं घूमा हूं। पृथ्वी के वाल्यकाल में जब उस पहाड़ पर बर्फ गिरती थी, तब वहां के पत्थरों ने बर्फ के घर्षण से जो विचित्र आकार धारण किये हैं, उन्हें मैंने ध्यान से देखा है। दिल्ली की धीरज टेकड़ी और उसपर खड़े किये अशोक के शीलस्तंभ का भी दर्शन मैंने किया है। रेलवे की मुसाफिरी करते अरावली की कुछ पहाड़ियां अनेक बार देखी होंगी। लेकिन जितना परिचय हिमालय का या सह्याद्रि का है, उतना अरावली का नहीं है। काश, राजस्थान का कोई सहृदय, भक्तिमान्, भारतपुत्र अरावली का विस्तृत परिचय करा देता! ऋग्वेद में अबूद नामक असुर का जिक्र आता है और वहां कहा है कि इन्द्र ने उस असुर को बर्फ के प्रहार से मार डाला। क्या इस आख्यायिका का अर्थ हम भूस्तर-शास्त्र से पा सकेंगे?

स्वतन्त्र भारत के नवयुवकों का काम है कि वे भारत के कोने-कोने की यात्रा करें, वेद और पुराणों से लेकर अद्यतन विज्ञान तक की सब मदद लेकर भारत का सम्पूर्ण परिचय अपने लोगों को और दुनिया को करावें। हमारी जाति, हमारी संस्कृति भग्नावशिष्ट नहीं है। वह चिरंतन है, सनातन है। और इसीलिए आज भी वह यौवनपूर्ण है।

प्रेरणा स्रोत

शील स्वातंत्र्य और स्वावलम्बन की प्रतीक वह!

दस वर्ष पूर्व सुहाग छिना, निराश और निराधार उसका जीवन!

तीन बच्चों की जिम्मेदारी!

रात देखी न दिन। सुबह शाम देर-सबेर जब देखो तब कताई। उमंग और उम्मीद का सम्बल चर्बा। चार पैसे मिले। सुख, सावगी, व संतोष का घर में अटल साम्राज्य!

उसका सलीके से रहना, उठना, बैठना, चलना और बोलना पड़ोस में प्रेरणा का स्रोत बन गया है।

अम्बर ने एक कड़ी और जोड़ दी—पचास की मासिक आमदनी—लड़का फर्स्ट ईयर में है। छप्पर की जगह टोन और घर में खांदी के सिवा परिधान नहीं।

“बाईजी” से रामगढ़ में कौन परिचित नहीं होगा? महिला जागरण की प्रतीक है वह!

—अनाम

बनारसीदास चतुर्वेदी

श्री धीरेन्द्र मजूमदार : एक स्वतंत्र विचारक

आज कितने ही वर्षों से ग्राम-जीवन की ग़ौर सुशिक्षित भारतीय जनता का ध्यान आकर्षित हो रहा है और हमारे नेता तथा हमारी सरकार ग्रामों के "उद्धार" के लिए बेहद चिंतित है। बुनियादी तालीम के स्कूल खोले जा रहे हैं तथा बैसिक ट्रेनिंग कॉलेज भी और ग्राम-विश्व-विद्यालयों के खोले जाने की चर्चा जोरों पर है—ग्राम-विकास-खंडों की आयोजनाएं चालू हैं, पर ये कार्य प्रायः ऐसे व्यक्तियों द्वारा किये जा रहे हैं, जो स्वयं विदेशी शिक्षा द्वारा शिक्षित हैं और जिनके हृदय पर अब भी वे ही पुराने कुसंस्कार काबू किये हुए हैं !

महात्मा गांधीजी ने ग्राम-सेवक का जो आदर्श रखा था, वह ध्यान देने योग्य है—

"ग्राम-सेवक का जीवन ग्राम-जीवन के साथ एकराग होगा। वह अपनी पुस्तकों में डूबा हुआ पण्डित बनने का ढोंग नहीं करेगा और उसे रोजमर्रा की जिन्दगी की छोटी-छोटी बातें सुनने से अरुचि नहीं होगी। इसके विपरीत लोग जब भी उससे मिलेंगे, तब उसे अपने औजारों से—चरखे, करघे, बसूले या फावड़े आदि से—काम करता हुआ और सदा उनके छोटे-से-छोटे प्रश्नों पर ध्यान देता हुआ पायेंगे। यह सदा अपनी रोज़ी के लिए काम करने का आग्रह रखेगा। ईश्वर ने सबको अपनी दैनिक आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न करने की शक्ति दी है और अगर वह केवल सूझ-बूझ से काम ले, तो उसे ऐसे धंधे का अभाव नहीं रहेगा, जो उसकी योग्यता के अनुकूल होगा, चाहे वह योग्यता कितनी ही कम क्यों न हो।"

खेद है कि महात्माजी की इस कसौटी पर बहुत कम ग्राम-सेवक खरे उतरेंगे।

हमारे ग्राम सवासी, डेढ़सौ वर्षों से प्रायः उपेक्षित ही रहे हैं और ग्रामीण समाज तथा पढ़े-लिखों के बीच की जो खाई है, वह इतनी चौड़ी हो गई है कि उसका पार करना हनुमानजी जैसे पराक्रमी व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। हर्ष की बात है कि श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने यह करिश्मा

कर दिखाया है। धीरेन्द्रभाई जो कुछ लिखते हैं अपनी अनुभूतियों के बलबूते पर लिखते हैं। उनका ज्ञान पुस्तकों की पढ़ाई से पैदा नहीं हुआ, बल्कि चलती-फिरती किताबों—साधारण आदमियों—के जीवन और ग्रामीण परिस्थितियों के अध्ययन से उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसमें एक वैचित्र्य है, एक विशेषता है, एक ताज़गी है।

आज से तेरह वर्ष पूर्व जब साधना-सदन, प्रयाग से श्री धीरेन्द्रभाई की पुस्तक 'समग्र ग्राम-सेवा की ओर' प्रकाशित हुई थी तो उस पुस्तक से हम इतने प्रभावित हुए थे कि उसकी दो प्रतियां खरीदकर हमने उनकी आलोचना 'विन्ध्यवाणी' में की थी। अब उस पुस्तक का अगला भाग सर्व-सेवा-संघ की ओर से छपाया गया है और वह आलोचना हमारे पास भेजा गया है।

धीरेन्द्रभाई ने एक जगह लिखा था—

"भारतवर्ष के इस विस्तृत क्षेत्र में ग्राम-उद्योग और ग्राम-उत्थान-सम्बन्धी कार्य के लिए कार्यकर्ताओं की समस्या जहां-की-तहां रह जाती है। क्षणिक जोश में नौजवान आग में कूद पड़ते हैं, बन्दूकों के सामने सीमा तान देते हैं। सालों जेल में हँसते-हँसते सड़ते हैं, लेकिन किसी स्थायी काम में आजीवन कष्ट सहने को तैयार नहीं होते। गोली के सामने आत्म-बलिदान करते शहीद हो जाते हैं लेकिन वापू की भाषा में जिन्दा शहीद नहीं बन पाते।"

वस्तुतः स्वयं धीरेन्द्रभाई ने 'जिन्दा शहीद' बनने का प्रयोग किया है और एक बार तो वह हैजे के शिकार होते-होते बचे थे। उनके विचारों और परिणामों को पढ़कर बार-बार यह खयाल आता है कि धीरेन्द्रभाई यदि किसी विज्ञान का अध्ययन करते तो एक बहुत बड़े वैज्ञानिक हो गये होते। उनमें वैज्ञानिकों जैसी अमिट जिज्ञासा है, अचूक विश्लेषण शक्ति है और अपनी गलतियों को स्वीकार कर लेने की असाधारण मनोवृत्ति भी। वह ग्रामीण-समाज के रोगों के कुशल डाक्टर हैं और उनका निदान करने में उन्हें कमाल हासिल है। पर साथ-ही-साथ मूल सिद्धांतों का भी उन्होंने

अध्ययन किया है और रोग की जड़ पहचान ली है। एक जगह पर उन्होंने लिखा था—

“जैसे-जैसे समाज की उत्पादन-प्रणाली में केन्द्रीकरण होता गया, वैसे-वैसे शासन की व्यवस्था में भी केन्द्रीकरण होता गया और क्रमशः सारे समाज-तन्त्र के केन्द्रित हो जाने से आज संसार भर में तानाशाही का बोलवाला हो गया है। बापूजी ने मानव-समाज की इस गति को देखा, उन्होंने देखा कि शासन-तन्त्र जितना ही केन्द्रित हो रहा है, उतना ही समाज का जीवन भी केन्द्रीभूत होता जा रहा है और मनुष्य की स्वतंत्रता का यह लोप तथा उसके निर्दलन एवं शोषण की यह मात्रा-वृद्धि उसी केन्द्रीकरण का प्रतिफल है। ऐसी स्थिति प्रकृति-विरुद्ध होने के कारण उसे स्थायी बनाये रखने में अधिकाधिक हिंसा और पशु-बल का आश्रय लिया जाने लगा। इस दशा से मनुष्य का उद्धार करने के लिए बापूजी ने यही उपाय सोचा कि जिस भूल से यह अनर्थ का सिल-सिला जारी हुआ है और इसमें वृद्धि होती गई है, उसीका सर्वथा निराकरण कर दिया जाय। जिस दानव ने आकर जनतंत्र को शैशवावस्था में ही गला घोटकर मार दिया उस दानव का नाश हुए बिना स्वतंत्रता की स्थापना होना असंभव है। बापू-यंत्र की उत्पादन-प्रणाली से उद्भूत केन्द्रीकरण को विघटित किये बिना शासन-तंत्र की केन्द्रीभूत शक्ति न हटेगी और जबतक ऐसा नहीं होता तबतक न हिंसा का लोप होगा, न मनुष्य शोषण तथा पराधीनता से मुक्त होगा। फलतः यह आवश्यक है कि उत्पादन की पद्धति का विकेन्द्रीकरण किया जाय और उसके आधार पर ऐसे स्वावलम्बी समाज की रचना की जाय, जिससे उत्पादन के साधन उत्पादक के हाथ में रहें और उत्पन्न पदार्थ उत्पादक की सम्पत्ति हों। न प्रणाली केन्द्रित हो और न सारी सम्पत्ति थोड़े-से लोगों के हाथों में पड़कर पूँजीवादी शोषण जारी रखे। मनुष्य अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं के लिए यथासंभव किसीके परवश न होकर स्वतंत्र रहे। ऐसे विकेंद्रित आर्थिक समाज में वर्गों के हित परिवर्तित हो जायेंगे। फलतः न केन्द्रीभूत शासनतन्त्र की आवश्यकता रहेगी न हिंसा ही। केन्द्र तंत्र के विकेंद्रिकरण बिना मनुष्य की स्वतंत्रता का अक्षुण्ण रहना और उसकी प्रगति सम्भव नहीं।”

धीरेन्द्रभाई अपनेको कोई बड़ा साहित्यिक नहीं मानते,

फिर भी उन्होंने ऐसे ग्रंथ लिख दिये हैं, जो किसी भी ग्राम विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम के तौर पर पढ़ाये जाने की क्षमता रखते हैं। उनके वाक्यों के पीछे उनकी खुद की अखंड साधना है। “हुजूर को मजूर” बनाने की उनकी कल्पना निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है और इन दो शब्दों को गढ़कर उन्होंने समाज-विज्ञान को एक अच्छा दान दिया है। उसके अनुसार कहीं-कहीं काम का श्रीगणेश भी किया गया है। १५ अगस्त १९५८ को चटमा ग्राम की उच्च जातीय राजपूत बहनों ने घर से निकलकर खेतों में धान की रोपाई की और नौ दिनतक यह क्रम जारी रहा।

वह लिखते हैं, “इस प्रकार १५ अगस्त १९५८ को देश में एक बड़ी क्रांति की बुनियाद पड़ी। ग्राम-स्वराज्य का संकल्प हुआ। पिछले बारह साल से देशभर में ‘हुजूर’ और ‘मजूर’ की परिस्थिति समझाते हुए मैं यह आवाज बुलन्द करता रहा कि हुजूरों को मजूर बनाना है। आज उस प्रक्रिया के प्रत्यक्ष श्रीगणेश से मुझे अत्यधिक आनन्द हुआ।”

कहीं-कहीं पर धीरेन्द्रभाई अपनी बात बड़े मौलिक ढंग पर कह देते हैं। सन् १९४८ के आस-पास उन्होंने ग्रामीण जनता से कहा था—

“जैसे खेत के मुकदमे में अपने खेत की अदालती डिगरी अपने हक में रहने पर भी कब्जा न मिलने का खतरा बना ही रहता है, उसी तरह इंग्लैंड की पार्लियामेंट से आपके हक में स्वराज्य की डिगरी मिलने पर भी आपके लिए कब्जा न मिलने का खतरा बना हुआ है। अगर आप सतर्क नहीं होंगे, तो विदेशी पूँजीपति स्वदेशी पूँजीपतियों के साथ गुट बनायेंगे और गांव-गांव में मौजूद पुराने साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के दलालों के साथ मिलकर अबतक जो आपके तरफदार दैशभक्त रहे हैं, उन्हें खरीदकर या दूसरे उपायों से अपने चंगुल में फंसा लेंगे। फिर जब वह राक्षस अपनी चारों भुजाएं आगे बढ़ाकर प्रेम से आपका आलिगन करेगा, तो वह धृतराष्ट्र का ही आलिगन होगा।”

सर्वसाधारण के लिए खतरे की घंटी बारह वर्ष पूर्व ही उन्होंने बजाई थी।

धीरेन्द्रभाई में हास्य-रस की प्रवृत्ति भी कम नहीं। एक जगह पर उन्होंने किचिन (रसोई) की व्युत्पत्ति ‘किचकिच’ से की है।

“दुनिया में जितने झगड़े होते हैं, उनका यदि विश्लेषण किया जाय, तो कुछ ही मामलों को छोड़कर सभी भोजन की समस्या को लेकर होते हैं। तुम लोगों ने संस्थाओं में तथा सम्मेलनों में देखा है कि सबसे अधिक टीका-टिप्पणी और असंतोष भोजन को लेकर ही होता है। जेल में भी उच्च आदर्श तथा लक्ष्य को लेकर कष्ट सहने के लिए पहुंचनेवाले राजवन्दी भी भोजन की समस्या को लेकर निरंतर झगड़ते रहते हैं। मैं तो अक्सर अपने साथियों से वितोद में कहता हूँ कि ‘किचकिच’ का (बहुवचन) ‘किचिन’ (रसोई) होता है। देहाती भाषा में ‘किचकिच’ जब अधिक हो जाती है, तो उसे ‘किचाहन’ कहते हैं। शायद इसीसे ‘किचिन’ निकला हो!”

पुस्तक के प्रथम भाग में झाबुआ के लड्डूओं की बात पढ़कर हँसी आये बिना नहीं रहती? वे इतने सख्त थे कि लाख प्रयत्न करने पर भी दांतों से नहीं टूटे और इसलिए पत्थर पर रखकर पत्थर से ही तीड़े गए। झाबुआ की यात्रा हमने भी एक बार की थी—वहाँ के जागीरदार राजकुमारों के अभिवाक की हैसियत से—इसलिए वह प्रसंग हमें खास तौर पर पसन्द आया।

सामूहिक खेती के प्रयोग में व्यवस्थापकों के निर्माण तथा ‘अधिकारवाद’ की उत्पत्ति के खतरे की ओर उन्होंने हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

श्री धीरेन्द्रभाई के विचारों को पढ़ने के बाद हम सोचते रहे कि यदि उनके विचार समाज में घर कर जायें तो एक-न-एक दिन वर्तमान शासन से उनकी मुठभेड़ होना सर्वथा स्वाभाविक है। खुद धीरेन्द्रभाई बड़े संकोचशील स्वभाव के हैं। और-तो-और वह बहुत दिनों तक श्री किशोरलालभाई के निकट नहीं जा सके, और एक बार सन् १९५६ में वह पं० जवाहरलालजी के पास गये भी और किसानों की बेदखली के मामले की चर्चा करना चाहते थे, पर संकोचवश कर नहीं सके।

लीडरों के लिए जो ‘धृष्टता’ अनिवार्य रूप से आवश्यक है, उसका श्री धीरेन्द्रभाई में सर्वथा अभाव ही प्रतीत होता है। यह बात नहीं है कि धीरेन्द्र भाई में स्पष्ट बात कहने की क्षमता नहीं। बापू से उन्होंने साफ-साफ कह दिया था, “आपका गुजरात बहुत खराब मुल्क है। गुजरात की लित्रियां अभ्यागत

के लिए कुछ भी करना पसन्द नहीं करती और जैनियों के यहां तो किसीके खाने-पीने की कुछ सुनवाई नहीं होती।”

पर धीरेन्द्रभाई की संकोचशीलता उनके अनुयायियों के लिए बहुत महंगी पड़ेगी।

इस पुस्तक का सबसे अधिक स्फूर्तिप्रद अंश हमें वह प्रतीत हुआ जिसमें उन्होंने अपने लेटे-लेटे मुँगेर किले की यात्रा करने का उल्लेख किया है। उनकी कमर में दर्द था और वह चल-फिर नहीं सकते थे। फिर भी उनके साथी-संगियों में उनपर प्रेमपूर्ण ‘जुलम’ करके उनकी महीने भर की यात्रा का प्रोग्राम बना डाला। कभी तो उन्होंने मोटर पर लिटाया, कभी बैलगाड़ी में खाट पर बांध दिया और कभी पालकी में ले गये।

इसमें उन्हें कितना श्रम पड़ा होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है, पर उन्होंने बड़ी सादगी के साथ अपनी बहन को सिर्फ इतना ही लिखा है—

“लेटकर चलना, लेटकर लोगों से चर्चा करना और सार्वजनिक सभाओं में लेटकर ही भाषण देना—यह भी एक नया अनुभव था। तुम लोग होतीं, तो बड़ा मजा आता।”

धीरेन्द्रभाई के इस ग्रंथ को पढ़ने के बाद हम सोचते रहे कि हुजूरों की जिस पीढ़ी से धीरेन्द्र भाई मजूर बनाना चाहते हैं यह मजूर नहीं बनेगी। हमलोग लुंज पुंज हो गये हैं और हमारी प्रमाद-रूपी बीमारी असाध्य रूप धारण कर चुकी है और हम लोगों ने अपनी सन्तान को जिस सांचे में ढाल दिया है, उसके चुंगल से वे शायद ही छूट सकें। इसलिए धीरेन्द्र भाई को हुजूरों के पोत्रों से ही प्रारंभ करना पड़ेगा।

पुस्तक के अन्त में श्री धीरेन्द्रभाई ने लिखा है—

“मैंने कहा था कि आन्दोलन का यह समय अज्ञातवास का समय है और मैं मानता हूँ कि यह समय कम-से-कम ५ साल तक रहेगा। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि १९६२ के आम चुनाव के अवसर पर दलगत राजनीति का जो दर्शन मिलेगा, उससे जनता परेशान होगी। वह रास्ता ढूँढ़ने के लिए व्याकुल होगी। अज्ञातवास से तुम लोगों को उस अवसर के लिए अपनी तैयारी करनी है। पिछले साल मैंने खादीश्राम के साथियों से कहा था कि ‘क्रांति के आरोहुण में अज्ञातवास की आवश्यकता होती है और उसका संयोजन करना पड़ता है। वैसे भी स्वाभाविक रूप से अज्ञातवास होता है। नेतृत्व

की सिफत इसीमें है कि वह उसे संयोजित बनाये, नहीं तो अज्ञातवास का उत्कट निराशावाद में परिणत होने का खतरा है।

धीरेन्द्रभाई सम्भवतः चालीस-पचास वर्ष आगे की बात सोच रहे हैं। भारत का इतिहास सहस्रों वर्ष पुराना है, उससे चालीस-पचास वर्ष कोई बड़ी चीज नहीं। रूस में 'ग्रामों की ओर' नामक जो आंदोलन सन् १८७० में प्रारंभ हुआ था उसका परिणाम सन् १९१७ की क्रांति के रूप में आकर निकला और अब ६० वर्ष बाद वहाँ के ग्राम समृद्धिशाली

बनने जा रहे हैं।

यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि धीरेन्द्रभाई अपने विचारों में बराबर आगे बढ़ते जा रहे हैं। यदि कोई संस्था स्थापित करते हैं या कोई योजना बनाते हैं तो उससे स्वयं नहीं बंधते। उसे अपने शिष्यों पर छोड़कर निश्चित होजाते हैं।

भारतवर्ष में यदि कभी साम्ययोग स्थापित होगा तो धीरेन्द्रभाई जैसे क्रांतिकारी विचारकों और साधकों की दीर्घकालीन तपस्या के बाद ही।

आगमन

दीनदयाल ओझा

: १ :

: २ :

धरा गगन और पाताल को
विनाश के गहरे गह्वर में डालने को उद्यत
मानव की दानवी वृत्ति के मध्य
न जाने किस कोने में छिपी
मानवता का प्रतीक
वह सदेह व्यक्तित्व
आ रहा है,
जो न हिंसा जानता है
न जिसके हाथ में विनाश का हथियार है
केवल दोनों हाथों की बंद मुट्ठियों में
अजीब अलभ्य वस्तु बंद किये हुए
विश्व के बिषाद को,
अपने शास्त्र रुद्ध से चीरता हुआ
नूतन आत्मा लिये
इस धरा पर आ रहा है।

हिंसा को अहिंसा से,
असत्य को सत्य से,
द्वेष को प्रेम से,
अत्याचार को सदाचार से
विजय करता हुआ
अपने दोनों हाथों में
कसकर पकड़े हुए
शांति के ध्वज को
समस्त अशांत धरा पर फहराता हुआ
वह एक मानव
न जाने किस आत्मबल से
दानवता के गहन अन्धकार को
नव प्रकाश से चीरता हुआ
धरती की ओर बढ़ा आ रहा है.
बढ़ा आ रहा है।

प्रशान्तकुमार जायसवाल

बौद्ध-प्रतिमाओं की पृष्ठभूमि में

उल्लेखनीय की पवित्र भूमि में, रात्रि के अंतिम याम में, अविद्या के आवरण को भेदकर जिस ज्ञान-सूर्य का उदय हुआ, जिससे समस्त भारतीय दर्शनाकाश आलोकित हो उठा, उसी बुद्ध की प्रतिमा का करीब पहली-दूसरी शती ईसवी में मूर्तन हुआ।

जिस कर्मकाण्ड से बचने के लिए और जिसका विरोध कर बुद्ध ने ज्ञान की प्रतिष्ठा की थी, वही अब धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में प्रवेश करने लगा। भक्ति के साथ कर्मकाण्ड जुड़ जाता है। परंतु प्रारंभिक बौद्ध धर्म में भक्ति के साथ बुद्धि भी थी, व्यक्ति पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं करता था। उसकी श्रद्धा-भक्ति सर्वांश में 'प्रज्ञान्वया' थी। किन्तु महायान के प्राचुर्य से तथा विभिन्न देशों में उसका प्रचार होने से प्राचीन बौद्ध धर्म में परिवर्तन संभव हुआ। विदेशी जातियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। उनकी अपनी मनो-वैज्ञानिक आवश्यकताएं थीं। जिस धर्म को उन्होंने स्वीकार किया था, उसे वे अपनी प्रवृत्ति और जलवायु के अनुसार अपनाना चाहते थे, अपनी संस्कृति के प्रकाश में उसपर अभ्यास करना चाहते थे, तभी वह उनके जीवन में घुल-मिल सकता था। हीनयान उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ता था। इसीलिए प्रारंभ में, चीन और जापान की जनता को, बौद्ध धर्म प्रभावित न कर सका। महायान से वे आकृष्ट हुए। चीन और जापान में बुद्ध देवाधिदेव तुल्य हुए। १२वीं शती के जापानी बौद्ध भिक्षु होनेन् का कहना था कि कोई भी व्यक्ति चाहे मूर्ख हो या पंडित, किसी भी वर्ग, समाज या देश का हो, यदि वह अमिताभ बुद्ध की अनंत करुणा में श्रद्धा रखता है, तो वह संसार के सभी दुःखों और पापों से विमुक्त हो जाता है। आठवीं शताब्दी तक आते-आते बौद्ध विचार अपनी मौलिकता खो बैठता है। तांत्रिकता का उसमें समावेश होता है।

प्रारंभिक बौद्ध धर्म ज्ञानियों का धर्म था, जिसने अंतर-दर्शन किया वही निर्वाण प्राप्त कर सकता था। बुद्ध के काल तक तो उनके व्यक्तित्व की प्रभा से चौंधियाकर लोग

उनके विरुद्ध कुछ करने को साहस न कर सके, परंतु उनके 'महापरिनिर्वाण' के पश्चात् ही, कुछ कालोपरान्त, वज्जि-पुत्तक भिक्षुओं ने विनय-विरोधी आचरण करने शुरू किये। किन्तु बुद्ध के मार्ग के अनुयायियों की इस काल में प्रतिष्ठा थी। यशकाकण्डपुत्र ने वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को उनके विनय-विरोधी आचार और विशेषतः उनकी स्वर्ण-रजत के प्रति लोलुपता के लिए फटकारा, यहां तक कि वैशाली के उपासकों को 'मत आदुसो संघ को कार्षापण दो। शाक्य-पुत्रीय श्रमणों को सोना और चांदी विहित नहीं है, शाक्य-पुत्रीय श्रमण जातरूप-रजत उपभोग नहीं कर सकते, वे जातरूप-रजत त्यागे हुए हैं', इस प्रकार समझाया, और अनाथपिण्डिक द्वारा निर्मित जेतवनाराम में एक प्रारंभिक सभा कर भाषण देते हुए बुद्ध के अनुत्तर शब्दों की याद दिलाई कि 'गामणी ! जिसे जातरूप-रजत कल्पित है, उसे पांच कामगुण भी कल्पित हैं। जिसको पांच कामगुण कल्पित हैं, गामणी ! तुम उसको बिल्कुल ही अश्रमणधर्मी, अ-शाक्यपुत्रीय धर्मी समझना, गामणी ! मैं ऐसा कहता हूं। तृण को चाहनेवाला तृण को खोजनेवाला होता है, शकटार्थी को शकट खोजना होता है, पुरुषार्थी को पुरुष किन्तु गामणी ! किसी भी प्रकार में जातरूप-रजत को स्वादितव्य, पर्येषितव्य नहीं मानता।' इस प्रकार वज्जि-पुत्तक भिक्षुओं के विरुद्ध एक महान् आन्दोलन का प्रवर्तन और प्रसार करते हुए जब उन्होंने अपने आन्दोलन को आगे बढ़ाया तो वज्जिपुत्तक भिक्षु भी चुपचाप नहीं बैठे रहे। दोनों ओर से विवाद उठ खड़े हुए और निर्णय के लिए पक्ष-संग्रह होने लगे। 'महावंस' और 'दीपवंस' के अनुसार वज्जिपुत्तक भिक्षु द्रुष्ट-अनाचारी भिक्षु थे, जिन्हें संघ से निष्कासित कर दिया गया था। इन लोगों ने अपना एक नया संघ, महासंघ, बनाया और 'महासांघिक' कहलाये। इन्हींसे कालान्तर में 'महायान' का प्रादुर्भाव हुआ। इनके अनुसार बुद्ध लोकोत्तर पुरुष हैं, ऐतिहासिक नहीं, वे न तो मनुष्य-लोक में आये और न उन्होंने उपदेश ही दिया। इस प्रकार

बुद्ध मानव-गुरु से श्वर हुए।

बौद्ध धर्म ने अपने प्रारंभिक काल, प्रधानतः अशोक के काल, में काफी उन्नति की। वह देश की चाहार-दीवारी लांघ चुका था। भिक्षुओं के लिए बड़े-बड़े मठों और विहारों का निर्माण किया जा चुका था—वे विलासी हो चले थे। द्वितीय शती ईसवी पूर्व वैदिक प्रतिक्रिया का काल था। वैदिक प्रतिक्रियावादियों ने अपने धर्म की श्रेष्ठता के लिए उन रूढ़ियों को तोड़ना शुरू किया जिससे उनके धर्म का प्रकाश, बौद्ध और जैन धर्म के प्रकाश के सामने, मद्धिम पड़ गया था। विलासी हो चले बौद्धों के लिए यह चुनौती थी। इस काल में गृहस्थाश्रम धर्म का खूब प्रतिपादन किया गया, लोगों का ध्यान भी इधर आकृष्ट हुआ। मनु महाराज ने इसके महत्त्व को बतलाते हुए कहा—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

अर्थात् जैसे वायु का आश्रय पाकर सब जन्तु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय पाकर सब आश्रमों का गुजारा चलता है। इससे हीनयानियों के अहंतों और प्रत्येक बुद्धों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। इन एकांतवासी देवताओं के स्थान को महायान के बोधिसत्त्वों ने ग्रहण किया जिनकी पूजा-अर्चना कर गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। यह बात हीनयानी व्यवस्था में न थी। अर्ध-विक्षिप्त बौद्धों ने अनुसंधान करना शुरू किया। दुर्भाग्यवश, भारतीय इतिहास के लिए, वह काल विदेशी आक्रमणकारियों का था जिनमें अधिकतर बर्बर थे। चूंकि इन विदेशियों को चातुर्वर्ण्य में कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था, उन्होंने अवैदिक—बौद्ध और जैन—धर्मों को ही ग्रहण किया। क्योंकि इसमें वर्णभेद—जातिभेद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

एक तो वह वैदिक प्रतिक्रिया का काल था, दूसरे विदेशी जातियों में धर्म का प्रचार करना था। शक—शक, पहलव, कुषाण—जाति के लोग आमू दरिया के कांटे में बसने से पूर्व बर्बर थे, डाकू थे, खानाबदोश थे। यहां आने पर उनमें कई संस्कृतियों (ग्रीक, रोमन, ईरानी) का समावेश हुआ जो मूर्ति-पूजक थे। ऐसी जनता को एक व्यक्तिगत देवता अनिवार्य होती है जिसको वह अपना दुःख सुना सके, अपने

आपत्ति-काल में जिसकी वह शरण ले सके और जिसके प्रति वह श्रद्धा-भक्ति का पूरा आचरण कर सके। जन-विश्वास तर्क और दर्शन से परे होता है। हिन्दू-धर्म के भक्ति-मार्ग में तो इसकी व्यवस्था थी, परन्तु बौद्ध धर्म में न थी। जब साधारण हिंदू जनता भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हुई, तो भक्ति-मार्ग में परचे होने के कारण उसे एक बड़ी कमी का बोध हुआ। प्राचीन बौद्ध मतावलम्बी बुद्ध को केवल मानव-गुरु, पथ-प्रदर्शक और आचार्य के रूप में मानते थे। उनकी प्रतिष्ठा अभी देवपद पर नहीं हुई थी। बौद्ध धर्म का यह प्रारंभिक रूप हीनयान था। हीनयान अधिकतर शुष्क सिद्धांतपरक था। जबतक बौद्ध धर्म विद्वानों तक सीमित था, तबतक हीनयान की प्रतिष्ठा बनी रही, परन्तु साधारण जनता में धर्म का प्रचार होजाने पर बौद्ध आचार्य भी एक प्रकार की कमी का अनुभव करने लगे। उनके अनुसंधान का परिणाम 'महायान' निकला। नागार्जुन ने महायान को व्यवस्थित रूप दिया। फलतः बुद्ध के साथ-साथ अनेक 'बोधिसत्त्वों' की भी कल्पना हुई। कालान्तर में हिन्दुओं की ही भांति बौद्धों में भी देवताओं का एक दल और परंपरा बन गई जिसमें अधिकतर हिन्दू-देवता—शक्र, ब्रह्मा, कुबेर आदि—अपने पुराने नाम से अथवा नाम बदलकर ले लिये गए। बुद्ध, बोधिसत्त्वों और अन्य देवताओं की सहस्रों मूर्तियां इस काल में कोरी गई और साधारण बौद्ध जनता की उपासना का केंद्र बनीं।

इस काल की, कुषाणकालीन, बुद्ध अथवा बोधिसत्त्वों की मूर्तियों का अवलोकन किया जाय तो निम्नलिखित बातों का पता चलेगा—मूर्तियां लाल रेतीले पत्थर की बनी हैं, सिर घुटा हुआ दिखाया जाता है। जहां भी उष्णीष होता है प्रलम्बन होता है, भौंहों के बीच ऊर्णा, मूँछे नहीं होतीं, दायां हाथ अभय मुद्रा में उठा रहता और बायें हाथ की मुट्ठी बंधी रहती है जो बँधी मूर्तियों में जांघपर रखा रहता है। कंधे खुले हुए रहते हैं। खड़ी मूर्ति की दशा में सिंह पैरों के बीच रहता है, मुख पर पीरुष एवं शील का भाव होता है और प्रभामंडल सादा होता है।

मूर्ति की यह विशेषता तत्कालीन भावना का पूरा अंकन करती है। वह काल विदेशी आक्रमणों का था। शक्ति-बल

(शेष पृष्ठ ३४१ पर)

विनय अवस्थी

युग-पुरुष विनोबा और उनका सन्देश

मानवता के इतिहास में कभी-कभी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाते हैं, जब उसकी प्रगति का प्रवाह मंद पड़ जाता है और मानव नई राह की टोह में भटकने लगता है। ऐसे तमसाछन्न वातावरण को चीरकर नये प्रकाश द्वारा मानवता का मार्ग-दर्शन कराने के लिए युगपुरुष का जन्म होता है। राष्ट्रकवि 'दिनकर' के शब्दों में :—

"सबकी पीड़ा के साथ व्यथा, अपने मन की जो जोड़ सके।
मुड़ सके जहाँ तँक समय उसे निर्दिष्ट दिशा तक मोड़ सके ॥
युगपुरुष वही सारे समाज का विहित धर्म-गुरु होता है।
सबके मन का जो अन्धकार, अपने प्रकाश से धोता है ॥

जने साधारण को तो इस नये दिनमान के दर्शन तब होते हैं जब उसकी ज्योति दिग्दिगंत को उद्भाषित करने लगती है, किन्तु क्रांतिदर्शी कवियों को पहले से ही कुछ पूर्वभास मिलने लगता है। उनके हृदयों में नवीन भावनाओं का स्फुरण होता है और युग-सूर्य के अभिनंदन एवं युग-प्रभात की पूर्व-सूचना में कविकुल खगकुल-सा गा उठता है।

अनेक दशाब्दियों तक अपनी विचार-रश्मियों से मानवता को प्रकाशित करने के पश्चात् विश्वबंध महात्मा गांधी अंतर्धान हो गये, तब कुछ समय के लिए सारा वातावरण अंधकारमय हो गया। उपयुक्त मार्ग-दर्शक के अभाव में अहिंसक समाज-रचना का मधुर-स्वप्न टूटने-सा लगा। ऐसे ही समय परिस्थिति की आकांक्षा ने पूज्य बापू के योग्यतम सत्याग्रही शिष्य आचार्य विनोबा भावे को इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अग्रसर किया। जागरूक राष्ट्रीय कवियों को इस युग-प्रवर्तक संत की वाणी में एक सन्त जीवन-दर्शन मिला और लोकनिष्ठा साधना में अष्ट मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ। सुप्तप्राय भारतीय जनता को जगाते हुए कवि ने उसका ध्यान युग-पुरुष और उसके युग-संदेश की ओर आकर्षित किया—

"नहीं, देखते तुम तुम्हारा ही कोई,

तुम्हीं को बुलाता चला आ रहा है।

रुधिर से बचाकर उषा का सुनहला,

सन्देश सुनाता चला आ रहा है ॥"

—शिशुपाल सिंह 'शिशु'

उषा का सुनहरा संदेश लानेवाले, नई किरण के स्रोत, नये दिनमान विनोबा के अभिनंदन में कवियों के भाव-प्रसून समर्पित होने लगे—

"आने वाले नये विश्व की,

नई किरण का स्रोत विनोबा।

कोटि-कोटि कंठों से पूजित,

अपने मन का मान विनोबा ॥"

—शूलपाणि

"विनोबा या हमारी भूख, से भगवान निकला है।

नये दिनमान ने जग का, नया शृंगार निकला है ॥"

—रघुवीरशरण 'मित्र'

"भावे जिसको दुनिया कहती है,

वह ज्योति-पुञ्ज, नवयुग-प्रकाश !

सर्वोदय तुम जिसको कहते,

वह नव-उमंग, नवयुग-विकास ॥"

—पंचानन झा 'पंचम'

"ये सूखी हड्डियां जिसकी, चुनौती बज्र को देतीं,
समय की गति बदलता, आज वह दिनमान आया है।

भरा जिसके हृदय में है, समूचे विश्व का दर्शन,
नये युग-धर्म को लेकर नया इन्सान आया है ॥"

—रामपाल सिंह 'मयंक'

"प्रेम-शान्ति से हे पत्थर को मोम बनानेवाले !

हे कठोर पाषाण लौह आयुष्म पिघलाने वाले !

हे युग-पुरुष खोलने वाले नव-युग के वातायन !

आज अशान्ति-प्रलय में तेरा शान्ति पथिक अभिनंदन !"

—रामनिवास 'विद्यार्थी'

विनोबा नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और वेद, उपनिषद्, गीता के अविनाशी विद्वान् हैं। जीवन-कला के इस महान् साधन ने अपने शरीर का

सितम्बर, १९६०

जीवन-साहित्य

: ३३४ :

त्याग में तपाया और ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा को सतत स्वाध्याय से प्रखर एवं उपयोगी बनाया है। विनोबा परम आस्तिक हैं। उनकी उत्कट भक्ति-भावना उन्हें मानवता के उत्थान के लिए, जीवन की कठोरतम साधना के लिए निरंतर प्रेरणा देती रहती है। तभी ६५ वर्ष की अवस्था में रुग्ण-शरीर से निरंतर पाद-पर्यटन करते हुए मानवता को नित्य नवीन विचारों की दीक्षा दे रहे हैं। और तभी तो इस तपस्वी ऋषि का परिचय कवि ने इन शब्दों में दिया है—

वचन जिसके मंत्र हैं,
है गान जिसका साम,
करें अजपा जाप,
जिसके रोम आठों याम,
भूरहित को भूसि देना,
यही जिसका काम,
जगत्-पूजित ऋषि विनोबा,
है उसीका नाम।”

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

तो किसी ने इस भाषा में—

‘तप्त धारा पर कौन मुधा की धार आज बरसाता,
स्वार्थ-निशा में मुप्त मनुज को आकर कौन जगाता,
सभी मनुज सुत हैं पृथ्वी के धरणी सबकी माता,
यह वैदिक सन्देश जगत् को लाकर कौन सुनाता ?
वामन वन, बलि की वेदी पर देखो कौन बुलावे !
वह ऋषि है, वह ज्ञानी, दानी सन्त विनोबा भावे।’

—जलेश्वरसिंह

विश्वबंध बापू के विचारों को पूर्णतया आत्मसात् करके उन्हींके पदचिह्नों का अनुसरण करनेवाले विनोबा के व्यक्तित्व में यदि कवि-दृष्टि को बापू की छाया दिखाई पड़े तो आश्चर्य ही क्या ?

बापू के जर्जर शरीर का, जीर्ण वसन-सा करके त्याग, भारत की वह अमर-आत्मा, आ बैठी तुझमें अस्ताभ।

—परमहंस शुक्ल

‘साथ ही बाबा के चलती है, राष्ट्रपिता की छाया।

बर्खा, सत्य-हिंस की चिर शान्तिदायिनी माया ॥’

बापू का प्रतिरूप धरा पर
अलख जगाने आया,
सन्त विनोबा को पाकर
बापू को हमने पाया।

—गौरीशंकर गुप्त

‘वही-वही हलचल’ औ आंधी, जैसे फिर उतरा हो गांधी।
चला साधना पूरी करने, अभी साधना उसकी आधी ॥’

—सोहनलाल द्विवेदी

‘सौ अभाग्य हों, एक भाग्य हम यह गढ़ लाये।

गांधीजी यदि गए, विनोबाजी बड़ आये ॥’

—मैथिलीशरण गुप्त

पूज्य बापू के व्यक्तित्व में सन्त और क्रांतिकारी का अनोखा समन्वय था और विनोबा भी एक सन्त होते हुए एक महान् क्रांतिकारी अन्दोलन का सूत्र-संचालन कर रहे हैं। अहिंसक समाज-रचना के लिए-सर्वाङ्गीर्ण जीवन-क्रांति का कार्यक्रम प्रत्येक मानव-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखता है। तभी तो उनकी वाणी में कवि देश और दुनिया के दीन-दलित मानवों के स्वर की झंकार सुन रहा है—

तू ही अनबोलों की बोली,

तू ही अकुलातों की गुहार।’

—माखनलाल चतुर्वेदी

‘सन्त विनोबा की बोली में,

मानव का अधिकार बोलता।

रण-रव की इन हुंकारों के बीच,

हमारा प्यार धोलता ॥’

—वशीर अहमद ख़ां

आज मूक फकीर की जो

भूसि की पुकार है।

पुकार है वह दीन की

वह देश की पुकार है ॥’

—रघुराज सिंह

विनोबा की वाणी की प्रतिध्वनि भारत की कोटि-कोटि ग्रामीण जनता में तो गूंज ही रही है, उनका पावन संदेश समस्त संसार को आशा एवं विश्वास का संचार करने की क्षमता रखता है।

न समझो उस दधीचि की चन्द-

हड्डियों में सीमित काया।

महाद्वीपों के ऊपर आज,

पड़ रही है उसकी छाया ॥

—शिशुपाल सिंह 'शिशु'

हे महर्षि पद-चिह्न तुम्हारे अब संसार निहारे,
बन्दी मानवता के बन्धन, मुक्त करोगे सारे।'

—कृष्णाशंकर दीक्षित

किन्तु रुढ़ विचारों की अंधेरी कोठरी में निवास करने-
वाले कोरे बुद्धिवादी लोगों को जब सर्वोदय-विचार का
प्रकाश नहीं दीख पड़ता और वे 'ग्रामदान यज्ञमूलक-अहिंसक
क्रांति' का समुचित मूल्यांकन करने में न्याय नहीं बरतते
तथा नाना प्रकार की शंका-कुशंकाएं प्रकट करते हैं तब
कवि के स्वर में कुछ तीखापन आ जाता है और वह कह
उठता है—

कौन टोकता है शंका से,

चुप रह, चुप अपलापी।

क्रियाहीन चिंतन के अनुचर,

केवल ज्ञान अलापी ॥

नहीं देखता ज्योति गगन में,

नूतन उभर रही है।

वापू की चोटी से आगे,

गंगा उतर रही है ॥'

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

इस प्रकार युग-पुरुष विनोबा और उनके युग-संदेश
की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हुए हिन्दी के
लोकनिष्ठ कवि भारतीय लोकमानस को विनोबा की
अभिनव-क्रांति के लिए अनुकूल भावभूमि निमित्त करने
में संलग्न हैं।

सर्वोदय के ऐतिहासिक आन्दोलन में योग देने के लिए
कवि सबका आह्वान करता है :—

योग दो, युग का नया इतिहास बनने जा रहा है।

—विकास बाजपेयी

देश, समाज एवं मानवता की सेवा का दम भरने
वाले सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को तो वह विशेषरूप से
ललकार रहा है—

'यदि तुममें है त्याग, आज त्यागी है तुम्हें पुकार रहा,

वह पद-यात्री पद-पद चलकर है नव-जीवन संचार रहा।

सर्वोदय के सेवापथ में चलो, बढ़ो, हो अरुणोदय,

सन्त विनोबा आज तुम्हें ही अपनी ओर पुकार रहा ॥

—सोहनलाल द्विवेदी

(पृष्ठ ३२४ का शेष)

इस खिन्नता से न्यायप्रिय जन यही परिणाम निकालते
हैं कि फ्रांस के विनोबा का उदारमना होना कुछ लोगों
को खटकता है। भारत, सिसिली तथा फ्रांस के विनोबा
सहमत हैं कि उदारता, सेवा-भाव, नैतिक उत्थान मानव
को मानव बनाता है; पंथों के झगड़ों से दूर होना
चाहिए।

पादरी पीटर का रुख खासकर इस समय महत्व रखता
है। कुछ पादरियों की चाल से अच्छे-से-अच्छे भारतीय
रुष्ट हैं। जिस तरीके से भारतीयों का ईसाईकरण होता
रहा है, वह स्तुत्य नहीं रहा है। जब भारत में पादरियों का

विरोध किया जाय, यह भूलना नहीं चाहिए कि लोजा देल
वास्तो तथा पादरी पीटर पुरुष-रत्न हैं और भारत के परम
मित्र हैं। ये महात्माजी तथा आचार्य विनोबा की ही भांति
इस मत के हैं कि जिसका आचार शुद्ध हो वही श्रेष्ठ ईसाई,
श्रेष्ठ मुस्लिम या श्रेष्ठ हिन्दू हैं। केवल जो लोग वही में नाम
लिखवाकर ईसाई आदि बनते हैं वे पक्के ईसाई, मुस्लिम या
हिन्दू नहीं हैं। पादरी पीटर की सचित्र पत्रिका में ईसाई-
ईसाइयों के धर्म-स्थानों के चित्र स्थान पा सकते हैं, क्योंकि
पादरी महोदय उदारचित्त हैं और चाहते हैं कि लोग उदार-
चित्त होकर द्वेष का दलन करें।

गोपालकृष्ण मल्लिक

एक शुद्ध दान

किसी जमाने में, किसी नगर में एक राजा राज करता था। वहीं पास के वन में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। उस ब्राह्मण के एक कन्या थी, जो विवाह के योग्य हो गई थी। उसकी स्त्री ने उसे सलाह दी कि वह राजा से इसके लिए प्रार्थना और याचना करे तो हमारी यह विपत्ति टल सकती है। ब्राह्मण याचना करने के लिए राजा के पास पहुंचा।

राजा ने उसकी प्रार्थना सुनकर ब्राह्मण को दस हजार स्वर्ण-मुद्राएं राज-कोष से प्रदान करने की आज्ञा दी। ब्राह्मण ने कहा, “यह स्वल्प है राजन्!” राजा ने उतनी ही रकम और बढ़ाने की आज्ञा दी। किन्तु ब्राह्मण ने पुनः प्रार्थना की, “महाराज! इससे इस दरिद्र ब्राह्मण की कन्या की शादी का कार्य नहीं सध सकेगा।” राजा ने फिर उतनी मुद्राएं बढ़ाने की आज्ञा दी, पर फिर भी ब्राह्मण कहता ही रहा, “यह बहुत ही कम है, इससे मेरा कार्य पूरा नहीं होगा।” अंत में हैरान होकर राजा ने अपना सम्पूर्ण राज्य ही ब्राह्मण को समर्पित कर दिया। किन्तु ब्राह्मण की उक्त रट फिर भी नहीं छूटी।

तब राजा ने ब्राह्मण से कहा, “महाराज! अब तो मेरे पास देने के लिए कुछ रहा ही नहीं। मुझसे क्या याचना करते हैं; क्योंकि अब तो मैं ही याचक बन गया हूं।”

“लेकिन आपके शुद्ध दान के वगैर मेरी कन्या का विवाह-यज्ञ संपन्न होना संभव ही नहीं है, राजन्!” ब्राह्मण ने बड़ी विकलता से राजा से कहा।

“लेकिन अपना सर्वस्व अर्पण करने पर भी वह शुद्ध-दान क्या बाकी रहा?” राजा ने साश्चर्य ब्राह्मण से पूछा।

“हां, आपके शरीर-परिश्रम द्वारा कमाई गई किंचित् मुद्रा ही मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ दान होगा, महाराज”, ब्राह्मण ने राजा से स्पष्ट प्रार्थना की।

राजा थोड़ी-देर मौन हो गहरे विचार में डूबे रहे और

फिर उन्होंने कहा, “प्रातःकाल तक मैं ऐसा शुद्ध दान आपको समर्पित कर सकूंगा।”

ब्राह्मण चला गया और रात को राजा अपना वेप बदलकर नगर में काम पाने की फिर में घूमने लगे। राजा ने देखा, सारी नगरी चैन से सोयी है; सिर्फ एक लुहार अपनी भट्ठी पर अब भी धाय-धाय करता काम कर रहा है। वह उसके पास गये और प्रार्थना की, “भाई! मैं एक गरीब आदमी हूं, इसलिए यदि तुम्हारे पास कोई काम हो तो देने की दया करो।”

लुहार ने कहा, “हां, मेरे पास इतना काम है, यदि प्रातःकाल तक तुम इसे पूरा कर डालो तो तुम्हें मेहनताना में चार पैसे दिये जायेंगे।”

राजा ने सारी रात कठिन श्रम करके उससे कुछ अधिक ही काम कर डाला और चार पैसा मात्र उस लुहार से पाकर प्रातः राजमहल में पधारे। सवेरा होते ही वह ब्राह्मण भी वहां हाजिर था। राजा ने सहर्ष वह शुद्ध दान उन्हें समर्पित कर दिया। ब्राह्मण खुशी-खुशी घर लौट गया और राजा से पाया वह महादान ब्राह्मणी के हाथों पर रख दिया। गरीब ब्राह्मणी बोखला उठी और उन पैसों को गनौरे पर फेंक दिया। दूसरे दिन सवेरे वहां स्वर्ण मुद्राओं से लदे चार वृक्ष उग आये। ब्राह्मणी को बड़ा आश्चर्य हुआ, पर ब्राह्मण सब मर्म समझता था। सारे नगर में इसका शोर मच गया। राजा भी उस आश्चर्य को देखने आये।

ब्राह्मण ने राजा का यथोचित सत्कार किया और कहा, “मेरे भले राजा! यह आप-जैसे नेक राजा के श्रम की कमाई का फल है। इसीसे तो श्रम की कमाई के सामने सारी संपत्ति और बड़ा-से-बड़ा राजपाट तुच्छ है।”

लेकिन उस भले राजा की इस कमाई की कीर्ति इस भले सभ्य युग में मिट चुकी है। तभी तो कितनी ही कुंवारी बेटियों को फांसी की शरण लेनी पड़ती है।

नरेन्द्रकुमार भनावत

अहिंसा की आठ उपमाएं

महावीर और बुद्ध ने जिस अहिंसा का वैयक्तिक जीवन में प्रयोग किया, उसीका गांधीजी ने सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में प्रयोग कर विश्व के सामने एक नया आदर्श रखा। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ तो केवल इतना ही होता है 'नहीं मारना'। यह उसका निषेधात्मक अर्थ है। पर इससे अधिक प्रेक्षणीय और क्रियमाण इसका विधिपरक अर्थ है—'मरते हुए को बचाना'। अहिंसा का मूल-भाव तब तक हृदयंगम नहीं हो सकता जबतक कि हम इसके विपरीत भाव हिंसा को न समझ लें। तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति ने हिंसा का लक्षण बताते हुए कहा है, 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा', अर्थात् मन, वचन, काया रूप तीन योगों से प्राण का विनाश करना हिंसा है। अहिंसा का इतना सूक्ष्म और गूढ़ विश्लेषण जैन-दर्शन की ही देन है।

हाथ में तलवार लेकर किसीका गला काट देना या पैरों से किसीको रौंद देना तो प्रत्यक्ष हिंसा है ही, जिसे देश-विदेश के सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। पर किसी निभूत कोने में बैठकर यह विचार मन में लाना कि अमुक पड़ोसी को सांप काट जाय, अमुक सेठ का दिवाला निकल जाय, अमुक व्यक्ति की मौत हो जाय या किसीको क्रोधित होकर कहना कि 'तू मर क्यों नहीं जाता?' या किसीको अभिशाप देना कि 'तेरा सत्यानाश हो', भी हिंसा है। यही नहीं, मानव प्राणी का वध ही हिंसा नहीं है, वरन् पांच इंद्रियां, (कान, आंख, नाक, जीभ, शरीर) तीन बल (मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कामबलप्राण) उच्छ्वास-निश्वास और आयु—इन दस प्राणों में से किसी एक भी प्राण का किसी प्राणी से वियोग करना भी हिंसा है जैसा कि उमास्वाति ने कहा है—

'पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलञ्च उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यध्यायः प्राणाः दशन्ते भगवद्भिः क्तास्तेषां वियोजिकरणं तु हिंसा'

हिंसा का विपरीत भाव अहिंसा है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

'अप्रमत्तयां शुभयोगपूर्वकं प्राणाव्यपरोपणमहिंसा'
अर्थात् अप्रमत्तता (सावधानता) से शुभयोगपूर्वक प्राणियों के

प्राणों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना एवं कष्ट में पड़े हुए प्राणी का कष्ट मिटाकर उसकी रक्षा करना अहिंसा है।

अहिंसक व्यक्ति सर्वत्र निर्भीक और निरापद होता है। वह न केवल अपनी रक्षा ही करता है, बल्कि अपने प्रभाव से हिंसक व्यक्ति को भी अहिंसक बना देता है। भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित 'चण्डकौशिक' का प्रसंग इस कथन का ज्वलन्त प्रतीक है।

साधना-काल में महावीर धूमते-धूमते उस प्रदेश में पहुंचते हैं जहां चण्डकौशिक सर्प की विषदृष्टि ने प्राणीमात्र को राख की ढेर बना रखा है और नन्दन कानन को श्मशान। अड़ोस-पड़ोस के आवाल-वृद्ध उन्हें रोकते हैं कि—हे महात्मन् आप उधर न जाइये, वहां विष-दृष्टि सर्प रहता है, वह आपको देखते ही पी जायगा। पर महावीर अकेले जाकर उस सर्प की बांबी पर ध्यानस्थ खड़े हो जाते हैं। सर्प आश्चर्या-न्वित होता है। सोचता है, यह किसने साहस किया है मेरे नजदीक आने का? फुत्कारता है, डसता है पर उस आत्म-जयी अहिंसक वीर ने आह तक नहीं की। न हिला, न डुला। कायोत्सर्ग में अविचल खड़ा रहा। इतने में चण्ड ने देखा कि जिस जगह उसने महावीर को काटा, वहां से खून की जगह अमृत की धारा बह रही है! वह चौंक पड़ा और महावीर ने उद्बोधन दिया—चण्ड चेत! सोच जरा! तू पूर्वजन्म में कौन था? क्यों सर्प बना? अब क्या कर रहा है? चण्ड के सामने उसकी पूर्व योनियां चल-चित्र की तरह एक-एक करके आने लगीं—वह तपस्वी है, मुनि है, गु है। उसने मेंढक की सूखी हड्डियों पर पैर दे दिया है। शिष्य ने गुरु से प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा, पर गुरु नहीं माना उल्टे शिष्य पर बिगड़ गया और क्रोधित होकर मारने लड़ा। शिष्य तो भाग गया पर रास्ते में एक खंभा मिल गया गुरु को। वह टकराया और सर फूट गया। इसी क्रोध का फल है कि वह सर्प बना! चण्ड को आत्मबोध हुआ। वह महावीर के चरणों में लिपट गया।

गांव के लोगों ने सर्प-देवता की पूजा की। दूध पिलाया।

दूध के प्रभाव से चींटियों ने आकर चण्ड के शरीर को घेर लिया। चण्ड हिला न डुला; इस भावना से कि कहीं मेरे करवट लेने से चींटियाँ दब न जायें, मर न जायें। कितना परिवर्तन ! क्षिप्र सुधाधाम बन गया ! यह है अहिंसा का प्रभाव ! यह है हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया ! यह है धर्म-चक्र प्रवर्तन !

इसीलिए तो अहिंसा को 'भगवती' कहा गया है और 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' के प्रथम संवर द्वार में उसे आठ उपमाओं से उपमित किया गया है। वे आठ उपमाएं निम्न हैं :—

१. जिस प्रकार भयभीत प्राणियों के लिए किसी-न-किसी की शरण का आधार होता है, इसी प्रकार संसार के दुःखों से संतप्त एवं त्रस्त प्राणियों के लिए अहिंसा ही आधारभूत है।
२. जिस प्रकार पक्षियों के उन्मुक्त विचरण के लिए आकाश का आधार होता है, उसी प्रकार सांसारिक प्राणियों की मुक्तावस्था के लिए अहिंसा का आधार है।
३. तृषित प्राणी जिस प्रकार जल पीकर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभादि विषयों में डूबा हुआ व्यक्ति अहिंसा का स्पर्श पाकर पुलकित हो जाता है।
४. भूखा व्यक्ति जिस प्रकार भोजन पाकर तृप्त हो जाता है उसी प्रकार भौतिकता की बोझिल राह पर चलनेवाला व्यक्ति अहिंसा का सम्बल पाकर आनन्दित हो उठता है।
५. समुद्र के अग्राध जल में डूबते हुए और हिंसक जल-जन्तुओं से भयभीत बने हुए तथा उत्तुङ्ग क्षुब्ध तरंगों से आहत होकर इधर-उधर उछलते हुए प्राणियों के लिए जिस तरह द्वीप या जहाज

आधार होता है, उसी प्रकार संसार-रूपी समुद्र में डूबते हुए, सैकड़ों दुःखों से पीड़ित, इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोगरूप तरंगों से भ्रान्तचित्त एवं प्रपीड़ित प्राणियों के लिए अहिंसा द्वीप या जहाज के समान आधारभूत होती है।

६. जिस प्रकार पशु को खूँटे का आधार होता है, उसी प्रकार मनुष्य की पाशविक चंचल प्रवृत्तियों को अहिंसा का आधार होता है।

७. जिस प्रकार रोगी औषधी का प्रयोग कर रोगमुक्त हो जाता है, उसी प्रकार माया-मोह में फंसा हुआ व्यक्ति अहिंसा का प्रयोग कर, उसके अनुरूप आचरण कर सिद्ध हो जाता है।

८. जंगल में मार्ग भूले हुए पथिक को किसीके साथ का आधार होता है, उसी प्रकार संसार में कर्मों के बशीभूत होकर नाना गतियों में भ्रमण करते हुए भव्य प्राणियों के लिए अहिंसा का आधार है।

अहिंसा अनन्त गुणवाली है। वह आत्मरक्षक भी है और पररक्षक भी, जबकि आज के स्पूतनिक युग में निर्भय होनेवाले, आविष्कृत होनेवाले अस्त्र-शस्त्र न तो आत्मरक्षक हैं, न पररक्षक ! आज अगर किसी अणु-आयुधों से भरे-पूरे देश पर कोई दूसरा देश आक्रमण कर दे तो आक्रान्ता देश अपनी रक्षा अणु-आयुधों के बल पर नहीं कर सकेगा। यह अलग बात है कि वह उनका प्रयोग आक्रमक देश की भस्मीभूत करने में भले ही कर ले ! अतः आज, जो मनुष्य के लिए मनुष्य का भय बढ़ गया है, जाति के लिए जाति का भय बढ़ गया है, राष्ट्र के लिए राष्ट्र का भय बढ़ गया है, उसे मिटाने के लिए, उसे कम करने के लिए, अहिंसा के बलपर, अहिंसा के प्रयोग पर, आत्म-आयुध बनाने की, आत्मा का वम बनाने की सख्त जरूरत है।

चन्द्रशेखर दुबे

मालवी विवाह

हर जनपद में विवाह की कुछ विशेष रस्में होती हैं; जो मोटे तौर पर उस जनपद की लगभग सभी जातियों में प्रचलित होती हैं। मालवा में भी विवाह की कुछ ऐसी ही विशेष रस्में हैं।

इन रस्मों का मोटे तौर पर निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है :—

१. बाना;

२. मंडप

(अ) सातिंग,

(ब) वख

३. घर ब्याह;

४. वरनकासी;

५. लगन;

६. चंवरी फेरा;

७. कांकन छूटना।

अब मैं उपरोक्त वर्गीकृत प्रत्येक रस्म का संक्षेप में वर्णन करने का प्रयास करता हूँ।

१. बाना—मालवी विवाह में 'बाना' सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आकर्षक रस्म है। विवाह का प्रारंभ ही इस रस्म से होता है। दूल्हा या दुलहिन को जिस दिन हलदी लगाई जाती है, उसी दिन से बाना शुरू हो जाता है। इसीलिए इस दिन को 'बाने बैठने का दिन' कहा जाता है। बाने बैठने के दिन से लगन के दिन तक जितने भी दिन बीच में रहते हैं, उतने बाने होते हैं। ग्राम तौर पर पांच, सात, नौ, ग्यारह आदि विषम संख्या के बाने लिये जाते हैं। बाने में मोटे तौर पर ये चार रस्में होती हैं :—

(अ) चौकपाट

(आ) कोळ्या

(इ) जुलूस

(ई) अंट्या रमना।

(अ) चौकपाट—स्त्रियां चौक पुराकर पाट बिछाती हैं। दूल्हा या दुलहिन को इस पाट पर बैठाती हैं। मंगलगीत

गाती हैं।

(आ) कोळ्या—'कोलया देने' की रस्म को सगुन कराना भी कहते हैं। पाट पर बैठे दूल्हा या दुलहिन को कुंवासियां (परिवार की बहिन-बेटियां) बताशे के कौर शुभ सगुन के लिए देती हैं। मालवी में कौर या निवाले को कोळ्या कहते हैं। इसलिए इस रस्म का नाम 'कोळ्या देना' पड़ा है।

(इ) जुलूस—लाड़ा-लाड़ी (वर-वधू) को शुभ कोलया दे देने के बाद जुलूस निकाला जाता है। जुलूस में लाड़ा-लाड़ी को घोड़े पर बैठाया जाता है। बाजे-गाजे के साथ धूम-धाम से सारे गांव में घुमाया जाता है। सामर्थ्यवान लोग जुलूस में हाथी, पालकी, बग्घी, छत्र, चंवर, बेंड, बांछड़ी (ग्रामीण नर्तकी), रंडी, गैस सभी कुछ सम्मिलित करते हैं। गरीबों का बाना ढोल व एक ढोड़े से ही निकल जाता है।

जुलूस को राह में रोककर रिश्तेदार, परिचित व प्रेमी लोग लाड़े-लाड़ी की 'खोल भरते' जाते हैं। अधिकतर लाड़ी की ही खोल भरी जाती है। खोल भरने की क्रिया आंचल में गेहूं, चावल, नरियल व पैसे आदि डालकर की जाती है।

(ई) अंट्या रमना—बाने का जुलूस गांव के खास चौक में आकर रुक जाता है। यहां नाई अपनी मशाल लेकर बीच में डट जाता है। (अब तो गैस व बिजली गांवों में पहुंच गई हैं, इसलिए मशाल छिपती जा रही है)। ढोली धड़िन्दा-धड़िन्दा करता हुआ बीच में आ डटता है। गांव के मतवाले तो इस क्षण की प्रतीक्षा ही करते रहते हैं। वे अंट्या (डंडे) लेकर मैदान में आ जाते हैं। ढोली ढोल की लय बदल देता है। 'धिन-धाई-भटकी' का स्वर गूंजने लगता है। गांव के मतवाले अंट्यों को ढोल के स्वर की लय पर रमते (खेलते) जाते हैं। मतवालों का डंडों को, झूमते हुए, ढोल की गति के अनुरूप आपस में टकराना व ढोल का तीव्र से तीव्रतर होता जाना 'धिन-धाई भटकी' का स्वर-समां बांध देता है। मतवाले धूल में

लौटते हुए अपने करतब दिखाने लगते हैं। बुढ़ों में भी ऐसा जोश आ जाता है कि देखते ही बनता है। गांव की गोरियों के गीत इस जोश को द्विगुणित करते रहते हैं।

अंत्ये रमते-रमते बीच में दूहेवाजी उड़ने लगती है। गांव के सयाने अपनी बुद्धि के जौहर बतलाते हैं। गांव के बांके तलवार खींचकर ललकारते हैं :—

थोरी सोय म्हारी सोय

राम दोय

सूज छला रे... छला रे... छला रे...

तेरी सौगन्ध, मेरी सौगन्ध

राम की दुहाई है

सुन छला रे, छला रे, छला रे !”

छेला को इस तरह सम्बोधित कर 'छला' (इस अवसर पर गाये जानेवाले विशेष गीत) गाये जाते हैं। तलवारें घुमाई जाती हैं। ढोलक तान 'धड़िन्दा' बोलने लगते हैं। मतवालों के बदन में फुरहरी-सी दौड़ जाती है। उनका सीना वालिश भर उठ जाता है। वे नये सिर से 'अंत्या रमने' लगते हैं। इसी तरह सवेरा हो जाता है। मगर मतवालों के अस्मान पूरे नहीं होते हैं। वे दूसरे दिन की तमन्ना लिये डगमगाते कदमों से घर लौटते हैं।

ऐसा है मालवे का 'वाना'। इसमें पहले वाने के दिन शीतला माता पूजी जाती है, कुम्हार का चाक बंधाया जाता है व गणेश की पूजा होती है। इस दिन डंड नहीं खेलते हैं। इसीलिए इसको 'छाना-माना' (गुपचुप) वाना कहते हैं। दूसरे वाने 'झरमर' वाने कहलाते हैं।

२. मंडप—आखिरी वाने के दिन मंडप होता है। सामर्थ्यवान लोग वांस का मंडप बनाते हैं। नहीं तो अधिकतर लोग दरवाजे के सामने दोनों कोनों पर हल खड़ाकर देते हैं। इनपर पत्ते या कड़वी रख देते हैं। यही मंडप हो जाता है।

(अ) सातिग—दूल्हा-दुलहिन के मां-बाप छड़ा-गठन धाँधकर चौक पर बैठते हैं। पुरोहित पूजा-अर्चना करवाते हैं। इस रस्म को सातिग कहते हैं।

(आ) बख भरना—मंडप के दिन ब्याहवाले घर की स्त्रियां कुम्हार के यहाँ से कोरे (नये) बारिखें (छोटा मट्टी का लौटा) घर के पास के नदी-नाले से जल भरकर

लाती हैं। इस कलश की विधिवत् पूजा की जाती है। इस प्रथा को बख भरना कहते हैं। यह शायद बरद का अभ्यंश है।

३. घर ब्याह—वर या वधू के यहाँ लग्न के पूर्व अपने रिश्तेदार, परिचित व प्रेमियों को भोजन दिया जाता है। इस भोजन में लोग अपनी सामर्थ्यानुसार निमंत्रण भेजते हैं। किन्तु तीस-चालीस गांवों के लोगों का ऐसे अवसरों पर एकत्रित होना साधारण बात है।

ग्रामीणों के भोज की सादगी व व्यवस्था भी दर्शनीय है। हजारों लोग एकत्रित होते हैं, मगर दो-तीन घंटों में बड़ी सरलता से सारा काम निवट जाता है। एकत्रित लोगों को गांव में या गांव-बाहर उचित स्थान देखकर बैठ दिया जाता है। बैल-गाड़ियों में खाद्य पदार्थ भरकर भेज दिया जाता है। परोसनेवाले एक ही बार में काफी खाद्य पदार्थ परोसते चलते हैं। यदि संभव होता है तो भोजन के लिए बेंठी पंक्तियों के बीच में पानी की नाली के द्वारा चड़स चलाकर पानी पहुंचा दिया जाता है। यदि यह संभव नहीं होता है तो कुम्हार पानी पहुंचा देता है। इस तरह देखते-ही-देखते हजारों व्यक्ति भोजन कर लेते हैं।

सामर्थ्यवान लोग शहरी ढंग से भी भोजन कराने लगते हैं। इसीको घर-ब्याह कहते हैं।

४. बर नकासी—यह रस्म सिर्फ लड़के के ब्याह में ही होती है। इसमें दूल्हे को लग्न के एक दिन पूर्व नये कपड़े पहना कर गांव से बाहर ले जाया जाता है और फिर गांव में ही ब्याह-घर के अतिरिक्त और कहीं ठहरा दिया जाता है। इस रस्म को 'लाड़े का उगलना' भी कहते हैं।

इस दिन 'वान' की महत्वपूर्ण रस्म होती है। वान की रस्म में लोग व्यवहार के अनुरूप दूल्हे को भेंट करते हैं।

५. लग्न—किसानों में बारात का 'कांकड़' (गांव की सीमा) पर आजाना लग्न के बराबर माना जाता है। बारात बन्दूक छोड़ती हुई धूम-धाम से गांव की सीमा में जैसे ही प्रवेश करती है सच्चे लग्न हो गये, यह मान लिया जाता है। फिर पुरोहित रस्मी लग्न कराता जरूर है; मगर वह इतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता।

दुलहन के यहांपर भी 'वान' की तरह 'हिचावणी' होती है। इसमें भी 'व्यवहार' किया जाता है।

६. चंवरी फेरा—लगन के बाद चंवरी फेरा की रस्म की जाती है। कुम्हार के यहां से नये बर्तन लाकर मंडवे में चारों कोने पर रच दिये जाते हैं। मंडवे के अभाव में कूहीपर भी यह क्रिया कर दी जाती है। फिर पलंग फेरे कर दिये जाते हैं।

७. कांकण छूटना—चंवरी फेरे के बाद बारात लौट जाती है। वर के घर कंकन छूटते हैं। इस समय वर व वधू को विभिन्न खेलों में भाग लेना पड़ता है। बालटी के पानी

में छल्ला ढूँढ़ना, एकी-बकी, गठान खुलवाना आदि मुख्य खेल हैं।

कंकन छूटना विवाह की समाप्ति का सूचक है। कुलदेवी की पूजा व श्री सत्यनारायण की कथा के बाद विवाह पूरा होता है।

नाई व कुम्हार पर गांवों में विवाह के समय लोग बहुत अधिक निर्भर करते हैं। इन्हींके भरोसे सारा काम छोड़ दिया जाता है।

(पृष्ठ ३३२ का शेष)

जहाँ ही चारों तरफ बोलवाला था। विदेशी स्वयं शक्तिशाली थे; उनमें श्रेष्ठता का माप-दण्ड पौरुष और शील था। इसीलिए पौरुष और शील का—बुद्ध के मुख तथा बोधिसत्वों के मुखों पर—उद्रेक होता दिखाया गया है।

इस प्रकार बुद्ध-प्रतिमा का, वैदिक सुधारणा के फल-स्वरूप तथा यवन, शक, पहलव और कुषाण आदि जातियों की प्रेरणा-शक्ति से, आविर्भाव हुआ। वैदिक प्रतिक्रिया के कारण उनमें कर्मकाण्डों का विधान हुआ तथा विदेशियों के आगमन से बुद्ध का मूर्तन संभव हुआ—ऐसी जातियों के द्वारा जो युद्ध के लिए तत्पर रहती थीं, जिनके देवता यम और हेराक्लस—मृत्यु के देवता—वर्बराता के द्योतक देवता थे।

परंतु भारतीय सीमा में प्रवेश करते ही वे, शील की प्रतिमा, बुद्ध से प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसको इन विदेशी राजाओं के सिक्के और अभिलेख प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार पौरुष और शील का समन्वय होता है। यही कारण है कि बुद्ध की प्रारंभिक प्रतिमाओं में पौरुष और शील का उद्रेक होता दिखाया गया है। जैसे-जैसे विदेशियों की युद्ध-लिप्सा क्षीण होती गई, धर्म की वास्तविकता को वे समझने लगे, बुद्ध-प्रतिमा के अंकन में परिवर्तन होने लगता है—पौरुष और शील के स्थान को शांति और सौम्यता ग्रहण करने लगते हैं। इस प्रकार बुद्ध-प्रतिमा का आविर्भाव होता है, धार्मिक सुधारणा की पृष्ठभूमि में।

खलील जिवान

रात

ऐ रात ! तू कवियों, प्रेमियों और गवैयों के विश्राम का समय है।

ऐ रात ! तुझमें परछाइयाँ आत्माओं और स्वप्नों के साथ निवास करती हैं।

ऐ रात ! तू हमारी इच्छाओं, कामनाओं और स्मृतियों को अपने आंचल में छुपा लेती है।

ऐ रात ! तू ऐसे महाकाय देव के समान है जो सायंकाल के छोटे-छोटे बादलों और प्रभात की बधुओं के बीच भय और आतंक की तलवार लगाये, चन्द्रमा का मुकुट और मौन का परिधान पहने खड़ा है, और जो सहस्रों आंखों से जीवन की गहराइयों को देखता है और सहस्रों कानों से विनाश और मृत्यु की आहों और सिसकियों को सुनता है।

*

*

*

यह तेरा ही अंधकार है, जो हम पर स्वर्गीय प्रकाश को प्रकट करता है, क्योंकि दिन के प्रकाश ने हमें धरती के अंधकार से घेर रखा है।

यह तेरा ही आशवासन है, जो अनन्त को हमारी दृष्टि के सामने करता है, क्योंकि दिन के वृथा अभिमान हमें काल और लोक के विस्तर में आंखों के समान जकड़े हुए हैं।

यह तेरा ही शांत मौन है जो सदा जागरूक, व्याकुल और बेचैन रहनेवाली आत्माओं के रहस्यों को प्रकट करता है, क्योंकि दिन तो एक उपद्रवमय शोर है, जिसमें आत्माएं इच्छाओं और लालसाओं के तीक्ष्ण खुरों के नीचे दबी रहती हैं।

ऐ रात ! तू एक गड़रिया है, जो नींद के बाड़े में निर्धनों के स्वप्नों और बलवानों की आशाओं को इकट्ठा करती है।

ऐ रात ! तू एक सिद्धनी है, जो अपनी रहस्यमयी अंगुलियों से दीन और हतभरो जनों की पलकों बन्द करती है और उनके हृदयों को एक ऐसे संसार में ले जाती है, जो इस संसार से अधिक कृपालु है।

ऐ रात ! तेरे श्याम आवरण की तहों में प्रेमियों को

आश्रय मिलता है और स्वर्गीय ओस से गीले तेरे चरणों में विरह-पीड़ित हृदयों ने अश्रुपात किया है।

खेतों और अंगूरों के उद्यानों की सुगंध से सुगन्धित तेरी हथेलियों में परदेसियों ने अपनी बेचैनियों और निराशाओं को रखा है।

ऐ रात ! तू प्रेमियों की सखी, एकान्तवासियों की सुखदात्री और असहायों का आतिथ्य करनेवाली है।

तेरी गहरी छाया में कवियों की कल्पनाएं मचलती हैं, तेरे आंचल में अवतारों के हृदय जाग्रत होते हैं और तेरे ललाट पर चिंता अपनी रेखाएं अंकित करती है, क्योंकि कवि के लिए तू सप्ताह, अवतार के लिए दृष्टि और चिंतक के लिए एक परम मित्र है।

*

*

*

जब मेरी आत्मा लोगों से उकता गई और मेरी आंखें दिन के चेहरे को ताकते-ताकते थक गईं, तो मैं दूरवर्ती खेतों में चला गया, जहां अतीत की छाया निद्रामग्न थी।

वहां मैं एक श्याम और मौन प्राणी के सामने खड़ा रहा, जो अपने सहस्रों पांवों से पर्वतों पर, घाटियों और मैदानों में घूम रहा था।

वहां मैं अंधकार की आंखों में देखता रहा और अदृश्य पंखों की फड़फड़ाहट को सुनता रहा। उस समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं निराकार वस्त्रों को छू रहा हूँ और मेरा हृदय किसी अदृष्ट शांति के भय से कांप उठा।

ऐ दुःख उत्पादक, सुन्दर और डरावनी रात ! मैंने तुझे आकाश और पृथ्वी के बीच में बादलों का परिधान पहने और कुहर की करधनी बांधे देखा। तू सूरज के प्रकाश पर हंस रही थी और दिन के प्रभुत्व की हंसी उड़ा रही थी। मैंने तुझे उन असंख्य दासों पर घृणा प्रकट करते देखा, जो मूर्तियों के सामने रातभर घुटने टेके निद्राहीन पड़े रहते हैं और उन राजाओं को शर्म तिरस्कार करते हुए देखा, जो अपने मखमली और रेशमी गद्दों में स्वप्न भंग सोते हैं।

मैंने तुझे चोरों की आंखों में आंखें डालकर देखते और

रात

: ३४३ :

खलील जिवान

सोते हुए बच्चों की रक्षा करते हुए देखा।

बेध्याओं की मुस्कराहट पर रोते और प्रेमियों के आंसुओं पर मुस्कराते हुए भी तुझे देखा, ऐ रात ! और अपने दांयें हाथ से महान् हृदयवाले मनुष्यों को उठाते देखा और शुद्ध आत्माओं को अपने पांव तले रौंदते हुए भी मैंने तुझे देखा।

* * *

ऐ रात ! मैंने तुझे देखा और तूने मुझे। तू अपने प्रभावशाली सौन्दर्य में मेरे लिए एक माता के समान थीं और मैं अपने स्वप्नों में तेरे एक बेटे के समान, क्योंकि अस्तित्व के परदे हटा लिये गए थे और सन्देशों के परदे फाड़ दिये गए थे। तूने अपने गुप्त उद्देश्यों को मुझ पर प्रकट कर दिया था और मैंने अपनी सभी आशाओं और इच्छाओं को तुझे बता दिया था। तब तेरी प्रभुता एक ऐसा मधुर संगीत बन गई, जो फूलों की चटक से भी अधिक मंद और धीमा था। और मेरे भय और आशंकाएं पक्षियों के सबसे अधिक भरोसे में परिणत हो गईं।

तूने मुझे उठाया और अपने कंधों पर स्थान दिया। और मेरी आंखों को देखने, कानों को सुनने, होठों को बोलने और हृदय को प्रेम करने की शिक्षा दी। तूने अपनी जादूभरी अंगुलियों से मेरी कल्पना को छुआ और मेरे भाव एक बहती हुई नदी के समान प्रवाहित होने लगे। वह सूखी हुई घास को अपनी धारा में बहाकर ले गई।

तूने अपने होठों से मेरी आत्मा को चुम्बन दिया और वह अग्नि की तरह भड़क उठी। उसकी लपटों ने समस्त निर्जीव और दम तोड़ती हुई वस्तुओं को अपने आलिंगन में ले लिया।

* * *

ऐ रात ! मैं बराबर तेरा अनुसरण करता रहा। यहां तक कि मुझमें और तुझमें कोई अन्तर न रहा।

मैं तेरे एक साथी के रूप में चलता रहा, यहां तक कि तेरी कामनाएं मेरी कामनाएं बन गईं।

मैंने तुझे प्रेम किया, यहां तक कि मेरा समस्त अस्तित्व तेरे अस्तित्व का एक छोटा-सा रूप बन गया।

मेरे अंधकारपूर्ण अंतरंग में भी चमकते हुए तारे हैं,

जिन्हें प्रबल इच्छाएं सायंकाल बखेर देती हैं और आक-संदेह प्रभात की किरणों में इकट्ठे कर लेते हैं।

और मेरे हृदय में एक चांद भी है, जो कभी गहरे-गहरे काले बादलों से और कभी सर्वव्यापी स्वप्नों के समूह से संघर्ष करता है।

अब मेरी आत्मा में एक ऐसी शांति निवास कर रही है, जो प्रेमियों के रहस्यों और उपासकों की प्रार्थनाओं को प्रकट करती है। और मेरे चेहरे पर रहस्यों को तानों-बानों का ऐसा परदा पड़ा है, जिसे मृत्यु की पीड़ा तार-तार कर देगी, पर जवानी के गीत जिसे फिर रफू कर देंगे।

* * *

ऐ रात ! मैं तेरे ही समान हूं और यदि इन्सान मुझे घमंडी समझते हैं, तो क्या वे अपने आपको दिन से उपमा देकर अभिमानी नहीं बनते हैं।

मैं तेरे ही जैसा हूं, ऐ रात ! और तेरे ही समान मुझ-पर भी ऐसी बहुत-सी बातों का दोष लगाया जाता है, जिनका मैं जरा भी दोषी नहीं हूं।

मैं अपनी भाषाओं, स्वप्नों और अपने अस्तित्व के कारण तुझ-जैसा ही हूं।

मैं तेरे सदृश ही हूं, यद्यपि सन्ध्या अपनी सुनहरी किरणों का मुकुट मुझे नहीं पहनाती है। मैं तेरे जैसा ही हूं, ऐ रात ! यद्यपि उषारानी मुझे मोतियों और फूलों से सजे हुए शाही वस्त्र नहीं पहनाती है।

मैं तेरी तरह ही हूं, यद्यपि मुझे आकाश-गंगा की करधनी प्राप्त नहीं है।

मैं भी एक विस्तीर्ण और शांत रात हूं, यद्यपि मेरे पांव में बेड़ियां भी हैं और मैं विद्रोही भी हूं।

मेरे अंधकारों का कोई आदि नहीं और मेरी गहराइयों का कोई अन्त नहीं है।

जब मृत लोगों की आत्माएं आनन्द के प्रकाश में अभिमान से उठेंगी, तो मेरी रात सदृश, आत्मा अपने दुःखों के अंधकार से प्रतिष्ठित होकर इस संसार की ओर उतरेगी।

ओ रात ! मैं तेरी तरह हूं। और जब मेरा अरुणोदय होगा, तभी मेरा जीवन भी समाप्त होगा।

—अनु० मा० द० जैन

सुमेरसिंह दइयाँ

धूल का फूल

हरामी ! सिर्फ साढ़े बारह आने के पैसे ही लाया है ?”

“काका ! आज भीख कम मिली है।”

“कम ?”

“हाँ, काका !”

“काका के बच्चे !”

तड़ाक ! क्रोधावेश में लंगड़े ने मदन की पीठ पर लकड़ी ही जड़ दी। मदन दर्द से चीख पड़ा।

“तुझे मत मारो, काका !” मदन रोते हुए बोला।

“आज इतने ही पैसे मिले हैं।”

“साले !” लंगड़े ने दांत पीसे। “मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ। चाट-पकोड़ी खाकर तूने पैसे उड़ा दिये होंगे। इसमें तो एक पक्का भी नहीं आयेगा।”

मदन झोंपड़े के एक कोने में खड़ा आँखें मसलकर धीरे-धीरे सुबकने लगा। बाएँ हाथ से वह पीठ भी सहला रहा था। कुप्पी के मंद-मंद प्रकाश में वह बारह-तेरह वर्ष का अबोध बालक भयभीत मृग-शावक की तरह थर-थर कांप रहा था।

“कमीने मरनेवाले मर गये और अपनी इस बला को मेरी जान खाने के लिए छोड़ गए। और-तो-और, इस बदमाश से भीख तक नहीं मांगी जाती। इसको कई तरकीबें बता चुका हूँ। किस तरह लोगों की आँखों में धूल झोंककर उनको ठगा जाता है ? किस तरह गिड़गिड़ाकर, उनके आगे हाथ जोड़कर, पैरों में पड़कर उनकी जब से पैसे निकाले जाते हैं ? मगर तेरी खोपड़ी में कुछ घुसता ही नहीं।... तुझसे तो रमुआ ही अच्छा, जो आँखें रहते अंधा बनकर लोगों को खूब ठगता है।”

मदन के आंसुओं का तार टूट ही नहीं पा रहा था।

“अबे गधे, रोता है !” मिहायत घृणा से मुँह बिगाड़कर लंगड़ा फिर कहने लगा, “तेरे जैसे छोकरे तो बड़ी सफाई से जेब भी काट लेते हैं। पर तू तो बिल्कुल निकम्मा है; ऐसे को खकर मैं क्या चाटूँ ? मुफ्त में रोटियाँ मूँस से डाली नहीं जाती; निकल यहाँ से... हरामी... कमीना... कुत्ता !”

मदन भागकर झोंपड़े से बाहर निकल गया। वह करुण स्वर में रोने लगा। लंगड़ा अंदर से बुरी तरह गालियाँ बक रहा था।

यह भिखारियों की वस्ती है, जो शहर से दूर, उसके अंतिम किनारे पर, बसी हुई है। लगभग तीस-चालीस झोंपड़े होंगे—गोबर व फूस के बने बड़े ही कुरूप, गंदे और भोंडे ! वहाँ की संकरी और बदबूदार गलियों में खुजली से सड़ते हुए कुत्ते और मरियल गायें हमेशा घूमा करते हैं। कुछ ही दूर पर शहर का कूड़ा डालने का गंदा स्थान है। तेज़ धूप और बरसात में वहाँ से बड़ी दुर्गन्ध उड़ती है। प्रत्येक प्राण-घातक रोग का जन्म यहाँ से होता है और ये वदनसीब पहले-पहले उसके शिकार बनते हैं, फिर उसका व्यापक विस्तार सुदूर क्षेत्रों में भी फैल जाता है।

मदन ने अपने आंसू पोछे और झोंपड़े पर अंतिम, पर मोहाच्छन्न, दृष्टि डालकर विदा ली। कुछ देर तक वह इधर-उधर निरुद्देश्य घूमता रहा। फिर उस चांदनी रात में वह धीरे-धीरे वस्ती के बाहर निकल गया। यद्यपि उसके मन में रह-रहकर भय की एक अज्ञात लहर तरंगित हो उठती और अचानक उसके रोंगटे खड़े हो जाते।

अब भूख सताने लगी। सुबह एक बासी रोटी खाकर भीख मांगने निकला था। वहाँ किसीने भुने हुए चने भी दे दिये थे; पर उनसे क्या होता ?

उसने सोचा—क्यों न कूड़े-करकट के ढेरपर जाकर कुछ खोज करे; शायद कोई रूखी-सूखी रोटी का टुकड़ा ही मिल जाये। परन्तु उसके खाने के बाद प्रायः जी मितलाने लगता है और उल्टी आने लगती है।

भूख ने एकबार फिर जोर मारा; मगर मन मसोसकर चुप रह जाना पड़ा। उसने वहाँ जाने का ख्याल बिल्कुल छोड़ दिया।

“मदन !” तभी पीछे से आकर उसका कंधा छूते हुए किसीने पुकारा।

“कौन ?” चौंककर मदन बोला।

धांदनी के उस निर्मल प्रकाश में उसके जिगरी दोस्त रमुआ की आकृति छिप न सकी—उसने फौरन पहचान लिया, उसने एक अर्थपूर्ण दृष्टि रमुआ पर डाली और पूछा, “तू इस वक्त यहां ?”

“हां, वही तेरीवाली बात।”

“क्या ?”

“अब, समझा नहीं।”

“नहीं।”

“आज बापू ने मुझे पीटा और घर से निकाल दिया।”

“क्यों ?”

“भीख के पैसों की मिठाई उड़ाई थी।”

रमुआ खिलखिलाकर हँस पड़ा। अब मदन भी अपना दुःख भूलकर उसकी हँसी में योग देने लगा। उदास और नैराशपूर्ण वातावरण हँसी से मुखरित हो उठा।

रात भीग गई और दोनों बालक ठंडा पानी पीकर भूखे पेट ही आसमान के नीचे तारों की छाया में सो गये।

: २ :

मदन को काम मिल गया। दरअसल, वह एक रेस्तरां के आगे भीख मांगने खड़ा हुआ तो उसके मालिक ने अपनी गोल उल्लू-सी क्रूर आंखें धूमाकर उसे थोड़ा गौर से देखा। मानव हृदय के पारखी उस चालाक मैनेजर से उसका भूखा-प्यासा चेहरा छिप न सका। उसने मदन को पास बुलाया और भारी कंठ से पूछा, “काम करेगा ?”

“काम !” मदन चौंक पड़ा। यद्यपि यह सवाल कई बार पूछा गया है; मगर फिर भी किसीने कृपा करके कोई उपयुक्त काम नहीं दिया। इसका हुलिया देखकर सब कतरा जाते हैं। आबारा, लफंगा और भिखमंगा कहकर दुत्कार देते हैं।

“हां, काम।” मालिक कहने लगा। “तुझे भरपेट खाना मिलेगा। समझा !”

खाना—वस, उसे क्या चाहिए ? अंधे को क्या चाहिए, सिर्फ दो आंखें ! मदन के सूखे होठों पर हठात एक फीकी मुस्कान खिल उठी। उसने कहा, “अच्छा।”

“आओ अंदर।”

मदन को एक कप चाय, एक सूखी डबल रोटी और दो बासी कज्जी खाने को दीं। यद्यपि इतनी चीजें पर्याप्त नहीं

थीं; फिर भी उसका भूखा मन एकाएक शांत हो गया। वह शीघ्र ही काम में लग गया। मेजों साफ़ की और फिर झूठी प्लेटें धोने बैठ गया।

कुछ देर तक तो उसने बड़े उत्साह से काम किया; किन्तु यहां तो काम खत्म होने का नाम नहीं। यदि दस प्लेटें साफ़ करके रखता है, तो तत्काल ही उसकी जगह बीस प्लेटें और आजाती है। उसकी ओर से थोड़ी-सी ढिलाई देखकर मालिक कभी-कभी घुड़की ऊपर से बताता है। यहां हालत यह होगई कि बैठे-बैठे पैर जम गये। हाथ दुखने लगे और घुटनों में दर्द शुरू होगया। चाय-कज्जी का आधार भी अब समाप्त-प्राय होगया और पेट में चूहे कूदने लगे। रात के दस बजे के लगभग उसने बड़े करुण स्वर में कहा, “मालिक ! अब तो छुट्टी मिलनी चाहिए।”

मैनेजर ऊंच रहा था। वह अपने काउन्टर पर बैठा एक मीठी झपकी ले रहा था। मदन के इस कंठस्वर ने उसमें खलल डाला; अतः रुष्ट होगया। उसने बड़ी बेरहमी से मदन का कान उमेठा और चिल्लाकर बोला, “क्यों बे, यह खाला का घर है, जो फोकट में छुट्टी चाहता है।”

उसने दांत पीसे और मदन की पीठ पर धोल जमा दी। कर्कश कंठ से वह पुनः चीखा, “चल, काम कर।”

अच्छी जान आफत में फंसी। बासी रोटी और एक कप चाय तो सचमुच बहुत महंगी पड़ी। कैसा गधा है वह ! ... अब ?

उसने याचना करती हुई अपनी दयाद्र आंखें चारों ओर घूमाई; फिर दम साधकर तीर की तरह वहां से भाग निकला। पलक झपकते ही वह दृष्टि-पथ से ओझल होगया।

: ३ :

रमुआ उसे मिला एक नये रंग-रूप में। रेशमी बनियान, काली पैंट, गले में बंधा खूबसूरत रुमाल और मुंह में चार मीनार सिगरेट ! उसके उलझे बाल भी आज ठीक ढंग से संवारे हुए थे और मुखपर एक गर्वीन्नी मुस्कान थिरक रही थी।

मदन दंग रह गया। वह दृष्टि गड़ाकर उसे गौर से देखने लगा। यह अनोखा ठाट तथा अप्रत्याशित परिवर्तन उसकी कुछ समझ में नहीं आया।

रमुआ हँसा एक दर्प-स्फीत कौ हँसी और मदन के

जीवन-साहित्य

पर हाथ मारकर बोला, "क्यों वे, आज यूँ घर-घूर कर क्या देख रहा है?"

"यार! तू तो ऊपर से नीचे तक बदल गया है!" बड़े विस्मय से मदन कहने लगा, "कहीं अच्छी-सी नौकरी तो नहीं मिल गई?"

"अबे हट!" उसका प्रश्न सुनकर रमुआ मुँह बनाकर बोला, "नौकरी और बूट पालिश तेरे-जैसे फिसड्डी करते हैं।"

और उसने बड़ी हिकारत की नज़रों से मदन के बूट-पालिश के बक्से और उसके मैले-कुचैले कपड़ों को देखा।

और मदन सिटपिटा गया। रमुआ की घृणा-व्यंजक दृष्टि उसके कलेजे को चीरती चली गई।

रमुआ उसके निकट आगया और कान के पास मुँह ले जाकर आहिस्ता-से कहने लगा, "देखा, यारों के हाथ! प्यारे, यह हाथ की सफ़ाई और एक छोटी-सी कैंची का कमाल है। तुझे भी समझाता हूँ; पर तू डरपोक है।"

वह विद्रूप की हँसी हँसा और एक तीखा कटाक्ष मदन की तरफ़ करके चलता बना। यह मदन के आत्म-सम्मान पर सीधा आघात है; अतः वह सहन न कर सका और वह धीरे-धीरे रोने लगा।

वह काफ़ी देर तक इधर-उधर भटकता रहा; फिर एक अखबार के कार्यालय में घुस गया।

"मदन! क्या बात है?" सम्पादक प्रेमचंद ने उसे सुस्त और रंझासा देखकर पूछ लिया।

"कुछ नहीं।" मदन भरपि कंठ से भीमे-से बोला और उनके जूते उठाकर पालिश करने लगा।

मदन यहां अक्सर आया करता है। प्रेमचंद इससे जूते पालिश करवा लेते हैं। उन्हें यह लड़का उन जैसे लड़कों से थोड़ा भिन्न लगता है; अतः उससे बातें करते रहते हैं। जैसा कि उनका स्वभाव है, वह किसीके प्रति उपेक्षा भाव नहीं रखते, एक निरपेक्ष-सम दृष्टिकोण रखते हैं; फिर भी वे मदन पर, पता नहीं क्यों, इतने अधिक कृपालु होते जा रहे हैं, वह खुद समझ नहीं पाते।

प्रेमचंद को हठात् कुछ याद आया; वह सोचकर बोले,

"मदन! एक काम करेगा?"

"जी हाँ।"

"भई, आज अखबार बेचनेवाला लड़का नहीं आया; बीमार होगया है। इसलिए तुम शहर में जाकर अखबार बेच आओ।"

"हां।" मदन प्रसन्न मन से बोला।

"अच्छा, रामू से दो-सौ अखबार ले लो।"

मदन को जैसे मनचाहा पुरस्कार मिल गया। उसके पैरों के पंख लग गये। वह उस अखबार बेचनेवाले लड़के को रोज़ चिल्लाते देखता है, वह भी उसकी तरह आवाज़ देकर बेच देगा।

यद्यपि प्रेमचंद के मन में अचानक आशंका और अविश्वास का धुन्धला-सा विचार उत्पन्न हुआ, कहीं मदन सारे पैसे हज़म न कर जाय; मगर शीघ्र ही उन्होंने इस मन के अंदेश को बड़ी कठोरता से दबा दिया।

"तो कौन-सा अनर्थ हो जायगा।" वह निश्चित-से होकर मन-ही-मन बोले।

: ४ :

ठीक दस वर्ष बाद—

जेल से छूटकर रमुआ सीधा अखबार के दफ़्तर की ओर आया। बड़ी चोरी के अपराध में उसे सज़ा होगई थी।

वह कार्यालय में घुसा और सामने कुर्सी पर बैठे, सफ़ेद खादी के कपड़े पहने एक तरुण पर जाकर उसकी दृष्टि ठहर गई। वह बड़ी शांतिपूर्वक गर्दन झुकाए कागज़ पर कुछ लिख रहा था।

"नमस्कार बाबूजी!" रमुआ ने अभिवादन किया।

"कौन?" तरुण ने सिर उठाकर अचकचककर पूछा। उसने रमुआ को ध्यान से देखा; तत्पश्चात् वह पहचानकर बोला, "रमुआ।"

"हां, मदन! तुम्हारा वदनसीब दोस्त!"

रमुआ की आंखें छलछला आईं।

मदन कुर्सी पर से उठा और भाव-विह्वल होकर उसे छाती से लगा लिया।

"मदन! तू आदमी बन गया है और मैं...!"

रमुआ कातर वाणी में बोलकर आंसू बहाने लगा। मदन का हृदय द्रवित होगया। वह आर्द्र-कंठ से कहने

(शेष पृष्ठ ३४७ पर)

हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

योग्यतार्जन और कार्य-संलग्नता

कार्य-क्षेत्र में योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति ही विजय-पताका फहराते आगे बढ़े-चले जाते हैं। अयोग्य व्यक्ति तो डरे-सहमे, गिरे-पड़े-से एक कोने में मुंह छिपाये चुप खड़े तमाशा ही देखा करते हैं; न उनसे कुछ हो पाता है, न वे वहां शोभते ही हैं।

बात यथार्थ है, किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि कार्यरतता से नितान्त मुंह मोड़कर समूची शक्ति और समय योग्यतार्जन में ही लगा दिया जाय। ऐसा करना तो सर्वथा आत्मघात होगा। इस तरह तो हम निकम्मे—निकार्य होकर रह जायेंगे। जीवन कार्यरतता में है; अतः निर्जीव—जीवन-विहीन हो जायेंगे।

कहा जा सकता है—'घबराने की क्या बात है! उम्रभर के लिए तो कार्य-विरत नहीं किया जा रहा। योग्यता-सम्पन्न होने के बाद पेटभर कर कार्यरत हो लेना।' माना, पर प्रश्न तो यह है कि यह योग्यता-सम्पन्नता आयेगी कब? कुछ-न-कुछ योग्यता तो सदा आरम्भ से सभीको प्राप्त होती है। अब भी प्राप्त है। कम-बढ़तीपन सापेक्ष है। तो फिर योग्यता-सम्पन्नता से तात्पर्य योग्यता की नितान्त पूर्णता से ही हुआ न? और तब हम कह सकते हैं कि न नव मन तेल होगा न राधा नाचेगी। नितान्त पूर्णता तो एक आदर्श है। व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर कसा जाँकर तो बहुधा वह काल्पनिक ही ठहरता है, जीता-जागता सत्य नहीं। फिर उसकी प्राप्ति का क्या विश्वास?

(पृष्ठ ३४६ का शेष)

लगा, "यह तो प्रभु-कृपा और बाबूजी (प्रेमचंद) की असाधारण उदारता का परिणाम है, जो मुझे इस रूप में दे रहे हैं!"

"भइया! मुझे भी इस नरक से उबारो!"

"जरूर!" मदन रमुआ का निर्णय सुनकर खुशी से बोला।

"पर मैं बहुत बुरा हूँ।"

"सगले! बुरा ही भला बरता है। देख, मैं भी बुरा

विश्वास की क्या बात, सर्वथा सन्दिग्ध ही है उसकी उपलब्धि। एक बात और भी है। योग्यतार्जन और कार्यरतता में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। योग्यता से काम चलता है तो काम से योग्यता बढ़ती है। बिना काम किये, काम में लाये तो किसी भी अवस्था में योग्यता पूर्णत्व के शिखर पर पहुँचने से रही। उतने अंश में तो नीचे रह ही जायगी जितने अंश की कमी काम में लाने पर ही पूरी होती। इतना ही नहीं, बिना काम में लाये, उपार्जित योग्यता की भी दुर्गति हो जायगी, खाली पड़े-पड़े उसे जंग लग जायगा। निरर्थक हो कर रह जायगी वह।

तो फिर क्या किया जाय? निष्कर्ष क्या निकला? हमारी अल्प मत्यानुसार तो उचित बात यह है कि योग्यतार्जन की किया जाय और कार्यरत भी रहा जाय। दोनों बात साथ-साथ साधी जाय—निभाई जाय। इस तरह दोनों हाथ चांदी रहेगी। प्राप्त योग्यता को लेकर कार्यरत रहने से योग्यतार्जन में वृद्धि होगी। उसकी गति में तीव्रता आयेगी। इधर योग्यतार्जन—योग्यता-वृद्धि कार्य और कार्यरतता को मिलायेगी; उन्हें चार चांद लगायेगी। फलतः आगे चलकर किसी भी दिन वह विलक्षण क्षण आ सकता है—आयेगा ही, जबकि आदर्श निरा आदर्श न रहकर योग्यता-सम्पन्नता सहज पूर्ण हो उठेगी, कार्यरतता सतत एवं सुचारुतम, जीवन भव्य, दिव्य एवं सर्वोपयोगी और जीवन-कृतार्थता चरण चेरी—सदा-सदा के लिए।

और क्या चाहिए?

था। पहले-पहल मेरी भी परीक्षा ली गई। फिर मैं दिन-रात काम करता रहा। अखबार बेचा, पढ़ने लग्न, धीरे-धीरे प्रेस में काम करना शुरू किया और दस बरस की साधना के बाद आज इस कुर्सी पर बैठा प्रूफ रीडरी करता हूँ। घबरा मत; सब ठीक हो जायगा।" आत्म-विश्वास के साथ कहा मदन ने।

"सच!" रमुआ की निराश आंखों में आशा की एक किरण चमक आई।

तेजकुमार बंब 'निर्मोही'

मालवी के सन्त-गीत

मालवी भाषा और उसका साहित्य अपने-आपमें समृद्ध एवं पूर्ण है। यहां के साहित्य में मानवमन को बहलाने, प्रेरणा देने, क्रियात्मकता की ओर प्रवृत्त करने तथा झकझोर देनेवाली वाणी है। मालव जनपद को नवीन जीवन-उत्साह तथा क्रियावद्धता की ओर सांकेतिक दिशादान देनेवाला, यहां का लोक-साहित्य है।

मालव-संस्कृति की तहों में यहां के गम्भीर-चेतनाशील जागरूक एवं प्रेरक शब्दों की लड़िया-कड़िया-मणियां पड़ी हुई हैं, जो कि समय-असमय ग्राम्य-जीवन में छोड़ दी जाती हैं और उससे जनपद के जीवन में नवीन ज्योत्स्ना की किरण फूटती दृष्टिगोचर होती है। इसी भावना और परम्परा के पोषक कुछ मालवी के संत-गीत यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

एक गीत की पंक्तियों में देखिये, संत-कवि द्वारा मानव को क्या चेतनतम संदेश दिया गया है :

“कर्म तो कर लो रे !
 क्यों यूँ समय बिताव !
 भलाई कर लो रे !
 क्यों यूँ समय गंवाव !
 ओ भाई सुन लो रे,
 क्यों यूँ समय गंवाव !
 मेहनत कर लो रे,
 क्यों यूँ टेम बिताव !
 खेतो कर लो रे !
 क्यों यूँ टेम गंवाव !

आगे संत-कवि की वाणी फिर मुखरित होती है, प्रस्तुत की जा रही पंक्तियों में देखिये :

क्यों यूँ पीछे भागो रे,
 मेहनत कर लो रे !

क्यों यूँ तन बचाव,
 पसीनो क्यों नी बहाव।
 जरा श्रम कर लो रे,
 क्यों यूँ समय गंवाव !”

इतना ही नहीं, आगे हमारा कवि प्रेरक प्रेरणाएं देता हुआ कहता है :—

“दुनिया स्वारथ से भरी हुई है !
 दो दिन का यां मेला रे !
 बुरा-भला जो किया है तुमने,
 वही तो साथ में जाये रे !
 अच्छाई में अच्छा बसता,
 बुराई में नरक का वास रे !
 दुनिया दो दिन की रे !
 क्यों यूँ समय बिताव रे !
 मेहनत कर ले रे !

मालवा का संत कवि लोक-मंगल की कामना करते हुए जन-जन में चेतना का संचार करता है तथा वहीं वह स्वार्थी दुनिया के लोगों के नाम खरी चेतावनी भी इस प्रकार से देने में नहीं सकुचाता है। देखिये :—

“फूला-फूला फिरे जगत् में कैसा नाता रे।
 माता कहै यह पुत्र हमारा बहिन कहै बीर मेरा।
 भाई कहै यह भुजा हमारी, नारि कहै नर मेरा।
 पेट पकड़िके माता रोवै, बांह पकड़ि के भाई।
 लपटि झपटि के तिरिया रोवै, हंस अकेला जाई॥”

कर्म कर लो, जिन्दगी थोड़े दिन की है। परन्तु स्वयं के एवं परिवार के स्वार्थ के लिए नहीं अपितु विशाल जन-समुदाय के हेतु कीजिये क्योंकि आपके हाथों द्वारा ‘बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय’ जो कार्य होता है वही श्रेष्ठ कार्य है !

बनारसीप्रसाद शर्मा

विकेन्द्रीकरण से ही समस्याओं का हल

सृष्टि के हर कामों और सारी हरकतों में खासियतें हैं। अगर इसकी तह में जाने का प्रयास करें तो यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्ड का सहज स्वरूप दृष्टिगोचर होगा। मानव-सृष्टि में हर व्यक्ति का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है और वह स्वतंत्रतापूर्वक सृष्टि में विचरण करने का आकांक्षी है। वह अपने कामों द्वारा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में अपनी आत्माभिव्यक्ति करने का ध्येय रखता है। उसके लिए सारा ज्ञान विज्ञान हमारे बीच प्रगति और विकास का प्रकाश-स्तम्भ बनकर प्रकट हुआ है। पर व्यक्ति के विचार की संकुचितता स्वार्थ, घृणा, कलह और विषमता जैसे दुर्गुणों को भी जन्म देने में पीछे नहीं रहती है, इस प्रकार व्यक्तिगत साधना-व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष एवं अपकर्ष का कारण बनकर सामने खड़ी हो जाती है। व्यक्तिगत जीवन में इस प्रकार देवासुर-संग्राम चलता रहता है, अन्त में दैवी शक्ति-आत्मा की सत्य शक्ति की विजय होती है। उससे आत्मानन्द का लाभ मिलता है तथा दैवी शक्ति आत्मा का सहज गुण समाज के उत्कर्ष के लिए हमेशा तड़फड़ाता रहता है, जिससे आत्मा की सहज और स्वाभाविक स्वतंत्र सामाजिक वृत्ति जन-जीवन को प्रभावित करता हुआ स्वतंत्रता का उपयोग करता नजर आता है। आत्माभिव्यक्ति करने की स्वतंत्रता का अपहरण मानवता के विकास-मार्ग को कुंठित कर देता है, जो मानव-जीवन के लिए अभिशाप रूप है। विकेन्द्रीकरण आत्माभिव्यक्ति करने का ही दूसरा रूप है।

आज संसार में सर्वत्र अशान्ति और हिंसा की आग प्रायः भभक उठती है और हम परिस्थितिबश अन्धकार के गर्त में गिरते जा रहे हैं। इस संकट से मुक्ति के लिए मनुष्य विभिन्न मंजिलों पर चढ़ता और उतरता नजर आता है। पूंजीवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद आदि कितने ही वाद और विवाद हमारे बीच समस्या के सुलझाने के लिए चक्कर देते रहे हैं, पर दुनियां की शांति की समस्या मुंह बाये ज्यों-की-त्यों खड़ी है और हम स्वार्थ, वर्ग-विद्रोह, ईर्ष्या,

द्वेष, मोह, मद, मत्सर से भरे हैं तथा विज्ञान और प्रगति के नामपर मानवता का संहार करने पर तुले हैं। इस प्रकार जिस डाली पर बैठे हैं, उसीको काट रहे हैं, पर आश्चर्य है कि हमें इसका भान नहीं हो रहा है। इसी उलझनपूर्ण वेला में गांधी-युग का सूर्य क्षितिज पर प्रकाश-पुंज के साथ प्रकट हुआ और अंधकार से ढकी मानवता के प्रकाशित होने की आशा जागी, क्योंकि उस मानव-प्रकाश में आध्यात्मिकता का स्नेह भरा है। काश ! हम गांधीजी के विचार के अनुरूप जन-जीवन को प्रभावित करते हुए मानव-मानव के विभेद को मिटाकर समता, स्वतंत्रता, प्रेम और भाई-चारा स्थापित कर दुनिया को शान्ति का सन्देश सुना पाते ! आओ, हम भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर बनी समाज-रचना के तत्त्व को गांधीजी के विचार के साथ तुलना करें और देखें कि वे विचार कहां तक हमारे देश तथा दुनियां में शांति स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं, जिससे मानवता का विकास होकर सर्वोदय साकार हो सके।

यह बात सभी मानते हैं कि भारत की सभ्यता और संस्कृति बहुत पुरानी अक्षयवट है। उसका आधार कृषि और ग्रामोद्योग रहा है और उसका आध्यात्मिक जल से सिंचन होता आया है। यहां की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक विचार-धाराओं पर उसकी स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इसी कारण मानवता के फूलने और फलने का महत्वपूर्ण शुभ अवसर मिलता रहा है। भारत का गांव अतीत काल में स्वयंपूर्ण स्वतंत्र इकाई के रूप में रहा है। भले ही यहां के राजा, महाराजा ठाट-बाट से नगरों में रहते, परन्तु गांव की स्वतंत्रता कभी नष्ट नहीं हुई, वे सदा स्वावलम्बी रहें। राज्य आक्रमण के समय लोगों की रक्षा करते थे और कला और संस्कृति के संरक्षक थे। उत्पत्ति के केन्द्र गांव होते थे और नगर तथा कस्बे मुख्यतः गांव के माल के बाजार का काम करते थे। गांव का आदर्श सादा जीवन और उच्च विचार का था। पर पाश्चात्य

सम्यता का केन्द्र तो शहर ही रहा है, उसका प्रभाव पश्चिम के जन-जीवन पर स्पष्ट पड़ा नजर आता है। इस प्रकार भारतीय और पश्चिमी संस्कृति में मौलिक अन्तर रहा है। आज भी हमारे ग्राम-जीवन का तत्त्व घात-प्रत्याघात सहकर भी कायम हैं, भले ही पश्चिमी शिक्षा-सम्यता और शहरी भौतिकवादी संस्कृति ने हमें प्रभावित करने का प्रयास किया है। पर यहाँ के गांवों का संगठन सम्मिलित परिवार-प्रणाली, अन्न के रूप में मजदूरी देने की प्रथा, जाति के अनुसार कार्य-विभाजन एवं गांव का सारा-के-सारा प्रबन्ध भार ग्राम-पंचायतों के हाथ में एवं आध्यात्मिकता का उच्च-स्थान आदि-आदि बातों पर निर्भर रहा है इन्हीं बातों ने हमारे भारतीय ग्राम-जीवन के उच्चादर्श को दुनिया के सामने कायम रखा है। पर पश्चिम में भाप की शक्ति के आविष्कार के कारण दुनिया के आर्थिक जीवन में हलचल पैदा हो गई और उसका असर पूर्वी देशों पर भी पड़ा। इधर जो गांवों का संतुलन था वह द्रुत गति से टूटने लगा, गांवों के सारे विकेंद्रित उद्योग, केन्द्रित उद्योग के आक्रमण से टूटने लगे, फलस्वरूप धरती का भार बढ़ने लगा। हमारी खेती आर्थिक दृष्टि से लाभकर नहीं रह गई है। हमारा उत्पादन उपयोग के लिए नहीं, बाजार की दृष्टि से होने लगा है और हम भौतिकतावाद के सुनहले स्वप्न को सामने रखकर आगे बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं।

अज इस वैज्ञानिक युग में हम दुनिया से अलग रहकर संकुचित दायरे में कुछ सोच नहीं सकते हैं। हमें तो अब दुनिया को सामने रखकर ही सोचना होगा। पर हर देश की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है, उसके अनुसार ही वहाँ की कोई आयोजना सफल हो सकती है, चाहे वह सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनैतिक कोई भी क्यों न हो। हाँ, कुछ ऐसा मानवीय धर्म है, जो दुनिया को एक प्रेम-सूत्र में पिरो सकता है। इस अवसर पर महात्मा टाल्सटाय का एक वचन महज ही सामने आ जाता है। उन्होंने कहा है कि हमें दूसरों के साथ वही बर्ताव करें कि जैसा अपने लिए दूसरों से चाहते हैं। इस वाक्य में मानव सूत्र समाया नजर आता है। यही प्रेम का सम्बन्ध है—ईश्वरीय सम्बन्ध है, जो एक हमारे को प्रेम-सूत्र में बांधने की शक्ति रखता है। और सारे वैदिक विवाद का अन्त कर देनेवाला है। इसमें जीवन का

शाश्वत धर्म समाया नजर आता है। पूज्य बापू ने जो एकादश-व्रत का पाठ हमें दिया है, उसे अगर हम सही रूप से जीवन में उतारें तो मानवता की सारी समस्याएँ हल होकर रहेंगी और केन्द्रीकरण की बुराइयों का खात्मा हो जायेगा क्योंकि केन्द्रीकरण से अनिवार्यतः हिंसा और शोषण का जन्म होता है। केन्द्रीकरण की बुराइयों से मुक्ति पाने का मतलब ही व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए पूर्ण अवसर मिलना है। इस प्रकार हम जितना ही विचार और विवेक से सोचते हैं और पूज्य बापू की शिक्षा और उनकी कार्य-प्रणाली पर सरसरी नजर डालते हैं तो हमें प्राचीन सम्यता और संस्कृति की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। चर्खा, ग्रामोद्योग, नई-तालीम, गो-सेवा तथा दूसरे-दूसरे रचनात्मक कार्यक्रम हमें प्राचीन सम्यता और संस्कृति की ओर ले जानेवाले तथा ग्राम-जीवन का आदर्श उपस्थित करनेवाले हैं। अगर थोड़े में कहें कि आखिर बापू चाहते क्या थे? तो कहना यहीं पड़ेगा कि वे जीवन के हर कामों को देखने और परखने की दृष्टि को बदलना चाहते थे और चाहते थे सत्य का प्रकाश लाना, जिससे भारतीय ग्राम-जीवन पुष्पित और फलित होकर दुनिया को शांति और भाईचारे का सन्देश सुना सके तथा शोषण रहित, शासन मुक्त समाज रचना में समर्थ हो सके। इस विचार को काम में लाने का एकमात्र उपाय विकेन्द्रीकरण एवं स्वदेशी धर्म का आदर्श अपनाना ही है।

आज हम जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर सर्वोदय और विकेन्द्रीकरण की रट सुनाई पड़ती है। सरकारी तंत्र में भी न्याय और शासन का विकेन्द्रीकरण करने की गूँज सुनाई पड़ती है तो कहीं बड़ी-बड़ी रचनात्मक संस्थाओं को विकेंद्रित करने की आवश्यकता बताई जाती है। और उस दिशा में कदम भी बढ़ाया जा रहा है। विकेन्द्रीकरण के मूल तत्त्व पर जब हम विचार करते हैं तो वातावरण में गूँजता विकेन्द्रीकरण हमें प्रकाश नहीं देता। वह तो अन्धकार में टटोलने जैसा प्रतीत होता है। विकेन्द्रीकरण तो व्यक्ति के विचार-स्वातंत्र्य, कार्य-स्वातंत्र्य एवं विवेक-स्वातंत्र्य के रूप में नागरिकता का विकास है। भारत के अतीत का गौरवपूर्ण इतिहास हमें विकेन्द्रीकरण की झाँकी, हमारे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक आदि

हम और विनोबा

: ३५१ :

भवानीप्रसाद मिश्र

सभी अंगों की झांकी दिखा जाता है, पर पाश्चात्य सभ्यता हमें केन्द्रीय पद्धति का पाठ पढ़ाती है। मानव-जीवन को प्रभावित करनेवाला मुख्य क्षेत्र आर्थिक माना जाने लगा है और उसे केन्द्रीकृत कर लोगों ने हिंसा और शोषण का खेल खेलेने का अवसर दिया है। इन बुराप्रयों को मिटाने की दिशा में जो भी प्रयत्न हुए, वे भी इन बुराइयों का अन्त करने में असमर्थ रहे, जिससे व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति करने का अवसर नहीं प्राप्त हो सका। वह तो विकेन्द्रीकरण की मूल विचारधारा को अपनाने से ही

मिटने की संभावना रखता है। आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कौन-सी चीजें बनाना और किस प्रकार बनाना इसका भार उत्पादक पर छोड़ना ऊपर से कुछ नहीं लादना और स्वदेशी धर्म को अपनाना। जब हम इस दृष्टि से कदम बढ़ायेंगे, तभी सच्चा विकेन्द्रीकरण होगा। इससे गांव-गांव और घर-घर में नेतृत्व आयागा और गांव को स्वयंपूर्ण तथा स्वाश्रयी बनाकर दुनिया में शांति ला सकेंगे। इसीसे हमारी सारी समस्याओं का समाधान होगा।

हम और विनोबा

भवानीप्रसाद मिश्र

विनोबा खूब आदमी हैं!

मगर इससे क्या होता है?

क्या कोई किसी और के मुंह से हँसता है?

क्या कोई किसी और की आंखों से रोता है?

विनोबा की अबल तबतक

मेरे काम नहीं पड़ेगी,

जबतक उनकी बात

मेरे जी में यों नहीं गड़ेगी,

जैसे बीज गड़ता है जमीन में

और फिर वहां उसपर

पड़ता है पानी

सड़ती है उसकी सख्ती

फूटता है अंकुर

बढ़ता है पौधा, आते हैं पत्त

कढ़ती है बाली, चढ़ती है बानी!

किसीकी बोली, किसीकी बानी

यों पनपे अपने में

तो फिर वह अपनी है जागते में, सपने में।

फिर वह किसी और की हो तो हो

अपनी भी बेशक है

और अगर वह हममें

यों गड़ी, सिंची, फूटी

और पनपी नहीं है,

तो किसी काम की नहीं है,

बकझक है!

इसलिए भाइयो!

अगर विनोबा कहें

कि भैया तनक इतें आइयौ,

तो उतें जाइयौ।

उन्हें सुनियौ, समझियौ, सोचियौ।

और ठीक लगें उनकौ कहबौ

तो बाय जीवन में उतारियौ

वैसौ न करिया

उसई, विनोबाजी ने जा कई बा कई

कंह, कंह कै बेसौत न मरियौ।

समालोचनाएं

कमौटी पर

तारों के सपने—लेखक: श्री गोविंदवल्लभ पंत;

प्रकाशक: आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट;

पृष्ठ-संख्या: ३८०; मूल्य: ६ रु. ५० न. पै.

श्री गोविंदवल्लभ पंत हिन्दी के बहुत-से नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों के लेखक हैं। उन्हींकी लेखनी से लिखा यह सामाजिक उपन्यास एक कहानी-लेखक पं. भानुदेव उर्फ भन्नजी के फिल्मों के लिए कहानी लिखकर रुपया कमाने के लिए बम्बई जाकर नये-नये अनुभव प्राप्त करने पर आधारित घटनाओं पर लिखा गया है। भन्नजी अपनी धर्मपत्नी को अच्छी आय का सब्जवाग दिखाकर उसकी चेन बेचकर बम्बई जाते हैं और केवल भंग पीनेवाले भन्नजी वहां जाकर फिल्मी संसार की रंगरेलियों में इतने डूब जाते हैं कि अंडे खाना, चरस तथा मदिरा पीना उनके लिए साधारण काम बन जाते हैं। अपनी धोती आदि छोड़कर वे पतलून पहनते हैं, पर कहानी लिखने का काम उन्हें मिलता नहीं और वे असफल होते हैं। इतना ही नहीं, एक रात एक एक्स्ट्रा नर्तकी सरिता के कमरे में शराब के नशे में जाकर वह उससे प्रेमप्रदर्शन करते हैं और कहानी के लिए सामग्री प्राप्त करना चाहते हैं। उसका चपत खाकर भन्नजी की आत्मा जाग जाती है और वापस अपने गांव आते हैं। अब उनका जीवन सर्वथा बदल जाता है और वह तमाम कु-व्यसन छोड़ देते हैं। फिर जो साहित्य साधना करते हैं, उसके फलस्वरूप उसी सरिता नर्तकी को अपनी कहानी देते हैं। इस उपन्यास में फिल्मी जीवन का अच्छा अनुभव और अच्छी रोचकता है।

—माईदयाल जैन

जाने-अनजाने—लेखक: श्री विष्णु प्रभाकर; प्रकाशक:

विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर; मूल्य: तीन रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक श्री विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखे गए २४ रेखा-चित्रों का संग्रह है। और रेखा-चित्र भी सर्वथा भिन्न व्यक्तित्वों के। इनमें पाठकगण जहां "हरियण के गुंजर" गौपी चपरासी अथवा "भावविहीन लघुनयनधरि" कृपा-

राम पंडा से मिलेंगे वहां "दोस्त की मुहब्बत से लवरेज दिलवाले" बाबूराम शर्मा अथवा भारत छोड़कर विलायत जाते समय फूट-फूटकर रोनेवाले मिस्टर स्मिथ से भी परिचय प्राप्त करेंगे। फिर इसमें मैथिलीशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार, सुधीन्द्र आदि हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कलाकारों के रेखा-चित्र हैं तो बापू, राजेन्द्रबाबू, राजाजी, नेहरू जैसे देश के नेताओं के भी। देश के नेताओं पर दरअसल इतना लिखा गया है कि अब पाठक अक्सर उससे ऊब जाता है, किन्तु श्री विष्णु प्रभाकर हिन्दी के जाने-माने कहानीकार व नाटक-कार हैं, और उनकी लेखनी की अपनी एक विशिष्टता है। इन रेखा-चित्रों में भी श्री विष्णुजी में जो कहानीकार है, वह ऊपर आया है। स्वयं लेखक ने "दो शब्द" में कहा है, "यह भी नहीं जानता कि ये रेखा-चित्र हैं या संस्मरण, क्या कहानी हैं या निबंध", यही इनकी विशेषता है। रेखा-चित्र होते हुए भी संस्मरण की-सी रोचकता, कथा-कहानी-सी सरलता, व निबंध की-सी गंभीरता उनमें है। व्यक्तित्वों के जिस भी रूप को लेखक ने लिया है, उसे पूरी तरह निवाहा है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि कई स्थानों पर, जहां लेखक ने व्यक्तित्व के अंदर के "आतंक और अविद्या के साथ उसकी अनगढ़-अटपटी सहानुभूति का नाता" जोड़ा है, पाठक का हृदय बरबस भर आता है। चाची, शमशू मिस्त्री, मिस्टर स्मिथ, अष्टावक्र आदि ऐसे ही रेखा-चित्र हैं। और जहां हास्य का पुट दिया गया है वहां पाठक आनंदित हुए बगैर नहीं रहता। इस संबंध में "विष्णु प्रभाकर-माचवे" शीर्षक-वाला रेखा-चित्र अत्यंत रोचक है।

हिन्दी में उच्च-स्तर के 'स्कैच' बहुत कम लिखे गये हैं। 'जाने-अनजाने' के प्रकाशन से रेखा-चित्रों के साहित्य में एक अमूल्य पुस्तक की वृद्धि हुई है। इसके लिए लेखक व प्रकाशक दोनों बधाई स्वीकारें। आवरण व मुद्रण भी सुन्दर है। मूल्य कुछ कम रखने की गुंजाइश होती तो अच्छा था।

—मुकुन

हमारी राय

फर्याद कैसे करें ?

विनोबा शतायु हों

११ सितम्बर को पूज्य विनोबा ६५वें वर्ष में प्रवेश करेंगे। इस मंगल-अवसर पर हम उनके दीर्घजीवन तथा स्वास्थ्य की कामना करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि समाज के नवनिर्माण के जिस महान् ध्येय के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा रखी है, वह शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो।

विनोबाजी गांधीजी के स्वप्नों को साकार करने के लिए विगत ६-१० वर्षों से व्यापक क्षेत्र में अखण्ड साधना कर रहे हैं। भारत के अधिकांश भागों में पैदल-यात्रा करके नये मूल्यों की ओर उन्होंने देश का ही नहीं, सारे संसार का ध्यान आकर्षित किया है। उनकी तपस्या आज भी चल रही है।

अपने सपनों के भारत की कल्पना को स्पष्ट करते हुए गांधीजी ने १० सितम्बर १९३१ के 'यंग इंडिया' में लिखा था :

"मैं ऐसे संविधान की रचना करवाने का प्रयत्न करूंगा, जो भारत को हर तरह की गुलामी और परावलम्बन से मुक्त कर दे। ... मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूंगा, जिसमें गरीब-से-गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है—जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्व है। मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूंगा, जिसमें ऊंचे और नीचे वर्गों का भेद नहीं होगा और जिसमें विविध सम्प्रदायों का पूरा मेलजोल होगा। ऐसे भारत में अस्पृश्यता के या शराब और दूसरी नशीली चीजों के अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें स्त्रियों को वही अधिकार होंगे जो पुरुषों को। चूंकि शेष सारी दुनिया के साथ हमारा संबंध शांति का होगा, यानी न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न किसी के द्वारा अपना शोषण होने देंगे, इसलिए हमारी सना-छोटी-से-छोटी होगी। ऐसे सब हितों का, जिनका करोड़ों मूक लोगों के हितों से कोई विरोध नहीं है, पूरा सम्मान किया जायगा, भले ही वे देशी हों या विदेशी। यह है मेरे सपनों का भारत।"

गांधीजी की एक आकांक्षा पूरी हुई। देश राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह एक बड़ी ही कठिन मंजिल थी, लेकिन उससे भी कहीं कठिन मंजिल आज हमारे सामने है। 'स्वराज्य' मिल गया, पर 'सु-राज' तथा 'स्व-राज' का स्वप्न अभी चरितार्थ होना है।

विनोबा इसी की उपलब्धि के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। भूदान-यज्ञ के द्वारा उन्होंने उन मूल्यों की ओर देश का ध्यान खींचा है, जिनके बिना राजनैतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है। लोक-चेतना तथा लोकशक्ति के उदय और विकास के लिए विनोबा ने जो कठोर तप किया है और कर रहे हैं, वह वास्तव में अद्वितीय है।

देश के आजाद होने से लेकर अबतक के वर्षों में विभिन्न क्षेत्रों में सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर बहुत-से काम हुए हैं और आज भी हो रहे हैं; लेकिन राष्ट्र के कर्णधारों की अथक घोषणाओं के बावजूद, इन कार्यों के परिणामों से ऐसा नहीं मालूम हो रहा है कि हमारे प्रयास गांधीजी की लक्ष्य-पूर्ति की दिशा में हो रहे हैं। बांध, नदी-घाटी तथा अन्य योजनाएं पूर्ण होने पर भारत की भौतिक प्रगति हो सकती है, जिसका अपना महत्व है लेकिन गांधीजी की कल्पना उतने मात्र से पूरी नहीं हो सकेगी। अपने देश में वह राम-राज्य की स्थापना करने के अभिलाषी थे। उसकी सिद्धि के लिए भौतिक से अधिक नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना आवश्यक है।

हमारा देश इस समय बड़ी विषम परिस्थिति से गुजर रहा है। उसके सामने आज अनेक आंतरिक एवं अंतर्राष्ट्रीय समस्याएं हैं, जो अपने हल की अपेक्षा रखती हैं। लेकिन हमारी दृष्टि में सबसे जरूरी यह है कि हम अच्छी तरह सोच-विचार कर निश्चय करें कि हमें देश को कहां और किस रास्ते ले जाना है। आज बहुत-सी समस्याएं इसलिए पैदा हो रही हैं कि हमारी दृष्टि साफ नहीं है। हम बात गांधीजी के आदर्शों की करते हैं, जबकि हमारे कार्य कुछ दूसरी ही दिशा के हैं।

विजोवा गांधीजी की मशाल को लेकर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं। इस ज्योति से सारे देश के अंतर को आलोकित करने में वह सफल हों, ऐसी हमारी प्रार्थना है।

किशोरलालभाई का पुण्य-स्मरण

६ सितम्बर को श्रद्धेय किशोरलाल मशरूवाला की पुण्य-तिथि है। वह गांधी-परिवार के एक प्रमुख सदस्य थे। गांधीजी के सिद्धान्तों का उनका अध्ययन तथा चिंतन अद्भुत था। लेकिन उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह स्वतंत्र चिंतक थे। बिना किसी का मुलाहजा किये वह अपनी बात बड़ी निर्भीकता से कहते थे। उन्होंने अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई, पर वाणी की अपनी स्वतंत्रता को कहीं भी कुण्ठित नहीं होने दिया।

मौलिक चिंतक की लेखन-शैली तो प्रभावशाली होनी ही चाहिए। किशोरलालभाई बहुत ही नाप-तौल कर शब्दों का प्रयोग करते थे। उनकी भाषा में किसी प्रकार की कोई जटिलता नहीं होती थी। काफ़ी असें तक उन्होंने 'हरिजन' पत्रों का सम्पादन किया। उन पत्रों की रचनाओं को पढ़कर जहां उनके मौलिक चिंतन की छाप पड़ती है, वहां उनके कुशल सम्पादन का भी आभास होता है।

उनकी-सी परिश्रमशीलता तो बिरलों में ही मिलेगी। काया उनकी क्षीण थी, उसपर वह हमेशा बीमार रहते थे, लेकिन अपने काम में बीमारी की आड़ उन्होंने कभी नहीं ली। बड़ी तत्परता के साथ वह अपने अंगीकृत कार्यों में संलग्न रहे। जीवन के अंतिम क्षण तक उनकी साधना अखंड रूप में चलती रही।

आज किशोरलालभाई की हमें विशेष रूप से याद आती है, कारण कि आज उन जैसे स्वतंत्र चिंतक तथा निर्भीक लेखक की बड़ी आवश्यकता है। वर्तमान युग में अनेक विषयों और समस्याओं पर देशवासी मार्ग-दर्शन चाहते हैं; लेकिन सुचिंतित और निष्पक्ष राय देने वाले व्यक्तियों का आज बहुत ही अभाव है।

किशोरलालभाई की पुण्य-तिथि के अवसर पर हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कामना करते हैं कि उनकी साधना, उनका चिंतन, उनकी परिश्रमशीलता और उनकी निर्भीकता हमें प्रेरणा दे।

अंतर्राष्ट्रीय शांति-सम्मेलन

हमें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि विश्व के शान्तिवादियों का दसवां वार्षिक सम्मेलन दिसम्बर १९६० में दक्षिण भारत के गांधीग्राम नामक रचनात्मक केन्द्र में हो रहा है। 'युद्ध-विरोधक अंतर्राष्ट्रीय' शान्तिवादियों की एक प्रमुख संस्था है, जिसका हर तीसरे वर्ष एक विश्व-सम्मेलन होता है। पाठकों को स्मरण होगा कि इस संस्था का एक सम्मेलन गांधीजी के निधन के बाद शान्तिनिकेतन तथा सेवाग्राम में हुआ था। संसार के विभिन्न देशों के अनेक शान्तिवादी उसमें सम्मिलित हुए थे। इस बार भी लगभग ३० देशों के शान्तिवादी सम्मेलन में भाग लेंगे। सी से अधिक विदेशी प्रतिनिधियों के आने की संभावना है। भारत के प्रमुख रचनात्मक कार्यकर्ता भी उसमें शरीक होंगे।

हम नहीं जानते कि इस सम्मेलन का विस्तृत कार्यक्रम क्या होगा; लेकिन सेवाग्राम के सम्मेलन में सम्मिलित होकर हमने जो देखा, उससे अनुमान किया जा सकता है कि संसार के विभिन्न देशों में युद्ध-विरोधी जो प्रयास हो रहे हैं, उनकी विस्तृत जानकारी दी जायगी। भारत में शांति के लिए विभिन्न क्षेत्रों में जो कदम उठाये जा रहे हैं, उनका लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया जायगा।

यह सब बड़ा आवश्यक है। अपने ध्येय की पूर्ति में सहायक प्रवृत्तियों की प्रामाणिक जानकारी हमें होनी ही चाहिए, लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। आज संसार में शीत-युद्ध चल रहा है और छोटे-बड़े सभी राष्ट्र बड़ी भारी बेचैनी का अनुभव कर रहे हैं, उन्हें यह आशंका हर घड़ी बनी रहती है कि किस घड़ी तीसरे महायुद्ध का बिगुल बज जायगा। दुनियाभर के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ अपना खिन्न खपा रहे हैं, लेकिन उन्हें आज के तनाव को दूर करके स्थायी शान्ति स्थापित करने का कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है।

सच बात यह है कि जो लोग राजनीति के दलदल में फंसे हैं और महात्वाकांक्षा की महाव्याधि के शिकार हैं वे हजार कोशिश करनेपर भी ठंडे या गरम-युद्ध से बचने का कारगर उपाय नहीं निकाल सकते। चोटी के नेताओं के शीर्ष सम्मेलन होते हैं, बड़ी-बड़ी कान्फ्रेंसों की जाती हैं, पर किसी-न-किसी बिन्दु पर एक-दूसरे के स्वार्थ आपस में टकराकर उन प्रयासों को विफल कर देते हैं।

क्या न कैसे ?

: ३५५ :

सम्पादकीय

इस दिशा में शान्तिवादियों का बड़ा भारी कर्तव्य है। वे शांति के लिए इतना सशक्त वायुमंडल पैदा कर सकते हैं कि जो उसे भंग करके युद्ध की बात करे, वह मानवता का द्रोही समझा जाय और चारों ओर से उसका तिरस्कार हो।

दूसरा काम शांतिवादी यह कर सकते हैं कि वे लोक-शक्ति का उदय करें। किसी भी देश की जनता युद्ध नहीं चाहती। युद्ध का फैसला इने-गिने लोग करते हैं, जबकि उसका दुष्परिणाम सबको भुगतना पड़ता है। यदि लोक-शक्ति जाग्रत हो जाय और वह समवेत स्वर में कहे कि हम युद्ध नहीं चाहते तो कोई कारण नहीं कि युद्ध की बात उठे और आगे बढ़े।

हम जानते हैं कि शान्ति के प्रयास कठिन होते हैं, क्योंकि उनमें तड़क-भड़क नहीं होती, आकर्षण नहीं होता; इसके विपरीत अशांति के प्रयास बड़ी तेजी से लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं, लेकिन फिर भी शांति अपेक्षित है, क्योंकि बिना उसके कोई भी जीवित नहीं रह सकता।

हम आशा करेंगे कि शांतिवादियों का यह सम्मेलन गंभीरतापूर्वक विचार करके सारे संसार को ऐसा विधायक कार्यक्रम प्रदान करेगा, जो आज की त्रस्त जनता, कराहती मानवता और संतप्त शासकों को प्रकाश दे सके।

दो साधकों को श्रद्धांजलि

सृष्टि का नियम है कि जो इस संसार में जन्म लेता है, उसे एक-न-एक दिन जाना ही होता है। यह क्रम अनादिकाल से चला आता है। विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति भी इसमें व्यवधान नहीं डाल सकी है। इस सचाई को जानते हुए भी, जब किसी का बिछोह होता है तो एक विचित्र-सी शून्यता अनुभव होती है। हाल ही में दो ऐसे व्यक्ति उठ गये, जिनका बार-बार स्मरण होता है। ११ अगस्त को ७३ वर्ष की अवस्था में मध्य प्रदेश के अनन्य सेवक श्री त्र्यम्बक दामोदर पुस्तकेजी की मृत्यु हो गई और २३ अगस्त को हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक और पत्रकार पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति का ७१ वर्ष की अवस्था में देहान्त होगया। श्री पुस्तकेजी ने अर्द्ध-शताब्दी तक देश और मानव-जाति की अत्यन्त निष्ठापूर्वक सेवा की। किशोरावस्था में सेवा का व्रत लेकर उन्होंने अनेक विधायक प्रवृत्तियों का संचालन किया। 'सस्ता साहित्य-

मंडल' और उसके कार्य के प्रति उनकी बड़ी आत्मीयता थी और संसद्-सदस्य होकर दिल्ली आने के बाद वह समय-समय पर 'मंडल' में पधार कर, उसके प्रकाशनों को देखकर, अपने मूल्यवान् परामर्श देते रहते थे। इतना ही नहीं, उनकी तीव्र अभिलाषा रहती थी कि 'मंडल' की पुस्तकों का व्यापक रूप से प्रसार हो।

पं० इंद्रजी की सेवाओं का क्षेत्र बहुमुखी रहा। वह स्वाधीनता-संग्राम के महान् सेनानी रहे, पत्रकार-कला के उन्होंने ऊँचे आदर्श स्थापित किये और संतुलित लेखन का बड़ा ही स्वस्थ और अनुकरणीय दृष्टान्त उपस्थित किया। उनका सबसे बड़ा गुण उनकी नीति-निष्ठा और निर्भीकता थी। अपने महान् पिता स्वामी श्रद्धानन्दजी की विरासत को लेकर अथवा अपने पत्र 'अर्जुन' के सामने आये प्रलोभनों के आगे जरा झुककर वह चाहते तो लाखों की कमाई कर सकते थे, पर भयंकर संकटों का मुकाबला करते हुए भी वह नीति के मार्ग से विचलित न हुए।

इन साधकों के प्रति हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। भगवान् करें, इनकी-सी निष्ठा हम सबमें पैदा हो।

सरकार का दायित्व

पलाई बैंक के बन्द होने से उसमें जिन लोगों का रुपया जमा था, उन्हें तो भारी चोट लगी ही है, लेकिन उनके साथ सारे देश में एक प्रकार की बेचैनी पैदा हो गई है। उस सम्बन्ध में चारों ओर जहाँ बैंक के संचालकों की आलोचना हो रही है, वहाँ सरकार को भी दोषी ठहराया जा रहा है। लोगों का कहना है कि जब वर्षों से इस बैंक की स्थिति डाँवाडोल थी और सरकार को इसका पता था, तो क्यों उसने पहले ही उन हजारों व्यक्तियों के हित में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया, जिनका भाग्य इस बैंक के साथ जुड़ा हुआ था? पता चला है कि रुपया जमा करनेवालों में बहुत-से ऐसे भी व्यक्ति थे, जिन्होंने अपना पेट काट-काट कर विवाह-शादी जैसे अनिवार्य अवसरों के लिए छोटी-भारी राशि बैंक में डाल रखी है।

इस बैंक दुर्घटना में किस-किसका अपराध है और कितना, इसके विश्लेषण में हम नहीं जाना चाहते; लेकिन

एक वार्ता स्पष्ट है और वह यह कि बैंक तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ जनता की साख पर चलती हैं और यदि यह साख डिग गई तो उससे उन संस्थाओं की ही नहीं, देश की भी बड़ी क्षति होनेवाली है। सन् १९४८ से १९५९ के ग्यारह वर्षों के बीच देश में लगभग २६० बैंक फेल हुए हैं, लेकिन सन् १९५४ से रिजर्व बैंक के हाथ में विशेष अधिकार होते हुए भी पैसे जमा करनेवालों के हितों को संरक्षित नहीं किया जा सका। भारत सरकार के वित्तमंत्री ने बड़े जोरों से रिजर्व बैंक के पलाई बैंक को बन्द करने के आदेश का औचित्य सिद्ध किया है, लेकिन इस बात का समर्थन कैसे किया सकता है कि इस वर्ष के आरंभ में जब अपने अफसर से पलाई बैंक की अच्छी तरह से जांच कराकर रिजर्व बैंक ने वास्तविक स्थिति मालूम करली थी तो उसे बन्द कराने में विलम्ब क्यों किया? कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि रिजर्व बैंक ने जो जांच-पड़ताल कराई उससे पलाई बैंक के लिए प्रतिकूल हवा पैदा हुई और लोगों ने आशंकित होकर अपने रुपये निकालने की उतावली की।

पलाई बैंक के बैठ जाने से कितने लोगों की आर्थिक हानि हुई, प्रश्न यह नहीं है... मुख्य सवाल यह है कि यदि बारबार लोगों के विश्वास को धक्का लगता रहा तो भविष्य में उसका क्या परिणाम होगा? सरकार जनता के विश्वास पर चलती है और लोक-जीवन की आधार-शिला भी विश्वास ही होता है। अतः सरकार की जिम्मेदारी है कि वह लोगों के विश्वास को किसी भी दशा में कमजोर पड़ने न दे। राष्ट्रीय हित का तकाजा है कि सरकार इस दशा में विशेष रूप से जागरूक रहे।

हम आशा करते हैं कि इस बार जो हुआ है, उससे सरकार भविष्य के लिए सबक लेगी। उसके पास सत्ता और साधन हैं। यदि उसे ऐसा लगता है कि बिना अपने

हाथ में लिये वह बैंकों पर पूरा नियन्त्रण नहीं रख सकती तो उसे बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर डालना चाहिए। वैसे सत्ता का एक ही स्थान पर केन्द्रित होना अच्छा नहीं है, लेकिन लाचारी की हालत में जिस प्रकार छोटी बुराई का चुनाव करना पड़ता है, उसी प्रकार सरकार को भी यह कदम उठा लेना चाहिए।

आगामी विशेषांक

पूर्व सूचना के अनुसार हमारा आगामी अंक 'टाल्स्टाय-विशेषांक' होगा। उसमें १०० पृष्ठ होंगे और वह महर्षि टाल्स्टाय की पुण्य-तिथि पर, ७ नवम्बर को, प्रकाशित होगा। अक्तूबर का अंक इसी विशेषांक में समाविष्ट रहेगा।

विशेषांक के लिए अबतक अनेक भारतीय तथा विदेशी विद्वानों एवं साहित्यकारों की रचनाएं प्राप्त हो गई हैं। और भी प्राप्त की जा रही हैं। विशेषांक पठनीय तथा संग्रहणीय होगा।

विशेषांक का मूल्य १॥) रहेगा, लेकिन पत्र के ग्राहकों को उसके लिए अतिरिक्त कुछ भी नहीं देना होगा।

सत्साहित्य के प्रेमियों से हमारा अनुरोध है कि वे कृपया ४) भेजकर पत्र के ग्राहक बन जायें। रुपये मिलते ही उन्हें जुलाई से ग्राहक मान लिया जायगा और जुलाई-अगस्त तथा सितम्बर के अंकों के साथ विशेषांक भेज दिया जायगा। उनका शुल्क आगे जून १९६१ तक चलेगा।

विशेषांक की प्रतियां कम ही छपवाई जा रही हैं। इसलिए जल्दी-से-जल्दी रुपये भेजकर ग्राहक बन जायें और अपनी प्रति सुरक्षित करा लें। यदि कोई सज्जन इस सुविधा का लाभ न लेना चाहते हों, और केवल विशेषांक ही लेने के अभिलाषी हों तो उन्हें पोस्टेज-व्यय के साथ २) भेजने चाहिए।

'मंडल' की ओर से

१९६१ की गांधी डायरी

नये वर्ष (१९६१) की गांधी डायरी तैयार हो रही है। गांधी-जयंती के अवसर पर, २ अक्टूबर को वह बाजार में आ जाय, ऐसा प्रयत्न हो रहा है। गत वर्षों की भांति प्रत्येक पृष्ठ पर गांधीजी का उसी दिन का बोला या लिखा सूक्ति-वचन है। आरंभिक तथा अंतिम पृष्ठों में बड़ी उपयोगी सामग्री है। डायरी की छपाई अच्छी कराई जा रही है और उसकी जिल्द कपड़े की पक्की-मजबूत होगी। मूल्य पहले जितना ही रहेगा—बड़ी का २॥), छोटी का १॥)।

गांधी डायरी का इस्तेमाल करने के अभिलाषी व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है; लेकिन कागज की असुविधा के कारण हम लोग उतनी प्रतियां नहीं छाप पाते, जितनी की मांग होती है। इस वर्ष भी हम बड़ी-छोटी, दोनों डायरियां सीमित संख्या में छाप रहे हैं। हमारा अनुरोध है कि जो सज्जन इन डायरी का नियमित उपयोग करते हों, वे अपनी प्रति जल्दी-से-जल्दी सुरक्षित करा लें। पिछले साल बहुत-से लोगों को, देर में आर्डर देने के कारण, निराश होना पड़ा था। अच्छा यह होगा कि वे अपनी आवश्यकता की प्रतियों की मांग अपने यहां के पुस्तक-विक्रेता से करें और उनसे आग्रह रखें कि वे अपना आर्डर हमें जल्दी-से-जल्दी भेज दें। थोड़ी प्रतियां सीधे मंगाने पर शक-व्यय बहुत पड़ जायगा।

अल्पमोली-माला का नया सेट

हमारी अल्पमोली पुस्तक-माला का नया सेट तैयार हो रहा है, इसकी सूचना हम पिछले अंक में दे चुके हैं। उसमें छः पुस्तकें हैं:

१. इतिहास के महापुरुष (जवाहरलाल नेहरू) १॥)
२. सर्वोदय-संदेश (विनोबा) १॥)
३. बापू की कारावास-कहानी (सुशीला नैयर) २॥)
४. रूस में छियालीस दिन (यशपाल जैन) १॥)
५. प्राकृतिक जीवन की ओर (जस्ट) १॥)
६. तूफान और ज्योति (सुमति धनवटे) १॥)

पहली पुस्तक में एक महापुरुष की कलम से लिखे हुए

अनेक ऐतिहासिक विभूतियों के ज्ञान-वर्द्धक संस्मरण हैं। उन्हें पढ़कर पता चलता है कि संसार की विभिन्न प्रतिभाओं का व्यक्तित्व कितना ऊंचा था और उनका मूल्यांकन कितने सुन्दर ढंग से किया गया है।

दूसरी पुस्तक में सर्वोदय-सम्मेलनों में विनोबाजी द्वारा दिये गए उद्घाटन तथा उपसंहारात्मक प्रवचन हैं। उनके अध्ययन से एक नई दृष्टि होती है, साथ ही यह भी मालूम होता है कि सर्वोदय-समाज और भूदान के विचार का किस प्रकार विकास हुआ।

तीसरी पुस्तक गांधी-साहित्य की अनमोल कृति है। उसमें डा० सुशीला नैयर ने आगाखान महल में गांधीजी के बंदी-वास की डायरी के रूप में बड़ी ही मार्मिक कहानी दी है। स्वयं गांधीजी ने इस डायरी को देख लिया था।

चौथी पुस्तक में रूस की यात्रा का बड़ा सजीव वृत्तान्त है, साथ ही वहां की साहित्यिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक प्रगति पर भी प्रकाश डाला गया है।

पांचवीं पुस्तक पाठकों को स्वास्थ्य की कुंजी प्रदान करती है। एक महान् चिकित्सक ने अपनी इस पुस्तक में बताया है कि हम किस प्रकार स्वस्थ रह सकते हैं और बीमार पड़ जाने पर बीमारी से कैसे छुटकारा पा सकते हैं।

छठी पुस्तक एक सामाजिक उपन्यास है। उसकी रचना बड़ी ही हृदयस्पर्शी भूमिका पर की गई है। रोचक वह इतना है कि बिना आद्योपांत समाप्त किये चैन नहीं पड़ता।

इन सब पुस्तकों का मूल्य केवल दस रुपये है। इतनी बढ़िया सामग्री इतने कम मूल्य में अन्यत्र शायद ही मिल सकें।

इस पर एक विशेष सुविधा यह भी है कि ये पुस्तकें आप घर बैठे प्राप्त कर सकते हैं। मनीआर्डर से १०) हमें भेज दें। हम अपने खर्चों से इस सेट को आपके पास भेज देंगे।

हम आशा करते हैं कि आप इस माला के पिछले तथा इस सेट को ही नहीं, मंडल की अन्य पुस्तकों को भी अपने यहां रखेंगे और सारे परिवार को सत्साहित्य के पढ़ने का लाभ देंगे।

—मंत्री

मध्य प्रदेश सर्वोदय मण्डल का साप्ताहिक मुखपत्र

भूमि-क्रांति

सर्वोदय-विचार-धारा से सम्बन्धित बड़ी ही स्वस्थ सामग्री प्रदान करता है। उसके प्रत्येक अंक की रचनाएं पठनीय और मननीय होती हैं।

सम्पादक
काशिनाथ त्रिवेदी

एक प्रति : १० न० पैसे वार्षिक : ४)

भूमि-क्रांति कार्यालय

गांधी भवन, यशवंत रोड, इंदौर नगर

सम्पदा

उद्योग • व्यापार • कृषि • खाद्य
बैंक • बीमा • श्रम-कल्याण
• पंचवर्षीय योजनाएं

देश की अर्थनीति को प्रभावित करनेवाली स्वतंत्र विचारों की मासिक पत्रिका। छात्रों और शिक्षा-संस्थाओं के लिए अनिवार्य !

वार्षिक ८)

आशा है, आपने 'सम्पदा' देखी होगी। यदि नहीं, तो नमूना मंगाने के लिए ७५ न. प. के डाक टिकट भेजना आवश्यक है; किन्तु इस विज्ञापन का काटिंग और २५ न. प. के डाक टिकट डाक-व्यय के लिए आवेदन के साथ भेजने पर एक प्रति भेजी जायगी।

अशोक प्रकाशन मन्दिर

२८/११ शक्तिनगर, दिल्ली-६

भूदान-यज्ञ मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान, अहिंसक क्रांति का संदेशवाहक

भूदान-यज्ञ

साप्ताहिक

सम्पादक : सिद्धराज ढड्डा

- भूदान, ग्रामदान, शांति-सेना, सर्वोदय-पात्र आदि प्रवृत्तियों की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए—
 - खादी, नई तालीम, हरिजन-सेवा आदि रचना-त्मक कामों की गति-विधियों से परिचित रहने के लिए—
 - बिनोबा, जयप्रकाश नारायण, मजूमदार आदि के विचारों के सतत अध्ययन के लिए—
- अखिल भारत सर्व सेवा संघ का यह मुख-पत्र प्रत्येक सार्वजनिक कार्यकर्ता के लिए अनिवार्य पठन-सामग्री प्रस्तुत करता है।
- वार्षिक शुल्क छः रुपये। एक प्रति तेरह नये पैसे
- अखिल भारत सर्व-सेवा संघ,
राजघाट, काशी

'आर्थिक-समीक्षा'

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आर्थिक-राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र

प्रधान सम्पादक :

श्री सादिक अली

सम्पादक :

सुनील गुहा

१६ जनवरी १९६० को बृहदाकार

प्रकाशित

'बंगलौर कांग्रेस अधिवेशन विशेषांक'

नेताओं एवं विशेषज्ञों के विद्वत्पूर्ण लेखों से ओत-प्रोत

वार्षिक चंदा ७) २०, एक प्रति का ३० नये पैसे

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग,

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी,

७. जंतर-मंतर रोड, नई दिल्ली

078743

स्थायी महत्व की पुस्तकें सुन्दर सज-धज—कम दाम

	मूल्य	डाक खर्च
सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड १ व २ स्टैण्डर्ड जिल्द प्रत्येक	५.५०	०.६०
" " " " " सादी जिल्द प्रत्येक	३.००	०.४५
" " " " " खण्ड ३	७.५०	०.७०
रूसी-हिन्दी शब्दकोष (संकलक—वीर राजेन्द्र ऋषि)	३५.००	—
भारत के पक्षी (ले०—राजेश्वर प्रसाद नारायणसिंह)	१२.००	१.५०
महात्मा गांधी (चित्रावली)	१०.००	०.८५
राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के भाषण (१९५२-५६)	३.५०	०.५०
स्वाधीनता और उसके बाद (जवाहरलाल नेहरू के भाषण १९४६-४९)	५.००	०.६०
भारत की एकता का निर्माण (सरदार पटेल के भाषण)	५.००	०.६०
भारतीय कविता—१९५३	५.००	०.६०
आकाशवाणी विविधा—१९५६	३.५०	०.५०
भारत—१९५६	३.५०	०.५०
श्रेष्ठ हिन्दी कहानियां	३.००	०.४५

(रजिस्ट्रेशन व्यय अलग)

पच्चीस रुपये या अधिक की पुस्तकों पर डाक-व्यय नहीं लिया जाता है।

पब्लिकेशन्स डिवीज़न

पो० बा० नं०-२०११, प्रोल्ड सेक्रेटारियेट, विल्सी-६

DA 60/338

सबसे सस्ता और सुन्दर सचित्र मासिक

जागृति

संस्करण १९४८

जिसे राष्ट्रभाषा के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों, कवियों और कहानीकारों का सहयोग प्राप्त है। कुछ विशेषताएं—उत्प्रेरक कविताएं, ज्ञानवर्धक लेख, सांस्कृतिक निबंध, रोचक कहानियां स्थायी स्तम्भ—बाल संसार, साहित्य आगे बढ़ता है, पंजाब-प्रगति।

तिरंगा आवरण, अनेकों इकरंगे चित्र

५२ से ६४ पृष्ठ की सम्पूर्ण छपाई आर्ट पेपर पर इसपर भी मूल्य केवल २५ नये पैसे

एजंटों को ५ से १०० प्रतिशत पर २५ प्रतिशत और इससे ज्यादा पर ३३ १/३ प्रतिशत कमीशन दिया जाता है। डाक-खर्च प्रकाशकों के जिम्मे। नमूने की प्रति के लिए आज ही लिखें।

व्यवस्थापक, 'जागृति' कार्यालय,
लोक सम्पर्क विभाग, पंजाब, चंडीगढ़

साहित्यिक सांस्कृतिक कलात्मक मासिक

राष्ट्रवाणी

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे द्वारा प्रकाशित यह मासिक पत्रिका हिंदी की सम्मानित मासिक पत्रिकाओं में अपना एक विशेष स्थान रखती है। हिंदी, मराठी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों का सहयोग इसके लिए प्राप्त है। भारतीय भाषाओं के साहित्य के नवीनतम अंतः-प्रवाहों का प्रतिबिम्ब इसमें पाया जाता है। ग्रंथालयों, विद्यालयों, कॉलेजों और साहित्यिक संस्थाओं के लिए अत्यंत उपयुक्त।

किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं। हर महीने की पहली तारीख को अंक प्रकाशित होता है।

[सालाना चंद्रा चार रुपये]

'राष्ट्रवाणी' में विज्ञापन देना लाभप्रद है।

राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ

प्रो. डॉ. ५६०, पुणे २.

अहिंसक समाज रचना की मासिक

खादी-पत्रिका

* खादी-ग्रामोद्योग तथा सर्वोदय विचार पर विद्वत्ता-पूर्ण रचनाएं।

* खादी-ग्रामोद्योग आन्दोलन की देशव्यापी जानकारी।

* कविता, लघुकथा, मील के पथर, साहित्य-समीक्षा, संस्था-परिचय, सांख्यिकी पृष्ठ आदि स्थायी स्तम्भ।

* आकर्षक मुखपृष्ठ : हाथ कागज पर छपाई।

प्रधान सम्पादक :—

श्री जवाहिरलाल जैन

वार्षिक मूल्य ३) : एक प्रति २५ नये पैसे।

पता : राजस्थान खादी संघ,

पो० खादीवाग (जयपुर)।

युगप्रभात

केरल का हिन्दी पाक्षिक

भावात्मक एकता भौगोलिक एकता की गारंटी है और 'युगप्रभात' पिछले ३ सालों से भारत की भावात्मक एकता को बढ़ावा देनेवाली विविध रचनाओं की, जिनमें दक्षिण की चार मुख्य भाषाओं से अनूदित सामग्री की प्रधानता है, प्रकाशित कर हिन्दी को भारतीय प्रतिनिधि भाषा बनाने की निरंतर चेष्टा कर रहा है। नवम्बर से 'युगप्रभात' का चौथा साल शुरू हो रहा है। एक प्रति का दाम २५ नये पैसे।

वार्षिक चन्द्रा ६ रुपये

छमाही तीन रुपये

एजेन्सी के लिए लिखें—

मैनेजर—

युगप्रभात

कालिकट (केरल)

Compiled
1998-2000

